एंगेल्स

ड्यूहरिंग मत-खण्डन

दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

फ़्रेडरिक एंगेल्स

ड्यूहरिंग मत-खण्डन

श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रांति

प्रगति प्रकाशन
मास्को
१९८०

संपादक : ददन उपाध्याय

Ф. ЭНГЕЛЬС

АНТИ-ДЮРИНГ

На языке хинди

पहला संस्करण – १९६३
दूसरा संस्करण – १९८०

हिन्दी अनुवाद • प्रगति प्रकाशन • १९८०

सोवियत संघ में मुद्रित

Э $\frac{10101-244}{014(01)-80}$ 607—80

0101010000

F. Engels

विषय-सूची

प्रस्तावना

भाग १। दर्शनशास्त्र

1*

भाग २। राजनीतिक अर्थशास्त्र

भाग ३। समाजवाद

परिशिष्ट

प्रकाशक की ओर से

एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' की रचना १८७६–१८७८ के दौरान की। वह पूंजीवाद के तीव्र किंतु अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण विकास का काल था। इसके साथ ही उस समय तक पूंजीवादी उत्पादन का विकास अपने इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ पर पहुंच गया था। १८७३ के विश्व आर्थिक संकट के कारण इजारेदारी संघों का तीव्र और व्यापक विकास हुआ। वह इजारेदारी-पूर्व पूंजीवाद से इजारेदा ी पूंजीवाद में संक्रमण काल की शुरूआत थी, जो बीसवीं सदी के प्रारंभ में समाप्त हुआ।

विश्व इतिहास में बुनियादी महत्व की घटना, जिसने सर्वहारा वर्ग के मुक्ति संघर्ष में एक नये दौर का सूत्रपात किया, पेरिस कम्यून (१८७१) था। सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने के इस प्रथम प्रयास के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि सर्वहारा क्रांति तब तक सफलतापूर्वक संपन्न नहीं की जा सकती, जब तक वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के सिद्धांतों से निदेशित आम सर्वहारा पार्टी उसका नेतृत्व न करे। इस तरह अलग-अलग देशों में ऐसी पार्टियों की स्थापना बुनियादी महत्व का कार्य बन गया।

पेरिस कम्यून ने शासक वर्गों में सर्वहारा के भावी प्रभुत्व के प्रति मरणांतक भय पैदा कर दिया। जैसे-जैसे मज़दूर आंदोलन ठोस शक्ति बनता गया और वैज्ञानिक समाजवाद मज़दूरों के हरावल के मन में घर करता गया, वैसे-वैसे मार्क्सवाद के विचारधारात्मक शत्रुओं ने इसकी कड़ी आलोचना की।

पूंजीवादी विकास के अत्यधिक तीव्रीकरण और इससे जनित अत्यंत उग्र अंतर्विरोध जर्मनी में फ़्रांस-प्रशियाई युद्ध में इसकी विजय के बाद खुलकर सामने आ गये। इस युद्ध के परिणामस्वरूप देश का राजनीतिक एकीकरण हुआ। पेरिस कम्यून की पराजय के बाद यूरोपीय क्रांतिकारी आंदोलन का

केन्द्र जर्मनी में स्थानांतरित हो गया। यहां सर्वहारा वर्ग की पहली जन पार्टी की स्थापना की गयी।

मार्क्सवाद विरोधी जर्मन विचारधारात्मक प्रवृत्तियों में निम्नपूंजीवादी सिद्धांतकार यू० ड्यूहरिंग के विचारों ने, जिन्हें उन्होंने सभी प्रकार के भोंडे भौतिकवादी, भोंडे अर्थशास्त्रीय भाववादी, प्रत्यक्षवादी और मिथ्या-समाजवादी सिद्धांतों के अनाप-शनाप अवधारणाओं का एक गड़बड़झाला तैयार किया था, सर्वहारा आंदोलन के समक्ष एक गंभीर ख़तरा प्रस्तुत कर दिया। मार्क्सवाद के अपने पूर्ववर्ती विरोधियों से भिन्न, जिन्होंने मुख्यतया मार्क्सवाद के राजनीतिक सिद्धांतों से अपनी असहमति प्रकट की, ड्यूहरिंग ने मार्क्सवादी सिद्धांत के सभी संघटकों, अर्थात् दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र और वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त की आलोचना की तथा साथ ही नयी सार्विक दार्शनिक प्रणाली, राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजवाद का स्रष्टा होने का भी दावा किया। उन परिस्थितियों में, जबकि पार्टी ने अभी वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांतों को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया था और मज़दूर आंदोलन मार्क्स-पूर्व के, काल्पनिक समाजवाद के नाना रूपों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ था, ड्यूहरिंग की प्रस्थापनाओं से मज़दूर आंदोलन के लिये एक वास्तविक ख़तरा पैदा हो गया था। मार्क्स के विचारों की रक्षा करना, उनका विकास करना और बोधगम्य बनाना आवश्यक हो गया।

एंगेल्स ने नव-स्थापित पार्टी के सदस्यों के बीच मार्क्सवाद के सिद्धांतों की रक्षा करने और बोधगम्य बनाने का दायित्व ग्रहण करना अपना कर्तव्य माना। दो साल (१८७६–१८७८) के भीतर ही एंगेल्स ने 'श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रान्ति' ('ड्यूहरिंग मत-खंडन') शीर्षक एक महान रचना की, जिसमें उन्होंने ड्यूहरिंग के विचारों की धज्जियां उड़ा दीं और इसके साथ ही मार्क्सवादी विचारधारा के मूलभूत सिद्धांतों की ब्योरेवार समीक्षा प्रस्तुत की। ड्यूहरिंग के विचारों की नकारात्मक आलोचना मार्क्सवाद का सकारात्मक विवेचन बन गयी। इसने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के पाठकों के लिये मार्क्सवाद को समझना, इसका अध्ययन करना और इसके विचारों में पारंगत होना संभव बना दिया।

१८७७ के प्रारंभ से १८७८ के मध्य तक यह रचना सामाजिक-जनवादी पार्टी के मुखपत्र में प्रकाशित की गयी। बाद में स्वयं एंगेल्स ने यह स्पष्ट किया कि ड्यूहरिंग का सामना करने का कार्यभार इस वजह से मेरे ज़िम्मे आ गया कि "मार्क्स और मेरे बीच कार्यों के विभाजन के परिणामस्वरूप प्रेस में हमारे विचारों को स्पष्ट करने का दायित्व मुझपर था। चुनांचे मार्क्स का समय बचाने और उन्हें अपनी मुख्य महान कृति* को पूरा करने में समर्थ बनाने के लिये विरोधी विचारधारात्मक प्रस्थापनाओं का सामना करने की ज़िम्मेदारी मुझपर ही थी। अतः अन्य विचारों के मुक़ाबले में मुख्यतया खंडन-मंडन के तौर पर हमारे विचारों को प्रस्तुत करने की ज़िम्मेदारी मुझपर ही थी"।

मार्क्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' की रचना में सीधे रूप से भाग लिया। उन्होंने आवश्यक तथ्य-सामग्री जमा करने में एंगेल्स की सहायता की, पूरी की पूरी पांडुलिपियों की नज़रसानी की तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास के बारे में ड्यूहरिंग के विचारों की आलोचना सम्बन्धी अध्याय स्वयं ही लिखा। स्पष्टतया 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' आद्योपांत मार्क्स और एंगेल्स के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है।

एंगेल्स की रचना सामाजिक-जनवादी पार्टी के मुखपत्र *Vorwärts* ('आगे बढ़ो') में लेखमाला के रूप में प्रकाशित की गयी। इस तरह यह हज़ारों प्रगतिशील मज़दूरों को आसानी से सुलभ हो गयी। मार्क्स और एंगेल्स को अनेक लोगों द्वारा लिखे गये पत्र उस काल में 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के प्रकाशन के प्रति व्यापक उत्साह को पुष्ट करते हैं। अख़बार में 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के प्रकाशन के तुरंत बाद इसका पुस्तकाकार रूप में अलग संस्करण तैयार किया गया और एंगेल्स के जीवन काल में इसका पुनः दो बार संपादन किया गया। पुस्तक के तीन अध्यायों को एंगेल्स ने 'समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक' शीर्षक एक अलग पुस्तिका के रूप में संशोधित किया। मार्क्स के शब्दों में यह वैज्ञानिक समाजवाद की प्रस्तावना है। एंगेल्स के जीवन काल में इस पुस्तिका का यूरोप की प्रमुख

---

*यहां एंगेल्स का आशय 'पूंजी' से है। – सं०

भाषाओं में अनुवाद किया गया और इस तरह यह व्यापकतम जनसाधारण को सुलभ हो गयी।

'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के प्रकाशन से मार्क्सवाद के विरोधियों में ज़बर्दस्त विरोध-लहर फैल गयी। १८७७ में सामाजिक-जनवादी पार्टी की कांग्रेस में ड्यूहरिंग के सिद्धांत के समर्थकों ने एंगेल्स की रचना के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगाने की कोशिश की। समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून लागू किये जाने के बाद 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के जर्मनी में प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। लेकिन सभी प्रतिबंधात्मक कार्रवाइयों के बावजूद एंगेल्स की पुस्तक ने अपने महान ध्येय को पूरा किया। इसने मज़दूर आंदोलन में मार्क्सवाद की सैद्धांतिक विजय में अपना योगदान प्रस्तुत किया।

एंगेल्स की प्रतिभाशाली रचना का मार्क्सवादी सिद्धांत की अक्षय निधि के रूप में, मार्क्सवाद के वर्तमान विरोधियों – यानी सभी प्रकार के उन संशोधनवादियों, सारसंग्रहवादियों और मिथ्या-समाजवादियों के ख़िलाफ़ एक विचारधारात्मक अस्त्र के रूप में शाश्वत महत्व है, जो न्यूनाधिक उन विचारों से अब भी चिपके हुए हैं, जिन्हें एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' में ध्वस्त कर दिया था।

लगभग एक सदी से अधिक काल के दौरान इतिहास के घटनाक्रम ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के सैद्धांतिक सार-तत्व को पुष्ट कर दिया है।

तीन संस्करणों की भूमिकाएं

१

यह रचना किसी "ग्रान्तरिक प्रेरणा" का फल कदापि नहीं है। बात इसकी उल्टी है।

तीन वर्ष हुए जब श्री ड्यूहरिंग ने समाजवाद के निपुण ग्रनुयायी तथा साथ ही उसके सुधारक के रूप में ग्रकस्मात् ग्रपनी शताब्दी के नाम ग्रपनी चुनौती प्रकाशित की, तो जर्मनी के मेरे मित्रों ने यह इच्छा प्रकट की कि मुझे सामाजिक-जनवादी पार्टी के *Volksstaat*[1] नामक उस समय के केन्द्रीय मुखपत्र में इस नये समाजवादी सिद्धान्त का समीक्षात्मक विवेचन करना चाहिये। वे इसे नितान्त ग्रावश्यक समझते थे ताकि पार्टी में, जो ग्रभी बहुत ग्रल्पवयस्क थी ग्रौर जो केवल ग्रभी हाल में ही ग्रपने भीतर निश्चित रूप से एकता स्थापित कर पायी थी, संकीर्ण मतों के ग्राधार पर फूट पड़ जाने ग्रौर घबराहट पैदा हो जाने का कोई नया ग्रवसर न उत्पन्न हो जाये। जर्मनी की स्थिति के बारे में वे मेरे मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा सही राय क़ायम कर सकते थे ग्रौर इसलिये उनके परामर्श का ग्रनुकरण करना मेरा कर्तव्य था। इसके ग्रलावा यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि समाजवादी पत्र-पत्रिकाग्रों का एक हिस्सा इस नव-धर्मी का बड़े उत्साह से स्वागत कर रहा था। यह सच है कि यह उत्साह श्री ड्यूहरिंग के सद्भाव ही के लिये था; लेकिन साथ ही इससे यह भी प्रकट होता था कि पार्टी के पत्र-पत्रिकाग्रों के इस हिस्से में श्री ड्यूहरिंग के सद्भाव के ही कारण कुछ ऐसा सद्भाव भी पैदा हो गया था कि वह श्री ड्यूहरिंग के सिद्धान्त को भी ग्रांखें बन्द करके स्वीकार करने को तैयार हो गया था। इसके ग्रतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी थे, जो मज़दूरों के बीच इस सिद्धान्त का लोकगम्य रूप में प्रचार करने को तैयार थे। ग्रौर ग्रन्तिम बात यह थी कि श्री ड्यूहरिंग ग्रौर उनका छोटा-सा सम्प्रदाय विज्ञापनकला तथा कुचक्र के तमाम हथकण्डों का प्रयोग करके *Volksstaat* को नये

सिद्धान्त के प्रति, जो इतने लम्बे-चौड़े दावों के साथ मैदान में उतरा था, एक निश्चित रुख़ अपनाने के लिये मजबूर कर रहे थे।

फिर भी एक वर्ष तक मैं अन्य कामों की अवहेलना करके इस खट्टे सेब में दांत गड़ाने का निश्चय न कर सका। यह उस तरह का सेब था, जिसमें एक बार दांत लगाने के बाद उसे पूरा निगल जाना ज़रूरी होता है; और वह केवल बहुत खट्टा ही नहीं, बल्कि बहुत बड़ा भी था। नये समाजवादी सिद्धान्त को एक नयी दार्शनिक प्रणाली के अन्तिम व्यावहारिक फल के रूप में पेश किया गया था। अतएव उसपर इस दार्शनिक प्रणाली के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक था और वैसा करते हुए ख़ुद इस प्रणाली पर भी विचार करना ज़रूरी था। आवश्यकता थी कि श्री ड्यूहरिंग का पीछा करते हुए उस विशाल क्षेत्र का परीक्षण किया जाये, जिसमें विचरण करते हुए श्री ड्यूहरिंग ने इस संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं का और उनके अतिरिक्त कुछेक का भी विवेचन कर डाला है। इस प्रकार वह लेखमाला लिखी गयी, जो *Volksstaat* के उत्तराधिकारी लाइपज़िग के *Vorwärts* में १८७७ के आरम्भ से प्रकाशित होना शुरू हुई थी और जो एक सम्बद्ध पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की जा रही है।

अतएव आलोच्य वस्तु ही ऐसी थी, जिसने आलोचना को इतने अधिक विस्तार में जाने के लिये विवश कर दिया, जो इस वस्तु के, अर्थात् ड्यूहरिंग की रचनाओं के वैज्ञानिक सार को देखते हुए अत्यधिक विस्तृत था। किन्तु दो और कारण भी हैं, जिनसे विवेचन की यह लम्बाई क्षम्य समझी जा सकती है। एक ओर तो इस पुस्तक में मुझे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक विषयों को स्पर्श करना पड़ा है, और इससे मुझे उन विवादास्पद प्रश्नों पर, जिन्होंने आजकल काफ़ी सामान्य ढंग का वैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लिया है, अपने विचार स्पष्ट रूप से पेश करने का मौक़ा मिल गया है। यह काम मैंने प्रत्येक अध्याय में किया है और यद्यपि श्री ड्यूहरिंग की "प्रणाली" के विकल्प के रूप में कोई और प्रणाली पेश करना इस रचना का उद्देश्य कदापि नहीं है, तथापि आशा की जाती है कि इस पुस्तक में मैंने जिन विभिन्न विचारों को पेश किया

है, उनका आन्तरिक सम्बन्ध पाठक की आंखों से छिपा नहीं रहेगा। मेरे पास अभी से इस बात का काफ़ी प्रमाण मौजूद है कि इस दृष्टि से मेरी यह रचना सर्वथा अनुपयोगी नहीं सिद्ध हुई है।

दूसरी ओर "प्रणाली स्रष्टा" श्री ड्यूहरिंग आजकल के जर्मनी में कोई इक्की-दुक्की दिखायी पड़ जानेवाली परिघटना नहीं हैं। कुछ समय से जर्मनी में जगत्सृष्टि सिद्धान्त की प्रणालियां, सामान्य प्राकृतिक दर्शन की प्रणालियां, राजनीति की प्रणालियां, राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रणालियां और इसी प्रकार की अन्य अनेक प्रणालियां रातों-रात दर्जनों की संख्या में इस तरह उग रही हैं, जैसे वर्षा के बाद खुम्मियां उगती हैं। जो कोई दर्शन का डाक्टर बन जाता है, वह चाहे जितना महत्वहीन क्यों न हो, और यहां तक कि साधारण विद्यार्थी भी सम्पूर्ण "प्रणाली" से कम कोई चीज़ नहीं तैयार करता। जिस प्रकार आधुनिक राज्य में यह मान लिया जाता है कि नागरिकों से जिन प्रश्नों पर मत देने को कहा जाता है, प्रत्येक नागरिक में उन सभी प्रश्नों पर विचार करने की योग्यता होती है; जिस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र में यह मान लिया जाता है कि प्रत्येक उपभोक्ता को अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो तमाम वस्तुएं ख़रीदनी पड़ती हैं, वह उन सबका पारखी होता है—उसी प्रकार अब विज्ञान में भी हमें कुछ ऐसी ही बात मानकर चलना पड़ेगा। विज्ञान की स्वतंत्रता का यह अर्थ लगाया जाता है कि लोग हर ऐसे विषय पर लिख सकते हैं, जिसका उन्होंने अध्ययन नहीं किया है, और यह दावा कर सकते हैं कि यही एकमात्र वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति है। जर्मनी में आजकल जो यह शेख़ीबाज़ मिथ्या विज्ञान हर जगह आगे आ रहा है और अपनी आडम्बरपूर्ण बकवास के शोर में दूसरी हर बात को डुबोये दे रहा है, श्री ड्यूहरिंग उसके सबसे विशिष्ट प्रतिनिधियों में से हैं। यह आडम्बरपूर्ण बकवास कविता में, दर्शनशास्त्र में, राजनीति में, राजनीतिक अर्थशास्त्र में और इतिहास में सुनने को मिलती है। यह आडम्बरपूर्ण बकवास विद्यालयों की कक्षाओं में और सार्वजनिक सभाओं के मंच से सुनाई देती है। हर जगह यह आडम्बरपूर्ण बकवास ही कानों में पड़ती है। यह आडम्बरपूर्ण बकवास दावा करती है कि उसमें एक ऐसी श्रेष्ठता और

विचारों की गहराई है, जो उसे अन्य राष्ट्रों की साधारण, सीधी-सादी बकवास के स्तर से ऊपर उठा देती है। यह आडम्बरपूर्ण बकवास जर्मनी के बौद्धिक उद्योग की विस्तृत स्तर पर पैदा की जानेवाली सबसे अधिक लाक्षणिक पैदावार है – सस्ती मगर ख़राब – जैसी जर्मनी में बनी दूसरी वस्तुएं होती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि दुर्भाग्य से उन तमाम वस्तुओं के साथ-साथ इसे फ़िलाडेलफ़िया में प्रदर्शित नहीं किया गया।[2] यहां तक कि कुछ समय से और ख़ासकर जब से श्री ड्यूहरिंग का श्रेष्ठ उदाहरण लोगों के सामने आया है, जर्मन समाजवाद भी बहुत काफ़ी मात्रा में आडम्बरपूर्ण बकवास का सृजन करने लगा है। उसने कई ऐसे व्यक्तियों को पैदा किया है, जो "विज्ञान" के अपने ज्ञान पर अकड़ते फिरते हैं, हालांकि उन्होंने "असल में कुछ भी नहीं सीखा है"।[3] यह एक बचकाना मर्ज़ है, जो इस बात का लक्षण है कि जर्मन विद्यार्थी सामाजिक-जनवाद को अपना रहा है और जिसे उसके विचार परिवर्तन की प्रारम्भिक अवस्था से अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे देश के मज़दूर अपने अद्भुत रूप से स्वस्थ स्वभाव के कारण इस मर्ज़ पर क़ाबू पाने में सफल होंगे।

इसमें मेरा दोष नहीं था कि मुझे श्री ड्यूहरिंग का पीछा करते हुए ऐसे क्षेत्रों में प्रवेश करना पड़ा, जिनके सम्बन्ध में मैं अधिक से अधिक केवल एक अल्पज्ञानी नौसिखुआ होने का ही दावा कर सकता हूं। ऐसे स्थलों पर मैंने प्रायः अपने प्रतिपक्षी के झूठे या विकृत दावों के मुक़ाबले में सही और निर्विवाद तथ्यों को पेश करने तक ही अपने को सीमित रखा है। यह बात विधिशास्त्र पर और कुछ स्थानों पर प्राकृतिक विज्ञान पर भी लागू होती है। अन्य स्थानों पर मुझे सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्धित सामान्य विचारों की चर्चा करनी पड़ी है, अर्थात् मुझे एक ऐसे क्षेत्र में घुसना पड़ा है, जहां पेशेवर प्रकृतिविज्ञ भी अपनी विशिष्ट शाखा की सीमाओं से बाहर निकलकर पड़ोस के प्रदेश में क़दम रखने के लिये विवश हो जाता है; और जैसा कि श्री विर्ख़ोव ने स्वीकार किया है, उस प्रदेश में वह पेशेवर वैज्ञानिक भी उतना ही "अर्ध-दीक्षित"[4] होता है, जितना हम लोगों में से कोई होता। मैं आशा करता हूं कि यदि कहीं

पर कुछ छोटी-मोटी ग़लतियां या बात कहने के ढंग में कोई भद्दापन नज़र आता है, तो मेरे साथ भी वही उदारता दिखायी जायेगी, जो विभिन्न पेशों के लोगों द्वारा एक दूसरे के साथ दिखायी जाती है।

जिस समय मैं इस भूमिका को पूरी कर रहा था, उसी समय मुझे प्रकाशक की ओर से श्री ड्यूहरिंग द्वारा रचित एक ऐसी विज्ञप्ति मिली, जिसमें श्री ड्यूहरिंग की एक नयी "निर्देशकारी" रचना *Neue Grundgesetze zur rationellen Physik und Chemie** के प्रकाशन की सूचना दी गयी थी। मैं इस बात को समझता हूं कि भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान का मेरा ज्ञान अपर्याप्त है; फिर भी मुझे विश्वास है कि मैं श्री ड्यूहरिंग को अच्छी तरह जानता हूं और इसलिये इस रचना को देखे बिना ही मुझे पहले से ही यह कह देने का अधिकार है कि इस रचना में भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के जो नियम प्रस्तुत किये गये होंगे, वे अपनी अयथार्थता और लचरपन के कारण राजनीतिक अर्थशास्त्र, विश्व रेखांकन आदि के उन नियमों की पंक्ति में रखे जाने के योग्य ही होंगे, जिनका श्री ड्यूहरिंग इसके पहले आविष्कार कर चुके हैं और जिनपर मेरी पुस्तक में विचार किया गया है। और मैं यह भी कह सकता हूं कि श्री ड्यूहरिंग ने जिस रिगोमीटर का अथवा अत्यन्त निम्न तापों को मापने के जिस यंत्र का निर्माण किया है, वह न तो उच्च तापों को मापने के काम में आयेगा और न निम्न तापों को, वह तो केवल श्री ड्यूहरिंग के अज्ञानपूर्ण अहंकार को ही मापने के काम में आयेगा।

लन्दन, ११ जून, १८७८

२

मुझे यह आशा नहीं थी कि इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ेगा। उसकी आलोच्य विषय-वस्तु को अब लोग लगभग भूल

---

* 'बुद्धिसंगत भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के लिये कुछ नवीन मौलिक नियम'। – **सं०**

गये हैं। यह रचना न केवल लाइपज़िग के पत्र *Vorwärts* में १८७७ और १८७८ में प्रकाशित लेखमाला के रूप में कई हज़ार पाठकों तक पहुंच चुकी है, बल्कि अपने पूर्ण रूप में एक अलग किताब की शक्ल में भी निकल चुकी है, जिसका बहुत बड़ा संस्करण छापा गया था। ऐसी हालत में अब भी इस बात में किसी को क्यों दिलचस्पी हो सकती है कि वर्षों पहले मैंने श्री ड्यूहरिंग के बारे में क्या कहा था?

मैं समझता हूं कि इसका पहला कारण तो यह है कि समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून [5] लागू होते ही जर्मन साम्राज्य में उस ज़माने में प्रचलित मेरी अन्य लगभग सभी रचनाओं की तरह इस पुस्तक पर भी रोक लगा दी गयी थी। जिस किसी का दिमाग़ पवित्र गठजोड़ [6] के देशों के पुश्तैनी नौकरशाही पूर्वाग्रहों से एकदम ठस्स नहीं हो गया है, उसके लिये यह बात स्वतःस्पष्ट होती कि इस तरह की कार्रवाई का क्या नतीजा होगा – जिन किताबों पर रोक लगायी गयी थी, उनकी बिक्री दुगुनी और तिगुनी हो गयी, जिससे बर्लिन में बैठे हुए उन महानुभावों की शक्तिहीनता का रहस्य खुल गया, जो रोक तो लगाते थे, मगर उसे अमल में नहीं ला पाते थे। सच तो यह है कि सम्राट की सरकार की कृपा से मेरी लघु रचनाओं के भी इतने अधिक संस्करण निकालने पड़े हैं कि मेरे लिये उनकी समुचित व्यवस्था करना असम्भव था। मुझे पुस्तकों के पाठ को ठीक तौर पर देखने का समय नहीं मिला है और अधिकांश स्थलों पर मुझे उन्हें पुनः ज्यों का त्यों छाप देने की अनुमति दे देनी पड़ी है।

लेकिन एक और कारण भी था। इस पुस्तक में श्री ड्यूहरिंग की जिस "प्रणाली" की आलोचना की गयी है, वह एक बहुत विस्तृत सैद्धान्तिक क्षेत्र पर फैली हुई थी; और वह जहां कहीं भी पहुंचे, उनका पीछा करते हुए मुझे भी वहां जाना पड़ा और उनकी अवधारणाओं के मुक़ाबले में अपनी अवधारणाओं को पेश करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरी नकारात्मक आलोचना सकारात्मक बन गयी; और श्री ड्यूहरिंग के मत का खण्डन करने के लिये मैं जो कुछ लिख रहा था, वह उस द्वन्द्ववादी पद्धति और कम्युनिस्ट विचारधारा की एक न्यूनाधिक सम्बद्ध व्याख्या में रूपान्तरित हो गया, जिसके लिये मार्क्स और मैं संघर्ष

कर रहे थे। और यह व्याख्या नाना प्रकार के विषयों के एक काफ़ी व्यापक क्षेत्र पर फैल गयी। हमारी इस विशिष्ट विचारधारा का – जिसे पहली बार मार्क्स की रचना 'दर्शन की दरिद्रता' में और 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में दुनिया के सामने पेश किया गया था और जो 'पूंजी' के प्रकाशन के पहले पूरे बीस वर्ष तक अन्तर्विकास के एक काल से गुज़र चुकी थी – दिन प्रति दिन ज़्यादा तेज़ी के साथ अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्रों पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है।[7] अब उसे यूरोप की सीमाओं से बहुत दूर, प्रत्येक ऐसे देश में मान्यता और समर्थन प्राप्त हो गया है, जिसमें एक ओर तो सर्वहारा और दूसरी ओर निडर वैज्ञानिक सिद्धान्तवेत्ता पाये जाते हैं। इसलिये लगता है कि ऐसे लोग भी क़ाफ़ी हैं, जिनकी इस विषय में इतनी अधिक दिलचस्पी है कि हालांकि ड्यूहरिंग के सिद्धान्तों के खण्डन का अब कोई ख़ास महत्व नहीं रह गया है, फिर भी इस मत-खण्डन के साथ-साथ विकसित की गयी सकारात्मक अवधारणाओं की ख़ातिर वे ड्यूहरिंग विरोधी शास्त्रार्थ को भी सुनने को तैयार हैं।

चलते-चलते मैं यहां यह भी बता दूं कि इस पुस्तक में विचारधारा की जिस पद्धति का प्रतिपादन किया गया है, उसकी नींव डालने और विकास करने में चूंकि मार्क्स का कहीं ज़्यादा हाथ था और इस काम में मेरा भाग चूंकि केवल बहुत महत्वहीन था, इसलिये हम दोनों के बीच यह बात स्वतःस्पष्ट हुई है कि यह व्याख्या उनको सूचित किये बिना प्रकाशित नहीं की जायेगी। छपने के पहले मैंने पूरी पांडुलिपि उनको पढ़कर सुना दी थी; और राजनीतिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित भाग का दसवां अध्याय ("'आलोचनात्मक इतिहास' से") मार्क्स ने लिखा था; लेकिन दुर्भाग्यवश केवल कुछ बाहरी कारणों से मुझे उसे किसी क़दर छोटा कर देना पड़ा। वस्तुतः ख़ास-ख़ास विषयों में हम हमेशा से एक दूसरे की मदद करते आये थे।

एक अध्याय के सिवा यह नया संस्करण पुराने संस्करण की ही पुनर्मुद्रित प्रति है। उसमें और परिवर्तन नहीं किया गया है। कारण कि एक तो मेरे पास किताब को अच्छी तरह दोहराने का समय नहीं था, हालांकि विषय को पेश करने के ढंग में बहुत कुछ ऐसा था, जिसे मैं बदलना पसन्द

करता। इसके अलावा मेरे कंधों पर उन पांडुलिपियों को छपाई के वास्ते तैयार करने की ज़िम्मेदारी आ पड़ी है, जिनको मार्क्स छोड़ गये हैं; और यह काम अन्य किसी भी काम से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। फिर यह बात भी है कि मेरा अन्तःकरण मुझे इस पुस्तक में कोई परिवर्तन करने की इजाज़त नहीं देता। यह किताब एक व्यक्ति के मत का खण्डन करने के लिये लिखी गयी है और मैं समझता हूं कि अपने प्रतिपक्षी के प्रति मेरा यह कर्तव्य है कि जब वह अपनी रचना में कोई सुधार करने की स्थिति में नहीं है, तब मुझे भी अपनी रचना में कोई सुधार नहीं करना चाहिये। मैं केवल इतना ही दावा कर सकता था कि इस पुस्तक का श्री ड्यूहरिंग ने जो उत्तर दिया है, मुझे उसका प्रत्युत्तर देने का अधिकार है। लेकिन मेरी आलोचना के विषय में श्री ड्यूहरिंग ने जो कुछ लिखा है, उसे मैंने न तो पढ़ा है और न ही जब तक कोई विशेष कारण नहीं होता, मैं उसे भविष्य में कभी पढ़ूंगा। जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, मुझे अब उनसे कुछ लेना-देना नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके साथ साहित्यिक युद्ध में भद्रता के नियमों का पालन करना मेरे लिये इस कारण और भी आवश्यक हो गया है कि इस बीच बर्लिन विश्वविद्यालय ने उनके साथ एक गर्हणीय अन्याय किया है। यह सच है कि विश्वविद्यालय भी अपराध के दण्ड से नहीं बच सका है। जो विश्वविद्यालय इस बात पर उतर सकता है कि उन परिस्थितियों में, जिनसे सब लोग अच्छी तरह परिचित हैं, श्री ड्यूहरिंग से उनकी शैक्षणिक स्वतंत्रता को छीन ले, उसपर यदि कुछ अन्य परिस्थितियों में, जिनसे भी लोग अच्छी तरह परिचित हैं, श्री श्वेनिंगर को लाद दिया जाये, तो उसे कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये।[8]

केवल एक ही ऐसा अध्याय है, जिसमें मैंने कुछ नया स्पष्टीकरण जोड़ने की अपने को इजाज़त दी है, वह है भाग ३ का दूसरा अध्याय —'सैद्धान्तिक'। इस अध्याय में केवल उस विचारधारा के एक केन्द्रीय बिंदु का प्रतिपादन किया गया है, जिसका मैं समर्थन करता हूं; और इसलिये यदि मैं उसे अधिक लोकगम्य तथा अधिक संसक्त रूप में पेश करने का प्रयत्न करूं, तो मेरे प्रतिपक्षी को कोई शिकायत नहीं होनी

चाहिये। और सचमुच यह करने का एक विशेष कारण था। मैंने अपने मित्र लफ़ार्ग के लिये पुस्तक के तीन अध्यायों को ('प्रस्तावना' के पहले अध्याय तथा भाग ३ के पहले और दूसरे अध्यायों को) इस उद्देश्य से दोहराया था कि फ़्रांसीसी भाषा में अनुवाद करके उनको एक अलग पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिया जाये। और इस पुस्तिका के फ़्रांसीसी संस्करण के आधार पर इतालवी और पोलिश संस्करणों के निकल जाने के बाद मैंने उसका एक जर्मन संस्करण भी निकाला था, जिसका शीर्षक था: *Die Entwicklung des Sozialismus von der Utopie zur Wissenschaft.** चंद महीनों के भीतर उसके तीन संस्करण बिक गये और रूसी तथा डच भाषाओं में भी उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ।[9] इन तमाम संस्करणों में केवल उपर्युक्त अध्याय को ही थोड़ा बढ़ाया गया था; और यदि मैं मूल रचना का एक नया संस्करण तैयार करते समय बाद के उस पाठ का उपयोग न करता, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार हो चुका था, और उस पुराने मूल पाठ से ही चिपका रहता, तो यह सरासर पण्डिताऊ दम्भ का प्रदर्शन करना होता।

और जिन अंशों को मैं बदलना पसन्द करता, उनका सम्बन्ध मुख्यतया दो बातों से है। पहली बात है आदिम समाज का इतिहास, जिसकी कुंजी केवल १८७७ में मार्गन से प्राप्त हुई है।[10] लेकिन चूंकि इस बीच मुझे अपनी रचना *Der Ursprung der Familie, des Privateigentums und des Staats* (ज़ूरिच, १८८४)** में उस सामग्री का परिष्कार करने का अवसर मिल गया है, जो मुझे इस बीच मिल गयी थी, इसलिये उस पुस्तक का हवाला दे देने से ही यहां काम चल जाता है।

दूसरी बात का सम्बन्ध उस हिस्से से है, जिसमें सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान की चर्चा की गयी है। मैंने जिस ढंग से विषय का प्रतिपादन किया है, उसमें बहुत कुछ काफ़ी भद्दा है और आज उसमें से बहुत-सी बातें अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित रूप में व्यक्त की जा सकती थीं। लेकिन

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक'। – **सं०**

** 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'। – **सं०**

मैंने इस हिस्से में सुधार करने की इजाज़त अपने को नहीं दी है, और इसीलिये मेरे ऊपर यह ज़िम्मेदारी आ पड़ती है कि यहां इस भूमिका में मैं अपनी ही आलोचना करूं।

मार्क्स और मैं दो ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने सचेतन द्वन्द्ववाद को जर्मन भाववादी दर्शनशास्त्र से मुक्त करके उसे प्रकृति तथा इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा पर लागू किया। लेकिन प्रकृति की ऐसी अवधारणा के लिये, जो द्वन्द्ववादी हो और साथ ही भौतिकवादी भी हो, गणित और प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। मार्क्स गणित अच्छी तरह जानते थे, लेकिन प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञान हम केवल थोड़ा-थोड़ा करके, बीच में रुक-रुककर और यदा-कदा ही प्राप्त कर पाते थे। इस कारण, जब मैं अपने व्यावसायिक कामों से अलग होकर रहने के लिये लंदन चला आया[11] और इस तरह मुझे विज्ञान का अध्ययन करने के लिये आवश्यक समय मिलने लगा, तो जहां तक गणित और प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का सम्बन्ध है, मैं लीबिग[12] के शब्दों में एक यथासम्भव पूर्ण "निर्मोचन प्रक्रिया" से गुज़रा और आठ वर्षों का अधिकांश इस प्रक्रिया में ख़र्च हो गया। मैं इस "निर्मोचन प्रक्रिया" के ठीक बीच में था कि मुझे श्री ड्यूहरिंग के तथाकथित प्राकृतिक दर्शन का विवेचन करना पड़ा। इसलिये यह अत्यन्त स्वाभाविक ही था कि इस विषय की चर्चा करते हुए कभी-कभी मैं सही पारिभाषिक शब्दावली को खोजकर नहीं निकाल सका और सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में मैंने आम तौर पर काफ़ी फूहड़पन का परिचय दिया। दूसरी ओर इस क्षेत्र के सम्बन्ध में चूंकि मैं उस समय तक आत्मविश्वास के अभाव को दूर नहीं कर सका था, इसलिये मैं बहुत सावधानी बरतता था और मुझपर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उस ज़माने में जो तथ्य मालूम थे, उनके सम्बन्ध में मैंने सचमुच कोई बड़ी भूल की है या मान्य सिद्धान्तों को ग़लत ढंग से पेश किया है। इस सम्बन्ध में गणितज्ञ के रूप में केवल एक ही ऐसी अज्ञात महाविभूति मिली है, जिसने मार्क्स को पत्र लिखकर यह शिकायत की थी कि मैंने धृष्टतापूर्वक $\sqrt{-1}$ के सम्मान पर चोट की है।[13]

कहने की आवश्यकता नहीं कि जब मैंने गणित और प्राकृतिक विज्ञान

का पुनः अध्ययन किया था, तो मेरा उद्देश्य अपने को यह विश्वास दिलाना था कि जिस बात की सामान्य सचाई में मुझे कोई सन्देह नहीं था, वह बात अलग-अलग रूप में भी सच है। अर्थात् मैं इस बात की सचाई को अलग-अलग रूप में जाकर परखना चाहता था कि प्रकृति में जो असंख्य परिवर्तन होते रहते हैं, उनके बीच भी गति के वे ही द्वन्द्वात्मक नियम बलपूर्वक अमल में आते हैं, जो इतिहास में घटनाओं की दिखावटी आकस्मिकता का नियमन करते हैं; जो इसी प्रकार मानव चिन्तन के विकास के इतिहास में भी एक सतत सूत्र की भांति दिखायी पड़ते हैं तथा धीरे-धीरे मनुष्य की चेतना में प्रवेश करते हैं; और जिन नियमों को सबसे पहले हेगेल ने एक सर्वव्यापी, किन्तु रहस्यमय रूप में विकसित किया था और जिनको इस रहस्यमय रूप से मुक्त करके उनकी पूर्ण सरलता एवं सार्वत्रिकता में मस्तिष्क के सामने प्रस्तुत करने का कार्य हमने अपने एक मुख्य उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि पुराने प्राकृतिक दर्शन से, उसके वास्तविक महत्व और उसमें बिखरे हुए अनेक उपजाऊ बीजों के बावजूद,* हमें सन्तोष नहीं हो सका

---

*कार्ल फ़ोग्ट की तरह विचारशून्य भीड़ के साथ मिलकर पुराने प्राकृतिक दर्शन पर हमला करना उसके ऐतिहासिक महत्व को समझने की अपेक्षा बहुत आसान है। उसमें बहुत-सी बकवास और अनेक कपोल-कल्पित बातें हैं, लेकिन इस दर्शन के समकालीन अनुभववादी प्राकृतिक वैज्ञानिकों के अदार्शनिक सिद्धान्तों में इस तरह की जितनी बातें पायी जाती हैं, उनसे अधिक पुराने प्राकृतिक दर्शन में नहीं पायी जातीं। और विकास के सिद्धान्त का प्रचार हो जाने के बाद लोगों की समझ में यह बात आने लगी है कि प्राकृतिक दर्शन में बहुत कुछ ऐसा भी था, जो विवेकपूर्ण और बुद्धिसंगत था। इसलिये त्रेविरेनस और ओकेन के गुणों को स्वीकार करके हैकेल ने सर्वथा उचित कार्य किया था।[14] अपने आद्य पंक तथा आद्य फफोले के रूप में ओकेन ने उन्हीं वस्तुओं को जीव-विज्ञान की पूर्वधारणाओं के रूप में पेश किया था, जिनका बाद में प्रोटोप्लाज़्म और कोशिका के रूप में सचमुच आविष्कार हुआ। जहां तक विशिष्ट रूप से हेगेल का सम्बन्ध है, वह अपने समकालीन अनुभववादी वैज्ञानिकों से बहुत-सी बातों में कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। इन वैज्ञानिकों का यह ख़याल

था। जैसा कि इस पुस्तक में अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट किया गया है, प्राकृतिक दर्शन ने विशेषकर हेगेलीय रूप में इसलिये ग़लती की थी

था कि जिन परिघटनाओं की अभी तक कोई व्याख्या नहीं की जा सकी है, उन सब की व्याख्या कर डालने के लिये बस इतना कह देना ही काफ़ी है कि उनमें कोई अन्तर्निहित बल या शक्ति होती है, जैसे गुरुत्वाकर्षण का बल, उत्प्लावकता की शक्ति, विद्युत संस्पर्श की शक्ति, इत्यादि, या जहां इससे काम न चले, वहां इन परिघटनाओं के भीतर किसी अज्ञात द्रव्य का आविष्कार कर डालने से काम चल सकता है, जैसे प्रकाश ऊष्मा, विद्युत्, इत्यादि। इन काल्पनिक द्रव्यों को तो अब प्रायः सभी ने त्याग दिया है, लेकिन वह शक्तियों वाली बकवास, जिसके विरुद्ध हेगेल ने संघर्ष किया था, अब भी कभी-कभी सुनने को मिल जाती है। उदाहरण के लिये, १८६९ में हेल्महोल्ट्ज़ ने इन्सब्रुक में जो भाषण दिया था, उसको देखिये (हेल्महोल्ट्ज़, *Populäre Vorlesungen*–'लोकगम्य भाषण' –अंक २, १८७१, पृ० १९०)।[15] न्यूटन पूजा की प्रथा अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसियों से विरासत में मिली थी। अंग्रेज़ों ने न्यूटन पर उपाधियों और धन की वर्षा की थी। इस सब के मुक़ाबले में हेगेल ने यह तथ्य खोजकर निकाला कि आकाश पिंडों की आधुनिक यांत्रिकी के असली संस्थापक केप्लेर थे, जिनको जर्मनी ने भूखों मरने के लिये छोड़ रखा था और गुरुत्वाकर्षण का न्यूटन का नियम केप्लेर के तीनों नियमों में पहले ही से निहित था तथा उनके तीसरे नियम के रूप में तो उसकी स्पष्ट रूप में स्थापना कर दी गयी थी। हेगेल ने अपनी रचना *Naturphilosophie*–'प्राकृतिक दर्शन'–के पैराग्राफ़ २७० और परिशिष्ट (हेगेल की रचनाएं, १८४२, खण्ड ७, पृ० ९८ और ११३-११५) में कुछ सरल समीकरणों के द्वारा जो बात प्रमाणित कर दी थी, वही गुस्टाफ़ किर्होफ़ के *Vorlesungen über mathematische Physik*–'गणितीय भौतिक विज्ञान पर भाषण'–(दूसरा संस्करण, लाइपज़िग, १८७७, पृ० १०) में अभिनवतम गणितीय यांत्रिकी के निष्कर्ष के रूप में पुनः प्रकट हुई है और वहां भी वह मूलतया उसी सरल गणितीय रूप में प्रकट हुई है, जिस रूप में हेगेल ने पहले पहल उसका प्रतिपादन किया था। सचेतन रूप से द्वन्द्वात्मक प्राकृतिक विज्ञान के साथ प्राकृतिक दार्शनिकों का वही सम्बन्ध है, जो आधुनिक कम्युनिज़्म के साथ कल्पनावादियों का है। **[एंगेल्स का नोट]**

कि वह यह मानने को तैयार नहीं था कि प्रकृति का कालानुसार किसी प्रकार का विकास हुआ है; वह प्रकृति में किसी प्रकार का "अनुक्रम" नहीं, बल्कि केवल "सह-अस्तित्व" ही देखता था। यह मत एक ओर तो स्वयं हेगेलीय प्रणाली पर आधारित था, जो मानती थी कि प्रगतिशील ऐतिहासिक विकास का श्रेय केवल "आत्मा" को ही है; दूसरी ओर उसका कारण उस काल में प्राकृतिक विज्ञान की विविध शाखाओं की सम्पूर्ण स्थिति थी। इस मामले में हेगेल काण्ट के बहुत पीछे थे, जिसके नीहारिका सिद्धान्त ने सौर मंडल की उत्पत्ति की ओर पहले ही संकेत कर दिया था और जिन्होंने साथ ही यह आविष्कार करके कि ज्वार-भाटा के कारण पृथ्वी का घुमाव मन्द पड़ जाता है, सौर मंडल के अवश्यम्भावी विनाश की भी घोषणा कर दी थी।[16] और अन्तिम बात यह है कि मेरे लिये द्वन्द्ववाद के नियमों को प्रकृति में ज़बर्दस्ती ठूंसने का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता था; मुझे तो इन नियमों को प्रकृति में खोजकर निकालना था और प्राकृतिक जगत् के आधार पर उनको विकसित करना था।

लेकिन इस काम को सुनियोजित ढंग से तथा हर अलग-अलग क्षेत्र में करना बड़ा भारी कार्य है। न केवल इसलिये कि ज्ञान के जिस क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त करना था, वह लगभग असीम है, बल्कि इसलिये भी कि इस पूरे क्षेत्र में प्राकृतिक विज्ञान ख़ुद क्रान्तिकारी परिवर्तनों की एक ऐसी विराट प्रक्रिया से गुज़र रहा है कि जो लोग अपना सारा अवकाश उसी के अध्ययन में लगा सकते हैं, वे भी उसके हम-क़दम नहीं रह पाते। लेकिन कार्ल मार्क्स की मृत्यु के बाद से मुझे अपना समय कुछ ज़्यादा ज़रूरी कामों में लगाना पड़ रहा है और इसलिये अपना काम मुझे उठाकर एक तरफ़ रख देना पड़ा है। फ़िलहाल मुझे इस पुस्तक में दी गयी टिप्पणियों से ही संतोष करना पड़ेगा और जिन निष्कर्षों पर मैं पहुंच चुका हूं, उनको एकत्रित तथा प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी। सम्भवतः मैं उनको उन अत्यन्त महत्वपूर्ण गणित सम्बन्धी पांडुलिपियों के साथ प्रकाशित करूंगा, जो मार्क्स छोड़ गये हैं।[17]

फिर भी यह सम्भावना तो है ही कि सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान की प्रगति मेरी रचना को बहुत हद तक या शायद पूरी तरह अनावश्यक बना दे। कारण कि विशुद्ध अनुभववादी आविष्कारों को, जिनकी संख्या अब बहुत अधिक बढ़ गयी है, व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता मात्र ही सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक ऐसी क्रान्ति अनिवार्य बनाये दे रही है, जो प्राकृतिक प्रक्रियाओं के द्वन्द्ववादी स्वरूप का उन अनुभववादियों की चेतना में भी लाज़िमी तौर पर प्रवेश करा देगी, जो इस स्वरूप का सबसे अधिक विरोध करते हैं। पुराने कठोर विरोध, सुस्पष्ट अगम्य विभाजन रेखाएं अधिकाधिक मिटती जा रही हैं। जब से अन्तिम "वास्तविक" गैसों का भी द्रवण किया जा चुका है और जब से यह प्रमाणित किया जा चुका है कि किसी भी पिण्ड को एक ऐसी अवस्था में पहुंचाया जा सकता है, जहां द्रव रूप और गैस रूप में भेद करना असम्भव हो जाता है, तब से समुच्चित अवस्थाओं के भूतपूर्व निरपेक्ष स्वरूप के अन्तिम अवशेष भी जाते रहे हैं।[18] गैसों का गतिज सिद्धान्त है कि समान ताप पर आदर्श गैसों में अलग-अलग गैस अणु जिन रफ़्तारों से हरकत करते हैं, उनके वर्ग उन गैसों के अणु भारों के प्रतिलोम अनुपात में होते हैं। इस सिद्धान्त की स्थापना के साथ-साथ ऊष्मा भी प्रत्यक्ष रूप से गति के उन रूपों में अपना स्थान ग्रहण कर लेती है, जिनको तत्काल ही गति की तरह मापा जा सकता है। दस वर्ष पहले तक गति के महान मूलभूत नियम की, जिसका उसके कुछ समय पहले ही आविष्कार हुआ था, केवल ऊर्जा के **संरक्षण** के नियम के रूप में और केवल गति की अविनाश्यता एवं असृज्यता की अभिव्यंजना के रूप में ही कल्पना की जाती थी, अर्थात् गति के केवल परिमाणात्मक पहलू की ओर ही ध्यान दिया जाता था। किन्तु अब इस संकुचित एवं नकारात्मक विचार का स्थान अधिकाधिक ऊर्जा के **रूपान्तरण** का वह सकारात्मक विचार ग्रहण करता जा रहा है, जिसमें पहली बार प्रक्रिया का गुणात्मक सार महत्व प्राप्त करता है और एक अलौकिक सृष्टिकर्त्ता का अन्तिम चिह्न भी मिट जाता है। अब इस सिद्धान्त का किसी नयी खोज के रूप में प्रचार करने की आवश्यकता नहीं है कि जब गति की मात्रा (तथाकथित ऊर्जा) गतिज ऊर्जा (तथाकथित यांत्रिक

बल) से विद्युत, ऊष्मा, स्थितिज ऊर्जा आदि में रूपान्तरित की जाती है और जब इसकी विपरीत क्रिया सम्पादित होती है, तब गति की मात्रा (तथाकथित ऊर्जा) के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त तो अब स्वयं रूपांतरण की प्रक्रिया के कहीं अधिक सारगर्भित अन्वेषण के लिये पहले से सुस्थापित आधार का काम कर रहा है; और रूपान्तरण की क्रिया वह महान मूलभूत प्रक्रिया है, जिसका ज्ञान प्राप्त करना प्रकृति का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना है। और जब से जीव विज्ञान का अध्ययन विकास के सिद्धान्त के प्रकाश में किया जा रहा है, तब से जैव प्रकृति के क्षेत्र में वर्गीकरण की एक के बाद दूसरी कठोर सीमा रेखा लुप्त होती जा रही है। दिन प्रति दिन बीच की उन कड़ियों की संख्या बढ़ती जा रही है, जिनका वर्गीकरण करना लगभग असम्भव प्रतीत होता है। अधिक निकट से अध्ययन करने पर एक वर्ग के जीव उस वर्ग से निकालकर किसी और वर्ग में फेंक दिये जाते हैं; और वे भेदकारक लक्षण, जिन्होंने लोगों की दृष्टि में लगभग धर्म तत्वों का स्थान ग्रहण कर लिया था, अपनी निरपेक्ष मान्यता खोते जा रहे हैं। अब हम ऐसे स्तनधारियों को जानते हैं, जो अण्डे देते हैं, और यदि प्राप्त समाचार सही सिद्ध होता है, तो ऐसे भी पक्षी मिले हैं, जो चारों हाथों-पैरों पर चलते हैं।[19] वर्षों पहले कोशिका का आविष्कार होने के बाद विर्ख़ोव को मजबूर होकर व्यष्टिगत जीव की एकता को भंग करके उसे अनेक कोशिका-राज्यों के एक संघ में परिणत कर देना पड़ा था—इस प्रकार उन्होंने कोई प्राकृतिक वैज्ञानिक अथवा द्वन्द्वात्मक कार्य नहीं, बल्कि एक प्रगतिवादी[20] कार्य किया था—और अब श्वेत रुधिर कणिकाओं के आविष्कार के कारण, जो उच्चतर जंतुओं की देहों में अमीबा की तरह खिसकते रहते हैं, जंतु की (और इसलिये मनुष्य की भी) व्यष्टिता की अवधारणा पहले से कहीं अधिक जटिल बनती जा रही है। लेकिन असल में आधुनिक सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान को उसका वर्तमान संकीर्ण एवं अधिभूतवादी स्वरूप इन ध्रुवीय विरोधों ने ही दिया है, जिनको अपरिशोधनीय तथा असमाधेय विरोधों के रूप में पेश किया जाता है; तथा उन सीमा रेखाओं एवं वर्ग भेदों ने दिया है, जिनको ज़बर्दस्ती निश्चित कर दिया गया है। यह मानना कि

ये विरोध और भेद प्रकृति में होते तो हैं, किन्तु वे केवल सापेक्ष दृष्टि से ही सत्य होते हैं और दूसरी ओर यह स्वीकार करना कि इन विरोधों और भेदों की काल्पनिक कठोरता और निरपेक्ष सत्यता तो महज़ हमारे विचारशील मन ने ज़बर्दस्ती प्रकृति पर आरोपित की है—यह मान्यता प्रकृति की द्वन्द्वात्मक अवधारणा का सार है। इस मान्यता तक पहुंचना सम्भव है, क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान के जो तथ्य जमा होते जा रहे हैं, वे हमें उसपर पहुंचने के लिये मजबूर कर रहे हैं। लेकिन आदमी इस मान्यता तक अधिक आसानी से पहुंच सकता है, यदि वह द्वन्द्ववादी चिन्तन के नियमों से सुसज्जित होकर इन तथ्यों के द्वन्द्ववादी स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे। बहरहाल प्राकृतिक विज्ञान अब इतनी अधिक प्रगति कर चुका है कि वह द्वन्द्वात्मक सामान्यीकरण से नहीं बच सकता। किन्तु यह प्रक्रिया उसके लिये अधिक सहज बन जायेगी, बशर्ते कि वह इस तथ्य को अनदेखा न करे कि उसके अनुभव का निचोड़ जिन निष्कर्षों में अंतर्निहित है, वे कुछ धारणाएं हैं और धारणाओं का प्रयोग करने की कला मनुष्य न तो जनमते ही सीख जाता है, और न ही वह रोज़मर्रा की साधारण चेतना के साथ उसको प्राप्त हो जाती है, बल्कि उसे सीखने के लिये वास्तविक चिन्तन की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार अनुभववादी प्राकृतिक विज्ञान का एक लम्बा इतिहास है, ठीक उसी प्रकार इस चिन्तन का भी एक लम्बा अनुभववादी इतिहास है। पिछले ढाई हज़ार वर्षों में दर्शनशास्त्र का जो विकास हुआ है, उसके निष्कर्षों को आत्मसात् करने की कला को सीखकर ही प्राकृतिक विज्ञान एक ओर अपने से अलग और अपने ऊपर खड़े हुए प्रत्येक प्रकार के प्राकृतिक दर्शन से छुटकारा पा सकेगा और दूसरी ओर अपने चिन्तन की उस संकीर्ण पद्धति से भी मुक्त हो जायेगा, जो उसे अंग्रेज़ी अनुभववाद से विरासत में मिली थी।

लन्दन, २३ सितम्बर, १८८५

३

इस नये संस्करण में कुछ बहुत महत्वहीन शैली सम्बन्धी परिवर्तनों के सिवा पुराने संस्करण को ही पुनर्मुद्रित कर दिया गया है। केवल एक अध्याय में – भाग २ के "'आलोचनात्मक इतिहास' से' शीर्षक दसवें अध्याय में – ही मैंने अपने को निम्नलिखित कारणों से कई नये अंश जोड़ने की अनुमति दी है।

जैसा कि दूसरे संस्करण की भूमिका में पहले ही बता दिया गया था, मूलतया यह अध्याय मार्क्स की कृति थी। वह पहली बार एक पत्र में लेख के रूप में प्रकाशित होने के लिये लिखी गयी थी। इसलिये मुझे मार्क्स की पांडुलिपि के कई अंश काट देने पड़े थे। और वे ठीक वे ही अंश थे, जिनमें ड्यूहरिंग की प्रस्थापनाओं की आलोचना तो पृष्ठभूमि में पड़ गयी थी और राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास से सम्बन्धित मार्क्स की अपनी स्थापनाएं आगे आ गयी थीं। लेकिन पांडुलिपि का ठीक यही अंश है, जो आज भी ज़्यादा और सर्वाधिक स्थायी महत्व रखता है।

मैं समझता हूं, यह मेरी ज़िम्मेदारी है कि जिन अंशों में मार्क्स ने पेटी, नॉर्थ, लॉक और ह्यूम जैसे लोगों को क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र के विकास में उनका उचित स्थान प्रदान किया है, उनको यथासम्भव पूर्ण तथा मूलानुगामी रूप में इस संस्करण में प्रकाशित करूं। और क्वेने की 'आर्थिक तालिका' की मार्क्स ने जो व्याख्या की है, उसे प्रकाशित करना तो और भी आवश्यक है, क्योंकि यह समस्त वर्तमान राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिये एक अनबुझ पहेली बनी हुई है। दूसरी ओर, जहां कहीं युक्तियों का क्रम इस बात की अनुमति देता है, वहां मैंने उन अंशों को छोड़ दिया है, जिनमें महज़ श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं की चर्चा थी।

जहां तक शेष बातों का सम्बन्ध है, इस पुस्तक के पिछले संस्करण से अब तक, उसमें प्रतिपादित विचार जिस हद तक संसार के प्रत्येक

सभ्य देश में वैज्ञानिक हलक़ों तथा मज़दूर वर्ग की चेतना में प्रवेश करने में सफल हुए हैं, उससे मुझे यदि पूर्ण संतोष हो, तो कुछ अनुचित न होगा।

फ़्रे० एंगेल्स

लन्दन, २३ मई, १८६४

१

सामान्य

आधुनिक समाजवाद, जहां तक उसकी सार वस्तु का सम्बन्ध है, एक ओर तो वर्तमान समाज में सम्पत्तिशाली लोगों और सम्पत्तिहीन लोगों के बीच, पूंजीपतियों और मजूरी पर काम करनेवालों के बीच पाये जानेवाले वर्ग विरोधों और दूसरी ओर उत्पादन में फैली हुई अराजकता को पहचानने का प्रत्यक्ष फल है। लेकिन जहां तक उसके सैद्धान्तिक रूप का सम्बन्ध है, आधुनिक समाजवाद शुरू-शुरू में ऐसी शक्ल में सामने आता है, जिसको देखकर लगता है कि उसमें अठारहवीं शताब्दी के महान फ़्रांसीसी दार्शनिकों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का ही अधिक सुसंगत ढंग से विस्तार किया गया है।* यद्यपि समाजवाद की जड़ें आर्थिक तथ्यों में बहुत गहराई तक फैली हुई थीं, तथापि हर नये सिद्धन्त की तरह उसे भी शुरू में उस विचार सामग्री से अपना नाता जोड़ना पड़ा, जो उसे पहले से तैयार पड़ी हुई मिल गयी थी।

फ़्रांस के जिन महापुरुषों ने आनेवाली क्रान्ति के लिये लोगों के दिमाग़ों को तैयार किया था, वे ख़ुद भी चरम क्रान्तिवादी थे। वे किसी भी प्रकार के बाह्य प्रभुत्व को नहीं मानते थे। धर्म, प्राकृतिक विज्ञान, समाज, राजनीतिक संस्थाएं – हर चीज़ की उन्होंने अत्यन्त निर्मम आलोचना की।

---

* 'प्रस्तावना' के मसौदे में उपर्युक्त अंश इस रूप में लिखा गया था: "यद्यपि **आधुनिक समाजवाद** मूलतया समाज में सम्पत्तिशाली लोगों तथा सम्पत्तिहीन लोगों, मज़दूरों तथा शोषकों के बीच पाये जानेवाले वर्ग विरोधों की प्रतिबोधना से उत्पन्न हुआ है, तथापि अपने सैद्धान्तिक रूप में वह शुरू-शुरू में अठारहवीं शताब्दी के महान फ़्रांसीसी दार्शनिकों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का अधिक सुसंगत ढंग से और आगे विकास करने की शक्ल में सामने आता है। इस समाजवाद के पहले प्रतिनिधि, मोरेली और मैबली भी इन्हीं दार्शनिकों में से थे।" – **सं०**

उनका कहना था कि प्रत्येक वस्तु को बुद्धि के न्यायालय में अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करना होगा अन्यथा अस्तित्व को त्याग देना पड़ेगा। बुद्धि सभी वस्तुओं का एकमात्र मापदण्ड बन गयी थी। यह वह ज़माना था, जब हेगेल के शब्दों में दुनिया सिर के बल खड़ी थी* – पहले तो वह इस अर्थ में सिर के बल खड़ी थी कि मानव मस्तिष्क और उसकी चिन्तन क्रिया के द्वारा उपलब्ध सिद्धान्त समस्त मानव व्यवहार एवं संगठन का आधार होने का दावा कर रहे थे; लेकिन धीरे-धीरे वह इस अधिक व्यापक अर्थ में भी सिर के बल खड़ी हो गयी कि जो वास्तविकता इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ती थी, उसको सचमुच उलटकर ऊपर का नीचे कर देना पड़ा। उस समय समाज और राज्य का जो भी रूप था, उसे

---

* [फ़्रांसीसी क्रांति से संबंधित अंश यह है – "चिंतन अथवा क़ानून की अवधारणा ने एकबारगी अपना ज़ोर दिखाया और उसके मुक़ाबले में अन्याय का पुराना ढांचा खड़ा नहीं रह सका। अतः क़ानून की इस अवधारणा के अनुसार अब एक संविधान की स्थापना कर दी गयी है और अब से हर चीज़ का इस संविधान पर आधारित होना आवश्यक है। जब से आकाश में सूर्य प्रकट हुआ है और ग्रहों ने उसकी परिक्रमा आरंभ की है, तब से आज तक यह दृश्य कभी नहीं देखा गया था कि मनुष्य अपने सिर के बल – अर्थात् विचार तत्व के बल – खड़ा हो और अपनी कल्पना के अनुसार वास्तविकता का निर्माण कर रहा हो। सबसे पहले अनैक्सागोरस ने कहा था कि Nûs – बुद्धि – संसार पर शासन करती है; लेकिन यह बात मनुष्य ने पहली बार अब स्वीकार की कि विचार तत्व को मानसिक वास्तविकता पर शासन करना चाहिए। यह एक महान् देदीप्यमान सूर्योदय था। सभी विचारशील प्राणियों ने इस पवित्र दिवस का उत्सव मनाने में भाग लिया है। उस समय एक उदात्त भावना मनुष्यों को प्रभावित कर रही थी, विवेक का उत्साह संसार में व्याप्त था और लगता था जैसे ईश्वरीय सिद्धांत का इस संसार के साथ अब कहीं जाकर समाधान हुआ है" (हेगेल, *Philosophie der Geschichte*, १८४०, पृष्ठ ५३५)। अब क्या स्वर्गीय प्रोफ़ेसर हेगेल के ऐसे विध्वंसक तथा सबके लिए समान रूप से ख़तरनाक विचारों के ख़िलाफ़ समाजवाद विरोधी क़ानून लागू करने का समय नहीं आ गया है?] **[एंगेल्स का नोट]**

ग्रौर प्रत्येक पुराने परम्परागत विचार को ग्रबुद्धिसंगत कहकर कबाड़ख़ाने में डाल दिया गया। कहा गया कि ग्रब तक संसार केवल पूर्वाग्रहों के सहारे चल रहा था ग्रौर पुरानी हर चीज़ केवल हमारी दया ग्रौर उपेक्षा की पात्र है। ग्रब पहली बार मनुष्य ने दिन का प्रकाश देखा है। ग्रब से ग्रंधविश्वास, ग्रन्याय, विशेषाधिकारों ग्रौर ग्रत्याचार के स्थान पर शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, प्रकृति पर ग्राधारित समानता ग्रौर मनुष्य के जन्मसिद्ध ग्रधिकारों की स्थापना होनी चाहिये।

ग्राज हम यह जानते हैं कि बुद्धि का यह राज्य बुर्जुग्रा वर्ग के राज्य की ग्रादर्श कल्पना से ग्रधिक ग्रौर कुछ नहीं था। इस शाश्वत न्याय ने बुर्जुग्रा न्याय में मूर्त रूप धारण किया। यह समानता क़ानून की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की बुर्जुग्रा समानता में परिणत हो गयी। बुर्जुग्रा सम्पत्ति को मनुष्य का एक मौलिक ग्रधिकार घोषित कर दिया गया। बुद्धि का राज्य – रूसो की सामाजिक संविदा[21] – एक बुर्जुग्रा-जनवादी जनतन्त्र के रूप में ग्रस्तित्व में ग्राया; ग्रौर वह केवल इसी रूप में ग्रस्तित्व में ग्रा सकता था। ग्रपने पूर्वजों की भांति ग्रठारहवीं शताब्दी के महान विचारक भी ग्रपने युग की सीमाग्रों से ग्रागे नहीं जा सकते थे।

लेकिन सामन्ती ग्रभिजात वर्ग तथा बुर्जुग्रा के विरोध के साथ-साथ शोषकों ग्रौर शोषितों का, धनी परजीवियों ग्रौर ग़रीब मेहनतकशों का सामान्य विरोध भी था। यही बात थी, जिसके कारण बुर्जुग्रा वर्ग के प्रतिनिधि किसी विशेष वर्ग का नहीं, बल्कि समस्त पीड़ित मानवता का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सके थे। यही नहीं। बुर्जुग्रा वर्ग की उत्पत्ति के समय से ही उसका प्रतिपक्षी भी उसके साथ जुड़ गया था। पूंजीपति मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते; ग्रौर जैसे-जैसे मध्ययुगीन शिल्पी संघ का उस्ताद ग्राधुनिक बुर्जुग्रा में बदलता गया, वैसे-वैसे ही शिल्पी संघ का कारीगर ग्रौर शिल्पी संघों से बाहर का दैनिक मजूर सर्वहारा में रूपान्तरित होता गया। ग्रौर यद्यपि मोटे तौर पर बुर्जुग्रा वर्ग ग्रभिजात वर्ग के ख़िलाफ़ ग्रपने संघर्ष में ग्रपने हितों के साथ-साथ उस काल के विभिन्न श्रमजीवी वर्गों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता था, तथापि प्रत्येक बड़े बुर्जुग्रा

आन्दोलन में उस वर्ग के स्वतंत्र विस्फोट भी होते रहते थे, जो आधुनिक सर्वहारा का न्यूनाधिक विकसित पूर्वज था। उदाहरण के लिये, जर्मनी के चर्च सुधार तथा किसान युद्ध के समय टॉमस मुंज़र का आन्दोलन देखने में आया था; महान अंग्रेज़ी क्रान्ति के समय लैविलर आन्दोलन छिड़ा था; महान फ़्रांसीसी क्रान्ति के समय बाब्येफ़ की तहरीक हुई थी।

एक ऐसे वर्ग के इन क्रान्तिकारी सशस्त्र विद्रोहों के अनुरूप, जिसका अभी तक विकास नहीं हुआ था, सैद्धान्तिक स्थापनाएं भी सामने आयीं– सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में आदर्श सामाजिक व्यवस्थाओं के काल्पनिक चित्र खींचे गये*; और अठारहवीं शताब्दी में (मोरेली और मैबली) कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। अब समता की मांग केवल राजनीतिक अधिकारों तक ही सीमित नहीं रही। व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति में भी समता की मांग की जाने लगी। अब केवल वर्गीय विशेषाधिकारों को मिटाने की बात नहीं थी, बल्कि ख़ुद वर्ग भेदों को ही मिटा देने का प्रश्न था। यह नयी शिक्षा सबसे पहले एक संयमी और स्पार्टावादी कम्युनिज़्म के रूप में सामने आयी। उसके बाद तीन महान कल्पनावादियों का प्रादुर्भाव हुआ: सेंट-साइमन, जिनके लिये सर्वहारा के साथ-साथ मध्य वर्ग का आन्दोलन भी कुछ महत्व रखता था; फ़ूरिये और ओवेन, जिन्होंने उस देश में, जहां पूंजीवादी उत्पादन का सबसे अधिक विकास हुआ था और उससे उत्पन्न विरोधों के प्रभाव के फलस्वरूप वर्ग भेदों को मिटाने के अपने सुझावों की रूपरेखा फ़्रांसीसी भौतिकवाद के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करके प्रस्तुत की थी।

इन तीनों में एक बात समान रूप से पायी जाती है। उनमें से कोई भी सर्वहारा के हितों के प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आता है, जिसका इस बीच ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप जन्म हो गया था। फ़्रांसीसी दार्शनिकों की तरह वे भी किसी एक विशेष वर्ग को नहीं, बल्कि

---

* एंगेल्स ने यहां कल्पनावादी कम्युनिस्टों टॉमस मोर ('यूटोपिया', १५१६) और तोम्मासो काम्पानेल्ला ('सूर्य नगर', १६२३) को उद्धृत किया है।–सं०

समस्त मानवता को मुक्त कर देना चाहते हैं। फ़्रांसीसी दार्शनिकों की ही भांति वे भी विवेक तथा शाश्वत न्याय का राज्य स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु उनकी कल्पना के इस राज्य में और फ़्रांसीसी दार्शनिकों के आदर्श राज्य में उतना ही बड़ा अन्तर है जितना बड़ा अन्तर आकाश और पृथ्वी में है।

कारण कि उन दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर आधारित बुर्जुआ संसार उतना ही विवेकहीन तथा अन्यायपूर्ण था, जितना सामन्तवादी संसार और उसके पहले की तमाम समाज व्यवस्थाएं थीं, और इसलिये उसका कूड़े के ढेर पर फेंक दिया जाना भी उतना ही अनिवार्य था, जितना सामन्तवाद तथा उसके पहले की समाज व्यवस्थाओं का। यदि अभी तक संसार में विशुद्ध विवेक और विशुद्ध न्याय का शासन स्थापित नहीं हो पाया है, तो केवल इसीलिये कि मनुष्यों ने उनको सही तौर पर समझा नहीं है। संसार को असल में एक प्रतिभाशाली महान व्यक्ति की आवश्यकता थी। वह अब उत्पन्न हो गया है और वह सत्य को समझता है। और यह कोई अवश्यम्भावी घटना या ऐतिहासिक विकास क्रम का अनिवार्य परिणाम नहीं है कि ऐसा एक व्यक्ति अब उत्पन्न हो गया है और सत्य को अभी ही सुस्पष्ट रूप से समझा गया है। यह तो केवल एक आकस्मिक घटना है, जो सौभाग्य से घट गयी है। वह ५०० वर्ष पहले भी उत्पन्न हो सकता था और यदि ऐसा हुआ होता, तो मानवता ५०० वर्षों की भूलों, संघर्षों और कष्टों से बच जाती।

सभी अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और पहले जर्मन समाजवादियों का, जिनमें वीटलिंग भी शामिल हैं, इसी प्रकार का दृष्टिकोण है।* इन सबके लिये समाजवाद निरपेक्ष सत्य, विवेक और न्याय की अभिव्यक्ति है और केवल

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस विचार को निम्नलिखित रूप से निरूपित किया गया है: "कल्पनावादियों की विचार-पद्धति लम्बे अरसे से उन्नीसवीं सदी के समाजवादी विचारों पर हावी रही है और अब भी कुछ पर हावी है। अभी हाल में सभी फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी समाजवादियों ने इसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। वीटलिंग के कम्युनिज़्म समेत प्रारंभिक जर्मन कम्युनिज़्म भी इसी मत का था।" – **सं०**

उसका ग्राविष्कार होने की देर है कि वह स्वयं अपनी शक्ति से सारे संसार को जीत लेगा। और निरपेक्ष सत्य चूंकि दिक्, काल और मनुष्य के ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र होता है, इसलिये यह महज़ संयोग की बात है कि उसका कब और कहां ग्राविष्कार हो जाये। परन्तु इस सबके साथ-साथ प्रत्येक अलग-अलग मत के प्रवर्तक के लिये निरपेक्ष सत्य, विवेक और न्याय का रूप भिन्न होता है। और हरेक का विशिष्ट प्रकार का निरपेक्ष सत्य, विवेक और न्याय चूंकि उसकी आत्मनिष्ठ समझ, जीवन की परिस्थितियों, उसके ज्ञान की मात्रा तथा उसके बौद्धिक प्रशिक्षण से निर्धारित होते हैं, इसलिये निरपेक्ष सत्यों की टक्कर का इसके सिवा और कोई हल सम्भव नहीं है कि ये विभिन्न निरपेक्ष सत्य एक दूसरे के सम्बन्ध में परस्पर अपवर्जी होंगे। और इसलिये इससे केवल एक औसत ढंग का, खिचड़ी समाजवाद ही उत्पन्न हो सकता था; और सचमुच फ़्रांस और इंगलैण्ड के अधिकतर समाजवादी मज़दूरों के दिमाग़ों पर अभी तक इसी प्रकार का समाजवाद छाया हुआ है। इसी से यह गड़बड़झाला तैयार हुआ है, जिसमें नाना प्रकार के रंग-बिरंगे मतों के लिये स्थान है; और जिसमें कम प्रभावोत्पादक समीक्षात्मक वक्तव्यों, आर्थिक सिद्धान्तों तथा अलग-अलग मतों के प्रवर्तकों द्वारा बनायी गयी भावी समाज की रूप-रेखाओं को एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है।* वाद-विवाद के भंवर में पड़कर इस खिचड़ी समाजवाद के अलग-अलग संघटक तत्वों के नुकीले कोने, नाले में पड़े हुए कंकड़ों की तरह घिस-घिसकर जितने ज़्यादा चिकने होते जाते हैं, उतना ही इस खिचड़ी को तैयार करना आसान होता जाता है।

समाजवाद को विज्ञान का रूप देने के लिये पहले उसे एक वास्तविक आधार पर स्थापित करना आवश्यक था।

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्य इस तरह है: "...इस गड़बड़झाले को तैयार करने के लिये ऐसे समीक्षात्मक वक्तव्यों, आर्थिक सिद्धान्तों और विभिन्न मतों के प्रवर्तकों द्वारा बनायी गयी भावी समाज की रूप-रेखाओं को एक जगह पर इकट्ठा कर दिया गया है, जिनका सबसे कम विरोध होने की सम्भावना होती है..." – सं०

इस बीच अठारहवीं शताब्दी के फ़ांसीसी दर्शनशास्त्र के साथ-साथ तथा उसके बाद नवीन जर्मन दर्शनशास्त्र का आविर्भाव हो गया था, जिसका चरमोत्कर्ष हेगेल के रूप में हुआ। इस दर्शनशास्त्र का सबसे बड़ा गुण यह था कि उसने एक बार फिर सर्वोच्च तर्क प्रणाली के रूप में द्वन्द्ववाद को अंगीकार किया था। प्राचीन काल के सभी यूनानी दार्शनिक जन्मतः और स्वतःप्रवृत द्वन्द्ववादी थे; और उनमें जिसकी बुद्धि सबसे अधिक सर्वग्राही थी, उस अरस्तू ने तो द्वन्द्ववादी चिन्तन के अत्यन्त आवश्यक रूपों का उसी काल में विश्लेषण कर दिया था।* दूसरी ओर, यद्यपि नये दर्शनशास्त्र के पास भी द्वन्द्ववाद के (देकार्त और स्पिनोज़ा जैसे) अत्यन्त प्रतिभाशाली व्याख्याता मौजूद थे, तथापि वह विशेषकर अंग्रेज़ी दर्शनशास्त्र के प्रभाव के कारण, अधिकाधिक उस तर्क-प्रणाली के साथ चिपकता गया था, जिसे अधिभूतवादी प्रणाली कहा जाता है और जो अठारहवीं शताब्दी के फ़ांसीसियों पर भी लगभग पूरी तरह छायी हुई थी और जिसका कम से कम फ़ांसीसियों की विशिष्ट दार्शनिक रचनाओं पर अत्यधिक प्रभाव था। किन्तु सीमित अर्थ में दर्शनशास्त्र के क्षेत्र के बाहर फ़ांसीसियों ने द्वन्द्ववाद की श्रेष्ठ कृतियां रची थीं। यहां केवल दिदेरो की रचना *Le neveu de Rameau*[22] और रूसो की कृति *Discours sur l'origine et les fondements de l'inégalité parmi les hommes*** का स्मरण करा देना ही काफ़ी है। यहां पर हम संक्षेप में यह बता देते हैं कि इन दो चिन्तन प्रणालियों का मौलिक स्वरूप क्या है। बाद में हमें उनकी अधिक विस्तार के साथ चर्चा करनी पड़ेगी।

---

* 'प्रस्तावना' के मसौदे में इस अंश को इस तरह सूत्रबद्ध किया गया है: "प्राचीन काल के सभी यूनानी दार्शनिक जन्मतः और स्वतःप्रवृत द्वन्द्ववादी थे और अरस्तू ने, जो प्राचीन संसार का हेगेल था, उसी काल में द्वन्द्ववादी चिन्तन के अत्यन्त आवश्यक रूपों का विश्लेषण कर दिया था।" – **सं०**

** 'लोगों में असमानता की उत्पत्ति तथा उसके आधार के विषय में एक प्रवचन'। – **सं०**

जब हम सामान्य प्रकृति अथवा मनावजाति के इतिहास के विषय में या अपने बौद्धिक क्रिया-कलाप के विषय में सोचते और विचार करते हैं, तो पहले नाना प्रकार के सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और संचयों के एक अन्तहीन उलझाव का चित्र हमारी आंखों के सामने आता है, जिसमें कोई भी चीज़ वह नहीं रहती, जो वह पहले थी, वहां नहीं रहती, जहां वह पहले थी, और वैसी नहीं रहती, जैसी वह पहले थी; बल्कि हर चीज़ हरकत करती रहती है, बदलती रहती है, बनती और ख़त्म होती रहती है। संसार की यह आदिम, सरल, किन्तु मूलतया सही अवधारणा प्राचीन यूनानी दर्शनशास्त्र की अवधारणा थी। उसकी सबसे पहले हेराक्लिटस ने स्पष्ट रूप में स्थापना की थी। उसने कहा था: प्रत्येक वस्तु है और नहीं भी है, क्योंकि हर चीज़ **अस्थिर है,** हर चीज़ लगातार बदलती रहती है, लगातार बनती रहती है और लगातार ख़त्म होती रहती है।

जो कुछ ऊपर से दिखाई देता है, उस सबके सम्पूर्ण चित्र के सामान्य स्वरूप को तो यह अवधारणा सही ढंग से व्यक्त कर देती है, किन्तु इस चित्र के तमाम छोटे-छोटे अंगों के विस्तृत स्पष्टीकरण के लिये यह अवधारणा पर्याप्त नहीं है और जब तक हम इन तमाम छोटे-छोटे अंगों को विस्तार से नहीं समझते, तब तक हम पूरे चित्र की भी कोई स्पष्ट अवधारणा अपने मन में नहीं बना सकते। चित्र के इन विभिन्न अंगों को समझने के लिये हमें उन्हें उनके प्राकृतिक अथवा ऐतिहासिक सम्बन्धों से अलग कर देना पड़ता है और तब हरेक के स्वभाव, विशेष कार्य-कारण आदि का अलग से अध्ययन करना होता है। यह काम मूलतया प्राकृतिक विज्ञान तथा ऐतिहासिक अनुसंधान को करना पड़ता है; प्राचीन काल के यूनानियों ने विज्ञान की इन्हीं शाखाओं को गौण स्थिति में रख छोड़ा था और इसकी उनके पास एक अच्छी-ख़ासी वजह भी थी, क्योंकि पहले उनको आवश्यक सामग्री जमा करनी थी। प्राकृतिक तथ्य विज्ञानों की नींव सबसे पहले सिकन्दरिया युग[23] के यूनानियों ने और बाद में मध्य युग में अरबों ने डाली थी। वास्तविक प्राकृतिक विज्ञान पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ और उसके बाद वह सदैव अधिकाधिक द्रुत

गति से उन्नति करता गया। पिछले चार सौ वर्षों में हमारे प्रकृति ज्ञान का जो महान विकास हुग्रा है, उसके मौलिक ग्राधार के रूप में पहले प्रकृति का उसके ग्रलग-ग्रलग भागों में विश्लेषण करना पड़ा, विभिन्न प्राकृतिक प्रक्रियाग्रों तथा वस्तुग्रों को निश्चित वर्गों में एकत्रित कर देना पड़ा ग्रौर नाना प्रकार के कार्बनिक पिण्डों की ग्रान्तरिक शरीर रचना का ग्रध्ययन करना पड़ा। लेकिन इस कार्य पद्धति का साथ ही यह परिणाम भी हुग्रा कि हमें प्राकृतिक वस्तुग्रों ग्रौर प्रक्रियाग्रों को विशाल समष्टि से उनका जो सम्बन्ध होता है, उससे ग्रलग करके उनका ग्रध्ययन करने की ग्रादत पड़ गयी। हम प्राकृतिक वस्तुग्रों ग्रौर प्रक्रियाग्रों को गतिशील ग्रवस्था में नहीं, बल्कि स्थिर ग्रवस्था में देखने लगे। हम उनका मूलतया परिवर्तनशील वस्तुग्रों ग्रौर प्रक्रियाग्रों के रूप में नहीं, बल्कि निरन्तर स्थिर वस्तुग्रों ग्रौर प्रक्रियाग्रों के रूप में ग्रध्ययन करने लगे। हम उनका जीवितावस्था में नहीं, बल्कि मृत्यु की ग्रवस्था में पर्यवेक्षण करने लगे। ग्रौर जब बेकन ग्रौर लॉक ने वस्तुग्रों का ग्रध्ययन करने के इस ढंग को प्राकृतिक विज्ञान से दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्थानांतरित किया, तो उससे वह संकीर्ण ग्रधिभूतवादी चिन्तन प्रणाली उत्पन्न हो गयी, जो पिछली शताब्दियों की एक ख़ास विशेषता थी।

जहां तक ग्रधिभूतवादी ढंग से सोचनेवाले एक व्यक्ति का संबंध है, उसके लिये वस्तुएं ग्रौर उनके मानसिक प्रतिक्षेप – विचार – ग्रलग-ग्रलग होते हैं ग्रौर उनपर उसे एक के बाद एक ग्रौर एक दूसरे से ग्रलग करके विचार करना पड़ता है। उसके लिये वस्तुएं ग्रौर उनके मानसिक प्रतिक्षेप – विचार – ग्रनुसंधान की कुछ ऐसी सामग्री होते हैं, जो सदा एक सी रहती है ग्रौर जिसका स्वरूप एक बार सदा के लिये निर्धारित ग्रौर निश्चित हो गया है। वह सर्वथा ग्रसमाधेय एवं परस्पर प्रतिपक्षी कोटियों में सोचता है। उसका कहना है: "ग्रस्ति – ग्रस्ति, नास्ति – नास्ति; इसके बाहर जो कुछ है, वह शैतान की शरारत है।"[24] ग्रधिभूतवादी के लिये किसी भी वस्तु का या तो ग्रस्तित्व है, या नहीं है; ग्रौर यह नहीं हो सकता कि कोई वस्तु एक ही समय में ख़ुद वह वस्तु भी हो ग्रौर साथ ही कुछ ग्रौर भी हो। उसकी दृष्टि में सकारात्मक ग्रौर नकारात्मक पक्ष एक दूसरे

का सम्पूर्णतया अपवर्जन कर देते हैं; और कारण तथा कार्य एक दूसरे के कट्टर प्रतिपक्षी होते हैं।

पहली दृष्टि में यह चिन्तन प्रणाली बहुत विशद प्रतीत होती है, क्योंकि वह तथाकथित ठोस व्यवहार बुद्धि पर आधारित है। यह ठोस व्यवहार बुद्धि रोज़मर्रा के साधारण जीवन के सीमित क्षेत्र के भीतर तो अवश्य आदर की पात्र है, किन्तु जब वह वहां से बाहर निकलकर अनुसंधान के व्यापक क्षेत्र में पैर रखती है, तो बस उसी क्षण से अत्यन्त चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटने लगती हैं। अन्वेषण की विशिष्ट विषय-वस्तु के स्वरूप के अनुसार न्यूनाधिक विस्तार के अनेक क्षेत्रों में चिन्तन की अधिभूतवादी प्रणाली की आवश्यकता होती है और वहां उसका उपयोग करना उचित भी होता है। किन्तु कुछ समय बाद वह उस बिन्दु पर पहुंच जाती है, जिसके आगे यह प्रणाली एकांगी, संकुचित, और अमूर्त बन जाती है और अपरिशोधनीय विरोधों में खो जाती है। अलग-अलग वस्तुओं पर विचार करते हुए वह उनके बीच पाये जानेवाले सम्बन्धों को भूल जाती है। उनके अस्तित्व के विषय में सोचते हुए वह इस अस्तित्व के आदि और अन्त को भूल जाती है। उनकी विराम की स्थिति का अध्ययन करते हुए वह उनकी गति को भूल जाती है। वह पेड़ों को देखने की कोशिश में जंगल को नहीं देख पाती। जहां तक रोज़मर्रा के जीवन का सम्बन्ध है, हम उदाहरण के लिये यह जानते हैं और बता सकते हैं कि अमुक पशु का अस्तित्व है या नहीं। लेकिन अधिक गहराई में जाने पर हमें पता चलता है कि बहुधा यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न होता है। विधिवेत्ता इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं। यदि कोई बच्चा मां के गर्भ में मार डाला जाये, तो ऐसी कौनसी बुद्धि संगत सीमा है, जिसके बाहर इस कृत्य को हत्या माना जायेगा–इस प्रश्न को लेकर विधिवेत्ताओं ने बहुत माथापच्ची की है, लेकिन वे उस सीमा का पता नहीं लगा पाये हैं। इसी प्रकार मृत्यु के क्षण को बिल्कुल ठीक-ठीक निर्धारित करना भी असम्भव है, क्योंकि शरीरक्रिया विज्ञान ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि मृत्यु कोई निमिष मात्र में घट जानेवाली क्षणिक घटना नहीं है, बल्कि वह एक बहुत लम्बी प्रक्रिया है।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्बनिक जीव प्रति क्षण जो कुछ होता है, वह नहीं भी होता है। प्रत्येक क्षण वह बाहर से प्राप्त पदार्थ को आत्मसात् करता जाता है और कुछ अन्य पदार्थों को त्यागता जाता है। प्रत्येक क्षण उसकी देह की कुछ कोशिकाएं मरती जाती हैं और कुछ का नव-निर्माण होता जाता है। न्यूनाधिक समय में उसकी देह के पदार्थ का पूर्णतः नवीकरण हो जाता है और उसका स्थान पदार्थ के अन्य अणु ग्रहण कर लेते हैं। अतः प्रत्येक कार्बनिक जीव सदा वह स्वयं होता है और साथ ही अपने से भिन्न भी कुछ होता है।

इसके अलावा अधिक निकट से छानबीन करने पर हम यह भी पाते हैं कि किसी भी प्रतिवाद के दो छोर, जैसे सकारात्मक पक्ष और नकारात्मक पक्ष, एक दूसरे के जितने विरोधी होते हैं, उतने ही अभेद्य भी होते हैं और अपने सारे विरोध के बावजूद एक दूसरे के भीतर प्रवेश किये रहते हैं। इसी प्रकार हम यह भी पाते हैं कि कारण और कार्य की अवधारणाएं केवल अलग-अलग घटनाओं के लिये ही सत्य होती हैं; पर जैसे ही हम अलग-अलग घटनाओं पर समस्त विश्व के साथ उनके सामान्य सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए विचार करते हैं, वैसे ही ये अवधारणाएं एक दूसरे में लीन हो जाती हैं; और जब हम उस विश्वव्यापी क्रिया एवं प्रतिक्रिया पर विचार करते हैं, जिसमें कार्य और कारण के बीच निरन्तर स्थान परिवर्तन होता रहता है और जिसमें एक स्थान और एक समय पर जो कुछ कार्य है, वही दूसरे स्थान और दूसरे समय पर कारण बन जाता है तथा एक स्थान और एक समय पर जो कुछ कारण है, वही दूसरे स्थान और दूसरे समय पर कार्य बन जाता है – जब हम इस विश्वव्यापी क्रिया एवं प्रतिक्रिया पर विचार करते हैं, तब तो ये अवधारणाएं एकदम गड़बड़ा जाती हैं।

अधिभूतवादी तर्क पद्धति में ऐसी प्रक्रियाओं तथा चिन्तन प्रणालियों में से किसी के लिये कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर, द्वन्द्ववाद वस्तुओं और उनके प्रतिरूपों को, उनके मूलभूत सम्बन्धों तथा शृंखला क्रमों को, उनकी गति को और उनके आदि और अन्त को ध्यान में रखते हुए ग्रहण करता है। अतः जिस प्रकार की प्रक्रियाओं की ऊपर चर्चा की गयी है,

उनसे केवल द्वन्द्ववाद की अपनी कार्य पद्धति की प्रामाणिकता की ही पुष्टि होती है। प्रकृति द्वन्द्ववाद की कसौटी है; और आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने द्वन्द्ववाद के प्रमाण के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है, जो दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है; और इस प्रकार उसने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति में हर चीज़ अधिभूतवादी ढंग से नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक ढंग से घटती रहती है। लेकिन प्रकृति विज्ञान के ऐसे विद्वानों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है, जिन्होंने द्वन्द्वात्मक ढंग से सोचना सीख लिया है, और खोज के परिणामों तथा पूर्वकल्पित चिन्तन प्रणालियों के बीच जो टकराव होता है, उसी का यह नतीजा है कि इस समय सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में एक ऐसी गड़बड़ी फैल गयी है, जिसका लगता है कभी अन्त नहीं होगा और जो शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक सभी को विक्षिप्त बनाये डाल रही है।

अतः विश्व की, उसके विकास की, मनुष्यजाति के विकास की तथा मनुष्यों के मन में इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्द्ववाद की पद्धतियों के द्वारा ही की जा सकती है, जो निर्माण और निर्वाण की, प्रगतिशील और प्रतिगामी परिवर्तनों की असंख्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को निरन्तर ध्यान में रखता है। और नये जर्मन दर्शनशास्त्र ने इसी भावना को अपनाया है। सौर मण्डल के विषय में न्यूटन का कहना था कि जब एक बार उसे वह सुप्रसिद्ध आद्य आवेग मिल गया, तो वह तभी से बराबर चल रहा है और अनन्त काल तक इसी चिरन्तन रूप में चलता रहेगा। काण्ट ने एक दार्शनिक के रूप में अपने जीवन का श्रीगणेश किया इस मत का खण्डन करके। उन्होंने कहा कि सौर मण्डल एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का फल है और एक चक्कर काटते हुए नीहारिकावत् पुंज से सूर्य तथा सारे ग्रहों का निर्माण हुआ है। साथ ही इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि सौर मण्डल की कभी उत्पत्ति हुई थी, तो भविष्य में उसका विनाश होना भी निश्चित है। आधी शताब्दी बाद उनके सिद्धान्त को लाप्लास ने गणित के आधार पर प्रमाणित कर दिखाया और उसके भी आधी शताब्दी बाद वर्णक्रमदर्शी यंत्र ने यह साबित कर दिया

कि ब्रह्माण्ड में ऐसे अनेक तापदीप्त गैस पुंज हैं, जो संघनन की विभिन्न अवस्थाओं में मिलते हैं।[25]

यह नया जर्मन दर्शनशास्त्र हेगेल की प्रणाली में अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ। इस प्रणाली में पहली बार समस्त प्राकृतिक, ऐतिहासिक, एवं बौद्धिक जगत् का एक प्रक्रिया के रूप में निरूपण किया गया है– और यही उसका सबसे बड़ा गुण है, अर्थात् इस प्रणाली में समस्त जगत् का निरन्तर गति, परिवर्तन, रूपान्तरण और विकास में निरूपण किया गया है और उस आन्तरिक सम्बन्ध को खोजने की चेष्टा की गयी है, जो इस सारी गति और विकास को एक सतत समष्टि का रूप दे देता है।* इस दृष्टिकोण को अपनाने पर मनुष्यजाति का इतिहास ऐसे बुद्धिहीन, हिंसात्मक कार्यों का एक दिशाहीन चक्रवात नहीं प्रतीत होता था, जो परिपक्व दार्शनिक बुद्धि के न्यायालय में समान रूप से निन्दनीय थे और जिनको यथाशीघ्र भूल जाना ही उचित लगता था; बल्कि इतिहास स्वयं मनुष्य के विकास की प्रक्रिया प्रतीत होने लगा था। अब बुद्धि का काम यह था कि यह प्रक्रिया जिन तमाम टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुज़रती है, उनका पता लगाये, इस क्रमिक विकास क्रिया की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन

---

*'प्रस्तावना' के मसौदे में हेगेलीय दर्शनशास्त्र का इस प्रकार वर्णन किया गया है: "जिस हद तक कि दर्शनशास्त्र को अन्य प्रत्येक विज्ञान से श्रेष्ठ एक विशिष्ट प्रकार का विज्ञान समझा जाता है, उस हद तक उसका अन्तिम तथा चरम रूप हेगेलीय प्रणाली में देखने को मिलता है। इस प्रणाली का जन्म होने पर समस्त दर्शनशास्त्र ध्वस्त हो गया। परन्तु द्वन्द्वात्मक चिन्तन पद्धति और यह अवधारणा ज़रूर बच रही है कि प्राकृतिक, ऐतिहासिक और बौद्धिक जगत् सतत गतिमान है, सदा रूपान्तरित होता रहता है और निर्माण तथा निर्वाण की एक निरन्तर प्रक्रिया में से गुज़रता रहता है। रूपान्तरण की इस निरन्तर प्रक्रिया की गति के नियमों का पता लगाने के लिये अब केवल दर्शनशास्त्र की नहीं, बल्कि **सभी** विज्ञानों की आवश्यकता थी। प्रत्येक विज्ञान को अपने विशिष्ट क्षेत्र में इन नियमों को खोजकर निकालना था। और यही वह विरासत है, जिसे हेगेलीय दर्शनशास्त्र अपने उत्तराधिकारियों के लिये छोड़ गया है।" **–सं०**

करे और ऊपर से आकस्मिक प्रतीत होनेवाली इसकी समस्त परिघटनाओं में अन्तर्निहित नियमितता को खोजकर निकाले।

इस बात का यहां कोई महत्व नहीं है कि हेगेल ने इस समस्या को हल नहीं किया। उसकी युगान्तरकारी सफलता यह थी कि उन्होंने इस समस्या को पेश कर दिया। यह एक ऐसी समस्या है, जिसे कोई एक व्यक्ति कभी हल न कर पायेगा। यद्यपि सेंट-साइमन की भांति हेगेल भी अपने काल के सबसे अधिक बहुमुखी प्रतिभावाले व्यक्ति थे, फिर भी उनके ज्ञान की भी कुछ सीमाएं थीं। एक तो इसलिये कि उनके अपने ज्ञान का विस्तार आवश्यक रूप से सीमित था। दूसरे, इस कारण कि उनके युग के ज्ञान तथा अवधारणाओं का विस्तार और गहराई सीमित थी। इन दो सीमाओं के अलावा एक तीसरी सीमा भी थी। हेगेल भाववादी थे। उनकी दृष्टि में उनके मन के विचार वास्तविक वस्तुओं तथा प्रक्रियाओं के न्यूनाधिक अमूर्त प्रतिबिम्ब चित्र नहीं थे, बल्कि इसके विपरीत ख़ुद वस्तुएं और उनका विकास क्रम केवल उस "विचार" के मूर्त रूप थे, जो संसार का जन्म होने के भी पहले से कहीं पर अनन्त काल से विद्यमान है। चिन्तन की इस पद्धति ने हर चीज़ को औंधा करके सिर के बल खड़ा कर दिया और संसार में घटनाओं के बीच सचमुच जो सम्बन्ध पाया जाता है, उसे एकदम उलट दिया। यद्यपि यह सही है कि हेगेल ने सम्बद्ध तथ्यों के बहुत-से विशिष्ट समूहों को सही तौर पर समझा था और उसमें बड़ी चतुरता का परिचय दिया था, तथापि उपर्युक्त कारणों से उनकी रचनाओं में बहुत कुछ ऐसा है, जो भोंडा, कृत्रिम, बनावटी और संक्षेप में कहें, तो ग़लत है। हेगेलीय प्रणाली ख़ुद अपने में एक बहुत बड़ी विफलता थी। लेकिन साथ ही वह इस प्रकार की अन्तिम प्रणाली थी। वास्तव में वह एक ऐसे अंतर्विरोध से पीड़ित थी, जिसका कोई समाधान न था। एक ओर उसकी मूलभूत प्रस्थापना यह अवधारणा थी कि मानव इतिहास के विकास की एक प्रक्रिया है, जिसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह किसी तथाकथित निरपेक्ष सत्य के आविष्कार में अपनी बौद्धिक चरम सीमा पर नहीं पहुंच सकती। लेकिन दूसरी ओर वह इसी निरपेक्ष सत्य का सार-तत्व होने का दावा करती थी। प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्ति

की कोई ऐसी प्रणाली, जिसका प्रत्येक विषय पर अधिकार हो और जो त्रिकाल के लिये अन्तिम रूप से सत्य हो, द्वन्द्वात्मक चिन्तन पद्धति के नियमों से लेशमात्र मेल नहीं खाती। ये नियम ज़ाहिर है इस विचार के कदापि नहीं ख़िलाफ़ जाते कि बाह्य जगत् की सुनियोजित ज्ञान प्राप्ति प्रत्येक युग में विराट प्रगति कर सकती है। बल्कि सच तो यह है कि इन नियमों में इस विचार का भी समावेश हो जाता है।

जब जर्मन भाववाद के इस मूलभूत अंतर्विरोध की समझ पैदा हुई, तो आवश्यक रूप से पुनः भौतिकवाद की ओर झुकाव आया। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिये कि यह झुकाव केवल अठारहवीं शताब्दी के अधिभूतवादी एवं विशुद्ध रूप से यांत्रिक भौतिकवाद की ओर नहीं आया था। पिछले सारे इतिहास को भोले क्रान्तिकारी ढंग से सीधे रूप में रद्दी की टोकरी में फेंक देने के विपरीत आधुनिक भौतिकवाद पिछले इतिहास में मानवजाति के विकास की प्रक्रिया को देखता है और उसकी गति के नियमों का पता लगाना वह अपना कर्तव्य समझता है।* प्रकृति के बारे में अठारहवीं शताब्दी के फ़ांसीसियों और हेगेल की अवधारणा यह थी कि वह अपनी समग्रता में संकीर्ण वृत्तों में चक्कर काटती रहती है और सतत अपरिवर्तनशील है, क्योंकि जैसा कि न्यूटन ने बताया था, उसके आकाश पिण्ड अनादि और अनन्त हैं, तथा जैसा कि लिन्ने ने बताया था, जैव जातियों में कभी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु आधुनिक भौतिकवाद ने प्राकृतिक विज्ञान के अधिक अभिनव आविष्कारों को ग्रहण किया है, जिनके अनुसार प्रकृति का भी अपना एक कालक्रमानुसार इतिहास है और जिस प्रकार अनुकूल परिस्थितियों में आकाश पिण्डों पर बस जानेवाली जैव जातियों का जन्म और विनाश होता रहता है, उसी प्रकार स्वयं इन

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का पाठ इस प्रकार है: "पुराने भौतिकवाद ने पिछले सारे इतिहास को विवेकशून्य और हिंसात्मक कार्रवाइयों के एक भोंडे ढेर के रूप में देखा; आधुनिक भौतिकवाद इसे मानवजाति की एक क्रमिक विकास क्रिया के रूप में देखता है तथा उसके नियमों का पता लगाने का प्रयास करता है।" —सं०

ग्राकाश पिण्डों का भी जन्म ग्रौर विनाश होता रहता है। ग्रौर यदि इस सबके बावजूद यह मानना पड़ता है कि प्रकृति ग्रपनी समग्रता में, ग्रावर्तक वृत्तों में घूमती रहती है, तो साथ ही भी मानना पड़ता है कि इन वृत्तों का विस्तार ग्रधिकाधिक बड़ा होता जाता है। दोनों दृष्टियों से ग्राधुनिक भौतिकवाद मूलतया द्वन्द्वात्मक है ग्रौर ग्रब उसे ग्रन्य विज्ञानों के ऊपर खड़े हुए किसी दर्शनशास्त्र की ग्रावश्यकता नहीं है।* जैसे ही वस्तुग्रों की सम्पूर्ण समष्टि के सम्बन्ध में ग्रौर वस्तुग्रों के हमारे ज्ञान के सम्बन्ध में प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान के लिये ग्रपनी स्थिति को स्पष्ट करना ग्रावश्यक हो जाता है, वैसे ही विशेष रूप से इस समष्टि का ग्रध्ययन करनेवाला विशिष्ट विज्ञान ग्रनावश्यक बन जाता है। समस्त पूर्वकालीन दर्शनशास्त्र का जो भाग इसके बाद भी स्वतंत्र रूप से जीवित रहता है, वह है चिन्तन तथा उसके नियमों का विज्ञान – ग्रर्थात् ग्रौपचारिक तर्कशास्त्र तथा द्वन्द्ववाद। बाक़ी सारा दर्शनशास्त्र प्रकृति तथा इतिहास के निश्चित विज्ञान का ग्रंग बन जाता है।

प्रकृति की ग्रवधारणा में यह परिवर्तन केवल उसी ग्रनुपात में हो सकता था, जिस ग्रनुपात में ग्रन्वेषण उसके लिये ग्रावश्यक निश्चयात्मक सामग्री प्रस्तुत करता जाता था। किन्तु इतिहास के क्षेत्र में बहुत पहले ही कुछ ऐसी घटनाएं घट चुकी थीं, जिनके कारण इतिहास की ग्रवधारणा में एक निर्णायक परिवर्तन हो गया था। १८३१ में लियों में मज़दूरों का पहला विद्रोह हुग्रा था; १८३८ ग्रौर १८४२ के बीच मज़दूर वर्ग का पहला राष्ट्रीय ग्रान्दोलन – ग्रंग्रेज़ी चार्टिस्टों का ग्रान्दोलन – ग्रपने शिखर पर पहुंच गया था। यूरोप के ग्रधिकतर उन्नत देशों में जिस ग्रनुपात में एक ग्रोर ग्राधुनिक उद्योगों का विकास होता जाता था ग्रौर दूसरी ग्रोर

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस वाक्य का पाठ इस प्रकार है: "दोनों दृष्टियों से ग्राधुनिक भौतिकवाद मूलतया द्वन्द्वात्मक है ग्रौर ग्रब उसे एक ऐसे दर्शनशास्त्र की सहायता की बिल्कुल ग्रावश्यकता नहीं है, जिसने एक सर्वोच्च स्थान प्राप्त विज्ञान के रूप में ग्रन्य विज्ञानों पर ग्रपने ग्रधिकार का दावा किया।" – **सं०**

बुर्जुआ वर्ग का नव-प्राप्त राजनीतिक प्रभुत्व मज़बूत होता जाता था, उसी अनुपात में इन देशों के इतिहास में सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष का महत्व बढ़ता जाता था। बुर्जुआ अर्थशास्त्र का कहना था कि पूंजी और श्रम के हित एक होते हैं और यदि अनियंत्रित होड़ को चलने दिया जाये, तो सार्वत्रिक मेल-मिलाप और सार्वत्रिक समृद्धि का राज्य क़ायम हो सकता है। किन्तु बुर्जुआ अर्थशास्त्र की इन सीखों का तथ्यों के द्वारा अधिकाधिक ज़ोरों के साथ खण्डन होता जा रहा था*। अब न तो इन तमाम बातों को अनदेखा किया जा सकता था, और न ही उस फ़्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी समाजवाद की अवहेलना की जा सकती थी, जिसके रूप में इन बातों को सैद्धान्तिक, किन्तु बहुत ही अपूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त हुई थी। परन्तु अभी इतिहास की पुरानी भाववादी अवधारणा परास्त नहीं हुई थी; और उसे आर्थिक हितों पर आधारित वर्ग संघर्ष का ज़रा भी ज्ञान न था। न ही वह आर्थिक हितों के बारे में कुछ जानती थी; और उत्पादन तथा समस्त आर्थिक सम्बन्धों की वह केवल "सभ्यता के इतिहास" के प्रासंगिक एवं गौण तत्वों के रूप में चर्चा करती थी।

नये तथ्यों के कारण पिछले समस्त इतिहास की नये सिरे से जांच करना आवश्यक हो गया। तब यह मालूम हुआ कि पुराना **सारा** इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है[26]; ये संघर्षशील सामाजिक वर्ग सदा उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियों से – या संक्षेप में कहें, तो अपने

---

*'प्रस्तावना' के मसौदे में इस स्थान पर यह अंश और मिलता है: "इसी प्रकार फ़्रांस में १८३४ के लियों नगर के विद्रोह ने भी बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा के संघर्ष की घोषणा कर दी। अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी समाजवादी सिद्धान्तों ने ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर लिया और हालांकि उस वक़्त तक जर्मनी में उद्योग धंधों ने छोटे पैमाने के उत्पादन की अवस्था से बाहर निकलना केवल आरम्भ ही किया था, फिर भी वहां भी इन समाजवादी सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया और आलोचना होना अवश्यम्भावी था। अब जिस सैद्धान्तिक समाजवाद का विकास हुआ, बल्कि कहना चाहिये कि जर्मनी में नहीं, वरन् जर्मनों में, जिस सैद्धान्तिक समाजवाद का विकास हुआ, उसे अपनी सारी सामग्री विदेश से मंगानी पड़ी..." – **सं०**

काल के **आर्थिक** सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं; समाज की आर्थिक संरचना ही सदा वह वास्तविक आधार होती है, जिससे आरम्भ करके ही हम किसी ख़ास ऐतिहासिक युग की क़ानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं के और साथ ही धार्मिक, दार्शनिक तथा अन्य विचारों के ऊपरी ढांचे की अन्तिम व्याख्या कर सकते हैं। इस तरह भाववाद को उसके आख़िरी शरणस्थान से, इतिहास की अवधारणा से भी बहिष्कृत कर दिया गया। अब इतिहास की एक भौतिकवादी व्याख्या की गयी; और ऐसी पद्धति का आविष्कार किया गया, जो मनुष्य की "सत्ता" की व्याख्या उसकी "चेतना" के आधार पर नहीं करती थी, जैसा कि अभी तक होता आया था, बल्कि जो मनुष्य की "चेतना" की व्याख्या उसकी "सत्ता" के आधार पर करती थी।

परन्तु जिस तरह फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की प्रकृति सम्बन्धी अवधारणा का द्वन्द्ववाद तथा आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान से कोई मेल नहीं था, उसी तरह प्रारम्भिक दिनों के समाजवाद की इतिहास की इस भौतिकवादी अवधारणा से कोई पटरी नहीं बैठती थी। शुरू के दिनों का समाजवाद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तथा उसके परिणामों की आलोचना तो ज़रूर करता था, लेकिन वह उनका कोई कारण नहीं बतला सकता था और इसलिये उनपर क़ाबू पाना भी उसके बूते के बाहर था। वह तो केवल उनको बुरा कहकर ठुकरा सकता था। लेकिन उसके लिये ज़रूरी था कि (१) वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को उसके ऐतिहासिक संदर्भ में पेश करे और यह दिखाये कि एक ख़ास ऐतिहासिक युग में इस प्रणाली का जन्म लेना अवश्यम्भावी था और इसलिये उसका पतन भी अनिवार्य है; और (२) उसके मूलभूत स्वरूप को खोलकर रखे, जिसपर उस समय तक पर्दा पड़ा हुआ था, क्योंकि उसके आलोचकों ने स्वयं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर प्रहार करने के बजाय सदा केवल उसके दुष्परिणामों की ही आलोचना की थी।* यह क़ार्य **बेशी मूल्य** का पता लगाकर सम्पन्न किया

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का पाठ इस प्रकार है–"(२) उसके मूलभूत स्वरूप को खोलकर रखे, जिसपर उस समय तक पर्दा पड़ा हुआ था।"–**सं०**

गया। उसके द्वारा यह दिखलाया गया कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का तथा उसके अन्तर्गत होनेवाले मज़दूर के शोषण का आधार यह है कि अदत्त श्रम को हस्तगत कर लिया जाता है। यदि पूंजीपति अपने मज़दूर की श्रमशक्ति को मण्डी में बिकनेवाले एक माल के रूप में उसका पूरा मूल्य देकर ख़रीदता है, तो भी वह जितना देता है, वह उससे अधिक मूल्य उस श्रमशक्ति में से निकाल लेता है। और अन्तिम विश्लेषण में इस बेशी मूल्य से ही मूल्य की वे रक़में तैयार होती हैं, जिनसे सम्पत्तिवान वर्गों के हाथ में निरन्तर बढ़ती हुई पूंजी की राशियां जमा होती जाती हैं। इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन की उत्पत्ति और पूंजी के उत्पादन दोनों का स्पष्टीकरण हो गया।

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और बेशी मूल्य के द्वारा पूंजीवादी उत्पादन के रहस्य का उद्घाटन इन दोनों महान आविष्कारों के लिये हम **मार्क्स** के आभारी हैं। इन आविष्कारों के कारण समाजवाद एक विज्ञान बन गया। अगला कार्य यह था कि उसके तमाम ब्योरों और उसके सम्बन्धों का पता लगाया जाये।

सैद्धान्तिक समाजवाद तथा मृत दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मोटे तौर पर यह परिस्थिति थी, जिस समय श्री यूजेन ड्यूहरिंग काफ़ी शोर-गुल के साथ रंगमंच पर उतरे और यह घोषणा की कि उन्होंने दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजवाद के क्षेत्रों में एक पूर्ण क्रान्ति कर दी है।

आइये, अब हम यह देखें कि श्री ड्यूहरिंग पहले हमसे क्या-क्या कर दिखाने के वायदे करते हैं और फिर अपने वायदों को किस हद तक पूरा करते हैं।

२

श्री ड्यूहरिंग के वायदे

श्री ड्यूहरिंग की जिन रचनाओं की हमें यहां ख़ास तौर से चर्चा करनी है, वे हैं: *Kursus der Philosophie, Kursus der National- und Sozialökonomie* और *Kritische Geschichte der Nationalökonomie und des Sozialismus*।[27] इनमें भी हम पहली रचना की ओर विशेष ध्यान देंगे।

इस पुस्तक के पहले ही पृष्ठ पर श्री ड्यूहरिंग ने अपना परिचय देते हुए यह कहा है कि वह एक ऐसे व्यक्ति हैं

"जो इस शक्ति" (दर्शनशास्त्र) "का अपने युग में तथा तत्काल उसके जिस भावी विकास की कल्पना की जा सकती है, उसमें **प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है**"।*

इस प्रकार वह यह घोषित कर देते हैं कि वर्तमान काल के और उस भविष्य के भी, जिसकी आज "कल्पना की जा सकती है", एकमात्र सच्चे दार्शनिक वह स्वयं हैं। जो कोई उनका विरोध करता है, वह सत्य का विरोध करता है। श्री ड्यूहरिंग के पहले भी बहुत-से ऐसे आदमी हुए हैं, जो अपने बारे में कुछ इसी तरह की बात **सोचा करते थे**, लेकिन – रिचर्ड वैगनर को छोड़कर – श्री ड्यूहरिंग शायद पहले व्यक्ति हैं, जिसने यह बात निर्भय होकर खुले-आम कह डाली है। और जिस सत्य की श्री ड्यूहरिंग चर्चा करते हैं, वह

"अन्तिम एवं परम सत्य" है।

श्री ड्यूहरिंग का दर्शनशास्त्र उनके अपने शब्दों में

---

* ड्यूहरिंग की रचनाओं से उद्धृत शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है। – सं०

"**प्राकृतिक** प्रणाली या **वास्तविकता का दर्शनशास्त्र** है ... उसमें वास्तविकता का इस प्रकार चिन्तन किया जाता है कि संसार के विषय में एक काल्पनिक तथा ग्रात्मनिष्ठ रूप से सीमित ग्रवधारणा बना लेने की **किसी प्रवृत्ति के लिये तनिक भी स्थान नहीं रहता**"।

ग्रतः यह दर्शनशास्त्र कुछ इस प्रकार का है कि वह श्री ड्यूहरिंग को उनकी ग्रपनी उन व्यक्तिगत एवं ग्रात्मनिष्ठ सीमाग्रों के ऊपर उठा देता है, जिनके ग्रस्तित्व से वह ख़ुद भी इनकार नहीं कर सकते। ग्रौर ज़ाहिर है कि यदि श्री ड्यूहरिंग को ग्रन्तिम एवं परम सत्यों की स्थापना करनी है, तो उनका इन सीमाग्रों के ऊपर उठ जाना नितान्त ग्रावश्यक है, हालांकि ग्रभी तक हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह चमत्कार ग्राख़िर कैसे सम्पन्न होगा।

इस "प्राकृतिक ज्ञान प्रणाली" ने "जो ख़ुद ग्रपने में मन के लिये मूल्यवान है", "विचारों की गूढ़ता में ज़रा भी कमी किये बिना, सत्ता के मौलिक रूपों की **सुनिश्चित रूप से स्थापना कर दी है**"। ग्रपने "सचमुच ग्रालोचनात्मक दृष्टिकोण" के कारण यह ज्ञान प्रणाली "एक ऐसे दर्शनशास्त्र के तत्व" प्रस्तुत कर देती है, "जो वास्तविक दर्शनशास्त्र है ग्रौर इसलिये जो प्रकृति तथा जीवन की वास्तविकता का ग्रध्ययन करता है"। यह एक ऐसा दर्शनशास्त्र है, "जो किसी मात्र दिखावटी क्षितिज को मान्य स्वीकार नहीं कर सकता, बल्कि जो **क्रान्ति पैदा करनेवाली ग्रपनी शक्तिशाली गति के द्वारा बाह्य तथा ग्रान्तरिक प्रकृति की समस्त धराग्रों ग्रौर ग्रन्तरिक्षों को खोलकर रख देता है**"। यह "चिन्तन की एक नयी प्रणाली" है ग्रौर उससे जो परिणाम निकले हैं, वे "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्ष एवं विचार हैं... प्रणाली स्रष्टा विचार हैं... प्रतिष्ठापित सत्य हैं"। इस दर्शनशास्त्र के रूप में "एक ऐसी कृति" हमारे सामने ग्राती है, "जिसे केन्द्रीभूत उपक्रमण क्षमता से ग्रपना बल प्राप्त करना होता है" (भले ही उसका कुछ भी ग्रर्थ क्यों न हो) ... यह एक ऐसी "खोज है, जो **जड़ों तक जाती है... गहरी जड़ों वाला विज्ञान है...** वस्तुग्रों ग्रौर मनुष्यों की एक **विशुद्ध वैज्ञानिक** ग्रवधारणा है... चिन्तन की एक **सर्वतोमुखी मर्मवेधी** कृति है..."; इसमें "चिन्तन द्वारा नियंत्रणीय पूर्वाधारों ग्रौर निष्कर्षों का **सृजनात्मक ढंग से** विकास किया गया है..."; यह एक "**सर्वथा मूलभूत**" चीज़ है।

आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग ने हमें न केवल

"ऐतिहासिक एवं सुनियोजित ढंग से व्यापक रचनाएं" दी हैं, जिनमें से ऐतिहासिक रचनाएं तो ऊपर से इसलिये भी उल्लेखनीय हैं कि श्री ड्यूहरिंग के शब्दों में **"मैंने अतिभव्य शैली में** ऐतिहासिक वर्णन किया है", जबकि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित रचनाओं ने "सृजनात्मक परिवर्तन" पैदा कर दिये हैं;

बल्कि अन्त में उन्होंने भावी समाज के लिये अपनी एक पूर्णतया विकसित समाजवादी योजना भी तैयार कर दी है।

"एक **दोषरहित** और वस्तुओं की **आखिरी जड़ों तक पहुंचा हुआ** सिद्धान्त है, जिसका व्यावहारिक फल" यह योजना है।

अतः ड्यूहरिंग के दर्शनशास्त्र की तरह यह योजना भी अमोघ है और हमें मुक्ति का एकमात्र मार्ग दिखाती है। कारण कि

"**केवल उस** समाजवादी संरचना **में ही,** जिसकी रूपरेखा **मैंने अपनी** रचना 'राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम' में प्रस्तुत की है, एक सच्चा स्वत्व उस स्वामित्व का स्थान ले सकता है, जो महज दिखावटी तथा क्षणिक अथवा यहां तक कि हिंसा पर आधारित है"। और भविष्य के लिये इन आदेशों का पालन करना आवश्यक है।

इस प्रकार श्री ड्यूहरिंग ने श्री ड्यूहरिंग को प्रशंसा के जो पुष्प अर्पित किये हैं, उनकी सूची को सहज ही और दसगुना लम्बा किया जा सकता है। संभव है कि इससे पाठक के मन में अभी से कुछ इस प्रकार का सन्देह पैदा हो गया हो कि यह व्यक्ति, जिसकी चर्चा हो रही है, सचमुच दार्शनिक है या... हम पाठकों से प्रार्थना करेंगे कि जब तक वे "गहरी जड़ों वाले" उपर्युक्त दर्शनशास्त्र का थोड़ा और घनिष्ठ परिचय न प्राप्त कर लें, तब तक वे इस प्रश्न पर अपना निर्णय न दें। उपर्युक्त प्रशस्ति

संग्रह हमने केवल इसीलिये दिया है कि पाठकों को मालूम हो जाये कि हम किसी साधारण दार्शनिक तथा समाजवादी की चर्चा करने नहीं बैठे हैं, बल्कि एक अत्यन्त असाधारण प्राणी की चर्चा कर रहे हैं। वह केवल अपने विचारों को व्यक्त करके उनके मूल्य को आंकने का काम भविष्य के ज़िम्मे नहीं छोड़ देता, बल्कि दावा करता है कि जिस तरह पोप कभी कोई ग़लती नहीं कर सकता, उसी तरह उससे भी कभी कोई चूक नहीं हो सकती और उसके द्वारा प्रतिपादित मत ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है और जो आदमी अत्यन्त गर्हित विधर्म के पंक में नहीं फंस जाना चाहता, उसे बस इस मत को स्वीकार कर लेना चाहिये। हमारी जिन रचनाओं से यहां मुठभेड़ हुई है, वे निश्चय ही उस प्रकार की रचनाएं नहीं हैं, जिस प्रकार की रचनाओं से सभी देशों का, और कुछ समय से जर्मनी का भी, समाजवादी साहित्य भरा हुआ है—और जिस प्रकार की रचनाओं के द्वारा अलग-अलग स्तर की योग्यता रखनेवाले लोग अपने-अपने मन में बड़े ही सरल ढंग से उन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, जिनसे सम्बन्धित सामग्री का उनके पास न्यूनाधिक अभाव होता है; और जिन रचनाओं की, उनके वैज्ञानिक तथा साहित्यिक दोष चाहे जैसे भी हों, समाजवादी सद्भावना को हमेशा स्वीकार करना पड़ता है। इसके विपरीत श्री ड्यूहरिंग हमारे सामने ऐसे सिद्धान्त पेश करते हैं, जो उन्होंने घोषणा की है, अन्तिम एवं परम सत्य हैं; और इसलिये यदि कोई विचार इन सिद्धान्तों से टकराता है, तो वह आरम्भ से ही असत्य है। श्री ड्यूहरिंग का न केवल अनन्य सत्य पर अधिकार है, बल्कि अन्वेषण की एकमात्र विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति भी उन्हीं के पास है; और उससे भिन्न तमाम पद्धतियां अवैज्ञानिक हैं। अब या तो उनका कहना सही है—और उस हालत में हमें मानना पड़ेगा कि हमारी एक ऐसी महान विभूति से भेंट हो रही है, जैसी विभूति पहले न तो कभी संसार में हुई है और न आगे कभी होगी, और हम संसार के एक ऐसे पहले अतिमानव पुरुष का दर्शन कर रहे हैं, क्योंकि यह पहला मनुष्य है, जो कभी कोई ग़लती कर ही नहीं सकता। और या श्री ड्यूहरिंग का कहना ग़लत है—और उस हालत में, उनके बारे में हमारा जो भी निर्णय हो, किन्तु उनके सद्भाव का

ख़याल करके उनके प्रति किसी प्रकार की सहृदयता या ममता दिखाना उनका घोर अपमान करना होगा।

यदि किसी व्यक्ति का अन्तिम एवं परम सत्य पर और एकमात्र विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति पर अधिकार है, तो यह स्वाभाविक बात है कि ग़लतियों के दलदल में फंसी हुई शेष अवैज्ञानिक मानवता के लिये उसके मन में थोड़ा अवज्ञा का भाव रहता है। अतः हमें इसपर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि श्री ड्यूहरिंग अपने पूर्वजों के बारे में अत्यन्त तिरस्कार के साथ चर्चा करते हैं और कुछ इने-गिने महापुरुष ही ऐसे हैं, जिनको अपवाद के रूप में ख़ुद श्री ड्यूहरिंग ने यह उपाधि देने की कृपा की है और जिनपर श्री ड्यूहरिंग की "गहरी जड़ों वाली" प्रतिभा के न्यायालय में थोड़ी दया दिखायी गयी है।

आइये, हम पहले यह देखें कि दार्शनिकों के बारे में श्री ड्यूहरिंग को क्या कहना है:

"**लाइबनिट्ज़**, जिसमें अधिक उदार भावनाओं का पूर्ण अभाव है, दरबारी दर्शनबाज़ों में सबसे अच्छा है।"

काण्ट भी कोई बहुत बुरा नहीं है; लेकिन उसके बाद हर चीज़ गड़बड़ा जाती है:

और फिर सामने आता है उसके "बौने उत्तराधिकारियों का, अर्थात् **फ़िख़्टे** और **शेलिंग** जैसे व्यक्तियों का अनर्गल प्रलाप और आडम्बरपूर्ण बकवास ... ज्ञानहीन प्राकृतिक दर्शनबाज़ी के बनाये हुए विकराल व्यंगचित्र ... काण्टोत्तर अपरूपताएं" और "भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पनाएं", जिनका सिरमौर है "कोई **हेगेल**"। इस अन्तिम व्यक्ति ने एक "हेगेलीय पिशाचभाषा" का प्रयोग किया और अपने "अवैज्ञानिक आचरण से, जो इसके अतिरिक्त अपने रूप में भी अवैज्ञानिक है", और अपनी "असंस्कृत बातों" से "हेगेलीय महामारी" फैली दी।

श्री ड्यूहरिंग के दरबार में **प्राकृतिक वैज्ञानिकों** का हाल भी इससे कोई ख़ास अच्छा नहीं रहा। लेकिन उनमें से चूंकि केवल एक डार्विन

का ही नाम लिया गया है, इसलिये हम अपने को उसतक ही सीमित रखेंगे। श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं में डार्विन का ज़िक्र इस तरह किया गया है:

"डार्विन की अर्ध-कविता और रूप परिवर्तन की दक्षता मय अपनी अपरिष्कृत चेतनायुक्त संकुचित ग्रहण शक्ति और भेदकरण की कुंठित शक्ति... हमारे विचार से डार्विनवाद की, जिससे लामार्कीय स्थापनाओं को, ज़ाहिर है, अलग कर देना पड़ेगा, ख़ास विशेषता **मानवता के विरुद्ध एक पाशविक कृत्य है।**"

परन्तु सबसे बुरी समाजवादियों पर बीतती है। बहरहाल एक लुई ब्लां को छोड़कर, जो उन सबमें सबसे अधिक महत्वहीन है, सारे के सारे समाजवादी पापी हैं और उस ख्याति के अधिकारी नहीं हैं, जो श्री ड्यूहरिंग के पहले (या बाद में) उन्हें मिली। और यह बात केवल सत्य तथा वैज्ञानिक पद्धति के विषय में ही सच नहीं है–नहीं, उनके चरित्र के बारे में भी यह बात सच है। बाब्येफ़ तथा १८७१ के कुछ कम्यूनार्डों को छोड़कर उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे "मनुष्य" कहा जा सके। तीनों कल्पनावादी श्री ड्यूहरिंग की राय में "सामाजिक कीमियागर" हैं। उनमें से सेंट-साइमन पर कुछ कृपा की गयी है, क्योंकि उसमें केवल "मन के उछाह" का ही दोष बताया गया है और बड़ी उदारता का परिचय देते हुए यह संकेत किया गया है कि वह धार्मिक उन्माद से पीड़ित थे। लेकिन जब फ़ूरिये का ज़िक्र आता है, तो श्री ड्यूहरिंग का धैर्य एकदम जवाब दे देता है। कारण कि फ़ूरिये में तो

"पागलपन का प्रत्येक लक्षण दिखाई देता था... विचार ऐसे थे, जिनको आदमी सामान्यतया सबसे अधिक पागलख़ानों में ही सुनने की आशा कर सकता है... वे अत्यन्त अनर्गल स्वप्नों के समान ... उन्माद की उपज थे ..." और सच पूछिये तो यह "अकथनीय सीमा तक अल्पबुद्धि फ़ूरिये", जिसका "दिमाग़ बच्चों जैसा है", यह "मूर्ख" तो समाजवादी भी नहीं है; उनके phalansteries[28] विवेक संगत समाजवाद की कृति कदापि नहीं हैं, बल्कि वे "रोज़मर्रा के वाणिज्य के नमूने पर बनाया गया एक व्यंग्य चित्र हैं"।

और अन्त में सुनिये :

"जो कोई (न्यूटन के बिषय में फ़ूरिये के) इन अनियंत्रित भावोद्गारों को सुनकर भी इस परिणाम पर नहीं पहुंच पाता कि फ़ूरिये के नाम में और समस्त फ़ूरियेवाद में केवल पहले अक्षर में (fou – पागल) ही थोड़ा सत्य है, तो **ऐसे आदमी को भी मूर्खों के किसी वर्ग में रखना होगा।**"

अन्त में श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है कि रॉबर्ट ओवेन के

"बहुत सामर्थ्यहीन और क्षुद्र विचार हैं ... उनकी तर्क-पद्धति का नीतिशास्त्र बहुत अपरिष्कृत है... कुछ इनी-गिनी अत्यन्त साधारण-सी बातें हैं, जिन्होंने बिगड़ते-बिगड़ते विकृतियों का रूप धारण कर लिया है... वस्तुओं को देखने का एक मूर्खतापूर्ण तथा फूहड़ तरीक़ा ... ओवेन का विचार क्रम इस योग्य नहीं है कि उसकी इनसे अधिक गम्भीर आलोचना की जाये ... उनमें बड़ा अहंकार है..." इत्यादि, इत्यादि।

बहुत ही बड़ी रसिकता का परिचय देते हुए श्री ड्यूहरिंग ने कल्पनावादियों के नामों के आधार पर उनका चरित्रांकन किया है: संट-साइमन – saint (संत) ; फ़ूरिये – fou (पागल) ; आंफ़ांतिं – enfant (बालकों जैसा)। बस उनको इतना और कहने की आवश्यकता थी कि – ओवेन – ओ मुसीबत और इन चार शब्दों में समाजवाद के इतिहास के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युग को निकम्मा क़रार दे दिया जाता है; और यदि किसी को इसमें कुछ सन्देह होता है, तो फिर ख़ुद उसको भी "मूर्खों के किसी वर्ग में रखना होगा"।

जहां तक कि बाद के काल के समाजवादियों के विषय में श्री ड्यूहरिंग की राय का सवाल है, हम संक्षेप करने की दृष्टि से उनकी केवल लासाल और मार्क्स सम्बन्धी टिप्पणियों को ही उद्धृत करेंगे।

लासाल : "लोकगम्य बनाने के उद्देश्य से बाल की खाल निकालनेवाली पण्डिताऊ कोशिशें ... घोर पाण्डित्य प्रदर्शन ... सामान्य सिद्धान्त और तुच्छ बकवास की एक भयानक खिचड़ी ... हेगेलीय अंधविश्वास, अर्थहीन

एवं आकारविहीन ... एक डरावनी मिसाल ... विचित्र रूप से संकुचित ... बहुत ही छोटी-छोटी अदना चीज़ों का आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन ... हमारा यहूदी चरित्र नायक ... पर्चेबाज़ ...गंवार... जीवन तथा संसार के विषय में उसके दृष्टिकोण की अन्तर्भूत अस्थिरता..."

मार्क्स : "दृष्टिकोण की संकीर्णता... उसकी रचनाओं तथा सफलताओं पर यदि अलग से विचार किया जाये, अर्थात् यदि उनपर विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार किया जाये, तो हमारे क्षेत्र में" (समाजवाद के आलोचनात्मक इतिहास में) "उनका कोई स्थायी महत्व नहीं है और बौद्धिक प्रवृत्तियों के सामान्य इतिहास में उनका अधिक से अधिक केवल आधुनिक काल के संकीर्ण पाण्डित्य की एक शाखा के प्रभाव के लक्षणों के रूप में ही ज़िक्र किया जा सकता है ... संकेंद्रण एवं क्रमबंधन की क्षमताओं की क्लीवता... चिन्तन तथा शैली की कुरूपता, आडम्बरपूर्ण अशोभनीय भाषा ...अंग्रेज़मार्का अहंकार... आंखों में धूल झोंकना ...बंध्या अवधारणाएं, जो वास्तव में केवल ऐतिहासिक एवं तार्किक कल्पना की जारज सन्तान हैं ... बातों को भ्रान्तिजनक ढंग से तोड़ना-मरोड़ना ... व्यक्तिगत दम्भ ... कुत्सित तौर-तरीक़े... घिनौना ...भंड़ैती, जो चतुराई होने का दावा करती है ... चीनी पाण्डित्य ... दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पिछड़ापन।"

और इसी तरह की और भी अनेक बातें – क्योंकि हमने यहां श्री ड्यूहरिंग की पुष्पवाटिका से केवल ऊपर-ऊपर से कुछ पुष्प चुनकर पाठकों के सामने पेश किये हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि फ़िलहाल हमें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि ये मीठी-मीठी गालियां – जिनका प्रयोग करने के बाद श्री ड्यूहरिंग को, यदि उनमें थोड़ी भी शिक्षा होती, तो **किसी भी चीज़ को** कुत्सित और घिनौना समझने का साहस न होता – ये गालियां भी अन्तिम एवं परम सत्य हैं या नहीं। और – फ़िलहाल – हम इन गालियों की जड़ें गहरी होने के बारे में भी कोई सन्देह प्रकट करने की ग़लती नहीं करेंगे, क्योंकि वैसा करने पर सम्भवतः हमको यह पता लगाने की भी अनुमति न मिले कि हम मूर्खों के किस वर्ग में आते हैं। हमने तो केवल यह सोचा था कि हमारा यह कर्तव्य है कि एक ओर तो पाठकों के सामने उस भाषा का उदाहरण प्रस्तुत कर दें, जिसे श्री ड्यूहरिंग ने

"विचारशील तथा सच्चे अर्थ में विनयी वाक्यशैली की विशिष्ट भाषा" कहा है;

और दूसरी ओर यह बात स्पष्ट कर दें कि श्री ड्यूहरिंग के लिये उनके पूर्वजों का निकम्मापन उतना ही माना हुआ तथ्य है, जितना यह कि श्री ड्यूहरिंग से कभी कोई ग़लती नहीं हो सकती। और चुनांचे–यदि सचमुच ऐसी स्थिति है तो–इस महाशक्तिशाली विभूति के चरणों में, जिससे बड़ी विभूति त्रिकाल में नहीं हो सकती, हम अगाधतम भक्ति के साथ भूमि पर माथा टेककर उसे प्रणाम करते हैं।

भाग १

दर्शनशास्त्र

३

वर्गीकरण। प्रागनुभविकवाद

श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार दर्शनशास्त्र—संसार की तथा जीवन की चेतना के सर्वोच्च रूप का विकास है, और अधिक व्यापक अर्थ में समस्त ज्ञान एवं संकल्प के **सिद्धान्त** उसमें शामिल होते हैं। जहां कहीं संज्ञानों अथवा उद्दीपनाओं के किसी क्रम पर या अस्तित्व के रूपों के किसी समूह पर मानव चेतना विचार करती है, वहां इन अभिव्यक्तियों में अन्तर्निहित **सिद्धान्त** आवश्यक रूप से दर्शनशास्त्र का विषय बन जाते हैं। ये सिद्धान्त ही बहुविध ज्ञान तथा संकल्प के सरल संघटक अंग हैं या यूं कहिये कि ये ही उनके वे संघटक अंग हैं, जिनको अभी तक सरल समझा जाता है। वस्तुओं के रासायनिक संघटन की भांति वस्तुओं की सामान्य संरचना को भी कुछ मूलभूत रूपों और मूलभूत तत्वों में परिणत किया जा सकता है। जब एक बार इन अन्तिम संघटक अंगों या सिद्धान्तों का आविष्कार हो जाता है, तो वे न केवल सद्यःज्ञात एवं अभिगम्य जगत् पर लागू होते हैं, बल्कि उस जगत् पर भी लागू होते हैं, जो हमारे लिये अज्ञात और अनभिगम्य है। अतएव दार्शनिक सिद्धान्तों से विज्ञानों को वह अन्तिम अनुपूरक प्राप्त होता है, जिसकी उनको एक ऐसी समरूप प्रणाली बनने के लिये आवश्यकता होती है, जिससे प्रकृति और मानव जीवन का स्पष्टीकरण किया जा सके। सभी प्रकार के अस्तित्व के मूलभूत रूपों के अतिरिक्त केवल दो ही ख़ास विषय और हैं, जिनकी दर्शनशास्त्र छानबीन करता है—प्रकृति तथा मनुष्य संसार। चुनांचे हमारी सामग्री **बड़े स्वाभाविक ढंग से** तीन वर्गों में बंट जाती है, अर्थात् विश्व का सामान्य रेखांकन, प्रकृति के सिद्धान्तों का विज्ञान और अन्तिम, मानवजाति का विज्ञान। इस क्रम के भीतर साथ ही **एक आन्तरिक तर्कशुद्ध अनुक्रम** भी निहित है, क्योंकि जो औपचारिक सिद्धान्त हर प्रकार के अस्तित्व पर लागू होते हैं, वे औरों से श्रेष्ठ होते हैं; और वस्तुओं के जिन क्षेत्रों पर उनको **लागू करना** पड़ता है, उनको अपनी-अपनी अधीनता की मात्रा के क्रमानुसार उनके बाद स्थान मिलता है।

हमने श्री ड्यूहरिंग के विचारों को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है और वह भी लगभग पूरी तरह उन्हीं के शब्दों में।

अतः श्री ड्यूहरिंग जिनकी चर्चा कर रहे हैं, वे हैं **सिद्धान्त** अथवा औपचारिक सूत्र, जिनकी बाह्य जगत् से नहीं, बल्कि **चिन्तन** से व्युत्पत्ति हुई है, जिनको प्रकृति तथा मनुष्य जगत् पर लागू करना होता है, और इसलिये जिनका प्रकृति तथा मनुष्य को पालन करना पड़ता है। परन्तु चिन्तन इन सिद्धान्तों को कहां से प्राप्त करता है? ख़ुद अपने से? नहीं, क्योंकि श्री ड्यूहरिंग ने स्वयं कहा है कि विशुद्ध चिन्तन का क्षेत्र केवल तार्किक रेखांकनों और गणितीय रूपों (पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह बाद की बात ग़लत है) तक ही सीमित है। तार्किक रेखांकनों का केवल **चिन्तन के रूपों से** ही सम्बन्ध हो सकता है; लेकिन हम यहां जिन रूपों की चर्चा कर रहे हैं, वे केवल **सत्ता के** अथवा बाह्य जगत् के रूप हैं, और इन रूपों का चिन्तन ख़ुद अपने में से सृजन या व्युत्पादन कभी नहीं कर सकता। उनका तो वह केवल बाह्य जगत् में से ही व्युत्पादन कर सकता है। परन्तु इतना मानते ही पूरा सम्बन्ध उलट जाता है। छानबीन सिद्धान्तों से नहीं शुरू होती, बल्कि छानबीन का अन्तिम परिणाम सिद्धान्त होते हैं; ये सिद्धान्त प्रकृति तथा मानव इतिहास पर लागू नहीं किये जाते, बल्कि उनसे निकाले जाते हैं। प्रकृति और मानवजाति को इन सिद्धान्तों के अनुरूप होने की ज़रूरत नहीं, इसके विपरीत सिद्धान्त उस हद तक ठीक हैं, जिस हद तक वे प्रकृति और इतिहास के अनुरूप हैं। यही एकमात्र भौतिकवादी अवधारणा है और श्री ड्यूहरिंग की इसकी उल्टी अवधारणा भाववादी है। वह चीज़ों को एकदम उलटकर सिर के बल खड़ा कर देती है और वास्तविक संसार का ऐसे विचारों से, ऐसी सारणियों, योजनाओं अथवा परिकल्पनाओं से निर्माण करना चाहती है, जो संसार के अस्तित्व में आने के पहले से, अनादि काल से कहीं पर मौजूद हैं—और **"किसी हेगेल"** की अवधारणा भी बिल्कुल इसी प्रकार की थी।

वस्तुतः आइये, हेगेल की *Encyclopädie*[29] तथा इसकी समस्त भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पनाओं की श्री ड्यूहरिंग के अन्तिम एवं परम सत्यों से तुलना करें। श्री ड्यूहरिंग के यहां सबसे पहले हमें सामान्य विश्व रेखांकन के दर्शन होते हैं, जिसे हेगेल ने **तर्कशास्त्र** का नाम दिया है।

फिर दोनों के ही यहां इन रेखांकनों को या तार्किक परिकल्पनाओं को प्रकृति पर लागू किया जाता है; यह हुआ प्रकृति का दर्शनशास्त्र; और अन्त में उनको मानव जगत् पर लागू किया जाता है; इसे हेगेल ने मन का दर्शनशास्त्र कहा है। अतः ड्यूहरिंग के क्रम के भीतर जो "आन्तरिक तर्कशुद्ध अनुक्रम" छिपा है, वह हमें "बड़े स्वाभाविक ढंग से" पुनः हेगेल की *Encyclopaedia* पर पहुंचा देता है। श्री ड्यूहरिंग ने अपना "अनुक्रम" ऐसी अगाध भक्ति के साथ हेगेल की *Encyclopädie* से उधार लिया है कि उसे देखकर हेगेलीय सम्प्रदाय के उस शाश्वत यहूदी की, बर्लिन के प्रोफ़ेसर मिकेलेट[30] की आंखों में आंसू आ जायेंगे।

"चेतना" अथवा "चिन्तन" को बड़े प्रकृतिवादी ढंग से कोई ऐसी पूर्वनिश्चित चीज़ समझ बैठने का, जो शुरू से ही अस्तित्व की अथवा प्रकृति की विरोधी होती है, अन्त में यही परिणाम होता है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि चेतना तथा प्रकृति, चिन्तन तथा सत्ता और चिन्तन के नियमों तथा प्रकृति के नियमों में इतनी घनिष्ठ अनुरूपता दिखाई देती है। परन्तु इसके बाद यदि यह प्रश्न और किया जाये कि चिन्तन और चेतना सचमुच क्या हैं और वे कहां से आती हैं, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मानव मस्तिष्क की पैदावार होती हैं और मनुष्य स्वयं प्रकृति की एक ऐसी पैदावार है, जिसका उसके वातावरण के भीतर और उसके वातावरण के साथ-साथ विकास हुआ है। अतः यह बात स्वतःस्पष्ट है कि मानव मस्तिष्क की पैदावार चूंकि अन्तिम विश्लेषण में प्रकृति की पैदावार भी होती है, इसलिये प्रकृति के शेष अन्तर्सम्बन्धों से उसका कोई विरोध नहीं होता, बल्कि वह उनके अनुरूप होती है।[31]

परन्तु श्री ड्यूहरिंग विषय का इतना सरल विवेचन नहीं कर सकते। वह तो न केवल समस्त मानवता की ओर से सोचते हैं—जो ख़ुद भी कोई छोटा काम नहीं है—बल्कि समस्त ग्रहों और उपग्रहों पर रहनेवाले सभी सचेतन और तर्क क्षमतावान प्राणियों की ओर से सोचते हैं।

असल में तो "चेतना तथा ज्ञान के मूलभूत रूपों के लिये 'मानव' विशेषण का प्रयोग करके उनकी परम प्रामाणिकता तथा निरपेक्ष सत्यता

से इनकार करने या उनके विषय में किसी भी प्रकार सन्देह प्रकट करने की कोशिश करना, उनका अपमान करना है"।

इसीलिये यह सोचकर कि किसी आकाश पिण्ड के बारे में कहीं कोई इस तरह का शक न पैदा हो जाये कि वहां दो दुनी पांच होते हैं, श्री ड्यूहरिंग कभी चिन्तन को "मानव गुण" कहने का साहस नहीं करते और इस कारण उनको चिन्तन को उसके एकमात्र वास्तविक आधार से, अर्थात् मनुष्य तथा प्रकृति से काटकर अलग कर देना पड़ता है; और ऐसा करते ही वह एक ऐसे भाववाद के दलदल में बुरी तरह फंस जाते हैं, जो इस बात का उद्घाटन कर देती है कि श्री ड्यूहरिंग "बौने उत्तराधिकारी" हेगेल के एक अत्यन्त निकृष्ट स्तर के उत्तराधिकारी हैं। प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि श्री ड्यूहरिंग से हमारी अन्य आकाश पिण्डों पर भी भेंट होगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के भाववादी आधार पर किसी भौतिकवादी मत की नींव नहीं डाली जा सकती। बाद में हम देखेंगे कि कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं, जब श्री ड्यहरिंग को चुपके से प्रकृति को सचेतन क्रियाशीलता का गुण प्रदान कर देना पड़ता है, अर्थात् यदि सीधी और सरल भाषा का प्रयोग किया जाये, तो वह कभी-कभी ईश्वर के अस्तित्व की भी कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु कुछ और भी कारण हैं, जिनका ख़याल करके हमारा यथार्थ-वादी दार्शनिक वास्तविक संसार के बजाय चिन्तन के संसार को समस्त वास्तविकता का आधार घोषित कर देता है। विश्व के सामान्य रेखांकन का, सत्ता के इन औपचारिक सिद्धान्तों का विज्ञान ही श्री ड्यूहरिंग के दर्शनशास्त्र का आधार है। यदि हम विश्व रेखांकन का अपने मन से निगमन नहीं करते, बल्कि केवल मन के द्वारा वास्तविक संसार से उनका निगमन करते हैं, यदि हम सत्ता के सिद्धान्तों का जो कुछ है, उससे निगमन करते हैं, तो इस काम के लिये हमें किसी भी प्रकार के दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं होगी। उसके लिये तो संसार के तथा उसके भीतर जो कुछ हो रहा है, उसके निश्चित ज्ञान की आवश्यकता होगी और इस प्रकार

के ज्ञान से हमें दर्शनशास्त्र नहीं, बल्कि निश्चित विज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु यदि ऐसी बात है, तो श्री ड्यूहरिंग का पूरा ग्रंथ बेकार ही लिखा गया है।

इसके अलावा यदि किसी भी तरह के दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं है, तो दर्शनशास्त्र की किसी प्रणाली की, यहां तक कि किसी प्राकृतिक प्रणाली की भी आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रतिबोधना कि प्रकृति की समस्त प्रक्रियाएं सुनियोजित रूप से सम्बद्ध होती हैं, विज्ञान को सामान्य रूप से सब जगह और विशिष्ट रूप से प्रत्येक अलग-अलग क्षेत्र में इस सुनियोजित सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिये विवश करती रहती है। किन्तु इस अन्तर्सम्बन्ध की एक सर्वतः पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या करना अथवा हम लोग जिस विश्व व्यवस्था में रहते हैं, उसका अपने मन में एक यथार्थ मानसिक चित्र बनाना हमारे लिये असम्भव है और हमेशा असम्भव रहेगा। यदि मनुष्यजाति के विकास के दौरान में किसी समय भौतिक तथा साथ ही मानसिक एवं ऐतिहासिक संसार के भीतर पाये जानेवाले अन्तर्सम्बन्धों की एक अन्तिम एवं निश्चित प्रणाली बनाकर तैयार कर दी गयी, तो इसका यह अर्थ होगा कि मानव ज्ञान प्राप्ति अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच गयी है। और जिस क्षण समाज को इस प्रणाली के अनुरूप बना दिया जायेगा, बस उसी क्षण से समाज का सारा विकास रुक जायेगा, जो ज़ाहिर है, एक बिल्कुल बेतुका विचार और सरासर बकवास है। अतः एक स्वतःविरोधी बात मनुष्यजाति के सामने आकर खड़ी हो जाती है: एक ओर तो उसे विश्व प्रणाली का और उसके सारे अन्तर्सम्बन्धों का सर्वतः पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होता है; और दूसरी ओर, मनुष्यजाति और विश्व प्रणाली दोनों का स्वरूप ऐसा है कि यह कार्य कभी पूरा नहीं हो सकता। परन्तु यह विरोध केवल इन दो तत्वों के – विश्व तथा मनुष्य के – स्वरूप में निहित ही नहीं है, वह समस्त बौद्धिक प्रगति के मुख्य उत्तोलक का भी काम करता है; और जिस प्रकार गणित की समस्याओं का हल एक अन्तहीन श्रेणी अथवा वितत भिन्नों के रूप में निकलता है, उसी प्रकार मनुष्यजाति की इस समस्या का हल दिन प्रति दिन मानवता के अन्तहीन उत्तरोत्तर विकास के रूप में मिलता जाता है। विश्व प्रणाली का

प्रत्येक मानसिक प्रतिबिम्ब वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा और आत्मनिष्ठ दृष्टि से उसके जन्मदाता के शारीरिक तथा मानसिक गठन के द्वारा सीमित होता है। परन्तु श्री ड्यूहरिंग ने पहले ही यह कह दिया है कि उनकी तर्क पद्धति ऐसी है, जिसमें संसार की आत्मनिष्ठ दृष्टि से सीमित अवधारणा बनाने की किसी प्रवृत्ति के लिये स्थान नहीं है। ऊपर हमने देखा था कि वह सर्वत्रगामी हैं—विश्व में जितने भी आकाश पिण्ड हो सकते हैं, उन सब तक उनकी पहुंच है। अब हमें पता चलता है कि वह सर्वज्ञाता भी हैं। उन्होंने विज्ञान की अन्तिम समस्याओं का हल कर डाला है और इस प्रकार समस्त विज्ञान की भावी प्रगति के मार्ग को तख़्ते जड़कर बन्द कर दिया है।

जो बात सत्ता के मूलभूत रूपों के लिये सच है, वही सम्पूर्ण शुद्ध गणित के लिये भी सच है। श्री ड्यूहरिंग का विचार है कि वह केवल तर्कगम्य प्रणाली के द्वारा, अर्थात् बाह्य जगत् से हमें जो अनुभव प्राप्त होता है, बिना उसका कोई उपयोग किये हुए केवल अपने मस्तिष्क में सारे शुद्ध गणित की रचना कर सकते हैं।

शुद्ध गणित में मन "स्वयं अपनी स्वतंत्र सृष्टि तथा कल्पनाओं" का विवेचन करता है; संख्या और आकृति की धारणाएं "उस शुद्ध विज्ञान की पर्याप्त विषय-वस्तु हैं, जिसका मन अपने आप सृजन कर सकता है"; और इसलिये इस विज्ञान की "प्रामाणिकता **विशिष्ट** अनुभव तथा संसार के वास्तविक सार से स्वतंत्र होती है"।

यह बात तो ज़ाहिर है, सही है कि शुद्ध गणित की प्रामाणिकता प्रत्येक व्यक्ति के **विशिष्ट** अनुभव से स्वतंत्र होती है; और वास्तव में प्रत्येक विज्ञान के सभी जाने-माने तथ्यों के लिये यह बात सच है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भी तरह के तथ्य हों, यह बात उन सब पर लागू होती है। यह तथ्य कि चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं, यह तथ्य कि जल हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर बना होता है, यह तथ्य कि हेगेल मर गये हैं और श्री ड्यूहरिंग ज़िन्दा हैं—ये सारे तथ्य मेरे अपने अनुभव से या किन्हीं भी अन्य व्यक्तियों के अनुभव से और यहां तक कि

जब श्री ड्यूहरिंग गहरी नींद में सो जाते हैं, तब उनके अनुभव से भी स्वतंत्र होते हैं। लेकिन यह बात कदापि सच नहीं है कि शुद्ध गणित में मन केवल अपनी सृष्टि का तथा ख़ुद अपनी कल्पनाओं का अध्ययन करता है। संख्या और आकृति की धारणाओं की व्युत्पत्ति वास्तविकता के संसार के सिवा और किसी क्षेत्र से नहीं हुई है। वे दस उंगलियां, जिनपर मनुष्यों ने पहले पहल गिनना सीखा था, अर्थात् जिनपर उन्होंने अंक गणित का पहला प्रयोग किया था – वे और कुछ भी रही हों, पर मन की स्वतंत्र सृष्टि नहीं थीं। गिनने के लिये न केवल उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिनको गिना जा सके, बल्कि उसके लिये इस क्षमता की भी आवश्यकता होती है कि जिन वस्तुओं पर विचार किया जा रहा है, उनकी संख्या के सिवा अन्य सभी गुणों का अपवर्जन कर दिया जाये। और यह क्षमता अनुभव पर आधारित एक लम्बे ऐतिहासिक विकास की उपज होती है। संख्या के विचार की भांति आकृति का विचार भी अनन्य रूप से केवल बाह्य जगत् से उधार लिया गया है। यह विचार भी विशुद्ध चिन्तन से मन में नहीं उत्पन्न हो जाता। किसी भी मनुष्य के मन में आकृति का विचार पैदा होने के पहले यह आवश्यक था कि संसार में अनेक आकृतिवान वस्तुएं हों, जिनकी आकृतियों की एक दूसरे से तुलना की जा सके। शुद्ध गणित वास्तविक संसार के दिक्‌रूपों और परिमाण सम्बन्धों का अध्ययन करता है – अर्थात् वह उस सामग्री का अध्ययन करता है, जो निश्चय ही बहुत वास्तविक है। इस बात से कि यह सामग्री एक बहुत ही अमूर्त रूप में प्रकट होती है, इस सत्य पर केवल सतही ढंग का पर्दा ही पड़ सकता है कि इस सामग्री की उत्पत्ति बाह्य जगत् से हुई है। लेकिन इन रूपों तथा सम्बन्धों की उनके शुद्ध रूप में केवल उसी समय छानबीन की जा सकती है, जब पहले उनको उनके सार से पूरी तरह अलग कर दिया जांये और उनके सार को विषयासंगत मानकर एक तरफ़ रख दिया जाये। इसी प्रकार हम ऐसे बिन्दुओं का अध्ययन करते हैं, जिनका आयाम नहीं होता; ऐसी रेखाओं का अध्ययन करते हैं, जिनमें चौड़ाई और मोटाई नहीं होती; a और b तथा x और y का अध्ययन करते हैं, अचरों और चरों का अध्ययन करते हैं; और इस सबके अन्त

में जाकर ही हम कहीं स्वयं मन की स्वतंत्र सृष्टि तथा कल्पनाओं पर, अर्थात् काल्पनिक परिमाणों पर पहुंच पाते हैं। ऊपर से देखने में लगता है कि गणितीय परिमाणों की एक दूसरे से व्युत्पत्ति होती है। पर इससे भी यह नहीं सिद्ध होता कि इन परिमाणों की प्रागनुभविक उत्पत्ति हो जाती है। इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि उनके बीच तर्कसंगत सम्बन्ध होता है। किसी आयत के अपनी एक भुजा के चारों ओर घूर्णन करने से सिलेण्डर के **रूप** का निगमन करने का विचार मन में आने के पहले निश्चय ही बहुत सारे वास्तविक आयतों और सिलेण्डरों का, उनका रूप चाहे जितना दोषपूर्ण क्यों न रहा हो, अध्ययन किया गया होगा। अन्य सभी विज्ञानों की भांति गणित भी मनुष्यों की **व्यावहारिक आवश्यकताओं से** उत्पन्न हुआ था। उसका जन्म हुआ था ज़मीन को मापने के लिये तथा बरतनों की अन्तर्वस्तु की मात्रा का पता लगाने के लिये। उसका जन्म हुआ था काल की संगणना करने के लिये और यांत्रिकी के लिये। लेकिन जैसा कि चिन्तन के प्रत्येक विभाग में देखने में आता है, वास्तविक संसार से जो नियम निकाले गये थे, उनके विकास के दौरान में एक ऐसी मंज़िल आती है, जब इन नियमों का वास्तविक संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और उनकी वास्तविक संसार के मुक़ाबले में एक स्वतंत्र चीज़ के रूप में या संसार के बाहर से आये हुए ऐसे नियमों के रूप में स्थापना कर दी जाती है, जिनका संसार को पालन करना पड़ता है। समाज में तथा राज्य में यही हुआ; और इसी प्रकार–तथा अन्य किसी प्रकार नहीं–यह बात देखने में आयी कि यद्यपि **शुद्ध** गणित को संसार से उधार लिया गया है और वह इस संसार के अन्तर्सम्बन्धों के विभिन्न रूपों के केवल एक भाग का प्रतिनिधित्व करता है, तथापि बाद को उसे इसी संसार पर **लागू किया गया।** और चूंकि उसे संसार से उधार लिया गया है, **यही कारण है** कि उसे संसार पर लागू किया जा सकता है।

जिस तरह श्री ड्यूहरिंग का यह विचार है कि गणित के उन स्वयंसिद्ध तथ्यों से, जिनको

"शुद्ध तर्क विज्ञान के अनुसार न तो प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है और न ही प्रमाणित किया जा सकता है"

वह बिना किसी भी प्रकार का आनुभविक मिश्रण किये सम्पूर्ण शुद्ध गणित का निगमन कर सकते हैं और फिर उसे संसार पर लागू कर सकते हैं, उसी तरह उनका यह भी विचार है कि वह पहले अपने दिमाग़ में से सत्ता के मूलभूत रूपों को, समस्त ज्ञान के साधारण तत्वों को या दर्शन-शास्त्र के स्वयंसिद्ध तथ्यों को उत्पन्न कर सकते हैं तथा इन स्वयंसिद्ध तथ्यों से सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र अथवा विश्व रेखांकन का निगमन कर सकते हैं; और फिर एक सर्वमान्य आदेश निकालकर अपने बनाये हुए इस विधान को प्रकृति तथा मानवता पर थोप सकते हैं। दुर्भाग्य से प्रकृति १८५० के मैंत्यूफ़ेलवादी प्रशा निवासियों[32] की नहीं बनी है, और मानवता में भी ऐसे लोगों की संख्या नगण्य है।

गणित के ये स्वयंसिद्ध तथ्य न्यूनतम विचार वस्तु की अभिव्यंजनाएं हैं, जिसे गणित को तर्क विज्ञान से उधार लेना पड़ा है। इन सबको दो स्वयंसिद्ध तथ्यों में परिणत किया जा सकता है:

१) सम्पूर्ण भाग से अधिक बड़ा होता है। यह कथन एक विशुद्ध पुनरुक्ति है, क्योंकि "भाग" के परिमाणात्मक दृष्टि से परिकल्पित विचार का शुरू से ही "सम्पूर्ण" के विचार से एक निश्चित सम्बन्ध होता है और वह भी इस प्रकार का सम्बन्ध होता है कि "भाग" का अर्थ सदा यह होता है कि परिमाणात्मक "सम्पूर्ण" कई परिमाणात्मक "भागों" का बना है। इसी बात को स्पष्ट रूप में कहकर यह तथाकथित स्वयंसिद्ध तथ्य हमें एक क़दम भी आगे नहीं ले जाता। बल्कि इस पुनरुक्ति को एक तरह से यह कहकर **सिद्ध भी किया जा सकता है** कि सम्पूर्ण वह है, जो कई भागों का बना है; भाग वह है, जिसके यदि कई अदद मिल जायें, तो एक सम्पूर्ण तैयार हो जाता है; इसलिये भाग सम्पूर्ण से छोटा होता है— इस पूरे वक्तव्य की पुनरुक्ति की निस्सारता उसके अर्थ की निस्सारता को और भी अधिक स्पष्ट कर देती है।

२) यदि दो मात्राएं एक तीसरी मात्रा के बराबर हैं, तो वे एक

दूसरे के भी बराबर होती हैं। जैसा कि हेगेल पहले ही बता चुके हैं, यह कथन एक ऐसा निष्कर्ष है, जिसकी शुद्धता का साक्षी तर्क विज्ञान है[33] और इसलिये जो प्रमाणित हो चुका है, हालांकि वह शुद्ध गणित के क्षेत्र के बाहर प्रमाणित हुआ है। समता और असमता से सम्बन्धित शेष स्वयंसिद्ध तथ्य इस निष्कर्ष की तर्कसंगत व्याप्तियां मात्र हैं।

इन ज़रा-ज़रा से सिद्धान्तों से न तो गणित में कोई काम बनता है और न ही किसी अन्य क्षेत्र में। थोड़ा भी और आगे बढ़ने के लिये हमें वास्तविक सम्बन्धों को, वास्तविक पिण्डों से लिये गये सम्बन्धों तथा दिक्‌रूपों को अपने अध्ययन के क्षेत्र में ले आना पड़ता है। रेखाएं, समतल, कोण, बहुभुज, घन, गोले इत्यादि—इन सबके विचार वास्तविकता से प्राप्त हुए हैं। और जब गणितज्ञ हमको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि पहली रेखा दिक् में एक बिन्दु के संचलन से बनी थी, पहला समतल एक रेखा के संचलन से उत्पन्न हुआ था, पहला ठोस पिण्ड एक समतल के संचलन से बना था, इत्यादि, इत्यादि—तो उनकी बातों पर विश्वास करने के लिये काफ़ी पर्याप्त मात्रा में भाववादी भोलेपन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की अवधारणा के विरुद्ध तो भाषा तक विद्रोह कर उठती है। तीन आयामों की गणितीय आकृति ठोस पिण्ड, corpus solidum, लैटिन भाषा में तो मूर्त वस्तु कहलाती है। इसलिये उसका नाम ऐसा है, जो ठोस वास्तविकता से प्राप्त हुआ है और जो मन की स्वतंत्र कल्पना से कदापि उत्पन्न नहीं हुआ है।

परन्तु व्यर्थ का यह विस्तार क्यों? पृष्ठ ४२ और ४३ पर[34] अनुभव के संसार से शुद्ध गणित की स्वाधीनता का, उसके स्वतःउत्पन्न स्वरूप का और उसके सदा स्वयं मन की स्वतंत्र सृष्टि तथा कल्पनाओं में व्यस्त रहने का ख़ूब उत्साह के साथ गुणगान करने के बाद श्री ड्यूहरिंग ने पृष्ठ ६३ पर लिखा है :

"इस बात को लोग आसानी से अनदेखा कर जाते हैं कि गणित के ये तत्व (संख्या, परिमाण, काल, दिक्, रेखागणितीय गति) **केवल अपने रूप में ही भावगत होते हैं...** अतः **निरपेक्ष परिमाण**, वे चाहे किसी

जाति के परिमाण हों, पूर्णतया **अनुभवाश्रित** होते हैं" ... लेकिन "गणित की सारणियों का इस प्रकार का चरित्र-निरूपण भी किया जा सकता है, जिसका अनुभव से **सम्बन्ध विच्छेद** हो गया हो, पर फिर भी जो पर्याप्त हो।"

यह अन्तिम वक्तव्य न्यूनाधिक रूप में **प्रत्येक** अमूर्त परिकल्पना के लिये सच है, लेकिन उससे यह कदापि प्रमाणित नहीं हो जाता कि उसको वास्तविकता से नहीं निकाला गया है। विश्व रेखांकन में शुद्ध गणित शुद्ध चिन्तन से उत्पन्न हुआ था। प्राकृतिक दर्शन में वह पूरी तरह अनुभवाश्रित एक ऐसी चीज़ है, जो पहले बाह्य जगत् से ली जाती है और फिर जिसका बाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। इन दोनों बातों में से हम किस बात का विश्वास करें?

४

विश्व रेखांकन

"सर्वव्यापी सत्ता **एक** है। वह आत्मनिर्भर है और इसलिये न तो कोई उसके पार्श्व में है और न उसके ऊपर है। उसके साथ किसी और सत्ता को जोड़ देना उसे एक ऐसी चीज़ बना देना है, जो वह नहीं है, अर्थात् यह उसे किसी अधिक व्यापक सम्पूर्ण का भाग या संघटक अंग बना देना है। हम अपने **एकीकृत** विचार का चूंकि एक चौखटे की भांति विस्तार करते हैं, इसलिये ऐसी कोई चीज़ जो इस विचार **अद्वैत** में सम्मिलित है, वह स्वयं अपने भीतर कोई द्वैत नहीं रख सकती। फिर न ही कोई चीज़ इस एकीकृत विचार से बचकर निकल सकती है ... चेतना के तत्वों का एक अद्वैत में एकीकृत हो जाना ही समस्त चिन्तन का सार है ... संश्लेषण की एकता के बिन्दु से ही **संसार का अविभाज्य विचार** जन्म लेता है और विश्व से, जैसा कि स्वयं इस नाम का अर्थ है, एक ऐसी वस्तु का बोध होता है, जिसमें हर चीज एक **अद्वैत** में एकीकृत होती है।"

यहां तक आपने श्री ड्यूहरिंग को सुना। गणितीय पद्धति का यह पहला प्रयोग है:

"प्रत्येक प्रश्न का **एक स्वतःसिद्ध ढंग से** साधारण मूलभूत रूपों के अनुसार इस तरह निर्णय करना है, जैसे हम गणित के साधारण ... सिद्धान्तों का विवेचन कर रहे हों।"

"सर्वव्यापी सत्ता एक है।" यदि पुनरुक्ति ही स्वयंसिद्ध तथ्य होती है और यदि स्वयंसिद्ध तथ्य केवल इस तरह तैयार होता है कि उद्देश्य में जो कुछ पहले से कह दिया गया हो, उसे विधेय में दोहरा भर दिया जाये, तो हम कहेंगे कि यह एक सर्वोत्तम श्रेणी का स्वयंसिद्ध तथ्य है। उद्देश्य में श्री ड्यूहरिंग हमसे कहते हैं कि सत्ता सर्वव्यापी है और फिर विधेय में वह निडर होकर यह घोषणा कर देते हैं कि ऐसा होने पर इस सत्ता

के बाहर कोई सत्ता नहीं होती। कितना विराट एवं "प्रणाली स्रष्टा विचार" है यह!

यह सचमुच विचार प्रणाली का सृजन करना है। छः पंक्तियों के भीतर श्री ड्यूहरिंग ने सत्ता के **एकीभाव** को "हमारे एकीकृत विचार" के द्वारा उसके **अद्वैत** में रूपान्तरित कर दिया है। वस्तुओं को एक अद्वैत में एकीकृत करना ही चूंकि समस्त चिन्तन का सार है, इसलिये जैसे ही किसी सत्ता की कल्पना की जाती है, वैसे ही उसकी एकीकृत कल्पना सामने आ जाती है, और संसार का विचार एक अविभाज्य विचार के रूप में मन में आता है। और चूंकि **कल्पित** सत्ता, अर्थात् **संसार का विचार** एकीकृत है, इसलिये वास्तविक सत्ता वास्तविक संसार भी एक अविभाज्य अद्वैत है। और इसके साथ-साथ,

"जब एक बार मन सत्ता की उसकी समरूप सार्वत्रिकता में कल्पना करना सीख लेता है, तो फिर उसके बाहर की वस्तुओं के लिये कोई स्थान नहीं रहता"।

यह एक ऐसा अभियान है, जिसके सामने औस्टरलिट्ज़ और येना, कोनिग्ग्राट्ज़ और सेदान[35] की लड़ाइयां भी एकदम फीकी पड़ जाती हैं। प्रथम स्वयंसिद्ध तथ्य को कार्यप्रवृत्त करने के मुश्किल से एक पृष्ठ बाद हम चन्द वाक्यों में आत्मा की अमरता के साथ-साथ ईश्वर तथा सारे देवी-देवताओं का, स्वर्ग, नरक और वैतरणी का, अर्थात् इस संसार के बाहर की प्रत्येक वस्तु का अन्त कर देते हैं; ऐसी तमाम वस्तुओं को उठाकर फेंक देते हैं, उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

सत्ता के एकीभाव से हम उसके अद्वैत तक कैसे पहुंचते हैं? उसकी कल्पना करते ही हम उसपर पहुंच जाते हैं। जिस हद तक कि हम अद्वैत के अपने विचार को एक चौखटे की तरह सत्ता के चारों ओर फैलाते हैं, उस हद तक उसका एकीभाव एक वैचारिक अद्वैत अथवा एकीकृत विचार बन जाता है। कारण कि **समस्त** चिन्तन का सार है चेतना के तत्वों को एक अद्वैत में एकीकृत कर देना।

यह अन्तिम कथन सरासर असत्य है। एक तो चिन्तन में जिस तरह

सम्बद्ध तत्वों को एक अद्वैत में एकीकृत किया जाता है, उसी तरह उसमें चेतना की विषय-वस्तुओं के तत्वों के खण्ड-खण्ड भी किये जाते हैं। बिना विश्लेषण के संश्लेषण नहीं हो सकता। दूसरे, बिना ग़लतियां किये हुए चिन्तन चेतना के केवल उन्हीं तत्वों को एक अद्वैत में एकीकृत कर सकता है, जिनके भीतर या जिनके वास्तविक मूलरूपों के भीतर यह अद्वैत **पहले से मौजूद था।** यदि मैं स्तनधारी नामक अद्वैत में जूता साफ़ करने के एक ब्रश को शामिल कर देता हूं, तो उससे ब्रश में स्तन ग्रंथियां नहीं निकल आयेंगी। इसलिये हमें वास्तव में सत्ता के अद्वैत को ही प्रमाणित करना था या यूं कहिये कि हमें यही प्रमाणित करना था कि एक अद्वैत के रूप में सत्ता की अवधारणा उचित है या नहीं। और जब श्री ड्यूहरिंग हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि सत्ता की उनकी कल्पना द्वैत की नहीं, बल्कि अद्वैत की है, तो वह केवल ख़ुद अपना अनधिकृत मत प्रकट करते हैं और उससे अधिक हमें और कुछ नहीं बताते।

यदि हम उनकी चिन्तन-क्रिया का उसके विशुद्ध रूप में वर्णन करने का प्रयत्न करें, तो यह क्रिया हमारे सामने आती है: "मैं सत्ता से आरम्भ करता हूं। इसलिये मैं सोचता हूं कि सत्ता क्या है। सत्ता का विचार एकीकृत विचार है। लेकिन चिन्तन और सत्ता में मेल होना चाहिये। वे एक दूसरे के अनुरूप होते हैं। वे 'एक समान' होते हैं। इसलिये सत्ता वास्तविकता में भी एक अद्वैत होती है। अतः 'इस संसार के परे' कुछ नहीं हो सकता।" यदि श्री ड्यूहरिंग ने देववाणी के समान वह उपर्युक्त अंश हमें सुनाने के बजाय बिना किसी ढोंग के इस तरह अपनी बात कही होती, तो उनका भाववाद स्पष्ट रूप में सामने आ जाता। चिन्तन की किसी उपज की वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिये यह तर्क देना कि चिन्तन और सत्ता एक होते हैं—यह और किसी की नहीं ... बल्कि किसी हेगेल की ही सबसे अधिक बेतुकी भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पनाओं में से एक थी।

यदि श्री ड्यूहरिंग की प्रमाण देने की पूरी पद्धति सही होती, तो भी वह अध्यात्मवादियों से एक इंच भूमि नहीं जीत पाते। वे लोग श्री ड्यूहरिंग को यह संक्षिप्त उत्तर देते: "हमारे लिये भी विश्व एक अविभाज्य

वस्तु ही **है**। इहलोक और परलोक का यह विभाजन केवल हमारे विशिष्ट, पार्थिव एवं मूल पाप के दृष्टिकोण के लिये ही अस्तित्व रखता है। ख़ुद अपने में और ख़ुद अपने लिये, अर्थात् ईश्वर में सारी सत्ता अद्वैत है।" और वे श्री ड्यूहरिंग के साथ उनके प्रिय आकाश पिण्डों में जाकर उनको एक या कई ऐसे आकाश पिण्ड भी दिखा देते, जहां मूल पाप कभी नहीं हुआ, और इसलिये जहां इहलोक और परलोक के बीच कोई विरोध नहीं हैं और जहां विश्व की एकता विश्वास का एक मूल सूत्र है।

इस पूरे मामले का सबसे हास्यजनक भाग यह है कि सत्ता के विचार से ईश्वर के नास्तित्व को सिद्ध करने के लिये श्री ड्यूहरिंग उसी प्रमाण का प्रयोग करते हैं, जिसका तत्वज्ञान में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये प्रयोग किया जाता है। यह प्रमाण इस प्रकार है: "जब हम ईश्वर के विषय में सोचते हैं, तब हम समस्त सिद्धियों के योग के रूप में उसकी कल्पना करते हैं। लेकिन समस्त सिद्धियों के योग में सबसे पहले अस्तित्व शामिल होता है, क्योंकि अस्तित्वहीन वस्तु आवश्यक रूप से असिद्ध होती है। अतः ईश्वर की सिद्धियों में हमें अस्तित्व को भी सम्मिलित करना होगा। अतः ईश्वर का अस्तित्व होना ही चाहिये।"

श्री ड्यूहरिंग बिल्कुल इसी तरह तर्क करते हैं। वह कहते हैं: "जब हम सत्ता के विषय में सोचते हैं, तब हम **एक** अवधारणा के रूप में उसकी कल्पना करते हैं। जो कुछ भी एक अवधारणा के अन्तर्गत आ जाता है, वह अद्वैत होता है। यदि सत्ता अद्वैत न होती, तो वह सत्ता की अवधारणा के अनुरूप न होती। अतः सत्ता को अद्वैत होना ही चाहिये। चुनांचे ईश्वर नहीं होता, इत्यादि, इत्यादि।"

जब हम **सत्ता** की, और **विशुद्ध रूप से** सत्ता की चर्चा करते हैं, तब अद्वैत केवल इसी बात में हो सकता है कि हम जितनी वस्तुओं की चर्चा कर रहे हैं, वे सब **हैं**, उन सबका अस्तित्व है। वे सब इस सत्ता के अद्वैत में सम्मिलित हैं तथा अन्य किसी अद्वैत में सम्मिलित नहीं हैं; और यह सामान्य उक्ति कि ये सब **हैं**, उनको किन्हीं अन्य समान अथवा असमान गुणों से विभूषित नहीं कर सकती, बल्कि यह उक्ति अस्थायी रूप से ऐसे तमाम गुणों का विचार के क्षेत्र से परिवर्जन कर देती है। चूंकि

जैसे ही हम इस साधारण एवं मूलभूत तथ्य से तनिक भी हट जाते हैं कि सत्ता का गुण इन तमाम वस्तुओं में समान रूप से मौजूद है, वैसे ही इन वस्तुओं में पाये जानेवाले **भेद** सामने आने लगते हैं। और ये भेद किस बात को लेकर हैं—कि कुछ वस्तुएं सफ़ेद हैं और कुछ काली हैं या कुछ वस्तुएं सजीव हैं और कुछ निर्जीव हैं या कि कुछ वस्तुएं इहलोक की हैं और कुछ परलोक की हैं—इस प्रश्न का निर्णय इस तथ्य के आधार पर नहीं किया जा सकता कि मात्र अस्तित्व का गुण इन सब वस्तुओं में समान रूप से पाया जाता है।

संसार का अद्वैत उसकी सत्ता में निहित नहीं होता, यद्यपि उसकी सत्ता उसके अद्वैत की एक आवश्यक शर्त होती है, क्योंकि निश्चय ही संसार को **एक** होने के पहले **होना** चाहिये। वस्तुतः जहां हमारे पर्यवेक्षण का क्षेत्र समाप्त हो जाता है, उस बिंदु के आगे सत्ता सदा एक अनिर्णीत प्रश्न होती है। संसार का वास्तविक अद्वैत उसकी भौतिकता में निहित होता है; और यह बात शब्दों की थोड़ी-सी बाज़ीगरी से नहीं, बल्कि दर्शनशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान के एक लम्बे और कष्टदायक विकास के द्वारा ही प्रमाणित होता है।

अब आइये, फिर श्री ड्यूहरिंग की ओर लौट चलें। वह जिस **सत्ता** के विषय में हमें बता रहे हैं,

> "वह शुद्ध एवं स्वसमान सत्ता नहीं है, जिसमें समस्त विशिष्ट निश्चायकों का अभाव होता है और जो वस्तुतः केवल **असत्व** के भाव का, या भाव के अभाव का प्रतिरूप होती है।"

लेकिन बहुत शीघ्र हम देखेंगे कि श्री ड्यूहरिंग का विश्व वास्तव में एक ऐसी सत्ता से आरम्भ होता है, जिसमें हर प्रकार के आन्तरिक भेदकरण का अभाव है, जिसमें न किसी प्रकार की गति है और न किसी प्रकार का परिवर्तन और इसलिये जो वास्तव में केवल असत्व के भाव का प्रतिरूप है और इसलिये जो असल में कुछ नहीं है। केवल इस **सत्ता असत्व** में से ही विश्व की वर्तमान, विभेदित, बदलती हुई अवस्था का विकास हुआ

है, जो विकास का, अथवा **उपपत्ति** का प्रतिनिधित्व करती है; और इस बात को हृदयंगम करने के बाद ही हम इस निरन्तर परिवर्तन के भीतर भी,

"एक स्वसमान अवस्था में सार्विक सत्ता की अवधारणा को बनाये रखने" में समर्थ होते हैं।

अतः अब सत्ता की अवधारणा उच्चतर स्तर पर पहुंच जाती है, जहां उसके भीतर परिवर्तनहीनता और परिवर्तन, सत्ता और उपपत्ति दोनों सम्मिलित होते हैं। इस बिंदु पर पहुंच जाने के बाद हमें यह पता चलता है कि

"प्रजाति और जाति, या सामान्य और विशिष्ट विभेदीकरण के सरलतम साधन हैं, जिनके बग़ैर वस्तुओं के संघटन को नहीं समझा जा सकता"।

परन्तु ये साधन **गुणों** के विभेदीकरण के साधन हैं; और उनका विवेचन हो चुकने के बाद हम आगे पढ़ते हैं:

"प्रजाति के मुक़ाबले में परिमाण की अवधारणा खड़ी होती है, जो एक सजातिता की अवधारणा होती है, जिसमें जाति का कोई और भेद नहीं होता";

और इस प्रकार हम **गुण** से **मात्रा** पर पहुंच जाते हैं और मात्रा हमेशा **"माप्य"** होती है।

अब आइये, "सामान्य प्रभाव रेखांकन के इस स्पष्ट विभाजन" की तथा उसके "सचमुच आलोचनात्मक दृष्टिकोण" की किसी हेगेल की अपरिष्कृत बातों, उच्छृंखल प्रलाप और भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पनाओं से तुलना करें। हमें पता चलता है कि श्री ड्यूहरिंग की तरह हेगेल का तर्कशास्त्र भी **सत्ता** से आरम्भ करता है; फिर श्री ड्यूहरिंग की ही तरह हेगेल के यहां भी यह पता चलता है कि यह सत्ता **असत्व** है; और श्री ड्यूहरिंग की ही तरह वहां भी यह सत्ता असत्व **उपपत्ति** में बदल जाता है, जिसका फल होता है निश्चित सत्ता (Dasein), अर्थात् सत्ता (Sein) का उच्चतर और अधिक पूर्ण रूप। फिर जैसा श्री ड्यूहरिंग के यहां होता है, वैसे ही हेगेल के यहां भी निश्चित सत्ता से हम **गुण** पर पहुंच जाते

हैं और गुण से **मात्रा** पर। और इस ख़याल से कि कोई आवश्यक पहलू रह न जाये, श्री ड्यूहरिंग एक और स्थान पर हमें बताते हैं :

"तमाम परिमाणात्मक क्रमबद्धता के बावजूद असंवेदना के क्षेत्र से संवेदना के क्षेत्र में जो संक्रमण होता है, वह केवल उस **गुणात्मक छलांग** के द्वारा ही सम्पन्न होता है, जिसके बारे में हम ... यह कह सकते हैं कि वह एक ही गुण की मात्र क्रमबद्धता से सर्वथा भिन्न होती है।"

माप सम्बन्धों की वह हेगेलीय संक्रमण रेखा भी तो ठीक यही चीज़ है, जिसमें कुछ ख़ास संक्रमण बिंदुओं पर पहुंचने पर मात्र परिमाणात्मक वृद्धि या कमी से एक **गुणात्मक छलांग** का जन्म हो जाता है; जैसा कि उदाहरण के लिये जल को गरम करने या ठण्डा करने पर होता है, जहां क्वथनांक और हिमांक उन संक्रमण बिन्दुओं का काम करते हैं, जिनपर पहुंचते ही – प्रकृत दाब के होने पर – एक छलांग में समुच्चय की एक नयी अवस्था प्राप्त हो जाती है और जहां इसके फलस्वरूप मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है।

चुनांचे हमारी खोज ने भी मामले की जड़ तक पहुंचने की कोशिश की है और उससे पता चलता है कि श्री ड्यूहरिंग के गहरी जड़ों वाले मूलभूत रेखांकनों की जड़ें ... किसी हेगेल की "भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पनाओं" में हैं, हेगेलीय 'तर्कशास्त्र' (भाग १, सत्ता का सिद्धान्त)[36] की परिकल्पनाओं में हैं; विशुद्ध रूप से पुरातन हेगेलीय "अनुक्रम" में हैं; और ऊपर से तुर्रा यह है कि इस साहित्यिक चोरी को छिपाने की भी कोई कोशिश नहीं की गयी है।

और श्री ड्यूहरिंग अपने इस अतिनिंदित पूर्वज से सत्ता के उसके सम्पूर्ण रेखांकन को चुराकर भी संतुष्ट नहीं हुए हैं। छलांग मारकर मात्रा से गुण पर पहुंच जाने का उपर्युक्त उदाहरण ख़ुद देने के बाद वह मार्क्स की चर्चा करते हुए बिना किसी दुविधा के फ़रमाते हैं :

"उदाहरण के लिये, इस **भ्रान्त एवं अस्पष्ट** हेगेलीय **अवधारणा** का कि **मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है**, जो" (मार्क्स ने) "हवाला दिया है, वह कितना हास्यास्पद है!"

भ्रान्त एवं अस्पष्ट अवधारणा! यहां कौन रूपान्तरित हो गया है? और श्री ड्यूहरिंग, ज़रा यह तो बताइये कि यहां पर कौन हास्यास्पद सिद्ध हुआ है?

अतः न केवल यही है कि इन तमाम सुन्दर बातों का "स्वयंसिद्ध तथ्यों के ढंग से" निर्णय नहीं किया गया है, जैसा कि निर्देश हुआ था, बल्कि उनको महज़ बाहर से, अर्थात् हेगेल के 'तर्कशास्त्र' से उधार ले लिया गया है। और सच पूछिये तो उनको ऐसे रूप में उधार लिया गया है कि पूरे अध्याय में आन्तरिक संसक्ति का आभास तक नहीं मिलता और यदि वह कहीं पर मिलता है, तो केवल वहीं पर जहां पर वह भी हेगेल से उधार लिया गया है; और अन्त में पूरा प्रश्न दिक् और काल, परिवर्तनहीनता और परिवर्तन के विषय में निरर्थक ढंग से बाल की खाल निकालने का रूप धारण करके समाप्त हो जाता है।

सत्ता से हेगेल सार पर, द्वन्द्ववाद पर पहुंच जाते हैं। वहां वह उसके प्रतिबिम्ब के निर्धारणों का, उनके आन्तरिक **विरोधों** और अंतर्विरोधों का, उदाहरण के लिये, सकारात्मक और नकारात्मक का विवेचन करते हैं। फिर वह **कारणता,** या कार्य और कारण के सम्बन्ध पर आते हैं और **आवश्यकता** पर पहुंचकर अपना विवेचन समाप्त कर देते हैं। श्री ड्यूहरिंग भी उससे कुछ भिन्न बात नहीं करते। हेगेल ने जिसे सार का सिद्धान्त कहा है, उसको श्री ड्यूहरिंग ने "सत्ता के तर्कसंगत गुणों" का नाम दे दिया है। ये सबसे पहले "शक्तियों के विरोध" में, **विरोधी तत्वों** में निहित होते हैं। किन्तु विरोध से तो श्री ड्यूहरिंग सर्वथा इन्कार करते हैं–इस विषय की हम आगे फिर चर्चा करेंगे। फिर वह **कारणता** पर पहुंच जाते हैं और वहां से **आवश्यकता** पर। इसलिये जब श्री ड्यूहरिंग अपने बारे में यह कहते हैं कि

"हम, जो एक **पिंजड़े में से** तत्व निरूपण नहीं करते",

तब स्पष्टतः उनका मतलब यह होता है कि वह एक पिंजड़े **के भीतर** बैठकर तत्व निरूपण करते हैं, अर्थात् वह परिकल्पनाओं के हेगेलीय रेखांकन के पिंजड़े के भीतर बैठकर तत्व निरूपण करते हैं।

५

प्राकृतिक दर्शन। काल और दिक्

अब हम **प्राकृतिक दर्शन** पर आते हैं। यहां फिर श्री ड्यूहरिंग के पास अपने पूर्वजों से असंतुष्ट होने के लाख कारण मौजूद हैं।

प्राकृतिक दर्शन का "इतना घोर पतन हो गया कि वह अज्ञान पर आधारित एक शुष्क एवं कृत्रिम तुकबन्दी बन गया", और "शेलिंग तथा उस जैसे अन्य व्यक्तियों की भ्रष्ट दार्शनिकता के निम्न स्तर पर आ गया, जो परमतत्व के पण्डों के भेस में जनता की आंखों में धूल झोंकते हैं"। थकन ने हमें इन "अपरूपताओं" से बचाया है; लेकिन अभी तक इससे केवल "अस्थिरता" ही उत्पन्न हुई है; और "जहां तक जन-साधारण का सम्बन्ध है, यह बात सुविदित है कि जब एक ठगबैद चला जाता है तो इस अवसर से लाभ उठाकर उसका कोई कम प्रतिभावान किन्तु व्यापारिक दृष्टि से अधिक अनुभवी उत्तराधिकारी एक नया साइन बोर्ड लटकाकर अपने पूर्वज के तैयार किये हुए सामान को फिर बेचने के लिये बैठ जाता है"। ख़ुद प्राकृतिक वैज्ञानिकों में "सम्पूर्ण जगत् को परिवेष्टित कर लेनेवाले विचारों के क्षेत्र में भ्रमण करने की प्रवृत्ति" बहुत कम पायी जाती है और इसलिये सैद्धान्तिक क्षेत्र में वे "उच्छृंखल तथा उतावले निष्कर्षों" पर पहुंच जाते हैं।

इस शोचनीय स्थिति से अविलम्ब मुक्ति पाना आवश्यक है और सौभाग्य से श्री ड्यूहरिंग भी पास ही मौजूद हैं।

काल की दृष्टि से जगत् के विकास और दिक् की दृष्टि से इसकी सीमाओं के विषय में अब जिन रहस्यों का उद्घाटन होनेवाला है, उनको भली भांति समझने के लिये हमें एक बार फिर "विश्व रेखांकन" के कुछ अंशों की ओर लौटना पड़ेगा।

हेगेल का ही अनुसरण करते हुए ('विश्वकोश', पैराग्राफ़ ९३)[37] सत्ता को अनन्तत्व का गुण प्रदान कर दिया जाता है—हेगेल ने उसे निकृष्ट अनन्तत्व कहा है—और फिर इस अनन्तत्व की छानबीन की जाती है।

"जिस अनन्तत्व की हम **बिना किसी अन्तर्विरोध के** कल्पना कर सकते हैं, उसका स्पष्टतम रूप एक संख्यात्मक श्रेणी में संख्याओं के सीमाहीन संचय का है ... जिस प्रकार हम किसी भी संख्या में एक इकाई और जोड़ सकते हैं और उससे भी कभी और आगे की संख्याओं की सम्भावना समाप्त नहीं होती, उसी प्रकार सत्ता की प्रत्येक अवस्था के बाद एक अगली अवस्था आती है और इन अवस्थाओं का सीमाहीन ढंग से उत्पन्न होते जाना ही अनन्तत्व है। चुनांचे **इस यथार्थ रूप में परिकल्पित** अनन्तत्व का केवल एक ही मूलभूत रूप है और उसकी एक ही दिशा होती है। चूंकि यद्यपि इस बात का हमारे चिन्तन के लिये कोई महत्व नहीं है कि वह अवस्थाओं के संचय में एक विपरीत दिशा की भी कल्पना करता है या नहीं, तथापि यह विपरीतगामी अनन्तत्व केवल एक उतावले ढंग से निर्मित विचार प्रतिबिम्ब है। वस्तुतः इस अनन्तत्व को चूंकि वास्तव में **उल्टी दिशा** में पार करना पड़ेगा, इसलिये अपनी प्रत्येक अवस्था में उसके पीछे संख्याओं का एक अनन्त क्रम होगा। लेकिन तब हमें एक ऐसी अन्तहीन संख्यात्मक श्रेणी की कल्पना करनी होगी, जिसको गिना जा चुका है। यह एक अंतर्विरोधी कल्पना है, जिसकी अनुमति नहीं दी जा सकती; और इसलिये अनन्तत्व में किसी दूसरी दिशा की कल्पना करना बुद्धिसंगत बात नहीं है।"

अनन्तत्व की इस अवधारणा से जो पहला निष्कर्ष निकाला गया है, वह यह है कि संसार में कार्यों और कारणों की श्रृंखला का किसी न किसी समय ज़रूर आरम्भ हुआ होगा:

"ऐसे कारणों की एक अनन्त संख्या, जिनके बारे में समझा जाता है कि वे पहले ही से एक के बाद दूसरा, क्रमानुसार, पंक्ति बनाकर खड़े हो गये होंगे, अचिंत्य बात है; कारण कि उसकी कल्पना करते समय पहले ही से यह मान लिया जाता है कि अगणनीय की गणना कर ली गयी है।"

और इस प्रकार एक **मूल कारण** का प्रमाण दे दिया जाता है।

दूसरा निष्कर्ष है:

"निश्चित संख्या का नियम; अर्थात्, यह नियम कि स्वाधीन वस्तुओं की किसी भी वास्तविक जाति की समान इकाइयों के संचय की केवल एक

निश्चित संख्या की तरह ही कल्पना की जा सकती है।" समय के किसी भी बिन्दु पर जितने आकाश पिण्ड अस्तित्व में हैं, न केवल उनकी संख्या का ख़ुद अपने में परिमित होना आवश्यक है, बल्कि संसार में पाये जाने-वाले पदार्थ के छोटे से छोटे स्वतंत्र कणों की कुल संख्या का भी परिमित होना ज़रूरी है। इस दूसरी बात का ही असल में यह परिणाम है कि परमाणुओं के बिना किसी संरचना की कल्पना नहीं की जा सकती। हर प्रकार के वास्तविक विभाजन की सदैव एक निश्चित सीमा होती है; और यदि अगणनीय की गणना की अंतर्विरोधी कल्पना से बचना है, तो इस प्रकार की सीमा का होना आवश्यक है। इसी कारण पृथ्वी ने सूर्य की आज तक जितनी परिक्रमाएं की हैं, न केवल उनकी संख्या का परिमित होना आवश्यक है, हालांकि यह संख्या बतायी नहीं जा सकती, बल्कि यह भी आवश्यक है कि प्रकृति की सभी नियतकालिक प्रक्रियाओं का कभी न कभी आरम्भ हुआ हो, और हर प्रकार के भेदकरण का तथा प्रकृति की समस्त विविधता का, जो क्रमानुसार प्रगट होती है, किसी **एक स्वसमान अवस्था में** मूल हो। यह अवस्था अनन्तकाल से अस्तित्व में हो सकती है; और इसमें कोई अंतर्विरोधी बात नहीं है। परन्तु यदि काल स्वयं वास्तविक भागों से मिलकर बना हो, और यदि इसके विपरीत उसे विविध प्रकार की चिंत्य सम्भावनाओं के कारण हमारे दिमाग़ों ने महज़ मनमाने ढंग से न बांट रखा हो, तो इस विचार के लिये भी कोई स्थान नहीं रहेगा। काल के वास्तविक तथा अपने में विभेदित सार की बात बिल्कुल दूसरी है। समय का इस प्रकार वास्तव में विभेदनीय तथ्यों से भर जाना और इस क्षेत्र के सत्ता के रूप अपनी विभेदनीयता के कारण ही गणनीय वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं। यदि हम किसी ऐसी अवस्था की कल्पना करते हैं, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और जिसमें उसकी स्वसमानता के कारण किसी भी प्रकार के क्रमिक अंतर कभी नहीं दिखाई देते, तो काल का अधिक विशेषीकृत विचार अपने आपको सत्ता के अधिक सामान्य विचार में रूपान्तरित कर डालता है। रिक्त अवधि के संचय का क्या अर्थ होगा, यह सर्वथा अकल्पनीय बात है।

यहां तक आपने श्री ड्यूहरिंग को सुना; और इन रहस्यों के उद्‌घाटन के महत्व को महसूस करके वह कम प्रसन्न नहीं हैं। शुरू में उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि "कम से कम उनको तुच्छ सत्यों में नहीं गिना जायेगा"। पर बाद में वह कहते हैं:

"ज़रा उन **अत्यन्त सरल** तरीक़ों की याद कीजिये, जिनके द्वारा हमने अनन्तत्व की धारणाओं तथा उनकी समीक्षा को आगे बढ़ाने और उनको **एक अभी तक अज्ञात अर्थ** प्रदान करने में मदद दी थी ... काल और दिक् की सार्विक अवधारणा के उन तत्वों को याद कीजिये, जिनको अब अधिक तीक्ष्ण तथा गहरा बनाकर इतना **सरल रूप** दे दिया गया है।"

हमने आगे बढ़ाने में मदद दी थी! अब अधिक तीक्ष्ण तथा गहरा बना दिया गया है! यह "हम" कौन है और "अब" का मतलब कब से है? और यह अधिक तीक्ष्ण तथा गहरा किसने बनाया है?

"प्रस्थापना: जगत् का काल की दृष्टि से एक आदि होता है, और वह दिक् की दृष्टि से भी सीमित होता है।—प्रमाण: यदि यह मान लिया जाये कि काल की दृष्टि से जगत् का कोई आदि नहीं है, तो काल के प्रत्येक बिन्दु विशेष तक एक अनन्तत्व बीत चुका होगा और चुनांचे संसार में आनुक्रमिक वस्तुस्थितियों की एक अनन्त श्रेणी पहले से आकर चली गयी होगी। किन्तु किसी भी श्रेणी का अनन्तत्व ठीक इसी बात में निहित होता है कि उसे किसी आनुक्रमिक संश्लेषण के द्वारा कभी पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिये यह असम्भव है कि संसारों की एक अनन्त श्रेणी बीत चुकी हो; और चुनांचे संसार के अस्तित्व की यह एक आवश्यक शर्त है कि उसका कभी आदिकाल रहा हो। और हमें सबसे पहले इसी बात को सिद्ध करना था।—जहां तक दूसरी बात का सम्बन्ध है, यदि फिर उल्टी बात मान ली जाये, तो संसार सहवर्ती वस्तुओं का एक निश्चित अनन्त योग बन जाता है। अब किसी भी ऐसी प्रमात्रा के आयाम की, जिसका हमें अन्तर्ज्ञान की निश्चित सीमाओं के भीतर बोध नहीं हो जाता, कल्पना करने का इसके सिवा और कोई तरीक़ा नहीं है कि उसके भागों का संश्लेषण किया जाये, और इस प्रकार की किसी भी प्रमात्रा के योग की, केवल एक सम्पूरित संश्लेषण के द्वारा ही अथवा उसमें बारम्बार एक इकाई जोड़कर ही कल्पना की जा सकती है। चुनांचे सभी दिगान्तरों में व्याप्त संसार की उसकी समग्रता में कल्पना करने के लिये हमें एक अनन्त संसार के भागों के आनुक्रमिक संश्लेषण को सम्पूरित मानकर चलना पड़ेगा; अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि सभी सहवर्ती वस्तुओं की गणना में अनन्त काल बीत गया है। यह असम्भव है। इस कारण वास्तविक वस्तुओं के किसी अनन्त समुच्चय को एक निश्चित समष्टि नहीं समझा जा सकता,

ग्रौर इसलिये न ही उसे किसी **एक ही ख़ास समय पर** निश्चित रूप में ज्ञात समझा जा सकता है। ग्रतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार, जहां तक दिक् में उसके विस्तार का सम्बन्ध है, ग्रनन्त नहीं है, बल्कि कुछ सीमाग्रों के भीतर बन्द है। ग्रौर यह वह दूसरी बात है" (जिसे हमें सिद्ध करना था)।

इन वाक्यों को शब्दशः एक विख्यात पुस्तक से उतारा गया है, जो पहले पहल १७८१ में प्रकाशित हुई थी ग्रौर जिसका नाम है 'विशुद्ध बुद्धि की समीक्षा', लेखक – **इमानुइल काण्ट।** इस पुस्तक के पहले भाग के दूसरे खंड की पुस्तक २, ग्रध्याय २, पैराग्राफ़ २ – 'विशुद्ध बुद्धि का प्रथम विप्रतिषेध'[38] में कोई भी व्यक्ति इन वाक्यों को पढ़ सकता है। ग्रौर इसलिये श्री ड्यूहरिंग की ख्याति केवल इसी बात पर ग्राधारित है कि उन्होंने एक ऐसे विचार पर जिसे काण्ट ने व्यक्त किया था, एक नाम का – 'निश्चित संख्या का नियम' – का लेबिल चिपका दिया ग्रौर यह ग्राविष्कार किया कि कभी कोई ऐसा काल था जब काल नहीं था, हालांकि संसार था। जहां तक ग्रन्य बातों का सम्बन्ध है, ग्रर्थात् जहां तक श्री ड्यूहरिंग के विवेचन के किसी भी ऐसे ग्रंश का सम्बन्ध है, जिसमें कुछ ग्रर्थ है, वहां तक "हम" का ग्रर्थ है... इमानुइल काण्ट ग्रौर "ग्रब" का मतलब है केवल पंचानवे वर्ष हुए। निश्चय ही यह सब "ग्रत्यन्त सरल" है! ग्रौर निस्सन्देह यहां हर बात में "ग्रभी तक ग्रज्ञात ग्रर्थ" भर दिया गया है!

लेकिन काण्ट क यह हरगिज़ दावा नहीं है कि उपर्युक्त प्रस्थापनाएं उनके दिये हुए प्रमाण से सिद्ध हो जाती हैं। इसके विपरीत सामनेवाले पृष्ठ पर वह इसकी उल्टी बात कहते हैं ग्रौर उसको प्रमाणित भी कर देते हैं। वहां उन्होंने कहा है कि काल की दृष्टि से संसार का कोई ग्रादि नहीं है ग्रौर दिक् की दृष्टि से कोई ग्रन्त नहीं है; ग्रौर वह विप्रतिषेध, वह ग्रपरिशोधनीय ग्रंतर्विरोध उनको ठीक इसी बात में दिखाई देता है कि एक बात उतनी ही ग्रासानी से प्रमाणित की जा सकती है, जितनी ग्रासानी से उसकी उल्टी बात प्रमाणित की जा सकती है। जहां "किसी काण्ट" को एक ग्रपरिशोधनीय ग्रंतर्विरोध दिखाई देता है, वहां सम्भव है कि

कुछ कम योग्यता रखनेवाले व्यक्तियों को थोड़ा सन्देह हो। परन्तु "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्षों और विचारों" का हमारा वह वीर निर्माता ऐसा नहीं है। काण्ट के विप्रतिषेध का जितना अंश उसके लिये उपयोगी है, उसको वह अपनी पुस्तक में उतार लेता है और बाक़ी को एक तरफ़ फेंक देता है।

ख़ुद इस समस्या का हल बहुत आसान है। काल की दृष्टि से अनन्तत्व और दिक् की दृष्टि से अनन्तत्व का शुरू से ही यह मतलब होता है—और इन शब्दों का सरल अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं है—कि **किसी भी** दिशा में अन्त नहीं है, न तो आगे की ओर, और न पीछे की ओर, न तो ऊपर की ओर, और न नीचे की ओर, न दायें और न बायें। यह अनन्तत्व एक अनन्त श्रेणी से बहुत भिन्न चीज़ है, क्योंकि वह सदा एक से, अर्थात् पहले पद से आरम्भ होती है। हमारे विषय पर श्रेणी का यह विचार लागू नहीं हो सकता। उसे दिक् पर लागू करके देखिये, बात तुरन्त ही स्पष्ट हो जायेगी। यदि अनन्त श्रेणी को दिक् के क्षेत्र में स्थानांतरित कर दिया जाये, तो एक ऐसी रेखा हमारे सामने आती है, जो एक निश्चित बिन्दु से एक निश्चित दिशा में अनन्तत्व तक खिंची हुई है। क्या इससे दिक् का अनन्तत्व तनिक भी व्यक्त होता है? नहीं; इसके विपरीत दिक् आयामों के विचार में एक बिन्दु से तीन परस्पर विरोधी दिशाओं में खींची हुई छः रेखाएं सम्मिलित होती हैं और इसलिये इस प्रकार के छः आयाम हमारे सामने आते हैं। काण्ट इस बात को इतनी अच्छी तरह समझते थे कि उन्होंने अपनी संख्यात्मक श्रेणी को केवल अप्रत्यक्ष ढंग से और घुमा-फिराकर संसार के दिक् सम्बन्धों में स्थानांतरित किया है। दूसरी ओर श्री ड्यूहरिंग पहले तो हमें दिक् की दृष्टि से छः आयामों को स्वीकार करने के लिये विवश करते हैं और फिर तुरन्त ही उनको गाउस के गणितीय रहस्यवाद पर, जिसे दिक् के तीन प्रचलित आयामों से संतोष नहीं होता, अपना क्रोध प्रकट करने के लिये उपयुक्त शब्द नहीं मिलते।[39]

जब दोनों दिशाओं में अनन्त रेखा अथवा इकाइयों की अनन्त श्रेणी काल पर लागू की जाती है, तब उसका कुछ लाक्षणिक अर्थ होता है।

लेकिन अगर हम काल की कल्पना उस श्रेणी के रूप में करें, जिसमें **एक** से आगे गिना जाता है, या उस रेखा के रूप में करें, जो एक निश्चित **बिन्दु** से आरम्भ होती है, तो हम पहले ही से यह मान लेते हैं कि काल का कोई आदि होता है। यानी, जो बात हमें सिद्ध करनी है, हम ठीक उसी बात को एक पूर्वाधार के रूप में पहले से मान लेते हैं। इस तरह हम काल के अनन्तत्व को एक एकांगी, या अर्द्धकृत स्वरूप दे देते हैं; लेकिन एकांगी अनन्तत्व या अर्द्धकृत अनन्तत्व भी एक स्वतःविरोधी बात है। यह "बिना किसी अन्तर्विरोध के परिकल्पित अनन्तत्व" का बिल्कुल उल्टा है। इस अन्तर्विरोध से हम केवल इसी शर्त पर बच सकते हैं कि हम यह मान लें कि वह एक, जिससे हम श्रेणी गिनना शुरू करते हैं, या वह बिन्दु जिससे हम रेखा को मापना आरम्भ करते हैं, श्रेणी में सम्मिलित कोई भी एक हो सकता है, या रेखा में सम्मिलित कोई भी बिन्दु हो सकता है और इस एक को या इस बिन्दु को हम कहां रखते हैं इसका रेखा अथवा श्रेणी के लिये कोई महत्व नहीं है।

परन्तु "अनन्त संख्यात्मक श्रेणी में जिसे गिना जा चुका है", जो विरोध निहित है, उसके बारे में हमें क्या कहना है? जब श्री ड्यूहरिंग **इस अनन्त श्रेणी को गिनकर** दिखा देंगे, तब हम भी इसका अधिक गहरा विवेचन करने की स्थिति में होंगे। जब वह $-\infty$ (ऋण अनन्तत्व) से 0 तक गिनने का काम पूरा कर दें, तब हमारे पास आयें। यह बात सुस्पष्ट है कि वह चाहे जिस बिन्दु से गिनना आरम्भ करें, एक अनन्त श्रेणी उनके पीछे छूट जायेगी, और इसलिये उनको जो काम करना है, वह भी पीछे छूट जायेगा। वह ख़ुद अपनी अनन्त श्रेणी १+२+३+४... को ज़रा उलट भर दें और अनन्त छोर से पीछे की ओर आते हुए १ तक गिनने की कोशिश करके देखें। ज़ाहिर है, इस तरह की कोशिश केवल वही आदमी करेगा, जिसे इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है कि समस्या असल में क्या है। और फिर यदि श्री ड्यूहरिंग यह कहते हैं कि बीते हुए काल की अनन्त श्रेणी को गिन लिया गया है, तो वह यह भी कह डालते हैं कि काल का एक आदि होता है, क्योंकि यदि उसका आदि न होता, तो वह "गिनती" शुरू ही न कर पाते। अतः एक बार फिर

वह उसी बात को, जिसको उन्हें साबित करना था, एक पूर्वाधार के रूप में अपने तर्क में शामिल कर देते हैं। अतः गिन ली गयी अनन्त श्रेणी का विचार, दूसरे शब्दों में, निश्चित संख्या का वह ड्यूहरिंगवादी नियम, जो सम्पूर्ण विश्व पर लागू है, एक contradictio in adjecto है, उसके भीतर एक अन्तर्विरोध निहित है और वह भी एक बिल्कुल **बेतुका** अंतर्विरोध।

यह स्पष्ट है कि जिस अनन्तत्व का अन्त है, किन्तु आदि नहीं है, वह उस अनन्तत्व की अपेक्षा, जिसका आदि है, किन्तु अन्त नहीं है, न तो अधिक अनन्त है और न ही कम। यदि श्री ड्यूहरिंग में थोड़ी-सी भी द्वन्द्वात्मक अन्तर्दृष्टि होती, तो उनको यह समझने में देर न लगती कि आदि और अन्त आवश्यक रूप से एक दूसरे के साथ उसी तरह जुड़े रहते हैं, जैसे उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव जुड़े रहते हैं; और यदि अन्त को छोड़ दिया जाये तो आदि ही अन्त बन जाता है—श्रेणी का **एकमात्र** अन्त होता है; और यह बात विपरीत क्रम में भी सही है। यदि गणित में अनन्त श्रेणी से काम लेने का चलन न होता तो यह पूरी प्रवंचना असम्भव होती। गणित में चूंकि अनिश्चित अथवा अनन्त तक पहुंचने के लिये सदा निश्चित अथवा परिमित पदों से आरम्भ करना आवश्यक होता है, इसलिये गणित की सभी श्रेणियों के लिए, वे चाहे धनात्मक श्रेणियां हों या ऋणात्मक श्रेणियां, यह आवश्यक होता है कि वे १ से आरम्भ हों, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो हिसाब में उनसे काम नहीं लिया जा सकता। किन्तु गणितज्ञ की अमूर्त आवश्यकता वास्तविक संसार के लिये अनिवार्य नियम नहीं बन सकती।

और हम यह भी कह दें कि श्री ड्यूहरिंग बिना किसी अन्तर्विरोध के वास्तविक अनन्तत्व की कल्पना करने में कभी सफल न होंगे। अनन्तत्व स्वयं एक अंतर्विरोध **है** और अंतर्विरोधों से भरा हुआ है। यह बात शुरू से ही अंतर्विरोधी है कि अनन्तत्व केवल परिमितों से मिलकर बनता है, लेकिन असलियत यही है। जिस प्रकार भौतिक संसार की असीमितता के कारण बहुत-से अंतर्विरोध सामने आने लगते हैं, उसी प्रकार उसकी सीमितता के कारण भी अनेक अंतर्विरोध दिखाई पड़ने लगते हैं; और जैसा कि

हम देख चुके हैं, जब कभी इन अंतर्विरोधों से बचने की कोई कोशिश की जाती है, तब उसका केवल यही नतीजा होता है कि नये तथा और भी उग्र अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं। अनन्तत्व चूंकि स्वयं एक अंतर्विरोध है, ठीक **इसीलिये** वह एक अनन्त प्रक्रिया है, जो काल और दिक् की दृष्टि से निरन्तर चलती ही जाती है। इस अंतर्विरोध को दूर करते ही अनन्तत्व का भी अन्त हो जायेगा। हेगेल ने इस बात को सही तौर पर समझा था; और इसी कारण वह उन लोगों को, जो इस अंतर्विरोध को लेकर बाल की खाल निकालते थे, यथोचित उपेक्षा से देखा करते थे।

आगे बढ़िये। अच्छा, तो काल का एक आदि था। इस आदि के पहले क्या था? विश्व, जो कि उस वक़्त एक स्वसमान, अपरिवर्तनशील अवस्था में था। और चूंकि इस अवस्था में कोई उत्तरोत्तर परिवर्तन नहीं होते, इसलिये काल का अधिक विशिष्टीकृत विचार अपने आपको **सत्ता** के अधिक सामान्य विचार में बदल डालता है। पहली बात तो यह है कि हमारी इसमें ज़रा भी दिलचस्पी नहीं है कि श्री ड्यूहरिंग के मस्तिष्क में कौनसे विचार बदलते रहते हैं। यहां जिस विषय का विवेचन हो रहा है, वह काल की **अवधारणा** नहीं है, बल्कि वह है **वास्तविक** काल; और श्री ड्यूहरिंग इतने सस्ते में उससे नहीं छूट सकते। दूसरे, काल की अवधारणा सत्ता के अधिक सामान्य विचार में चाहे जितना अधिक बदल जाये, हमारी खोज उससे एक भी क़दम आगे नहीं बढ़ती। कारण कि हर प्रकार की सत्ता के मूल रूप हैं दिक् और काल; काल के बाहर सत्ता उतनी ही बेतुकी बात है, जितनी दिक् के बाहर सत्ता। इस काल के बाहर सत्ता की तुलना में तो "कालातीत गत सत्ता" का हेगेलीय विचार और "अपूर्वकल्पनीय सत्ता" का नव-शेलिंगीय विचार[40] भी बुद्धिसंगत प्रतीत होते हैं। और इस कारण श्री ड्यूहरिंग बहुत सतर्कता के साथ अपना विवेचन आरम्भ करते हैं। वह कहते हैं कि असल में ज़ाहिर है, काल तो है, किन्तु वह इस प्रकार का काल है, जिसे सचमुच काल नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः काल स्वयं अपने में वास्तविक भागों से मिलकर नहीं बना होता; केवल हमारा मन अपनी इच्छानुसार उसे भागों में बांट देता है। जब काल को विभेदनीय तथ्यों से सचमुच भर दिया जाता है, केवल

तभी उसे गिनना सम्भव होता है। रिक्त अवधि के संचय का क्या अर्थ है, यह सर्वथा कल्पनातीत बात है। इस संचय का क्या अर्थ लगाया है, इसका यहां कोई महत्व नहीं है। यहां तो प्रश्न यह है कि संसार की जो अवस्था यहां मान ली गयी है, उस अवस्था में क्या संसार की कोई अवधि होती है? उस अवस्था में क्या संसार किसी कालावधि से गुज़रता है? यह बात हमें बहुत पहले से मालूम है कि जिस प्रकार रिक्त दिक् में बिना किसी लक्ष्य या उद्देश्य के मापने से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार इस तरह की सारहीन अवधि को मापने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता। और इस तरह की किसी भी कोशिश की निरर्थकता के कारण ही हेगेल ने इस प्रकार के अनन्तत्व को **निकृष्ट** अनन्तत्व कहा है। श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार काल का अस्तित्व केवल परिवर्तन के द्वारा है; काल में और काल के द्वारा परिवर्तन का कोई अस्तित्व नहीं है। काल चूंकि परिवर्तन से भिन्न होता है और उससे स्वतंत्र होता है, ठीक इसीलिये काल को परिवर्तन के द्वारा मापना सम्भव होता है, क्योंकि मापने के लिये सदा जो चीज़ मापी जानेवाली है, उससे भिन्न किसी चीज़ की आवश्यकता होती है। और जिस काल में कोई सुस्पष्ट परिवर्तन नहीं होते, उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह काल **नहीं है।** बल्कि कहना चाहिये कि वह **विशुद्ध** काल है, जिसे कोई बाहरी मिश्रण प्रभावित नहीं कर पाया है, अर्थात् वह वास्तविक काल या **काल के रूप में** काल है। बल्कि सच तो यह है कि यदि हम काल के विचार को, हर प्रकार के पराये तथा बाहरी मिश्रण को अलग हटाकर तथा उसकी समस्त शुद्धता में समझना चाहते हैं, तो हमें भिन्न-भिन्न प्रकार की उन तमाम घटनाओं को, जो काल में एकसाथ या क्रमानुसार होती हैं, यहां अप्रासंगिक मानकर अलग रख देना पड़ता है और इस तरह एक ऐसे काल के विचार की कल्पना करनी पड़ती है, जिसमें कोई घटना नहीं होती। अतएव यह करते हुए हम काल की अवधारणा को सत्ता के सामान्य विचार में नहीं डूब जाने देते, बल्कि पहली बार काल की विशुद्ध अवधारणा अपने मन में बनाते हैं।

लेकिन ये सारी परस्पर विरोधी और असम्भव बातें केवल बच्चों का

खेल प्रतीत होती हैं, जब हम उनके उस विभ्रम से तुलना करते हैं, जिसमें श्री ड्यूहरिंग संसार की अपनी स्वसमान आद्य अवस्था के कारण फंस जाते हैं। यदि संसार कभी भी ऐसी अवस्था में था, जिसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता था, तो वह उस अवस्था को छोड़कर परिवर्तन की अवस्था तक कैसे पहुंचा? जो सर्वथा अपरिवर्तनशील है, और विशेष रूप से जो अनन्त काल से इसी अवस्था में है, वह कदाचित् अपने आप इस अवस्था से निकलकर गति तथा परिवर्तन की अवस्था तक नहीं पहुंच सकता। इसलिये उसे कहीं बाहर से, विश्व के बाहर से एक आद्य आवेग प्राप्त हुआ होगा; उसे एक ऐसा आवेग प्राप्त हुआ होगा, जिसने उसमें गति पैदा कर दी। लेकिन, जैसा कि सर्वविदित है, "आद्य आवेग" ईश्वर का ही दूसरा नाम है। जिस ईश्वर तथा जिस परलोक को श्री ड्यूहरिंग ने अपने विश्व रेखांकन में से इतनी सुन्दरता के साथ उठाकर अलग फेंकने का ढोंग रचा था, उन्हीं को यहां श्री ड्यूहरिंग ख़ुद अधिक तीक्ष्ण तथा गहरा बनाकर पुनः प्राकृतिक दर्शन में ले आते हैं।

आगे श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है:

> "जहां परिमाण सत्ता के किसी स्थिर तत्व का गुण है, वहां वह अपनी निश्चितता में सदा अपरिवर्तित बना रहेगा। यह बात ... पदार्थ और यांत्रिक शक्ति के लिये सत्य है।"

यहां प्रसंगवश हम यह भी कह दें कि पहला वाक्य श्री ड्यूहरिंग के स्वयंसिद्ध तथ्यों एवं पुनरुक्तियों से परिपूर्ण आलंकारिक भाषा का एक उत्तम उदाहरण है: जहां परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता, वहां वह अपरिवर्तित रहता है। इसलिये संसार में पायी जानेवाली यांत्रिक शक्ति की मात्रा अनन्तकाल तक ज्यों की त्यों रहती है। हम इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं कि जिस हद तक यह बात सच है, उस हद तक लगभग तीन सौ वर्ष पहले देकार्त[41] को उसका ज्ञान था और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में वह उसे कह भी चुके थे, तथा प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में पिछले बीस वर्षों से ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त का राज्य है; और श्री ड्यूहरिंग

ने उसे केवल **यांत्रिक** शक्ति तक सीमित करके उसमें कोई सुधार नहीं किया है। लेकिन अपरिवर्तनशील अवस्था के काल में यांत्रिक शक्ति कहां थी? श्री ड्यूहरिंग इस प्रश्न का हमें कोई भी उत्तर देने को तैयार नहीं हैं।

हम श्री ड्यूहरिंग से पूछते हैं कि जनाब, उस समय वह अनाद्यन्त स्वसमान यांत्रिक शक्ति कहां थी और उसने किसको गतिमान बनाया? हमें जवाब मिलता है:

"विश्व की मूल अवस्था या अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें, तो पदार्थ के अपरिवर्तनशील अस्तित्व की वह मूल अवस्था जिसमें कालानुसार परिवर्तनों का कोई संचय नहीं होता, एक ऐसा विचार है, जिसे केवल वही मस्तिष्क अस्वीकार कर सकता है, जो स्वयं अपनी सृजनात्मक शक्ति का आत्मखंडन करने में बुद्धि की पराकाष्ठा समझता है।"

अतः या तो आप बिना सोचे-समझे मेरी अपरिवर्तनशील मूल अवस्था को स्वीकार कीजिये, नहीं तो मैं, सृजनात्मक शक्ति का स्वामी, यूजेन ड्यूहरिंग, आप सबको बौद्धिक नपुंसक घोषित कर दूंगा। ज़ाहिर है, यह सुनकर शायद कुछ लोगों की हिम्मत जवाब दे दे। लेकिन हम चूंकि श्री ड्यूहरिंग की सृजनात्मक शक्ति के कुछ उदाहरण पहले ही देख चुके हैं, इसलिये हम फ़िलहाल इस सभ्य गाली का कोई उत्तर नहीं देते और एक बार फिर उनसे प्रश्न करते हैं: मगर, श्री ड्यूहरिंग, कृपया उस यांत्रिक शक्ति के बारे में तो बताइये।

और श्री ड्यूहरिंग व्याकुल हो उठते हैं।

"स्वयं उस आद्य चरम अवस्था की परम अनन्यता संक्रमण का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करती। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिये कि सत्ता की शृंखला की ऐसी प्रत्येक नयी कड़ी की, जिससे हमारा परिचय है, मूलतया इसी प्रकार की स्थिति है, चाहे वह एक कितनी ही लघु कड़ी क्यों न हो, चुनांचे इस समय हम जिस मूलभूत प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, उसके सम्बन्ध में जो कोई कठिनाइयां खड़ी करना चाहता है, उसे इस बात का ख़याल रखना चाहिये कि अपेक्षाकृत कम स्पष्ट प्रश्नों पर विचार करते समय वह इन कठिनाइयों को दरगुज़र न करे। इसके

अलावा इस बात की भी सम्भावना है कि हम उत्तरोत्तर क्रमानुसार अन्तर्वर्ती अवस्थाओं को बीच में डालते जायें और निरन्तरता का एक ऐसा पुल बना दें, जिसके द्वारा हम पीछे की ओर चल सकें और चलते-चलते परिवर्तन की क्रिया के निर्वाण पर पहुंच जायें। यह सच है कि विशुद्ध तार्किक दृष्टिकोण से यह निरन्तरता हमें मुख्य कठिनाई को पार करने में कोई सहायता नहीं देती। लेकिन हमारे लिये वह हर प्रकार की नियमितता का तथा सामान्य संक्रमण के प्रत्येक ज्ञात रूप का मूल रूप है और इसलिये हमें यह अधिकार है कि हम उस प्रथम संतुलन तथा उसके संक्षोभ के बीच एक माध्यम के रूप में भी उसका प्रयोग करें। मगर यदि हमने उन विचारों के नमूने पर, जिनको वर्तमानकालीन यांत्रिकी में बिना किसी विशेष आपत्ति के" (!) "स्वीकार कर लिया जाता है, एक प्रकार से" (!) "गतिहीन संतुलन की कल्पना कर ली होती, तो हमारे पास इस प्रश्न का कोई उत्तर न रह जाता कि पदार्थ परिवर्तन की प्रक्रिया तक कैसे पहुंचा"। लेकिन हमें आगे बताया जाता है, पुंजों की यांत्रिकी के अलावा पुंज गति का अत्यन्त सूक्ष्म कणों की गति में रूपान्तरण भी हो जाता है; किन्तु यह रूपान्तरण कैसे सम्पन्न होता है—"इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिये अभी तक हमारे पास कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं है और इसलिये हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये, यदि अन्त में जाकर ये प्रक्रियाएं **किंचित् अंधकार में** होती हों"।

श्री ड्यूहरिंग के पास हमारे प्रश्न का बस यह जवाब है। और वस्तुतः, यदि हम इन सचमुच दयनीय ढंग की घोर छलपूर्ण बातों और वक्रोक्तियों को मानकर बैठ जायेंगे, तो अब हमें न केवल अपनी "सृजनात्मक शक्ति के आत्मखंडन में", बल्कि अनाशंकित अंध श्रद्धा में भी बुद्धि की पराकाष्ठा देखनी होगी। श्री ड्यूहरिंग यह स्वीकार करते हैं कि परम अनन्यता अपने आप संक्रमण सम्पन्न करके परिवर्तन की अवस्था में नहीं पहुंच सकती। न ही कोई ऐसा साधन है, जिसके द्वारा परम संतुलन के लिये अपने आप गति बन जाना सम्भव हो। फिर बचता क्या है? तीन लंगड़ी, झूठी युक्तियां।

प्रथमतः—सत्ता की शृंखला की उस प्रत्येक छोटी से छोटी कड़ी से, जिससे हमारा परिचय है, अगली कड़ी तक के संक्रमण को समझना भी उतना ही कठिन है। लगता है, श्री ड्यूहरिंग समझते हैं कि उनके पाठक

दूधमुंहे बच्चे हैं। सत्ता की श्रृंखला की नन्ही नन्ही से कड़ियों के बीच हर अलग अलग संक्रमण तथा सम्बन्ध को स्थापित करना ही तो प्राकृतिक विज्ञान का सार है और किसी बिंदु पर काम में कोई अड़चन पैदा हो जाती है, तो यहां तक कि श्री ड्यूहरिंग भी कभी यह कहने की हिम्मत नहीं करते कि पौर्विक गति "शून्य" से उत्पन्न हुई है, बल्कि वह भी सदा यही कहते हैं कि इस प्रकार की गति पहले की किसी गति के स्थानांतरण अथवा संचरण का ही फल होती है। लेकिन यहां तो प्रश्न स्पष्ट ही यह स्वीकार करने का है कि गति गतिहीनता से, अर्थात् **शून्य से** उत्पन्न हुई है।

द्वितीयतः – "निरन्तरता का पुल" हमारे सामने है। विशुद्ध तार्किक दृष्टिकोण से निस्सन्देह इस पुल से हमें कठिनाई को पार करने में कोई सहायता नहीं मिलती; फिर भी हमें गतिहीनता और गति के बीच में एक माध्यम के रूप में उसका **उपयोग करने** का अधिकार है। दुर्भाग्य से गतिहीनता की निरन्तरता का अर्थ है गति का **न** होना; उससे गति किस प्रकार उत्पन्न हो जायेगी, यह बात अब भी उतनी ही रहस्यपूर्ण बनी रहती है, जितनी वह पहले थी और पूर्ण अगति से सार्विक गति तक के संक्रमण को श्री ड्यूहरिंग चाहे, जितने छोटे टुकड़ों में बांट दें और उसके लिये चाहे जितनी लम्बी अवधि नियत कर दें, उससे समस्या का समाधान करने में हम एक मिलीमीटर का दशसहस्रांश भी आगे नहीं बढ़ते। बिना सृष्टि कर्म के, हम शून्य अथवा अवस्तु से किसी वस्तु तक कभी नहीं पहुंच सकते – यहां तक कि यदि वह "वस्तु" गणितीय अवकल जितनी छोटी है, तब भी हम उस तक नहीं पहुंच सकते। इसलिये निरन्तरता का पुल तो गधों का पुल* भी नहीं है। उसपर से तो केवल श्री ड्यूहरिंग ही पार हो सकते हैं।

---

*मूल में यहां श्लेष का प्रयोग किया गया है: जर्मन भाषा में गधों के पुल के लिये Eselsbrücke शब्द का प्रयोग किया जाता है; लेकिन इसके साथ-साथ कुंदिमाग़ या आलसी विद्यार्थी अपने अध्ययन में जिस अनधिकृत सहायक सामग्री का, या जिन कुंजियों का प्रयोग किया करते हैं, उनके लिये भी इसी शब्द का प्रयोग किया जाता है। – **सं०**

तृतीयतः—जब तक वर्तमानकालीन यांत्रिकी प्रचलित है—और श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार यह विचारों के निर्माण में एक अत्यन्त आवश्यक उत्तोलक का काम करता है—तब तक इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता कि गतिहीनता से गति तक संक्रमण कैसे सम्भव होता है। परन्तु ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त से हमें पता चलता है कि कुछ ख़ास परिस्थितियों में द्रव्यमान की गति आणविक गति में बदल जाती है (हालांकि यहां भी एक गति दूसरी गति से ही उत्पन्न होती है; वह गतिहीनता से कभी उत्पन्न नहीं होती)। और श्री ड्यूहरिंग बहुत सकुचाते हुए कहते हैं कि यह तथ्य सम्भवतः सर्वथा स्थिर (संतुलावस्था) और गतिशील (गति की अवस्था) के बीच एक पुल का काम कर सकता है। पर ये प्रक्रियाएं "किंचित् अंधकार में होती हैं"। और श्री ड्यूहरिंग भी हमें अंधकार में बैठा हुआ छोड़कर चले जाते हैं।

श्री ड्यूहरिंग मामले को जितना गहरा और तीक्ष्ण बनाते गये हैं, उसके साथ-साथ हम निरन्तर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर मूर्खताओं में अधिकाधिक गहरे धंसते गये हैं और अब अन्त में हम उस जगह पर पहुंच गये हैं, जहां पहुंचना अनिवार्य था, अर्थात् हम "अंधकार में" फंस गये हैं। लेकिन इससे श्री ड्यूहरिंग को कोई ख़ास लज्जा नहीं आती। अगले ही पृष्ठ पर वह यह घोषणा करने की धृष्टता दिखाते हैं कि वह

"प्रत्यक्ष रूप में पदार्थ और **यांत्रिक शक्तियों** के आचरण से स्वसमान स्थिरता के विचार को एक वास्तविक सार प्रदान करने में सफल हुए हैं"।

और यह आदमी दूसरों को "ठगबैद" कहता है!

सौभाग्य से इस तरह निस्सहाय अवस्था में इधर-उधर भटकने और "अंधकार में" राह भूल जाने के बावजूद हमें एक बात से सांत्वना मिलती है और वह निश्चय ही आत्मा के लिये बड़ी ज्ञानवर्धक बात है:

"दूसरे आकाश पिण्डों के निवासियों का गणित हमारे स्वयंसिद्ध तथ्यों के अतिरिक्त और किन्हीं स्वयंसिद्ध तथ्यों पर आधारित नहीं हो सकता!"

६

प्राकृतिक दर्शन।

जगत्सृष्टि, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान

हम आगे बढ़ते हैं और उन सिद्धान्तों पर आते हैं, जो बताते हैं कि वर्तमान संसार किस ढंग से अस्तित्व में आया है।

आयनिक दार्शनिकों का प्रस्थान बिंदु पदार्थ के सार्विक बिखराव की अवस्था थी, लेकिन बाद में विशेषकर काण्ट के समय से एक आद्य नीहारिका की मान्यता एक नयी भूमिका अदा करने लगी और यह माना जाने लगा कि गुरुत्वाकर्षण तथा ऊष्मा के विकिरण के प्रभाव से धीरे-धीरे अलग-अलग ठोस आकाश पिण्डों का निर्माण हुआ है। ऊष्मा के वर्तमानकालीन यांत्रिक सिद्धान्त से विश्व की प्रारम्भिक अवस्थाओं का पहले से कहीं अधिक निश्चित रूप में अनुमान करना सम्भव हो गया है। किन्तु "गम्भीर अनुमानों के लिये गैसीय बिखराव की अवस्था केवल उसी समय प्रस्थान-बिन्दु का काम कर सकती है, जब उसमें विद्यमान यांत्रिक प्रणाली के लक्षणों को पहले से ही अधिक निश्चित रूप में जानना सम्भव हो। अन्यथा न केवल यह विचार असल में बहुत ही धुंधला रह जाता है, बल्कि जैसे-जैसे हमारे अनुमान आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे आद्य नीहारिका अधिकाधिक घनी और अभेद्य बनती जाती है; ... इस बीच पूरा प्रश्न विसरण के एक ऐसे विचार की अस्पष्टता एवं आकारहीनता में खोया रहता है, जिसे अधिक निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता", और इसलिये "यह गैसीय विश्व" हमारे लिये "केवल एक बहुत ही हवाई अवधारणा" का काम करता है।

घूर्णनशील नीहारिकीय पुंजों से सभी वर्तमान आकाश पिण्डों की उत्पत्ति का काण्टीय सिद्धान्त खगोल विज्ञान के क्षेत्र में जितनी बड़ी प्रगति का सूचक था, उतनी बड़ी प्रगति कोपेरनिकस के बाद से इस क्षेत्र में नहीं हुई थी। उससे पहली बार इस अवधारणा को धक्का लगा कि कालानुसार प्रकृति का कोई इतिहास नहीं है। इसके पहले यह समझा जाता था कि शुरू से ही सारे आकाश पिण्डों की सदा एक सी अवस्था रही है और

वे सदा एक सी कक्षाओं का अनुसरण करते रहे हैं; और हालांकि विभिन्न आकाश पिण्डों पर अलग-अलग जीव मरते गये हैं, लेकिन फिर भी प्रजातियों और जातियों को अपरिवर्तनीय माना जाता था। यह सच है कि प्रकृति स्पष्ट रूप से अनवरत गति में है, किन्तु यह गति एक सी प्रक्रियाओं की निरन्तर पुनरावृत्ति प्रतीत होती थी। इस अवधारणा में, जो अधिभूतवादी चिन्तन प्रणाली के सर्वथा अनुरूप थी, काण्ट ने पहली दरार डाली; और यह काम उन्होंने ऐसे वैज्ञानिक ढंग से किया कि उनके दिये हुए अधिकतर प्रमाण आज भी मान्य हैं। फिर भी, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो काण्टीय सिद्धान्त आज भी एक परिकल्पना ही है। लेकिन कोपेरनिकस की विश्व प्रणाली* भी तो अभी तक इससे अधिक कुछ नहीं है। और जब से नक्षत्रमय आकाश में इस प्रकार के तापदीप्त गैसीय पुंजों के अस्तित्व का वर्णक्रमदर्शी द्वारा प्रमाण मिल गया है, जिस प्रमाण का किसी तरह खण्डन नहीं किया जा सकता, तब से काण्ट के सिद्धान्त का वैज्ञानिक विरोध करनेवालों का मुंह बन्द हो गया है। श्री ड्यूहरिंग भी संसार की अपनी रूपरेखा को इस प्रकार की एक नीहारिकीय अवस्था के बिना पूरा नहीं कर सकते; लेकिन वह इसका बदला लेने के लिये मांग करते हैं कि उनको वह यांत्रिक प्रणाली दिखायी जाये, जो इस नीहारिकीय अवस्था में पायी जाती है, और चूंकि कोई भी उनको यह प्रणाली नहीं दिखा पाता, इसलिये वह इस नीहारिकीय अवस्था को तरह-

---

*अपनी पुस्तक 'लुडविग फ़ायरबाख़' (१८८६) में एंगेल्स ने कोपेरनिकस की सौर प्रणाली के बारे में निम्नलिखित बात कही: "तीन सौ वर्षों तक कोपेरनिकस की सौर प्रणाली मात्र एक परिकल्पना थी, जिसके माफ़िक एक के मुक़ाबले संभावना सौ, हज़ार, दस हज़ार होने पर भी वह परिकल्पना मात्र थी। लेकिन जब लेवेर्ये ने इस प्रणाली द्वारा प्रदत्त तथ्यों और आंकड़ों के ज़रिये एक अज्ञात ग्रह[42] के अस्तित्व की अनिवार्यता ही नहीं सिद्ध की, बल्कि आकाश में उस स्थल का भी हिसाब लगा लिया, जहां इस ग्रह को अनिवार्यतः होना चाहिए और जब गाल्ले ने वस्तुतः इस ग्रह को ढूंढ़ निकाला, तो कोपेरनिकस की प्रणाली प्रमाणित हो गयी।" — **सं०**

तरह की गालियां देने लगते हैं। दुर्भाग्य से आजकल का विज्ञान इस प्रणाली का इतना पर्याप्त वर्णन नहीं कर सकता, जिससे श्री ड्यूहरिंग को संतोष हो सके। अन्य बहुत-से प्रश्नों का उत्तर देने में भी वह इतना ही असमर्थ है। भेकों की पूंछ क्यों नहीं होती? उसका अभी तक विज्ञान केवल यही उत्तर दे पाया है: क्योंकि उनकी पूंछ खो गयी है। लेकिन यदि कोई इस उत्तर को सुनकर एकदम उत्तेजित हो उठे और कहे कि यह तो पूरे प्रश्न को खो देने के एक ऐसे विचार की अस्पष्टता और आकारहीनता में छोड़ देना है, जिसे अधिक निश्चित रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता, और यह तो एक बहुत ही हवाई अवधारणा है, तो प्राकृतिक विज्ञान पर इस तरह नैतिकता को लागू करके हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते। अपनी विरक्ति तथा खीज की इस प्रकार की अभिव्यक्तियों का हमेशा और हर जगह प्रयोग किया जा सकता है, और इसी कारण उनका किसी जगह और कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये। श्री ड्यूहरिंग ख़ुद भी तो आद्य नीहारिका की यांत्रिक प्रणाली का पता लगा सकते हैं। उनको इस काम से कौन रोक रहा है?

सौभाग्यवश अब हमें पता चलता है कि

काण्ट का नीहारिकीय पुंज "वही चीज़ हरग़िज़ नहीं है, जो संसार के माध्यम की पूर्णतया अभिन्न अवस्था, या दूसरे शब्दों में कहें, तो पदार्थ की स्वसमान अवस्था होती है"।

यह सचमुच काण्ट का सौभाग्य था कि उन्होंने वर्तमान आकाश पिण्डों से नीहारिका गोले तक पीछे लौटकर ही संतोष कर लिया, और पदार्थ की स्वसमान अवस्था की बात उनको स्वप्न में भी नहीं सूझी! यहां चलते-चलते यह भी कह दिया जाये कि जब आजकल का प्राकृतिक विज्ञान काण्ट के नीहारिका गोले के लिये आद्य नीहारिका नाम का प्रयोग करता है, तब यह बात ज़ाहिर है कि इस नाम का केवल सापेक्ष अर्थ में प्रयोग किया जाता है। एक ओर तो वह इस अर्थ में आद्य नीहारिका है कि वर्तमान आकाश पिण्ड उससे उत्पन्न हुए हैं; दूसरे, वह इस अर्थ में आद्य नीहारिका

है कि वह पदार्थ का संबसे अधिक प्रारम्भिक रूप है, जिसका हम अभी तक पता लगा पाये हैं। इससे निश्चय ही इस मान्यता का खण्डन नहीं होता कि नीहारिकीय अवस्था के पहले पदार्थ अन्य रूपों के एक अनन्त क्रम में से गुज़रा होगा, बल्कि कहना चाहिये कि यह मान्यता आद्य नीहारिका के विचार में निहित है।

यहां श्री ड्यूहरिंग को अपनी स्थिति अधिक सुविधाजनक प्रतीत होती है। जहां हम लोग विज्ञान के साथ फ़िलहाल उसपर रुक जाते हैं, जिसे अस्थायी रूप से आद्य नीहारिका समझा जाता है, वहां श्री ड्यूहरिंग का विज्ञानों का विज्ञान उनको और भी पीछे जाकर

"संसार के माध्यम की उस अवस्था तक पहुंचने में मदद देता है, जिसको न तो वर्तमान अर्थ में विशुद्ध रूप से स्थिर समझा जा सकता है और न ही गतिशील",

और इसलिये जिसे तनिक भी नहीं समझा जा सकता।

"पदार्थ और यांत्रिक बल का वह योग, जिसे हम संसार का माध्यम कहते हैं, एक ऐसा तार्किक वास्तविक सूत्र है, जिसके द्वारा पदार्थ की स्वसमान अवस्था को विकास की समस्त सम्भव अवस्थाओं के एक पूर्वाधार के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।"

पदार्थ की स्वसमान आद्य अवस्था से हमें अभी छुटकारा हरगिज़ नहीं मिला है। यहां उसकी पदार्थ और यांत्रिक बल के योग के रूप में चर्चा की गयी है, और उसे एक तार्किक वास्तविक सूत्र, आदि बताया गया है। अतएव जैसे ही पदार्थ और यांत्रिक बल का योग भंग हो जाता है, वैसे ही गति आरम्भ हो जाती है।

यह तार्किक वास्तविक सूत्र इसके सिवा और कुछ नहीं है कि उसके रूप में "अपने भीतर" (Ansich) और "अपने लिये" (Fürsich) नामक हेगेलीय परिकल्पनाओं को वास्तविकता के दर्शनशास्त्र में प्रयोज्य बना दिया गया है। हेगेल के अनुसार "अपने भीतर" नामक परिकल्पना के

पीछे किसी वस्तु, प्रक्रिया या अवधारणा के भीतर पाये जानेवाले गुप्त अविकसित अंतर्विरोधों की मूल अभिन्नता छिपी रहती है; और "अपने लिये" नामक परिकल्पना में इन गुप्त तत्वों का भेद तथा अलगाव और उनके विग्रह का आरम्भ-बिंदु निहित होता है। इसलिये गतिहीन आद्य अवस्था को हमें पदार्थ तथा यांत्रिक बल का योग समझना चाहिये और गति की अवस्था में संक्रमण को हमें इन दोनों का अलगाव और विरोध मानना चाहिये। इससे हमें आद्य अवस्था की उस मनोकल्पना की वास्तविकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि केवल यह तथ्य सामने आता है कि इस अवस्था को "अपने भीतर" नामक हेगेलीय परिकल्पना में सम्मिलित किया जा सकता है, और आद्य अवस्था की उतनी ही अधिक मनोकल्पित परिसमाप्ति को "अपने लिये" नामक परिकल्पना में सम्मिलित किया जा सकता है। हेगेल, हमारी सहायता करें!

श्री ड्यूहरिंग कहते हैं कि पदार्थ समस्त वास्तविकता का वाहक है; चुनांचे पदार्थ से अलग कोई यांत्रिक शक्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यांत्रिक शक्ति पदार्थ की एक अवस्था होती है। आद्य अवस्था में, जब कुछ नहीं होता था, पदार्थ और उसकी अवस्था–यांत्रिक शक्ति–एक थे। बाद में, जब कुछ होने लगा, तो ज़ाहिर है कि यह अवस्था पदार्थ से भिन्न हो गयी होगी। अतः हमें इन रहस्यमय वाक्यांशों से और इस आश्वासन से संतोष करना चाहिये कि स्वसमान अवस्था न तो स्थिर थी और न ही गतिशील थी और न तो संतुलनावस्था में थी और न ही गति की अवस्था में थी। यह हमें अभी तक मालूम नहीं हो सका है कि उस अवस्था में यांत्रिक शक्ति कहां थी और बाहर से कोई आवेग प्राप्त किये बिना, अर्थात् ईश्वर के बिना, हम निरपेक्ष गतिहीनता से गति तक कैसे पहुंच् सकते हैं।

श्री ड्यूहरिंग के पहले भौतिकवादियों ने पदार्थ और गति की चर्चा की थी। श्री ड्यूहरिंग ने गति को उसके तथाकथित मूलरूप, यांत्रिक शक्ति में परिणत कर दिया है, और इसलिये पदार्थ और गति के वास्तविक सम्बन्ध को समझना उनके वास्ते असम्भव हो गया है; वैसे यह सम्बन्ध पुराने तमाम भौतिकवादियों के लिये भी अस्पष्ट था। और फिर भी यह

सम्बन्ध बहुत सरल है। **गति पदार्थ के अस्तित्व की विधि है।** बिना गति के पदार्थ कहीं पर और कभी नहीं हुआ है, और न हो सकता है। अंतरिक्षीय गति, विभिन्न आकाश पिण्डों पर अपेक्षाकृत छोटे पुंजों की यांत्रिक गति, ऊष्मा अथवा चुम्बक धारा या विद्युत धारा के रूप में अणुओं का कम्पन, रासायनिक वियोजन और संयोजन, कार्बनिक जीवन – प्रत्येक निश्चित क्षण पर संसार में पदार्थ का प्रत्येक अलग-अलग परमाणु गति के इन रूपों में से किसी न किसी एक रूप में होता है, या एक ही समय में कई रूपों में होता है। हर प्रकार का विराम, हर प्रकार का संतुलन केवल सापेक्ष होता है। गति के एक न एक निश्चित रूप के सम्बन्ध में ही उसका कुछ अर्थ होता है। उदाहरण के लिये पृथ्वी पर कोई पिण्ड यांत्रिक संतुलन की अवस्था में, यांत्रिक दृष्टि से विरामावस्था में हो सकता है; लेकिन इससे उसके पृथ्वी की गति में तथा पूरे सौर मण्डल की गति में भाग लेने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। इसी प्रकार उससे इस पिण्ड के अत्यन्त सूक्ष्म कणों के उन कम्पनों में कोई रुकावट नहीं पड़ती, जो उसके ताप से निर्धारित होते हैं और उसके परमाणुओं के किसी रासायनिक प्रक्रिया में से गुज़रने में भी कोई बाधा सामने नहीं आती। गति के बिना पदार्थ ठीक उतना ही अकल्पनीय है, जितनी पदार्थ के बिना गति। अतः गति उतनी ही असर्जनीय तथा अविनाश्य है, जितना स्वयं पदार्थ है। जैसा कि पुराने दर्शनशास्त्र (देकार्त) ने कहा था, संसार में पायी जानेवाली गति की मात्रा सदा एक सी रहती है। अतः गति का सृजन नहीं किया जा सकता; उसको केवल स्थानांतरित किया जा सकता है। जब गति एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड में स्थानांतरित की जाती है, तब जिस हद तक कि वह स्वयं अपने को स्थानांतरित करती है और जिस हद तक कि वह सक्रिय होती है, उस हद तक उसे गति का कारण समझा जा सकता है। जिस हद तक कि गति को स्थानांतरित किया जाता है, उस हद तक वह निष्क्रिय होती है। इस सक्रिय गति को हम **बल** कहते हैं, और निष्क्रिय गति को **बल की अभिव्यक्ति।** अतः यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि बल उतना ही बड़ा होता है, जितनी बड़ी उसकी अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि वास्तव में दोनों में **एक ही** गति सम्पन्न होती है।

अतः पदार्थ की गतिहीन अवस्था एक अत्यन्त अर्थहीन एवं मूर्खतापूर्ण विचार है—या कहिये कि वह "भ्रान्तचित्त असम्भव कल्पना" का एक उत्तम उदाहरण है। इस प्रकार के विचार पर पहुंचने के लिये आवश्यक है कि सापेक्ष यांत्रिक संतुलन की, अर्थात् उस अवस्था की, जिसमें पृथ्वी पर कोई भी पिण्ड हो सकता है, निरपेक्ष विराम के रूप में कल्पना की जाये और फिर इसे सम्पूर्ण विश्व पर फैला दिया जाये। यदि सार्विक गति को विशुद्ध यांत्रिक बल में परिणत कर दिया जाये तो निश्चय ही यह काम बहुत आसान हो जाता है। और गति को विशुद्ध यांत्रिक बल तक सीमित कर देने में एक और लाभ यह है कि तब कल्पना की जा सकती है कि कोई बल विरामावस्था में है, बंधा हुआ है, और इसलिये क्षण विशेष के लिए निष्क्रिय है। क्योंकि, जैसा कि आम तौर पर होता है, यदि किसी गति को स्थानांतरित करना एक किसी क़दर संजटिल प्रक्रिया है, जिसमें कई अन्तर्वर्ती अवस्थाएं शामिल होती हैं, तो शृंखला की अन्तिम कड़ी को न जोड़कर वास्तविक स्थानांतरण को किसी भी क्षण के लिए स्थगित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, जब कोई आदमी बन्दूक़ में कारतूस भरकर उस क्षण को स्थगित कर देता है, जबकि बन्दूक़ के घोड़े को दबाने के फलस्वरूप बन्दूक़ छूट जायेगी या बारूद के जलने से उन्मुक्त गति स्थानांतरित हो जायेगी, तब यही होता है। इसलिये यह कल्पना करना सम्भव है कि पदार्थ की गतिहीन, स्वसमान अवस्था में उसमें बल भरा हुआ था; और यदि पदार्थ तथा यांत्रिक बल के योग का श्री ड्यूहरिंग की समझ में कोई भी अर्थ है, तो बस एक यही अर्थ प्रतीत होता है। पर यह अवधारणा मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि जो अवस्था अपने चरित्रवश सापेक्ष है, और जो एक समय में पदार्थ के केवल एक भाग को ही प्रभावित कर सकती है, उसे यह अवधारणा सम्पूर्ण विश्व पर लागू कर देती है। इस बात को यदि हम अनदेखा कर दें, तो भी एक कठिनाई रह जाती है, पहले तो यह कि संसार भरा कैसे गया, क्योंकि आजकल बन्दूक़ें अपने आप नहीं भरी जातीं; और दूसरे, वह किस की उंगली थी, जिसने घोड़े को दबाया था? हम चाहे जितना हाथ-पैर मारें, चाहे जितना छटपटायें, लेकिन श्री ड्यूहरिंग के पथ प्रदर्शन में हम बार-बार वहीं—ईश्वर की उंगली पर ही—लौट आते हैं।

हमारा यह वास्तविकता का दार्शनिक खगोल विज्ञान के बाद यांत्रिकी और भौतिक विज्ञान पर पहुंचता है और इस बात पर शोक प्रकट करता है कि हालांकि ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त का आविष्कार हुए एक पीढ़ी का समय बीत गया है, फिर भी ख़ुद रॉबर्ट मायेर थोड़ा-थोड़ा करके उसका जिस बिन्दु तक विकास कर गये थे, उसके आगे उसका कोई ख़ास विकास नहीं हुआ है। इसके अलावा पूरा प्रश्न अब भी बहुत दुर्बोध बना हुआ है।

हमें यह बात "हमेशा याद रखनी चाहिये कि पदार्थ की गति की अवस्थाओं में स्थिर सम्बन्ध भी विद्यमान होते हैं, और इन स्थिर सम्बन्धों को यांत्रिक कार्य के द्वारा नहीं मापा जा सकता ... पहले, यदि हमने प्रकृति को एक महान कर्मकार कहा था और अब यदि हम इस शब्द के बिल्कुल सही-सही अर्थ को लेते हैं, तो हमें यह और कहना पड़ेगा कि स्वसमान अवस्थाएं और स्थिर सम्बन्ध यांत्रिक कार्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस प्रकार एक बार फिर हमें वह पुल नज़र नहीं आता, जो स्थिर से गतिशील तक पहुंचाता है, और यदि तथाकथित गुप्त ऊष्मा अभी तक सिद्धान्त के रास्ते का रोड़ा बनी हुई है, तो हमें यह मानना चाहिये कि इस बात से भी एक दोष प्रकट होता है, जिससे उसके अन्तरिक्षीय प्रयोगों में तनिक भी इन्कार नहीं किया जा सकता"।

यह देववाणीतुल्य प्रवचन भी एक अपराधी अन्तःकरण के उच्छ्वास के सिवा और कुछ नहीं है, जिसे यह अच्छी तरह मालूम है कि निरपेक्ष गतिहीनता से गति का सृजन करके वह एक ऐसे दलदल में फंस गया है, जिसमें से निकलना असम्भव प्रतीत होता है, मगर फिर भी जिसे एकमात्र सम्भव तारनहार से, अर्थात् आकाश और पृथ्वी के सृजनकर्त्ता से सहायता मांगने में लज्जा आती है। यदि स्थिर से गतिशील तक, या संतुलन से गति तक पहुंचानेवाला पुल यांत्रिकी में, और ऊष्मा की यांत्रिकी में भी नहीं मिल सकता, तो फिर श्री ड्यूहरिंग पर यह ज़िम्मेदारी कैसे आ सकती है कि वह अपनी गतिहीन अवस्था से गति तक पहुंचानेवाले पुल को कहीं न कहीं से खोजकर निकालें? इस तरह वह बड़ी आसानी से अपनी कठिनाई से छुटकारा पा जाते।

साधारण यांत्रिकी में स्थिर और गतिशील के बीच बाह्य आवेग पुल

का काम करता है। यदि एक हण्ड्रेडवेट भार के एक पत्थर को ज़मीन से दस मीटर ऊपर हवा में उठाया जाये और मुक्त अवस्था में इस तरह टांग दिया जाये, जिससे वह एक स्वसमान अवस्था और विराम की स्थिति में लटका रहे, तो केवल दूधमुंहे बच्चों के सामने ही यह दावा किया जा सकता है कि इस पिण्ड की वर्तमान अवस्था किसी यांत्रिक कार्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती। या पहली स्थिति से उसकी दूरी यान्त्रिक कार्य द्वारा नहीं मापी जा सकती। कोई राह चलता आदमी भी श्री ड्यूहरिंग को आसानी से बता देगा कि पत्थर अपने आप उठकर रस्सी से नहीं लटक गया है; और यांत्रिकी की कोई भी पुस्तिका उन्हें बता देगी कि यदि वह पत्थर को फिर गिर जाने देंगे, तो वह गिरने में ठीक उतना ही यांत्रिक कार्य करेगा, जितना उसको हवा में दस मीटर ऊपर उठाने के लिये आवश्यक हुआ था। यहां तक कि यह साधारण तथ्य भी कि पत्थर ऊपर लटका हुआ है, यांत्रिक कार्य का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि यदि वह काफ़ी देर तक लटका रहेगा, तो जैसे ही रासायनिक वियोजन के कारण रस्सी में पत्थर का भार संभालने की शक्ति नहीं रह जायेगी, वैसे ही रस्सी टूट जायेगी। लेकिन श्री ड्यूहरिंग की शब्दावली में सभी यांत्रिक प्रक्रियाओं को इस प्रकार के "सरल मूलरूपों में" परिणत किया जा सकता है, और उस इंजीनियर को अभी पैदा होना बाक़ी है, जिसके पास एक पर्याप्त बाह्य आवेग मौजूद हो और जो फिर भी स्थिर से गतिशील तक पहुंचानेवाले पुल का पता लगाने में असमर्थ हो।

यह निस्सन्देह हमारे इस अधिभूतवादी के लिये लोहे के चने चबाने और ज़हर की घूंट निगलने जैसी बात है कि गति की माप का काम उसकी उल्टी चीज़, अर्थात् विरामावस्था करती है। यह निश्चय ही एक घोर अंतर्विरोधी बात है, और प्रत्येक **अंतर्विरोधी बात** श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार **बकवास** होती है*। फिर भी यह एक तथ्य है कि टंगा हुआ पत्थर यांत्रिक

---

*जर्मन पाठ में यहां Widerspruch और Widersinn शब्दों के द्वारा एक ऐसे श्लेष का प्रयोग किया गया है, जिसका अनुवाद करना असम्भव है। इन शब्दों का अर्थ क्रमशः अंतर्विरोधी बात और बकवास है। — **सं०**

गति की एक निश्चित मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे पत्थर के भार तथा ज़मीन से उसकी दूरी के द्वारा बिल्कुल ठीक-ठीक मापा जा सकता है और इस गति का कई ढंग से इच्छानुसार इस्तेमाल किया जा सकता है (जैसे, मिसाल के लिये, पत्थर को सीधे गिराकर, या एक झुके हुए समतल पर फिसलने देकर, या किसी शाफ़्ट को घुमाने के द्वारा इस्तेमाल किया जा सकता है)। भरी हुई बन्दूक़ के लिये भी यही बात सच है। द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से गति को उसकी उल्टी चीज़ में, विरामावस्था में व्यक्त करने की सम्भावना से बिल्कुल कोई कठिनाई सामने नहीं आती। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं द्वन्द्वात्मक दर्शन के लिये तो यह पूरा विरोध केवल सापेक्ष होता है। निरपेक्ष विराम या निरपेक्ष संतुलन जैसी कोई चीज़ नहीं होती। हर अलग-अलग हरकत संतुलन तक पहुंचने की चेष्टा करती है और गति अपने समग्र रूप में फिर संतुलन का अन्त कर देती है। इसलिये, जब कभी विरामावस्था तथा संतुलन सामने आते हैं, तब वे सीमित गति का फल होते हैं और यह बात स्वतःस्पष्ट है कि इस गति को उसके फल से मापा जा सकता है, उसमें अभिव्यक्त किया जा सकता है और किसी न किसी रूप में पुनः उसमें से निकाला जा सकता है। लेकिन विषय के इतने सरल विवेचन से श्री ड्यूहरिंग संतोष नहीं कर सकते। एक अच्छे अधिभूतवादी के रूप में, वह पहले गति और संतुलन के बीच में ज़बर्दस्ती एक ऐसी चौड़ी खाई पैदा कर देते हैं, जिसका वास्तविकता में कोई अस्तित्व नहीं होता, और फिर इस बात पर आश्चर्य प्रकट करने लगते हैं कि उनको अपनी बनायी हुई इस खाई को पार करने के लिये कोई पुल नहीं दिखाई देता। तब तो अगर वह अधिभूतवादी रोज़िनांते की पीठ पर सवार होकर काण्ट की "वस्तु अपने भीतर" की तलाश में निकल पड़ते, तो भी कोई बुरा न होता, क्योंकि उस अप्राप्य पुल के पीछे अन्तिम विश्लेषण में केवल काण्टीय "वस्तु अपने भीतर" ही छिपी हुई है, और कुछ नहीं।

लेकिन ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त का और उस निबद्ध अथवा गुप्त ऊष्मा का क्या हुआ, जो इस सिद्धान्त के "रास्ते का रोड़ा बनी हुई है"?

यदि सामान्य वायुमंडलीय दाब के नीचे एक पौण्ड बर्फ़, जिसका ताप

हिमांक पर है, ऊष्मा के द्वारा उसी ताप के एक पौण्ड जल में बदल दी जाती है, तो ऊष्मा की इतनी मात्रा ग़ायब हो जाती है, जो उतने ही जल को 0° से ७६.४° सेण्टीग्रेड तक गरम करने के लिये, या जो ७६.४ पौण्ड जल के ताप में एक डिग्री की वृद्धि करने के लिये पर्याप्त होगी। यदि इस एक पौण्ड जल को क्वथनांक तक, अर्थात् १००° सेण्टीग्रेड तक गरम किया जाये और फिर १००° सेण्टीग्रेड ताप से भाप में बदल दिया जाये, तो जब तक जल की आख़िरी बूंद भाप बनेगी, तब तक ऊष्मा की इससे लगभग सात गुनी अधिक मात्रा ग़ायब हो जायेगी, जो ५३७.२ पौण्ड जल के ताप में एक डिग्री की वृद्धि करने के लिये काफ़ी होगी।[43] जो ऊष्मा ग़ायब हो जाती है, वह **निबद्ध** ऊष्मा कहलाती है। यदि भाप को ठण्डा करके फिर जल में बदल दिया जाता है और फिर जल को ठण्डा करके बर्फ़ में बदल दिया जाता है, तो ऊष्मा की जितनी मात्रा पहले निबद्ध हो गयी थी, उतनी ही मात्रा अब **पुनः उन्मुक्त हो जाती है**, अर्थात् उसे ऊष्मा के रूप में महसूस तथा मापा जा सकता है। भाप के संघनन तथा जल के हिमीकरण के समय चूंकि इस तरह ऊष्मा उन्मुक्त हो जाती है, यही कारण है कि जब भाप को १००° तक ठण्डा किया जाता है, तो वह केवल धीरे-धीरे ही जल में रूपान्तरित होती है और यही कारण है कि हिमांक ताप के जल की कोई भी राशि केवल बहुत धीरे-धीरे ही बर्फ़ में रूपान्तरित होती है। तथ्य ये हैं। प्रश्न है कि जिस समय ऊष्मा निबद्धावस्था में होती है, तब उसका क्या होता है?

ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार किसी पिण्ड के शारीरिक रूप से सक्रिय, सूक्ष्मतम कणों (अणुओं) का न्यूनाधिक कम्पन ही ऊष्मा है, और यह कम्पन उस पिण्ड के ताप पर तथा समुच्चय की अवस्था पर निर्भर करता है; और कुछ ख़ास परिस्थितियों में यह कम्पन गति के किसी भी अन्य रूप में बदल सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो ऊष्मा ग़ायब हो गयी है, वह कार्य कर चुकी है और कार्य में रूपान्तरित हो गयी है। जब बर्फ़ पिघलता है, तो उसके अलग-अलग अणुओं के बीच पाया जाने-वाला घनिष्ठ और मज़बूत सम्बन्ध टूट जाता है और एक शिथिल सन्निधि में रूपान्तरित हो जाता है। जब क्वथनांक पर जल भाप बन जाता है,

तो एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जहां जल के अलग-अलग अणुओं का एक दूसरे पर कोई ध्यान देने योग्य प्रभाव नहीं रहता, और यहां तक कि ऊष्मा के प्रभाव से वे एक दूसरे से अलग होकर विभिन्न दिशाओं में उड़ने लगते हैं। यह बात स्पष्ट है कि किसी भी पिण्ड के अलग-अलग अणुओं में, तरल अवस्था की अपेक्षा गैसीय अवस्था में और इसी प्रकार ठोस अवस्था की अपेक्षा तरल अवस्था में कहीं अधिक ऊर्जा होती है। इसलिये निबद्ध ऊष्मा ग़ायब नहीं हो गयी है, वह केवल रूपान्तरित हो गयी है और उसने आणविक तनाव का रूप धारण कर लिया है। जैसे ही वह परिस्थिति ख़त्म हो जाती है, जिसमें अलग-अलग अणु एक दूसरे के सम्बन्ध में अपनी निरपेक्ष अथवा सापेक्ष स्वतंत्रता को क़ायम रख सकते हैं—अर्थात्, जैसे ही ताप १००° सेण्टीग्रेड या 0° सेण्टीग्रेड के निम्नतम बिंदु के नीचे गिर जाता है—वैसे ही यह तनाव ढीला पड़ जाता है, अणु फिर एक दूसरे को उसी बल से दाबने लगते हैं, जिस बल से वे पहले एक दूसरे से दूर उड़ गये थे; और यह बल ग़ायब हो जाता है, मगर तुरन्त ऊष्मा के रूप में पुनः प्रकट होता है और वह ऊष्मा की उसी मात्रा में पुनः प्रकट होता है, जिस मात्रा ने पहले निबद्ध रूप धारण कर लिया था। यह व्याख्या, ज़ाहिर है, एक परिकल्पना है, जैसे कि ऊष्मा का पूरा यांत्रिक सिद्धान्त एक परिकल्पना है, क्योंकि कम्पमान अणु की बात तो जाने दीजिये, अभी तक एक साधारण अणु के भी किसी ने दर्शन नहीं किये हैं। इसी कारण इस व्याख्या का भी उतना ही दोषपूर्ण होना आवश्यक है, जितना दोषपूर्ण समग्रतया यह सिद्धान्त है, जो आज भी बहुत नया है। परन्तु उससे कम से कम पूरी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण हो जाता है और साथ ही यह व्याख्या गति की अविनाश्यता तथा असर्जनीयता से भी नहीं टकराती और यहां तक कि उससे ऊष्मा के रूपान्तरणों के दौरान में उसका ठौर-ठिकाना भी मालूम हो जाता है। अतः गुप्त अथवा निबद्ध ऊष्मा ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त के रास्ते का रोड़ा नहीं है। इसके विपरीत यह सिद्धान्त हमें इस प्रक्रिया की पहली बुद्धिसंगत व्याख्या देता है; और उसकी वजह से सिवाय इसके और कोई रोड़ा रास्ते नहीं आता कि उस ऊष्मा को, जो आणविक ऊर्जा के एक अन्य रूप में

रूपान्तरित हो गयी है, भौतिक विज्ञान के विद्वान अब भी "निबद्ध ऊष्मा" कहते हैं, हालांकि यह नाम अब बहुत पुराना पड़ गया है और अनुपयुक्त हो गया है।

अतः जिस हद तक कि यांत्रिक कार्य ऊष्मा की माप है, उस हद तक समुच्चय की ठोस, तरल तथा गैसीय अवस्था में स्वसमान अवस्थाएं तथा विरामावस्थाएं निस्सन्देह यांत्रिक कार्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। पृथ्वी की ठोस पपड़ी और महासागर का जल दोनों अपनी वर्तमान समुच्चय अवस्थाओं में उन्मुक्त ऊष्मा की एक निश्चित मात्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं; और ज़ाहिर है कि इस मात्रा के अनुरूप यांत्रिक बल की भी एक उतनी ही निश्चित मात्रा होती है। पृथ्वी का जिस गैसीय गोले से विकास हुआ है, उसका पहले तरल अवस्था में और फिर अधिकांशतया ठोस अवस्था में रूपान्तरण होने के समय आणविक ऊर्जा की एक निश्चित मात्रा का ऊष्मा के रूप में दिक् में विकिरण हुआ था। अतः श्री ड्यूहरिंग अपने रहस्यमय ढंग से जिस कठिनाई के बारे में बड़बड़ा रहे हैं, उसका कोई अस्तित्व नहीं है; और यद्यपि इस सिद्धान्त को अन्तरिक्ष पर लागू करते समय भी अनेक त्रुटियां तथा छिद्र सामने आ सकते हैं–जिनका कारण केवल यही है कि हमारे ज्ञान प्राप्ति के साधन अपर्याप्त हैं–तथापि कहीं पर भी कोई ऐसी रुकावट हमारे सामने नहीं आती, जिसे सैद्धान्तिक ढंग से पार करना असम्भव हो। यहां पर भी बाह्य आवेग ही स्थिर और गतिशील के बीच पुल का काम करता है। किसी वस्तु पर, जो संतुलन की अवस्था में है, जब अन्य पिण्ड प्रभाव डालते हैं और उसे ठण्डा या गरम कर देते हैं, तो यह बाह्य आवेग स्थिर से गतिशील तक पहुंचा देनेवाले पुल का काम करता है। ड्यूहरिंग के इस प्राकृतिक दर्शन की हम जितनी अधिक छानबीन करते हैं, उतनी ही गतिहीनता से गति के जन्म का कोई कारण खोजने की या उस पुल का पता लगाने की हमारी सारी कोशिशें अधिक असम्भव प्रतीत होती हैं, जिसपर चलकर जो विशुद्ध रूप से स्थिर है, या जो विरामावस्था में है, यह **अपने आप** गतिशील बन सकता है, या गति की अवस्था प्राप्त कर सकता है।

इतना कह चुकने के बाद सौभाग्यवश उस स्वसमान आद्य अवस्था से हमारा पिण्ड छूट जाता है। इसके बाद श्री ड्यूहरिंग रसायन विज्ञान की

चर्चा करने लगते हैं और इस अवसर से लाभ उठाकर प्रकृति की जड़ता के उन तीन नियमों को हमारे सामने प्रकट करते हैं, जिनका उनके वास्तविकता के दर्शनशास्त्र ने अभी तक आविष्कार किया है। वे तीन नियम ये हैं:

१) सामान्यतया समस्त पदार्थ की मात्रा, २) साधारण (रासायनिक) तत्वों की मात्रा और ३) यांत्रिक बल की मात्रा अपरिवर्तनीय रहती है।

अतः केवल एक ही निश्चित बात ऐसी है, जिसे अकार्बनिक जगत् के अपने प्राकृतिक दर्शन के फलस्वरूप श्री ड्यूहरिंग हमारे सामने रख सकते हैं। वह है पदार्थ की, और जिस हद तक कि पदार्थ कुछ साधारण संघटक तत्वों का बना होता है उस हद तक उसके इन तत्वों की असर्जनीयता तथा अविनाश्यता और साथ ही गति की असर्जनीयता तथा अविनाश्यता। परन्तु ये सब बहुत पुराने तथ्य हैं, जिन्हें हम बहुत पहले से जानते थे। लेकिन जो हम नहीं जानते थे, वह यह है कि ये "जड़ता के नियम" हैं, और इस रूप में ये "वस्तुओं की प्रणाली के सारणिगत गुण" हैं। ऊपर काण्ट के साथ जो बात हुई थी, यहां उसकी पुनरावृत्ति हो रही है। श्री ड्यूहरिंग हर बार किसी पुरानी परिचित उक्ति को उठाकर उसपर अपने नाम का लेबिल चिपका देते हैं, और इस तरह जो चीज़ तैयार होती है, उसका नाम रख देते हैं: "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्ष एवं विचार ... प्रणाली स्रष्टा विचार ... गहरी जड़ों तक जानेवाला विज्ञान"।

लेकिन इससे हमें निराश हो जाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। सबसे अधिक गहरी जड़ों वाले विज्ञान तथा सबसे अच्छी व्यवस्थावाले समाज में भी चाहे जितने दोष दिखाई दें, श्री ड्यूहरिंग एक बात हर हालत में बड़े विश्वास के साथ कह सकते हैं, वह यह कि

"विश्व में जो सोना मौजूद है, वह हमेशा ज्यों का त्यों रहा, और जिस तरह सामान्य पदार्थ में कोई वृद्धि या कमी नहीं हो सकती, उसी तरह इस सोने में भी कोई वृद्धि या कमी नहीं हो सकती"।

दुर्भाग्य से श्री ड्यूहरिंग हमें यह नहीं बताते कि इस "मौजूदा सोने" को देकर हम क्या ख़रीद सकते हैं।

७

प्राकृतिक दर्शन। कार्बनिक जगत्

"अन्तर्वर्ती पगों के एक एकल एवं एकरूप सोपान के द्वारा हम दाब और संघात की यांत्रिकी से संवेदनाओं और विचारों के संयोजन पर पहुंच जाते हैं।"

यह आश्वासन देने के बाद श्री ड्यूहरिंग जीवन के मूल के विषय में और कुछ कहना पसन्द नहीं करते; हालांकि जो विचारक संसार के विकास क्रम को खोजता संसार की स्वसमान अवस्था तक पहुंच चुका है और जो अन्य आकाश पिण्डों से भी इतनी अच्छी तरह परिचित है, उससे यह आशा करना अनुचित न होता कि वह इस विषय का भी पूरा ज्ञान रखता होगा। जहां तक अन्य बातों का सम्बन्ध है, उन्होंने हमें जो आश्वासन दिया है, वह केवल अर्ध-सत्य है; वह पूर्ण सत्य बन सकता है, बशर्ते कि उसे माप के सम्बन्धों की उस हेगेलीय निस्पन्द रेखा से सम्पूरित कर दिया जाये, जिसकी हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। समस्त क्रमिकता के होते हुए भी गति का एक रूप से दूसरे रूप में संक्रमण सदा एक छलांग के द्वारा या एक निर्णायक परिवर्तन के द्वारा ही सम्पन्न होता है। आकाश पिण्डों की यांत्रिकी से किसी ख़ास आकाश पिण्ड पर स्थित अपेक्षाकृत छोटे पुंजों की यांत्रिकी में संक्रमण इसी तरह होता है। इसी प्रकार पुंजों की यांत्रिकी से अणुओं की यांत्रिकी में संक्रमण होता है, जिसमें गति के वे रूप शामिल हैं, जिनकी भौतिक विज्ञान में छानबीन की जाती है, जैसे ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत् तथा चुम्बकत्व। इसी तरह अणुओं की भौतिकी से परमाणुओं की भौतिकी में, अर्थात् रसायन में जो संक्रमण होता है, वह भी एक निर्णायक छलांग के द्वारा होता है। और साधारण रासायनिक क्रिया से अल्बूमिन की रसायनता में, जिसे हम जीवन कहते हैं,[44] जो संक्रमण होता है, उसके लिये तो यह बात और भी स्पष्ट रूप में सत्य है। जीवन के क्षेत्र के भीतर ये छलांगें अधिकाधिक विरल और

अगोचर होती जाती हैं। एक बार फिर हेगेल को श्री ड्यूहरिंग की ग़लती को दुरुस्त करना पड़ता है।

प्रयोजन की धारणा में श्री ड्यूहरिंग को कार्बनिक संसार तक पहुंचने के लिये एक धारणात्मक संक्रमण मिल जाता है। यह धारणा फिर हेगेल से उधार ली गयी है। रसायनता से जीवन में जो संक्रमण होता है, उसे हेगेल ने अपनी रचना 'तर्कशास्त्र'—अवधारणा का सिद्धान्त—में प्रयोजनावाद अथवा प्रयोजन विज्ञान के द्वारा सम्पन्न कराया है। श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं के किसी भी अंश को उठाकर देखिये, वहां एक न एक हेगेलीय "फूहड़ विचार" से अवश्य भेंट हो जायेगी, जिसे श्री ड्यूहरिंग ने बिना किसी संकोच के स्वयं अपने "गहरी जड़ों वाले विज्ञान" के रूप में पेश कर दिया है। यदि हम यहां यह छानबीन करने बैठेंगे कि साधन और साध्य के विचारों को जीव जगत् पर किस हद तक लागू करना उचित तथा उपयुक्त है, तो हम अपने विषय से बहुत दूर निकल जायेंगे। बहरहाल, यदि हेगेल के "आन्तरिक प्रयोजन" का भी प्रयोग किया जाता है—जिसको विधाता की बुद्धि जैसा कोई तीसरा पक्ष किसी प्रयोजन को सामने रखकर प्रकृति में नहीं डाल देता, बल्कि जो स्वयं वस्तु के चरित्र में ही निहित होता है,—तो भी उसका सदा यही परिणाम होता है कि जिन लोगों को दर्शनशास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं है, वे बिना कुछ सोचे-समझे प्रकृति में सचेतन तथा सप्रयोजन क्रियाशीलता देखने लगते हैं। वही श्री ड्यूहरिंग जो दूसरे लोगों में तनिक-सी भी "अध्यात्मवादी" प्रवृत्ति देखते ही नैतिक क्रोध से आगबबूला हो उठते हैं, हमें

"निश्चयपूर्वक" यह विश्वास दिलाते हैं कि "नैसर्गिक प्रवृत्तियों का मूलतया उस संतोष के लिये सृजन किया गया है, जो उनकी सक्रियता से प्राप्त होता है"।

वह हमें बताते हैं कि

बेचारी प्रकृति को "वस्तुओं के संसार में लगातार व्यवस्था क़ायम रखनी पड़ती है", और इस सिलसिले में उसे कई एक कार्य निबटाने पड़ते

हैं, "जिनके लिये प्रकृति को, उसे साधारणतया जितनी कुशाग्रता का श्रेय दिया जाता है, उससे कहीं अधिक कुशाग्रता का प्रयोग करना पड़ता है"। लेकिन न केवल प्रकृति यह **जानती** है कि वह अमुक काम क्यों कर रही है, न केवल उसे घर की दासी के कामों को पूरा करना पड़ता है, न केवल उसमें कुशाग्रता होती है, जो स्वयं आत्मगत सचेतन चिन्तन के क्षेत्र में एक काफ़ी बड़ी सिद्धि है; बल्कि उसमें इच्छा या संकल्प शक्ति भी होती है। कारण कि नैसर्गिक प्रवृत्तियां इसके अतिरिक्त जो कुछ करती हैं, और जिसको करने के साथ-साथ वे आहार, प्रजनन आदि, कुछ वास्तविक प्राकृतिक कार्यों को भी पूरा कर देती हैं, उसको "हमें प्रत्यक्ष रूप से संकल्पित नहीं, बल्कि केवल अप्रत्यक्ष रूप से **संकल्पित** समझना चाहिये"।

इस प्रकार हम एक सचेतन ढंग से सोचनेवाली और सचेतन ढंग से काम करनेवाली प्रकृति पर पहुंच गये हैं, और अभी से उस "पुल" पर खड़े हैं, जो निश्चय ही हमें स्थिर से गतिशील तक तो नहीं, मगर सर्वेश्वरवाद से देववाद तक ज़रूर पहुंचा देगा। और या शायद बात असल में यह है कि श्री ड्यूहरिंग भी एक बार थोड़ी-सी "प्राकृतिक दार्शनिक अर्ध-कविता" करने लगे हैं?

नहीं, यह असम्भव है। हमारा यह वास्तविकता का दार्शनिक जीव जगत् के बारे में हमें जो कुछ भी बता सकता है, वह सब इस "प्राकृतिक दार्शनिक अर्ध-कविता" के विरुद्ध, "ठगबैदी तथा उसकी तुच्छ और सतही बातों और मिथ्यावैज्ञानिक गूढ़ताओं" के विरुद्ध, और **डार्विनवाद** की "काव्यात्मक प्रवृत्तियों" के विरुद्ध संघर्ष करने तक ही सीमित है।

डार्विन के ख़िलाफ़ मुख्य शिकायत यह है कि उन्होंने माल्थूस के जनसंख्या के सिद्धान्त को राजनीतिक अर्थशास्त्र से प्राकृतिक विज्ञान में स्थानांतरित कर दिया है, कि वह पशु पालक के विचारों के बन्दी बन गये थे, जीवन संग्राम के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने अवैज्ञानिक अर्ध-कविता की रचना की है और यदि डार्विनवाद में से वे सारी बातें निकाल दी जायें, जो लामार्क से उधार ली गयी थीं, तो पूरे डार्विनवाद में केवल मानवता के विरुद्ध एक पाशविक कृत्य ही बचता है।

डार्विन अपनी वैज्ञानिक यात्राओं से यह विश्वास लेकर लौटे थे कि

वनस्पतियों तथा जीव जंतुओं की जातियां सदा एक सी नहीं रहतीं, बल्कि उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। घर लौटकर इस विचार को जांचने-परखने और विकसित करने के लिये उनको जीव जंतुओं और वनस्पतियों के प्रजनन से अच्छा कोई क्षेत्र नहीं मिल सकता था। ठीक यही क्षेत्र है, जिसकी दृष्टि से इंगलैण्ड एक आदर्श देश है। इस क्षेत्र में अन्य देशों की, उदाहरण के लिये, जर्मनी की सफलताएं इंगलैंड की सफलताओं के सामने लगभग कुछ भी नहीं हैं। इसके अलावा इनमें से अधिकतर सफलताएं पिछले सौ वर्षों में प्राप्त हुई हैं और इस कारण उनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्थापित करने में बहुत कम कठिनाई होती है। डार्विन को पता चला कि वरण के फलस्वरूप एक ही जाति के जीव जंतुओं तथा पौधों में कृत्रिम ढंग से इतने बड़े भेद पैदा हो जाते हैं, जितने बड़े भेद उन जंतुओं और पौधों में भी नहीं होते, जो आम तौर पर अलग-अलग जातियों के जंतु तथा पौधे समझे जाते हैं। इस प्रकार एक ओर तो एक विशेष बिन्दु तक जातियों की परिवर्तनशीलता स्थापित हो गयी और दूसरी ओर अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट गुणों वाले जीवों की एक समान पूर्वज परम्परा होने की सम्भावना दिखाई देने लगी। उसके बाद डार्विन इस खोज में लग गये कि क्या सम्भवतया प्रकृति में ही कुछ ऐसे कारण मौजूद नहीं हैं, जो – वरण करने-वाले व्यक्ति की सचेतन इच्छा के बिना भी – अन्त में जीवों में उसी प्रकार के परिवर्तन पैदा कर देंगे, जिस प्रकार के परिवर्तन कृत्रिम वरण से पैदा हो जाते हैं। ये कारण उनको इस व्यनुपात के रूप में प्राप्त हुए कि प्रकृति जनित भ्रूणों की संख्या तो बहुत बड़ी होती है, किन्तु जो जीव सचमुच परिपक्वता को प्राप्त होते हैं, उनकी संख्या नगण्य होती है। लेकिन चूंकि प्रत्येक भ्रूण विकास करने की चेष्टा करता है, इसलिये आवश्यक रूप से एक जीवन संग्राम आरम्भ हो जाता है, जो न केवल इस रूप में प्रकट होता है कि एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप में शारीरिक संघर्ष करता है, और उसे निगल जाता है, बल्कि वह स्थान और प्रकाश प्राप्त करने के संघर्ष के रूप में भी प्रकट होता है, जैसा कि पौधों में भी देखा जाता है। और यह बात स्पष्ट है कि इस संघर्ष में उन भ्रूणों के परिपक्वता प्राप्त करने तथा अपना संजनन करने की सबसे अधिक संभावना होगी, जिनमें कोई

ऐसी विशिष्ट विशेषता है—वह कितनी ही नगण्य क्यों न हो—जिससे जीवन संग्राम में उनका पलड़ा भारी हो जाता है। इस प्रकार इन विशिष्ट विशेषताओं में आनुवंशिकता के द्वारा नयी पीढ़ियों तक पहुंच जाने की प्रवृत्ति होती है; और जब एक ही जाति के बहुत-से सदस्यों में ये विशेषताएं पायी जाती हैं, तब उनमें एक बार जो दिशा पकड़ ली जाती है, उस दिशा में संचित आनुवंशिकता के ज़रिये अधिकाधिक उग्र रूप धारण करने की भी प्रवृत्ति होती है। उधर जिन भ्रूणों में ये विशेषताएं नहीं होतीं, वे जीवन संग्राम में ज़्यादा आसानी से परास्त हो जाते हैं और धीरे-धीरे विलुप्त हो जाते हैं। इस तरह प्राकृतिक वरण के द्वारा, बलिष्ठ अतिजीविता के द्वारा किसी भी जाति में परिवर्तन आ जाते हैं।

अब डार्विन के इस सिद्धान्त के विरोध में श्री ड्यूहरिंग का कहना यह है कि, जैसा कि उनके कथनानुसार ख़ुद डार्विन ने भी स्वीकार किया है, जीवन संग्राम के विचार का मूल जनसंख्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले अर्थशास्त्री, माल्थूस के विचारों के सामान्यीकरण में है, और इसलिये इस विचार में वे सारी त्रुटियां मौजूद हैं, जो पादरी तुल्य माल्थूस के अतिरिक्त जनसंख्या के विचारों में अन्तर्निहित हैं। डार्विन कभी सपने में भी यह बात नहीं कह सकते कि जीवन संग्राम के विचार का **मूल** माल्थूस के विचारों में है। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि उनके जीवन संग्राम के सिद्धान्त में माल्थूस के सिद्धान्त को पूरे प्राणि एवं वनस्पति जगत् पर लागू कर दिया गया है। माल्थूसीय सिद्धान्त को इतने भोलेपन के साथ तथा इस तरह आंखें बन्द करके, स्वीकार करके डार्विन ने चाहे जितनी बड़ी ग़लती की हो, परन्तु कोई भी व्यक्ति पहली ही दृष्टि में यह देख सकता है कि प्रकृति में चलनेवाले जीवन संग्राम को और उस विरोध को देखने के लिये किसी माल्थूसीय चश्मे की जरूरत नहीं है, जो मुक्तहस्त प्रकृति द्वारा जनित भ्रूणों की अपरिमित संख्या तथा जो भ्रूण परिपक्वता तक पहुंच पाते हैं, उनकी अतिसीमित संख्या के बीच पाया जाता है, और जिस विरोध का, असल में बहुधा जीवन संग्राम के द्वारा और प्रायः एक अत्यन्त निर्मम जीवन संग्राम के द्वारा ही समाधान हो पाता है। और जिस प्रकार रिकार्डो ने मज़दूरी के नियम को जिन माल्थूसीय

युक्तियों पर श्राधारित किया था, उनके बहुत समय पहले विस्मृति के गर्त में लोप हो जाने के बावजूद उस नियम को श्राज भी मान्यता प्राप्त है, ठीक उसी प्रकार बिना किसी माल्थूसीय व्याख्या के भी प्रकृति में जीवन संग्राम चल सकता है। श्रौर जहां तक इस बात का सम्बन्ध है, प्रकृति में पाये जानेवाले जीवों के जनसंख्या के श्रपने विशिष्ट नियम हैं, जिनकी सच पूछिये तो श्रभी तक ज़रा भी छानबीन नहीं हुई है, हालांकि यदि उनकी स्थापना हो जाये, तो उसका जातियों के विकास के सिद्धान्त के लिये निर्णायक महत्व होगा। लेकिन इस दिशा में काम करने के लिये भी श्राख़िर किसने निर्णायक रूप से प्रेरणा दी है? डार्विन के सिवा श्रौर किसी ने यह प्रेरणा नहीं दी है।

श्री ड्यूहरिंग प्रश्न के इस सकारात्मक पक्ष का विवेचन करने से बड़ी सावधानी से कतरा जाते हैं। इसके बजाय वह बार-बार जीवन संग्राम की निन्दा करते हैं। उनके कथनानुसार यह बात स्पष्ट है कि श्रचेतन पौधों श्रौर पौधों के सत्प्रकृति भक्षकों के बीच जीवन संग्राम जैसी कोई बात नहीं हो सकती।

"यथार्थ श्रौर निश्चित श्रर्थ में जीवन संग्राम पशु जगत् में उस हद तक पाया जाता है, जिस हद तक कि जंतु दूसरे जंतुश्रों का शिकार करके श्रौर उनका भक्षण करके ज़िन्दा रहते हैं।"

जीवन संग्राम के विचार को इन संकुचित सीमाश्रों में परिणत कर देने के बाद वह इस विचार की पाशविकता पर खुलकर श्रपना क्रोध प्रकट करते हैं, जिसको उन्होंने ख़ुद ही पाशविकता तक सीमित कर दिया है। परन्तु इस नैतिक क्रोध की गाज पलटकर ख़ुद श्री ड्यूहरिंग के ही सिर पर गिरती है, क्योंकि श्रसल में इस सीमित श्रर्थ में जीवन संग्राम के विचार के एकमात्र जनक वही हैं, श्रौर इसलिये उसकी ज़िम्मेदारी केवल उन्हीं के सिर पर है। चुनांचे डार्विन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने "प्रकृति की सभी क्रियाश्रों के नियमों तथा श्रर्थ को पशु जगत् में खोजने की चेष्टा की थी", – डार्विन ने तो श्रसल में स्पष्ट शब्दों

में समस्त जीव प्रकृति को इस संघर्ष में सम्मिलित किया था – यह हौवा ख़ुद श्री ड्यूहरिंग ने बनाकर खड़ा किया है। "जीवन संग्राम" – जहां तक इस **नाम** का सम्बन्ध है, उसको बहुत आसानी से श्री ड्यूहरिंग के अत्यन्त नैतिक क्रोध की वेदी पर बलि चढ़ाया जा सकता है। लेकिन जहां तक इस **तथ्य** का सम्बन्ध है, प्रत्येक चरागाह, अनाज का प्रत्येक खेत और प्रत्येक जंगल उनके सामने इस बात का साक्ष्य दे सकता है कि पौधों की दुनिया में भी यह तथ्य पाया जाता है। और प्रश्न यह नहीं है कि इस तथ्य को क्या नाम दिया जाये – "जीवन संग्राम", या "जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियों का अभाव तथा यांत्रिक प्रभाव"; बल्कि प्रश्न यह है कि इस तथ्य का जातियों के परिरक्षण तथा गुण परिवर्तन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रश्न के विषय में श्री ड्यूहरिंग एक दुराग्रहपूर्ण एवं स्वसमान चुप्पी साध लेते हैं। इसलिये फ़िलहाल हर चीज़ उसी हालत में रह सकती है, जिस हालत में वह प्राकृतिक वरण में थी।

लेकिन डार्विनवाद तो "अपने रूपान्तरणों और भेदों को शून्य में से उत्पन्न कर देता है"।

यह सच है कि प्राकृतिक वरण पर विचार करते समय डार्विन उन **कारणों** की ओर कोई ध्यान नहीं देते, जिन्होंने अलग-अलग जीवों में कुछ परिवर्तन पैदा कर दिये हैं और पहले इस बात की चर्चा करते हैं कि इस प्रकार के विशिष्ट विचलन धीरे-धीरे एक प्रजाति, प्रभेद या जाति के गुण कैसे बन जाते हैं। डार्विन की दृष्टि में इन कारणों को खोजने का उतना तात्कालिक महत्व नहीं था, जितना किसी ऐसे बुद्धिसंगत रूप का पता लगाने का था, जिसमें इन कारणों के प्रभाव स्थिर हो जाते हैं और स्थायी महत्व प्राप्त कर लेते हैं। ये कारण कुछ हद तक आज भी बिल्कुल अज्ञात हैं और कुछ हद तक उनको केवल अत्यन्त सामान्य रूप में ही समझा जा सका है। यह सच है कि ऐसा करते हुए डार्विन ने अपनी खोज को एक अत्यधिक विशाल क्षेत्र के लिये सच बताया, उसे जाति परिवर्तन का एकमात्र अभिकर्त्ता बना दिया और बारम्बार होनेवाले विशिष्ट परिवर्तनों

के कारणों की अवहेलना की तथा उसके बजाय उस रूप पर ध्यान केन्द्रित किया, जिसमें ये परिवर्तन सामान्य बन जाते हैं। लेकिन इस तरह की ग़लती तो प्रायः वे सभी लोग करते रहे हैं, जिन्होंने ज्ञान के भण्डार की वास्तविक वृद्धि की है। इसके अतिरिक्त, यदि डार्विन अपने विशिष्ट रूपान्तरणों को शून्य में से पैदा कर देते हैं और ऐसा करते समय केवल "वरण करनेवाले की बुद्धि" का प्रयोग करते हैं, तो वरण करनेवाला जंतुओं और पौधों के रूपों में जो रूपान्तरण पैदा करता है और जो केवल काल्पनिक रूपान्तरण नहीं, बल्कि वास्तविक रूपान्तरण होते हैं, उनको भी उसे **शून्य में से** पैदा कर दिखाना चाहिये। लेकिन ये रूपान्तरण और भेद ठीक-ठीक किस तरह पैदा होते हैं, इसकी खोज के लिये प्रेरणा देनेवाला व्यक्ति डार्विन के सिवा और कोई न था।

हाल में प्राकृतिक वरण के विचार का विस्तार हो गया है। ख़ास तौर पर हैकेल ने उसका विस्तार किया है; और अब यह समझा जाता है कि जाति परिवर्तन अनुकूलन और आनुवंशिकता के पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का फल होता है और इस प्रक्रिया में अनुकूलन को परिवर्तन पैदा करनेवाला तत्व समझा जाता है और आनुवंशिकता को परिरक्षक तत्व समझा जाता है। पर श्री ड्यूहरिंग को इससे भी संतोष नहीं है:

"जीवन के लिये आवश्यक जिन परिस्थितियों को प्रकृति ने दिया है या नहीं दिया है, उनके प्रति वास्तविक अनुकूलन केवल उसी समय सम्भव है, जब विचारों द्वारा निर्धारित आवेगों और कार्यों का अस्तित्व पहले ही मान लिया जाये। अन्यथा अनुकूलन केवल दिखावटी होता है और तब जो कारणता सामने आती है, वह भौतिक, रासायनिक और पादप शरीरक्रियात्मक प्रक्रिया के निम्न स्तरों से ऊपर नहीं उठती"।

एक बार फिर श्री ड्यूहरिंग नाम से भड़क गये हैं। लेकिन वह इस प्रक्रिया को चाहे जो नाम दें, यहां प्रश्न यह है कि जीवों की जाति में पैदा होनेवाले परिवर्तन इस प्रकार की प्रक्रियाओं के द्वारा पैदा होते हैं या नहीं। और श्री ड्यूहरिंग फिर प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देते।

"यदि कोई पौधा बढ़ने के समय उस पथ का अनुसरण करता है, जिसपर उसे सबसे अधिक प्रकाश प्राप्त होगा, तो उद्दीपन का यह प्रभाव भौतिक शक्तियों तथा रासायनिक अभिकर्त्ताओं के एक योग के सिवा और कुछ नहीं है, और यदि उसे लाक्षणिक ढंग से नहीं, बल्कि शब्द के सही अर्थ में अनुकूलन की तरह पेश करने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो वह अनिवार्य रूप से धारणाओं में अध्यात्मवादी गड़बड़ पैदा कर देगी।"

जिस आदमी को बिल्कुल ठीक-ठीक यह मालूम है कि प्रकृति अमुक कार्य **किसकी इच्छा से** करती है, जो व्यक्ति प्रकृति की **कुशाग्रता** और यहां तक कि उसकी **संकल्प शक्ति** की भी चर्चा किया करता है, वही दूसरे लोगों के साथ इतनी सख़्ती के साथ पेश आता है! हां, अध्यात्मवादी गड़बड़ तो है – मगर वह किसमें है: हैकेल में या श्री ड्यूहरिंग में?

और केवल अध्यात्मवादी गड़बड़ ही नहीं, तार्किक गड़बड़ भी है। हमने देखा था कि श्री ड्यूहरिंग अपना पूरा ज़ोर लगाकर यह दावा करते हैं कि प्रयोजन की अवधारणा प्रकृति पर भी लागू होती है।

"साधन और साध्य के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसके लिये सचेतन संकल्प के होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है"।

तब सचेतन संकल्प के बिना, विचारों की मध्यस्थता के बिना जो अनुकूलन होता है और जिसका श्री ड्यूहरिंग इतने उत्साह के साथ विरोध कर रहे हैं, वह यदि इस प्रकार की अचेतन सप्रयोजन क्रियाशीलता नहीं है, तो फिर और क्या है?

अतः यदि पेड़ों के मेंढक और पत्तियां खानेवाले कीड़े हरे रंग के होते हैं, मरुस्थल के जीव जंतुओं का रंग मटमैला होता है और ध्रुवीय क्षेत्रों के जंतु मुख्यतया हिम श्वेत रंग के होते हैं, तो उन्होंने निश्चय ही किसी प्रयोजन को सामने रखकर या किन्हीं विचारों के अनुसार इन रंगों को अंगीकार नहीं किया है; बल्कि इसके विपरीत इन रंगों को केवल भौतिक शक्तियों और रासायनिक अभिकर्त्ताओं के फल के रूप में ही समझा जा सकता है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन

रंगों के कारण ये जंतु सप्रयोज्य ढंग से उस वातावरण के **अनुकूल बन गये हैं**, जिसमें वे रहते हैं, क्योंकि अब वे अपने शत्रुओं को पहले की अपेक्षा बहुत मुश्किल से दिखाई देते हैं। ठीक इसी प्रकार, जिन अंगों के द्वारा कुछ ख़ास प्रकार के पौधे अपने ऊपर उतरनेवाले कीड़ों को पकड़ लेते हैं और उनका भक्षण कर लेते हैं, वे अंग इस क्रिया के अनुकूल बन गये हैं और यहां तक कि कहा जा सकता है कि उनका सप्रयोजन ढंग से अनुकूलन हो गया है। चुनांचे, यदि श्री ड्यूहरिंग का ज़ोर इस बात पर है कि अनुकूलन विचारों के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिये, तो वह दूसरे शब्दों में यह कह रहे हैं कि सप्रयोज्य क्रियाशीलता भी विचारों के द्वारा सम्पन्न होनी चाहिये, उसे सचेतन और साभिप्राय होना चाहिये। और जैसा कि वास्तविकता के दर्शन में अक्सर होता रहता है, यहां से हम एक सप्रयोजन ढंग से काम करनेवाले स्रष्टा पर, ईश्वर पर पहुंच जाते हैं।

"इस प्रकार की व्याख्या पहले देववाद कहलाती थी और उसको बहुत महत्व नहीं दिया जाता था; लेकिन अब मालूम होता है कि इस मामले में भी उल्टी दिशा में वस्तुओं का विकास हुआ है।"

अनुकूलन से अब हम आनुवंशिकता पर आते हैं। श्री ड्यूहरिंग की राय में इस क्षेत्र में भी डार्विनवाद एकदम ग़लत मार्ग का अनुसरण कर रहा है। श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार डार्विन का कहना था कि समस्त जीव जगत् एक आद्य जीव का वंशज है या मानो एक अकेले जीव की सन्तान है। श्री ड्यूहरिंग कहते हैं कि डार्विन के मतानुसार अगर साझे वंशानुक्रम की मध्यस्थता नहीं है, तो फिर प्रकृति जनित सजातीय जीवों की स्वतंत्र समानांतर रेखाएं नहीं हो सकतीं; और इसलिये डार्विन को तथा उनके अतीत प्रभावी ढंग से निर्दिष्ट विचारों को अन्त में विवश होकर एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाना पड़ता है, जहां अभिजनन का अथवा प्रजनन के किसी और रूप का क्रम बीच में ही टूट जाता है।

शिष्टाचार का पालन करते हुए भी हमें कहना पड़ेगा कि यह कथन

कि डार्विन समस्त वर्तमान जीवों को **एक** आद्य जीव की सन्तान समझते थे, श्री ड्यूहरिंग की "अपनी स्वतंत्र सृष्टि एवं कल्पना" का फल है। अपनी रचना 'जातियों का उद्भव' (छठा संस्करण) के उपान्तिम पृष्ठ पर डार्विन ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि वह

"सभी जीवों को विशिष्ट सृष्टियां न मानकर **कुछ थोड़े-से जीवों** के वंशज"[45] समझते हैं।

और हैकेल तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। उन्होंने

"वनस्पति जगत् के लिये एक बिल्कुल स्वतंत्र वंश की और प्राणि जगत् के लिये एक दूसरे वंश की" कल्पना की है और इन दोनों के बीच "प्रोटिस्टों के अनेक स्वतंत्र वंशों की" कल्पना की है, "जिसमें से हरेक उपर्युक्त वंशों से बिल्कुल स्वतंत्र ढंग से मोनेरा श्रेणी की एक विशेष आर्किगोन जाति से विकसित हुआ है" (*Schöpfungsgeschichte*, पृष्ठ ३९७)।[46]

यह आद्य जीव केवल ड्यूहरिंग का आविष्कार है। इसका आविष्कार उन्होंने इस उद्देश्य से किया था कि उसका आद्य यहूदी आदम के साथ सादृश दिखाकर उसकी अधिक से अधिक बदनामी कर दी जाये। मगर उनका – मतलब यह कि श्री ड्यूहरिंग का – दुर्भाग्य था कि उनको इस बात का तनिक भी आभास नहीं था कि असीरिया में स्मिथ की खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि यह आद्य यहूदी एक आद्य शामी था और अब यह भी प्रमाणित हो गया है कि बाइबल में वर्णित जगत् सृष्टि तथा जलप्लावन का पूरा इतिहास मूर्तिपूजकों की उन प्राचीन धार्मिक पुराणकथाओं का एक भाग है, जिनमें यहूदियों के अलावा बाबिलवासी, कैल्डियावासी और असीरियावासी भी विश्वास करते थे।

डार्विन के ख़िलाफ़ यह सचमुच एक बड़ी शिकायत है और इसका उनके पास कोई जवाब नहीं है, कि वह उस बिन्दु पर पहुंचते ही एकदम ख़ामोश हो जाते हैं, जहां वंशानुक्रम का धागा बीच में टूट जाता है।

दुर्भाग्य से यह एक ऐसी शिकायत है, जो हमारे सारे प्राकृतिक विज्ञान के ख़िलाफ़ की जा सकती है। जहां वंशानुक्रम का धागा टूट जाता है, वहां यह विज्ञान भी "ख़ामोश हो जाता है"। ऐसे जीवों को पैदा करने में वह अभी तक सफल नहीं हुआ है, जो दूसरों के वंशज न हों। बल्कि सच तो यह है कि वह अभी तक रासायनिक तत्वों से साधारण प्रोटोप्लाज़्म अथवा अन्य अल्बूमिनीय पिण्डों को भी नहीं बना सका है। इसलिये, जहां तक जीवन के उद्भव का सम्बन्ध है, प्राकृतिक विज्ञान निश्चित रूप से अभी तक केवल इतना ही कह सकता है कि जीवन रासायनिक क्रिया का परिणाम रहा होगा। लेकिन सम्भव है कि वास्तविकता का दर्शन इस सम्बन्ध में हमारी कुछ सहायता कर सके, क्योंकि उसके पास प्रकृति द्वारा जनित जीवों की ऐसी अनेक समानान्तर रेखाएं मौजूद हैं, जिनके बीच समान वंशानुक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये श्रेणियां उत्पन्न कैसे हुई होंगी? स्वयंस्फूर्त्त जनन के द्वारा? लेकिन स्वयंस्फूर्त्त जनन के सबसे अधिक दुस्साहसी समर्थकों ने भी अभी तक यह दावा नहीं किया है कि स्वयंस्फूर्त्त जनन से बैक्टीरिया, भ्रूणीय फफूंद और अन्य अत्यन्त अल्पविकसित जीवों के अतिरिक्त भी कुछ पैदा हुआ है; उन्होंने उससे कीड़ों, मछलियों, पक्षियों या स्तनधारियों के पैदा होने का कभी दावा नहीं किया है। लेकिन यदि प्रकृति द्वारा जनित इन सजातीय जीवों में—हमारा मतलब, ज़ाहिर है, सजीव वस्तुओं से है, क्योंकि यहां पर हम केवल उन्हीं की चर्चा कर रहे हैं—वंशानुक्रम का सम्बन्ध नहीं होता, तो जिस बिन्दु पर "वंशानुक्रम का धागा बीच में टूट जाता है", वहां उनकी या उनके पूर्वजों में से हरेक की एक अलग सृष्टि कर्म द्वारा उत्पत्ति हुई होगी। इस तरह हम फिर स्रष्टा पर, और जिसे देववाद कहते हैं, उसपर पहुंच जाते हैं।

श्री ड्यूहरिंग आगे घोषणा करते हैं कि

> डार्विन ने "केवल गुणधर्मों के लैंगिक संयोजन के कार्य को इन गुणधर्मों के उद्भव का मौलिक सिद्धान्त बनाकर" बहुत ही सतही समझ का परिचय दिया है।

यह हमारे गहरी जड़ों वाले दार्शनिक की एक नयी स्वतंत्र सृष्टि एवं कल्पना है। डार्विन ने साफ़ तौर पर इसकी उल्टी बात कही है। उन्होंने

लिखा है कि "प्राकृतिक वरण" की परिकल्पना में परिवर्तनों का उद्भव सम्मिलित नहीं है, बल्कि उसमें केवल उनका **परिरक्षण** ही सम्मिलित है (पृ० ६३)। किन्तु एक बार फिर, जो बातें डार्विन ने कभी नहीं कही हैं, उनको डार्विन के मत्थे मढ़कर श्री ड्यूहरिंग ड्यूहरिंगीय मनोवृत्ति की निम्नलिखित गूढ़ता को समझने में हमारी मदद करते हैं:

"यदि लैंगिक संजनन के आन्तरिक रेखांकन में स्वतंत्र परिवर्तन का कोई सिद्धान्त मिल गया होता, तो यह विचार सर्वथा बुद्धिसंगत होता, क्योंकि सार्विक जनन के सिद्धान्त को लैंगिक संजनन के साथ जोड़कर एक अद्वैत का रूप दे देना और तथाकथित स्वयंस्फूर्त जनन को एक अधिक ऊंचे दृष्टिकोण से पुनरुत्पादन का परम प्रतिवाद न मानकर केवल उत्पादन समझना एक स्वाभाविक विचार है।"

और जो व्यक्ति इस प्रकार की बकवास लिख सकता है, वह हेगेल की "पिशाच भाषा" की शिकायत करने में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करता!

लेकिन श्री ड्यूहरिंग की परस्पर विरोधी बातों और चिड़चिड़ेपन से भरी हुई बड़बड़ाहट और छिद्रान्वेषण के अब हम काफ़ी उदाहरण दे चुके हैं। इसके द्वारा वह प्राकृतिक विज्ञान की उस प्रचण्ड उन्नति पर अपना ग़ुस्सा निकालते हैं, जिसका श्रेय डार्विन के सिद्धान्त की प्रेरणा शक्ति को है। लामार्क ने जो महान सेवाएं की हैं, उनके महत्व को किसी भी तरह कम करके बताने का विचार न तो कभी डार्विन के मन में आया था, और न ही वह कभी उनके अनुयाइयों के मन में आया है। बल्कि सच तो यह है कि इन्हीं लोगों ने लामार्क को पुनः उसका उचित स्थान दिया है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि लामार्क के काल में विज्ञान के पास इतनी सामग्री मौजूद नहीं थी, जिसके आधार पर वह जातियों के उद्भव के प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देने में समर्थ होते। उनके पास जो सामग्री थी, उसके आधार पर तो वह केवल पूर्वाविधारण के ढंग से या यों कहें, भविष्यवाणी के रूप में ही इस प्रश्न का उत्तर दे सकते थे। इस बीच में वनस्पति विज्ञान तथा प्राणि विज्ञान से सम्बन्धित जो

वर्णनात्मक एवं शरीर रचनात्मक अपरिमित सामग्री एकत्रित हो गयी है, उसके अलावा दो बिल्कुल नये विज्ञानों का जन्म हो गया है, जिनका लामार्क के समय में कोई अस्तित्व नहीं था; और इन विज्ञानों का इस प्रश्न के विषय में निर्णायक महत्व है। ये विज्ञान हैं: वनस्पति जगत् और जीव जगत् के भ्रूणों के विकास का अन्वेषण (भ्रूण विज्ञान) और पृथ्वी की सतह के विभिन्न स्तरों में सुरक्षित जीवावशेषों का अन्वेषण (जीवाश्म विज्ञान)। वास्तव में भ्रूणों का परिपक्व जीवों में जो क्रमिक विकास होता है, उसमें और पृथ्वी के इतिहास में विभिन्न पौधे और जंतु जिस क्रम में प्रकट होते हैं, उसमें एक विचित्र सादृश्य पाया जाता है। और इस सादृश्य से ही विकास के सिद्धान्त को उसका सबसे दृढ़ आधार प्राप्त हुआ है। किन्तु विकास का सिद्धान्त स्वयं अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में है और इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि भविष्य में जो अन्वेषण होगा, वह हमारी वर्तमान अवधारणाओं को, जिनमें जातियों के विकास की प्रक्रिया की विशुद्ध डार्विनीय अवधारणाएं भी सम्मिलित हैं, बहुत कुछ बदल देगा।

कार्बनिक जीवन के विकास के बारे में वास्तविकता का दर्शन हमें ठोस ढंग की कौनसी बात बताता है?

"जातियों की परिवर्तनशीलता एक ऐसी परिकल्पना है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है।" लेकिन उसके साथ "सजातीय प्राकृतिक उपज की ऐसी स्वतंत्र समानान्तर श्रेणियां भी होती हैं, जिनके बीच समान वंशानुक्रमण का कोई सम्बन्ध नहीं होता"।

इससे सम्भवतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि विजातीय प्राकृतिक उपज, अर्थात वे जातियां, जिनमें परिवर्तन होते रहते हैं, एक दूसरे से उत्पन्न होती हैं, लेकिन सजातीय उपज के साथ यह बात नहीं होती। किन्तु यह बात भी पूरी तरह सच नहीं है। कारण कि परिवर्तनशील जातियों में भी

"साझे वंशानुक्रम के सम्बन्ध की हैसियत प्रकृति के एक बिल्कुल गौण कार्य की होती है"।

इस तरह अन्त में हम समान वंशानुक्रम पर ही पहुंच जाते हैं, हालांकि यह है "द्वितीय श्रेणी" का वंशानुक्रम। हमें इस बात पर ख़ुश होना चाहिये कि श्री ड्यूहरिंग ने वंशानुक्रम की इतनी बुराई करने के बाद और उसके इतने दोष गिनाने के बाद भी अन्त में पिछवाड़े का दरवाज़ा खोलकर उसे फिर अन्दर दाख़िल कर लिया है। प्राकृतिक वरण के साथ भी यही होता है, क्योंकि प्राकृतिक वरण जिस जीवन संग्राम के द्वारा सम्पन्न है, उसपर जब श्री ड्यूहरिंग अपना समस्त नैतिक क्रोध प्रकट कर चुकते हैं, तो उसके बाद यकायक हमें ये शब्द पढ़ने को मिलते हैं:

"इस प्रकार जीवों की शरीर रचना का अधिक गूढ़ आधार हमें जीवन की परिस्थितियों और ब्रह्माण्ड के सम्बन्धों में खोजना पड़ेगा; और डार्विन ने इस सम्बन्ध में जिस प्राकृतिक वरण पर ज़ोर दिया है, वह केवल एक गौण तत्व के रूप में ही यहां प्रवेश कर सकता है।"

इस प्रकार अन्त में हम प्राकृतिक वरण पर भी पहुंच जाते हैं, हालांकि वह भी द्वितीय श्रेणी का है। प्राकृतिक वरण के साथ जीवन संग्राम भी आ जाता है और उसके साथ पादरी तुल्य माल्थूस की अतिरिक्त जनसंख्या भी आ धमकती है! और यहीं पर बात ख़त्म हो जाती है, और जितने प्रश्न बाक़ी रह जाते हैं, उनके सम्बन्ध में श्री ड्यूहरिंग लामार्क का हवाला दे देते हैं।

अन्त में वह हमें रूपान्तरण और विकास इन शब्दों के दुरुपयोग के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। वह कहते हैं कि रूपान्तरण एक अस्पष्ट अवधारणा है और विकास की अवधारणा का केवल उसी हद तक उपयोग किया जा सकता है, जिस हद तक कि विकास के नियमों की सचमुच स्थापना की जा सकती है। इन दोनों शब्दों के स्थान पर हमें "संरचना" शब्द का प्रयोग करना चाहिये और वैसा करने पर सब ठीक हो जायेगा। यानी फिर वही कहानी दुहरा दी जाती है: चीज़ें ज्यों की त्यों रहती हैं, लेकिन केवल नामों को बदल देते ही श्री ड्यूहरिंग को संतोष हो जाता है। जब हम अण्डे के भीतर मुर्ग़ी के बच्चे के विकास की बात करते हैं, तो हम इस तरह विचार विभ्रम पैदा करते हैं, क्योंकि विकास के नियमों को

हम केवल अपूर्ण ढंग से ही प्रमाणित कर सकते हैं। लेकिन यदि हम अण्डे के भीतर मुर्ग़ी के बच्चे की संरचना की बात करते हैं, तो हर चीज़ फ़ौरन साफ़ हो जाती है। इसलिये अब भविष्य में हम यह नहीं कहेंगे कि "बच्चे का विकास अच्छा हो रहा है", बल्कि हम यह कहेंगे कि "बच्चे की संरचना शानदार ढंग से हो रही है"। हम श्री ड्यूहरिंग को इस बात की बधाई दे सकते हैं कि वह *Der Ring des Nibelungen* के रचयिता के, न केवल उसके उदारमना अहंकार की दृष्टि से, बल्कि भविष्य के रचयिता के रूप में उसकी क्षमता की दृष्टि से भी बराबरी कर सकते हैं।[47]

८

प्राकृतिक दर्शन। कार्बनिक जगत्

(समापन)

"ज़रा सोचिये कि ... हमारे प्राकृतिक दर्शन के अनुभाग को उसके समस्त वैज्ञानिक पूर्वाधारों से सुसज्जित करने के लिये कैसे सकारात्मक ज्ञान की आवश्यकता है। उसका आधार सबसे पहले हमें गणित की मौलिक उपलब्धियों में मिलता है और फिर उन प्रधान प्रस्थापनाओं में मिलता है, जिनकी यांत्रिकी, भौतिकी और रसायन के क्षेत्र में यथार्थ विज्ञान ने स्थापना की है; और साथ ही उसका आधार हमें शरीरक्रिया विज्ञान, प्राणिशास्त्र और अन्वेषण की इस प्रकार की अन्य शाखाओं में प्राकृतिक विज्ञान के सामान्य निष्कर्षों में मिलता है।"

श्री ड्यूहरिंग के गणित और प्राकृतिक विज्ञान के पाण्डित्य के बारे में श्री ड्यूहरिंग ख़ुद कितने विश्वास और भरोसे के साथ बात करते हैं। परन्तु जिस अत्यन्त संक्षिप्त अनुभाग की यहां चर्चा हो रही है, उसे पढ़कर यह पता लगाना असम्भव है कि उसके पीछे गहरी जड़ों वाला कैसा सकारात्मक ज्ञान छिपा हुआ है; और इस अनुभाग के तुच्छ निष्कर्षों को पढ़कर तो इस ज्ञान का पता लगाना और भी कठिन है। बहरहाल भौतिक और रसायन विज्ञान के विषय में ड्यूहरिंग देववाणी का सृजन करने के लिये भौतिक विज्ञान के बारे में उस समीकरण के अलावा और कुछ जानने की ज़रूरत नहीं है, जो ऊष्मा की यांत्रिक तुल्यता को अभिव्यक्त करता है, या रसायन विज्ञान के बारे में इसके सिवा और कुछ जानने की ज़रूरत नहीं है कि सभी पिण्डों का तत्वों और तत्वों के संयोजनों में विभाजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त श्री ड्यूहरिंग की तरह (पृष्ठ १३१) जो आदमी "गुरुत्वाकर्षित परमाणुओं" की बात करता है, वह केवल यह बात स्पष्ट कर देता है कि जहां तक परमाणुओं और अणुओं के अन्तर का प्रश्न है, वह एकदम "अंधेरे में है"। जैसा कि सुविदित है, परमाणुओं से केवल रासायनिक क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है, न कि गुरुत्वाकर्षण या

गति के अन्य यांत्रिक अथवा भौतिक रूपों पर। और यदि कोई आदमी श्री ड्यूहरिंग की रचना के कार्बनिक जगत् के अध्याय तक पहुंच जाता है और अनेक सारहीन और स्वतःविरोधी बातों को तथा निर्णायक प्रश्न के सम्बन्ध में उसकी देववाणी जैसी निरर्थक एवं भूलभुलैया में पड़ी हुई बकवास को तथा उसके सर्वथा व्यर्थ अन्तिम निष्कर्ष को भी पढ़ जाता है, तो वह शुरू से ही यह राय क़ायम किये बिना नहीं रहेगा कि इस अध्याय में श्री ड्यूहरिंग ऐसी चीज़ों की चर्चा कर रहे हैं, जिनके बारे में वह बहुत ही कम जानकारी रखते हैं। और यह राय उस वक़्त तो बिल्कुल ही पक्की हो जाती है, जब पाठक श्री ड्यूहरिंग के इस सुझाव पर पहुंचता है कि कार्बनिक जीवन के विज्ञान (जीव विज्ञान) में विकास के स्थान पर संरचना शब्द का प्रयोग करना चाहिये। जो व्यक्ति इस प्रकार का सुझाव रख सकता है, वह इस तरह केवल यह घोषणा कर देता है कि कार्बनिक पिण्डों के निर्माण की विधि का उसे तनिक भी आभास नहीं है।

एकदम निम्नतम श्रेणी के जीव पिण्डों को छोड़कर बाक़ी सारे जीव पिण्ड कोशिकाओं यानी अल्बूमिन के नन्हे दानों के बने होते हैं, जिनको उनका काफ़ी आवर्धन करके ही देखा जा सकता है और जिनके भीतर एक नाभिक होता है। सामान्यतया कोशिका की एक बाहरी झिल्ली भी बन जाती है और तब झिल्ली के भीतर जो कुछ होता है, वह न्यूनाधिक रूप में तरल होता है। निम्नतम स्तर के कोशीय पिण्ड **एक** कोशिका के बने हुए होते हैं। अधिकतर कार्बनिक जीव बहुकोशीय होते हैं। वे बहुत-सी कोशिकाओं के सुसंगत संश्लेष होते हैं। निम्न श्रेणी के जीवों में सभी कोशिकाएं सजातीय होती हैं, मगर उच्च श्रेणी के जीवों की कोशिकाओं के अधिकाधिक भिन्न रूप, समूह और कार्य विकसित होते जाते हैं। उदाहरण के लिये मानव शरीर में हड्डियां, पेशियां, तंत्रिकाएं, पुट्ठे, स्नायु, उपास्थियां, त्वचा, संक्षेप में कहें तो समस्त ऊतक या तो कोशिकाओं के बने होते हैं या कोशिकाओं से उत्पन्न होते हैं। लेकिन समस्त कार्बनिक कोशीय संघटनों में कोशिकाओं का गुणन एक ही ढंग से होता है: विखण्डन के द्वारा। अमीबा से लेकर, जो अल्बूमिन का एक सरल और प्रायः झिल्लीहीन कण होता है और जिसके भीतर कोशीय नाभिक होता है, मनुष्य तक और

नन्हे से नन्हे एककोशीय देसमिदियेव जल घास से लेकर अत्यधिक विकसित पौधे तक, सभी कार्बनिक संघटनों में विखण्डन से ही गुणन होता है। कोशिका का नाभिक पहले बीच में से सिकुड़ जाता है; नाभिक के दो अर्द्धांशों को एक दूसरे से अलग करनेवाला संकुचन अधिकाधिक बढ़ता जाता है; और अन्त में दोनों अर्द्धांश एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और दो अलग-अलग कोशीय नाभिक बन जाते हैं। स्वयं कोशिका भी इसी तरह की प्रक्रिया से गुज़रती है। दोनों नाभिकों में से प्रत्येक कोशीय द्रव्य के संचय का केन्द्र बन जाता है। दोनों एक पट्टी से जुड़े रहते हैं, जो अधिकाधिक पतली होती जाती है और आख़िर दोनों एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और दो स्वतंत्र कोशिकाओं के रूप में जीवित रहते हैं। इस प्रकार का कोशिका विखण्डन बारम्बार होता है और अण्डे के भ्रूणाशय का संसेचन हो जाने के बाद उसमें से इस कोशिका विखण्डन के द्वारा धीरे-धीरे जंतु का पूर्ण विकास हो जाता है; और वयस्क जंतु में जो ऊतक जीर्ण हो जाते हैं, उनके स्थान पर नये ऊतकों का प्रतिस्थापन भी इसी प्रकार होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया को संरचना कहना और यह दावा करना कि ऐसी प्रक्रिया को विकास कहना "विशुद्ध कल्पना की उड़ान" भरना है – आजकल इस बात पर विश्वास करना कितना ही कठिन क्यों न प्रतीत हो – यह निश्चय ही केवल एक ऐसे व्यक्ति का ही काम हो सकता है, जिसे इस प्रक्रिया की ज़रा भी जानकारी नहीं है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यह प्रक्रिया यथार्थ रूप में और **अनन्य रूप में** विकास की प्रक्रिया है; बल्कि कहना चाहिये कि यहां अत्यन्त शाब्दिक अर्थ में केवल विकास होता है; और संरचना का इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है!

जीवन का श्री ड्यूहरिंग सामान्यतया क्या अर्थ समझते हैं, इसकी हम बाद में कुछ और चर्चा करेंगे। उदाहरण के लिए उनकी जीवन की अवधारणा इस प्रकार है:

"निर्जीव या अकार्बनिक जगत् भी आत्मसम्पादी गतियों की व्यवस्था है; लेकिन अधिक संकीर्ण एवं सम्यक् अर्थ में हम केवल उसी बिन्दु पर जीवन की चर्चा करने का दुस्साहस कर सकते हैं, जहां एक आन्तरिक बिन्दु से विशेष नालियों के द्वारा तथा एक ऐसे भ्रूणीय रेखांकन के अनुसार

जिसको एक अपेक्षाकृत छोटे संघटन में संचारित किया जा सकता है, द्रव्यों के परिचलन के साथ-साथ वास्तविक विभेदीकरण आरम्भ हो जाता है।"

बेतरह उलझे हुए व्याकरण के अलावा यह वाक्य अधिक संकीर्ण एवं सम्यक् अर्थ में बकवास की आत्मसम्पादी गतियों (वे जो कुछ भी हों) की एक व्यवस्था है। यदि जीवन वहां आरम्भ होता है, जहां वास्तविक विभेदीकरण शुरू होता है, तो हमें यह घोषणा करनी पड़ेगी कि हैकेल का एककोशी जीवों का सम्पूर्ण जगत् मृत वस्तुओं का जगत् है। और विभेदीकरण के विचार का हम क्या अर्थ लगाते हैं, उसके अनुसार हमें संभवतः और भी बहुत-से जीवों को मृत घोषित कर देना पड़ेगा। यदि जीवन वहां आरम्भ होता है, जहां इस विभेदीकरण को एक अपेक्षाकृत छोटे भ्रूणीय रेखांकन के द्वारा संचारित किया जा सकता है, तो कम से कम सारे एककोशी जीवों को और उनके पहले जितने जीव आते हैं, उन सबको जीवित नहीं समझा जा सकता। यदि विशेष नालियों के द्वारा द्रव्यों का परिचलन जीवन का मुख्य लक्षण है, तो उपर्युक्त जीवों के अलावा सालेव्ट्रेटा के उच्च वर्ग को (छत्रक को छोड़कर), अर्थात् सभी प्रकार के पौलिपों को तथा अन्य पादप जंतुओं[48] को भी जीवित प्राणियों की पांतों में से निकाल देना पड़ेगा। यदि एक आन्तरिक बिन्दु से विशेष नालियों के द्वारा द्रव्यों का परिचलन जीवन का मूलभूत लक्षण है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वे तमाम जन्तु जिनके पास हृदय नहीं होता और वे भी, जिनके पास एक से अधिक हृदय होते हैं, सब निर्जीव होते हैं। तब ऊपर हम जितने जीवों को गिना चुके हैं, उनके अलावा सभी प्रकार के कृमि, स्टारफ़िश, रोटीफ़ेर (हेक्सली के वर्गीकरण के अनुसार Annuloida तथा Annulosa[49]), क्रस्टेशिया का एक भाग और यहां तक कि एक कशेरुकदण्डी जन्तु, ऐम्फ़िओक्सस, भी निर्जीव वस्तुओं की मद में आ जाते हैं। और इसके अतिरिक्त सारे पौधे भी निर्जीवों की श्रेणी में आ जाते हैं।

अतः वास्तविक जीवन की उसके अधिक संकीर्ण एवं सम्यक् अर्थ में परिभाषा करते हुए श्री ड्यूहरिंग ने हमें जीवन के चार ऐसे लक्षण बताये हैं, जो एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी हैं, और जिनमें से एक तो न केवल

समस्त वनस्पति जगत् को, बल्कि लगभग आधे जंतु जगत् को भी सदा के लिये मृत घोषित कर देता है। निस्सन्देह यह कोई नहीं कह सकता कि जब श्री ड्यूहरिंग ने "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्ष एवं विचार" प्रस्तुत करने का वायदा किया था, तब उन्होंने हमसे कोई झूठी बात कही थी।

एक और अंश इस प्रकार है:

"प्रकृति में भी एक सरल प्ररूप ही निम्नतम जीवों से लेकर उच्चतम जीवों तक सभी जीवों का आधार है"; और "अत्यन्त अल्पविकसित पौधे के अत्यन्त गौण आवेग में भी" यह प्ररूप ही "अपने सामान्य सार में पूरी तरह और पूर्णतया विद्यमान होता है"।

यह कथन फिर "पूरी तरह और पूर्णतया" बकवास है। समस्त सजीव प्रकृति में जो सबसे अधिक सरल प्ररूप पाया जाता है, वह है कोशिका; और इसमें सन्देह नहीं कि वह उच्च जीवों का आधार होती है। दूसरी ओर, निम्नतम जीवों में बहुत-से ऐसे हैं, जिनका दर्जा कोशिका से बहुत नीचे है–जैसे प्रोटअमीबा। यह एक सरल अल्बूमिनीय कण होता है, जिसमें किसी भी प्रकार का विभेदीकरण नहीं हुआ होता। उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के मोनेरा जीवों का एक पूरा वर्ग और हर प्रकार की ब्लैडर जल घास (Siphoneae) भी इसी कोटि में आती है। इन जीवों का उच्च कोटि के जीवों से केवल इतना ही सम्बन्ध होता है कि उनका मूल संघटक अल्बूमिन है और इसलिये वे अल्बूमिन के कार्यों को सम्पन्न करते हैं, अर्थात् जीते और मरते हैं।

आगे श्री ड्यूहरिंग हमें बताते हैं:

"शरीरक्रिया की दृष्टि से संवेदना होने के लिये किसी न किसी प्रकार के तंत्रिका उपकरण का होना ज़रूरी है, वह चाहे जितने सरल ढंग का क्यों न हो। इसलिये सभी जंतु संघटनों का यह एक ख़ास लक्षण होता है कि उनमें संवेदना की, अर्थात् अपनी अवस्था के मनोगत चेतन बोध की क्षमता होती है। पौधे और जंतु के बीच स्पष्ट सीमा रेखा उस बिन्दु

पर होती है, जहां जीव छलांग मारकर संवेदना की क्षमता प्राप्त कर लेता है। जिन संक्रमणशील संघटनों की हमें जानकारी है, उनसे यह सीमा रेखा मिट नहीं जाती, बल्कि असल में इन बाहरी तौर पर अनिर्णीत अथवा अनिर्णीय रूपों के द्वारा ही यह सीमा रेखा एक तार्किक आवश्यकता बनती है।"

श्री ड्यूहरिंग ने आगे लिखा है:

"दूसरी ओर, पौधों में लेशमात्र संवेदना का भी पूर्ण और सदा के लिये अभाव होता है और यहां तक कि उनमें संवेदना की क्षमता भी नही होती।"

पहली बात तो यह है कि हेगेल ने (*Naturphilosophie*, पैराग्राफ़ ३५१, Zusatz*) कहा कि

"संवेदना – differentia specifica, यानी जंतु का विशिष्ट रूप से भेदकारक लक्षण है"।

इस प्रकार यहां फिर हेगेल के एक ऐसे "फूहड़ विचार" से हमारा परिचय होता है, जो श्री ड्यूहरिंग के हाथ में पहुंचते ही एक अन्तिम एवं परम सत्य का सम्मानीय स्थान प्राप्त कर लेता है।

दूसरी बात यह है कि यहां हम पहली बार पौधों और जंतुओं के बीच के संक्रमणशील संघटनों की, बाहरी तौर पर अनिर्णीत अथवा अनिर्णीय रूपों की (कैसी सुन्दर बकवास है यह!) चर्चा सुनते हैं। चूंकि इस प्रकार के अन्तर्वर्ती रूप होते हैं, चूंकि कुछ ऐसे जीव होते हैं, जिनके बारे में हम साफ़-साफ़ यह नहीं कह सकते कि वे पौधे हैं या जंतु और चूंकि हम इस कारण पौधों और जंतुओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने में सर्वथा असमर्थ हैं – ठीक इसीलिये श्री ड्यूहरिंग के लिये विभेदीकरण की एक ऐसी कसौटी स्थापित करना एक तार्किक आवश्यकता

---

*'प्रकृति का दर्शन', पैराग्राफ़ ३५१, परिशिष्ट। – सं०

बन जाता हैं, जिसके बारे में वह दूसरी सांस में यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि उसका कोई ग्रौचित्य नहीं है! लेकिन हमें पौधों ग्रौर जंतुग्रों के बीच की उस संदिग्ध सीमा रेखा की ग्रोर लौटने की कोई ग्रावश्यकता नहीं है। क्या उन संवेदनशील पौधों में, जो तनिक-सा स्पर्श पाते ही ग्रपनी पत्तियों को मोड़ लेते हैं या ग्रपने फूलों का मुंह बन्द कर लेते हैं, क्या कीट भक्षी पौधों में संवेदन का लेशमात्र भी नहीं होता ग्रौर यहां तक कि क्या उनमें संवेदन की क्षमता का भी ग्रभाव होता है? यह दावा तो श्री ड्यूहरिंग भी "ग्रवैज्ञानिक ग्रर्ध-कविता" का प्रयोग किये बिना नहीं कर सकते।

तीसरी बात यह है कि जब श्री ड्यूहरिंग यह कहते हैं कि शरीरक्रिया की दृष्टि से संवेदन होने के लिये किसी न किसी प्रकार के तंत्रिका उपकरण का होना ग्रावश्यक है, वह चाहे जितना सरल ढंग का क्यों न हो, तब वह एक बार फिर केवल कल्पना की उड़ान भर रहे हैं ग्रौर स्वतंत्र सृष्टि कर रहे हैं। न केवल सभी प्रोटोज़ोग्रा में, बल्कि पादप जंतुग्रों में भी सबमें नहीं, तो उनमें से ग्रधिकतर में तंत्रिका-तंत्र का कोई चिन्ह तक नहीं होता। इस प्रकार का उपकरण तो नियमित रूप में केवल कृमियों में ग्रौर उनके ऊपर के स्तर के जंतुग्रों में ही दिखाई देता है। ग्रौर श्री ड्यूहरिंग पहले व्यक्ति हैं, जिसने यह दावा किया है कि इन जंतुग्रों में चूंकि तंत्रिकाएं नहीं होतीं, इसलिये उनमें कोई संवेदन भी नहीं होता। संवेदन ग्रावश्यक रूप से तंत्रिकाग्रों के साथ नहीं जुड़ा होता, मगर वह कुछ ऐसे ग्रल्बूमिनीय पिण्डों के साथ निस्सन्देह रूप से जुड़ा होता है, जिनको ग्रभी ग्रधिक सम्यक् रूप में निर्धारित नहीं किया गया है।

बहरहाल श्री ड्यूहरिंग की जीव विज्ञान की जानकारी पर उस प्रश्न से पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है, जो उन्होंने बिना किसी संकोच के डार्विन से किया है। उनका प्रश्न है:

"क्या जंतुग्रों का पौधों में से विकास हुग्रा है?"

इस तरह का प्रश्न केवल वही व्यक्ति कर सकता है, जिसको न तो जंतुग्रों का ज़रा भी ज्ञान है ग्रौर न ही पौधों का।

सामान्य रूप में जीवन के विषय में श्री ड्यूहरिंग हमसे केवल इतना ही कह पाये हैं:

"सुघट्यतापूर्वक सृजन करनेवाले रेखांकन" (यह विचित्र चीज़ क्या है?) "के द्वारा जो चयापचय सम्पन्न होता है, वह वास्तविक जीवन प्रक्रिया का सदा एक भेदकारक लक्षण होता है"।

बस जीवन के बारे में हम केवल इतना ही मालूम कर पाते हैं, और "सुघट्यतापूर्वक सृजन करनेवाले रेखांकन" में हमें शुद्धतम ड्यूहरिंगीय पिशाच भाषा की अर्थहीन वकवास के दलदल में हाथ-पैर मारने के लिये छोड़ दिया जाता है। इसलिये यदि हम यह जानना चाहते हैं कि जीवन क्या है, तो हमें ख़ुद ही इस सवाल पर ज़्यादा नज़दीक से ग़ौर करना पड़ेगा।

पिछले तीस वर्षों में शरीरक्रिया रसायनज्ञ और रसायनज्ञ शरीरक्रिया विशेषज्ञ अनेक बार यह कह चुके हैं कि कार्बनिक चयापचय जीवन की अत्यन्त सामान्य तथा अत्यन्त लाक्षणिक घटना होती है; और यहां श्री ड्यूहरिंग ने इसी बात को महज़ अपनी सुललित एवं सुस्पष्ट भाषा में अनुवाद करके पेश कर दिया है। लेकिन जीवन की यह परिभाषा करना कि कार्बनिक चयापचय जीवन है – यह तो यह कहने के समान है कि जीवन – जीवन ही है। कारण कि कार्बनिक चयापचय, अथवा सुघट्यतापूर्वक सृजन करनेवाले रेखांकन के द्वारा चयापचय, स्वयं एक ऐसा वाक्यांश है, जिसकी जीवन के द्वारा व्याख्या करनी पड़ती है, जिसकी व्याख्या करने के लिये कार्बनिक और अकार्बनिक में, अर्थात् जो सजीव है, उसमें और जो निर्जीव है, उसमें भेद करना पड़ता है। इसलिये यह व्याख्या भी हमें और आगे नहीं ले जाती।

यदि केवल चयापचय का ही प्रश्न हो, तो वह तो जीवन के बिना भी होता रहता है। रासायनिक प्रक्रियाओं का एक पूरा क्रम मौजूद है, जिनके लिये यदि पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलता रहे, तो वे ख़ुद अपने लिये आवश्यक परिस्थितियों का लगातार पुनरुत्पादन करती रहती

हैं और यह काम इस ढंग से करती हैं कि एक विशेष पिण्ड प्रक्रिया का वाहक होता है। जब गंधक को जलाकर सल्फ़्यूरिक एसिड बनाया जाता है, तब यही चीज़ हो जाती है। इस प्रक्रिया में सल्फ़र डाई-औक्साइड, SO_2 पैदा होती है, और जब भाप और नाइट्रिक एसिड उसमें मिला दिये जाते हैं, तो सल्फ़र डाई-औक्साइड हाइड्रोजन और आक्सीजन का अवशोषण कर लेती है और सल्फ़्यूरिक एसिड, H_2SO_4 में बदल जाती है। नाइट्रिक एसिड आक्सीजन के एक हिस्से को त्याग देता है और नाइट्रिक औक्साइड में परिणत हो जाता है। यह नाइट्रिक औक्साइड हवा में से तत्काल नयी आक्सीजन का अवशोषण कर लेती है और नाइट्रोजन की उच्चतर औक्साइडों में रूपान्तरित हो जाती है, लेकिन इसके बाद तुरन्त ही वह यह आक्सीजन सल्फ़र डाई-औक्साइड को दे देती है और फिर उसी क्रिया में से गुज़रने लगती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से नाइट्रिक एसिड की एक बहुत ही छोटी मात्रा सल्फ़र डाई-औक्साइड, आक्सीजन और जल की एक अपरिमित मात्रा को सल्फ़्यूरिक एसिड में बदल देने के लिये पर्याप्त होती है। चयापचय उस समय भी होता है, जब मृत कार्बनिक और यहां तक कि अकार्बनिक झिल्ली में से होकर, जैसा कि त्रौबे की कृत्रिम कोशिकाओं में,[50] तरल पदार्थ इधर से उधर चला जाता है। यहां पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चयापचय के द्वारा हम और आगे नहीं बढ़ सकते, क्योंकि हम जिस विशेष प्रकार के चयापचय के द्वारा जीवन की व्याख्या करना चाहते हैं, स्वयं उसकी व्याख्या जीवन के द्वारा करनी पड़ती है। इसलिये हमें किसी और उपाय का प्रयोग करके देखना होगा।

जीवन अल्बूमिनीय पिण्डों के अस्तित्व की प्रणाली है; और अस्तित्व की इस प्रणाली का सार यह है कि इन पिण्डों के रासायनिक संघटनों का निरन्तर आत्मनवीकरण होता रहता है।

अल्बूमिनीय पिण्ड का यहां उसी अर्थ में प्रयोग किया गया है, जिस अर्थ में उसका आधुनिक रसायन में प्रयोग किया जाता है, जहां अण्डे के श्वेत द्रव्य के समान बनी हुई तमाम वस्तुओं को, जिनका एक दूसरा नाम प्रोटीन द्रव्य भी है, इसी मद में शामिल किया जाता है। यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अण्डे का साधारण श्वेत द्रव्य सम्बन्धित विभिन्न

द्रव्यों में सबसे अधिक निर्जीव एवं निष्क्रिय भूमिका अदा करता है, क्योंकि ज़रदी के साथ वह केवल विकासमान भ्रूण का भोजन होता है। लेकिन अभी तक चूंकि हमें अल्बूमिनीय पिण्डों की रासायनिक संरचना के बारे में बहुत कम जानकारी है, इसलिये अधिक सामान्य नाम होने के नाते यह और किसी भी नाम से बेहतर है।

जहां कहीं हम जीवन देखते हैं, वहां हम उसे किसी न किसी अल्बूमिनीय पिण्ड से जुड़ा हुआ पाते हैं; और जहां कहीं हम कोई ऐसा अल्बूमिनीय पिण्ड देखते हैं, जो विघटन की प्रक्रिया में से नहीं गुज़र रहा है, वहां बिना किसी अपवाद के हम जीवन की क्रियाओं को भी पाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन की इन क्रियाओं के विशिष्ट विभेदीकरण के लिये सजीव पिण्ड में अन्य रासायनिक संयोजनों की उपस्थिति भी आवश्यक होती है; लेकिन मात्र जीवन प्रक्रिया के लिये उनकी आवश्यकता नहीं होती – सिवाय इसके कि वे भोजन के रूप में पिण्ड में प्रवेश करते हैं और अल्बूमिन में रूपान्तरित हो जाते हैं। जिन निम्नतम जीवों का हमें ज्ञान है, वे वस्तुतः अल्बूमिन के साधारण कणों के सिवा और कुछ नहीं हैं और फिर भी उनमें जीवन की सभी मूल क्रियाएं देखी जा सकती हैं।

लेकिन जीवन के वे सार्विक अनुलक्षण कौनसे हैं, जो सभी सजीव शरीरों में समान रूप से पाये जाते हैं? सबसे पहले यह तथ्य कि अल्बूमिनीय पिण्ड अपने वातावरण में से उपयुक्त द्रव्यों का अवशोषण करता रहता है तथा उनको आत्मसात् कर लेता है, जबकि इसी पिण्ड के अन्य अधिक पुराने भागों का विखण्डन होता रहता है और उनका उत्सर्जन हो जाता है। अन्य निर्जीव पिण्ड भी प्राकृतिक घटनाक्रम के दौरान बदलते हैं, विखण्डित होते हैं या एक दूसरे से संयोजन करते हैं, लेकिन ऐसा करने पर वे वह नहीं रहते, जो वे पहले थे। ऋतुक्षरित चट्टान चट्टान नहीं रहती; जिस धातु का आक्सीकरण हो जाता है, वह ज़ंग में बदल जाती है। लेकिन निर्जीव पिण्डों के लिये जो चीज़ उनके विनाश का कारण होती है, वही अल्बूमिन के लिये **अस्तित्व की मूल शर्त** का काम करती है। जिस क्षण से किसी अल्बूमिनीय पिण्ड में उसके संघटकों

के अविराम रूपान्तरण की यह प्रक्रिया, पोषण और उत्सर्जन के निरन्तर एकान्तरण की यह क्रिया समाप्त हो जाती है, बस उसी क्षण से स्वयं वह अल्बूमिनीय पिण्ड समाप्त हो जाता है, उसका विघटन हो जाता है, अर्थात् **वह मर जाता है।** अतएव जीवन, अथवा किसी भी अल्बूमिनीय पिण्ड के अस्तित्व की प्रणाली मूलतया इस तथ्य में निहित होती है कि प्रत्येक क्षण यह पिण्ड स्वयं जो कुछ है, वह भी होता है तथा कुछ और भी होता है। और यह बात किसी ऐसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप नहीं होती, जो बाहर से इस पिण्ड पर प्रभाव डाल रही हो, जैसा कि निर्जीव पिण्डों के साथ होता है। इसके विपरीत जीवन अथवा पोषण तथा उत्सर्जन के द्वारा सम्पन्न होनेवाला चयापचय अपने आप सम्पन्न होनेवाली प्रक्रिया है, जो अपने वाहक, अल्बूमिन में अन्तर्निहित होती है, जो अल्बूमिन का एक स्वाभाविक गुण होती है और जिसके अभाव में अल्बूमिन का अस्तित्व असम्भव है। और इसलिये इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि रसायन विज्ञान कभी कृत्रिम ढंग से अल्बूमिन तैयार करने में सफल होता है, तो इस अल्बूमिन में भी जीवन की क्रियाएं ज़रूर दिखाई देनी चाहिये, भले ही वे बहुत ही दुर्बल क्यों न हों। यह अवश्य ही एक संदेहास्पद प्रश्न है कि क्या उसके साथ-साथ रसायन विज्ञान इस अल्बूमिन के ठीक-ठीक भोजन का भी आविष्कार करने में सफल होगा।

अल्बूमिन के मूल कार्य के रूप में पोषण तथा उत्सर्जन के द्वारा चयापचय से और उसकी विशेष प्रकार की सुघट्यता से जीवन के अन्य अत्यन्त सरल तत्व उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे उद्दीपनशीलता, जो अल्बूमिन तथा उसके भोजन की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं में पहले ही से सम्मिलित थी; संकुचनशीलता, जो बहुत ही निम्न स्तर के जीवों में भी भोजन के उपयोग के रूप में दिखाई देती है; वृद्धि की सम्भावना, जिसमें विखण्डन के द्वारा सम्पन्न होनेवाला वह प्रजनन भी शामिल है, जो सबसे निम्न स्तर के जीवों में दिखाई देता है; आन्तरिक गति, जिसके बिना न तो भोजन का उपयोग सम्भव है और न ही उसका आत्मसात्करण।

जीवन की हमारी परिभाषा स्वभावतया बहुत अपर्याप्त है, क्योंकि उसमें जीवन की **सभी** क्रियाओं को सम्मिलित करने के बजाय, उसे केवल

उन क्रियाओं तक ही सीमित कर देना पड़ता है, जो सबसे अधिक सामान्य तथा सरल क्रियाएं हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सभी परिभाषाओं का बहुत कम मूल्य होता है। जीवन क्या है, इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें निम्नतम रूपों से उच्चतम रूपों तक उन सभी रूपों का अध्ययन करना होगा, जिनमें जीवन प्रकट होता है। लेकिन साधारण व्यवहार के लिये इस प्रकार की परिभाषाएं बहुत सुविधाजनक होती हैं और अनेक मौक़ों पर अवश्य ही उनके बिना हमारा काम नहीं चलता। इसके अलावा, यदि हम उनकी अनिवार्य त्रुटियों को भुला नहीं देते, तो उनसे कोई हानि नहीं हो सकती।

लेकिन चलिये, हम फिर श्री ड्यूहरिंग की ओर लौट चलें। जब पार्थिव जीव विज्ञान के क्षेत्र में उनकी हालत पतली होने लगती है, तब उन्हें सांत्वना कहां मिलेगी, यह वह अच्छी तरह जानते हैं। वह अपने तारों से भरे हुए आकाश की शरण लेते हैं।

"केवल संवेदना की इन्द्रिय के विशेष उपकरण का ही नहीं, बल्कि समस्त वस्तुनिष्ठ संसार का सुख और दुःख पैदा करने के लिये अनुकूलन हुआ है। इस कारण हम यह मानकर चलते हैं कि सुख और दुःख का विरोध, और वह भी **ठीक** उस रूप में जिस रूप में उससे हमारा परिचय है, एक सार्विक विरोध है और ब्रह्माण्ड **के विभिन्न संसारों में** उसका मूलतया सजातीय भावनाओं के द्वारा प्रतिनिधान होना चाहिये ... इस समनुरूपता का **कम** महत्व **नहीं** है, क्योंकि यह **संवेदनाओं के विश्व** की कुंजी है... अतएव आत्मनिष्ठ ब्रह्माण्ड हमारे लिये वस्तुनिष्ठ ब्रह्माण्ड से अधिक अपरिचित नहीं है। दोनों क्षेत्रों की संघटना की हमें एक अनुरूप कल्पना करनी होगी; और इससे चेतना के एक ऐसे विज्ञान का श्रीगणेश हो जाता है, जिसका क्षेत्र मात्र पार्थिव से बहुत अधिक व्यापक होगा।"

पार्थिव प्राकृतिक विज्ञान में यदि कुछ भद्दी भूलें भी हो जायें, तो उनका उस व्यक्ति के लिये क्या महत्व है, जिसकी जेब में संवेदनाओं के विश्व की कुंजी पड़ी हुई है? Allons donc!*

---

* जाने दो! —सं०

९

नैतिकता श्रौर क़ानून। शाश्वत सत्य

चेतना के तत्वों के गहरी जड़ों वाले विज्ञान के बहाने श्री ड्यूहरिंग ने पूरे पचास पृष्ठों तक जिस तरह की उलझी हुई बातों श्रौर देवतुल्य भविष्यवाणियों, या संक्षेप में कहें, तो जिस तरह की सरासर **वाहियात बातों** के गड़बड़झाले से पाठकों का मनोरंजन किया है, उसके उदाहरण हम यहां नहीं देंगे। हम केवल एक वाक्य उद्धृत करेंगे:

"जो कोई केवल भाषा के माध्यम से ही सोच सकता है, उसने श्रभी **श्रमूर्त** एवं **विशुद्ध** चिन्तन का श्रर्थ नहीं सीखा है।"

इस श्राधार पर तो पशु सबसे श्रधिक श्रमूर्त तथा विशुद्ध ढंग से चिन्तन करनेवाले विचारक हैं, क्योंकि उनके विचारों पर भाषा के श्रनधिकृत हस्तक्षेप से कभी किसी प्रकार का पर्दा नहीं पड़ने पाता। बहरहाल ड्यूहरिंगीय विचारों से श्रौर इन् विचारों की भाषा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये विचार किसी भी भाषा के लिये कितने कम उपयुक्त हैं श्रौर जर्मन भाषा इन विचारों के लिये कितनी कम उपयुक्त है।

श्राख़िर चौथे भाग में हमें छुटकारा मिल जाता है। हर चीज़ को पानी बना देनेवाले शब्दालंकारों के श्रतिरिक्त उसमें कम से कम जहां-तहां **नैतिकता** श्रौर **क़ानून** के विषय में कुछ ठोस सामग्री भी मिल जाती है। इस श्रवसर पर श्रारम्भ में ही हमसे श्रन्य श्राकाश पिण्डों की यात्रा करने के लिये कहा जाता है:

नैतिकता के तत्व "उन सभी मानवेतर प्राणियों में समनुरूप रीति से मिलने चाहिये, जिनकी सक्रिय बुद्धि को नैसर्गिक प्रवृत्तियों के रूप में जीवन के श्रावेगों की सचेतन ढंग से व्यवस्था करनी पड़ती है... फिर भी ऐसे निष्कर्षों में हमारी दिलचस्पी कम होगी ... तथापि जब हम यह सोचते

हैं कि अन्य आकाश पिण्डों पर व्यक्तिगत तथा सामुदायिक जीवन अनिवार्यतः ऐसी परियोजना पर आधारित होना चाहिये, जो ... बुद्धिसंगत ढंग से काम करनेवाले प्राणी की सामान्य मूलभूत संरचना को दूर करने या उससे बच सकने में असमर्थ होती है, तब यह विचार हमारी दृष्टि के क्षेत्र का **हितकारी ढंग से विस्तार कर देता है"।**

ब्रह्माण्ड में जितने प्रकार के संसार संभव हैं, उन सबके लिये ड्यूहरिंगीय सत्यों की मान्यता यहां एक अपवाद के रूप में सम्बन्धित अध्याय के अन्त के बजाय एकदम आरम्भ में ही रख दी गयी है। और इसका एक यथेष्ट कारण भी है। यदि नैतिकता और न्याय की ड्यूहरिंगीय अवधारणाओं की पहले सभी **संसारों** के लिये सप्रमाणता स्थापित कर दी जाये, तो फिर उनकी सप्रमाणता का सभी **कालों तक** हितकारी ढंग से विस्तार कर देना और भी आसान हो जाता है। लेकिन एक बार फिर यहां जिसकी चर्चा हो रही है, वह अन्तिम एवं परम सत्य से कम नहीं है।

"सामान्य ज्ञान के जगत् की भांति ही," नैतिकता के जगत् के भी "अपने स्थायी सिद्धान्त और साधारण तत्व" होते हैं। नैतिक सिद्धान्त "इतिहास के और साथ ही जातीय लक्षणों के वर्तमान भेदों के ऊपर" होते हैं... "जिन विशिष्ट सत्यों में से विकास के दौरान एक अधिक पूर्ण नैतिक चेतना तथा मानो एक अधिक पूर्ण नैतिक अन्तःकरण का निर्माण हो जाता है, वे, जिस हद तक उनके अन्तिम आधारों की समझ पैदा होती है, उस हद तक गणित के प्रमेयों और अनुप्रयोगों जैसी सप्रमाणता और प्रसार का दावा कर सकते हैं। **सच्चे सत्य सर्वथा अपरिवर्तनीय होते हैं...** चुनांचे यह सोचना सरासर मूर्खता है कि ज्ञान की यथार्थता कोई ऐसी चीज़ है, जिसपर समय का और वास्तविकता के परिवर्तनों का कोई प्रभाव पड़ सकता है।" अतः जिस समय हमारी सूझ काम करती है, उस समय सम्यक ज्ञान की असन्दिग्धता और साधारण संज्ञान की पर्याप्तता ज्ञान के सिद्धान्तों की निरपेक्ष सप्रमाणता के विषय में किसी प्रकार के सन्देह की अनुमति नहीं देती। "यहां तक कि निरन्तर सन्देह करना भी दुर्बलता की रुग्णावस्था का परिचायक होता है और उसके द्वारा केवल **भयानक विचार विभ्रम** ही प्रकट होता है, जो कभी-कभी अपनी **अवस्तुता** की सुनियोजित चेतना के रूप में किसी स्थिर वस्तु का आकार प्राप्त करने

की चेष्टा करता है। नैतिकता के क्षेत्र में रीति-रिवाजों की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विविधता का सहारा लेकर सामान्य सिद्धान्तों के अस्तित्व से इनकार कर दिया जाता है और जब एक बार नैतिक पाप तथा अधर्म की अपरिहार्य आवश्यकता को स्वीकार कर लिया जाता है, तब सुसंगत नैतिक आवेगों के महान् महत्व तथा वास्तविक कार्यक्षमता को स्वीकार करने की उतनी ही कम आवश्यकता रह जाती है। यह **कटु संशयवाद,** जो किन्हीं ख़ास झूठे सिद्धान्तों का विरोध नहीं करता, बल्कि सचेतन नैतिकता का विकास करने की मानवजाति की सामर्थ्य पर ही चोट करता है—यह अन्त में एक सच्ची अवस्तु में, और सच पूछिये तो एक ऐसी चीज़ में परिणत हो जाता है, जो शुद्ध शून्यवाद से भी ख़राब होती है... उसे यह ग़लतफ़हमी है कि नैतिकता सम्बन्धी विखण्डित विचारों की अपनी **चरम अव्यवस्था** के भीतर वह आसानी से हावी हो सकता है और सिद्धान्तहीन स्वेच्छाचारिता के लिये द्वार खोल सकता है। लेकिन वह बहुत बड़ी ग़लती कर रहा है, क्योंकि केवल भ्रान्ति एवं सत्य के सम्बन्ध में बुद्धि की अपरिहार्य नियति का हवाला देने से ही, मात्र इस सादृश्य के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग़लती करने की स्वाभाविक संभावना से यथार्थता की प्राप्ति का द्वार आवश्यक रूप से बन्द नहीं हो जाता।"

अन्तिम एवं परम सत्यों, चिन्तन की परम सत्ता, ज्ञान प्राप्ति की निरपेक्ष असन्दिग्धता और इसी प्रकार की अन्य अनेक बातों के बारे में श्री ड्यूहरिंग के इन आडम्बरपूर्ण वाक्यांशों को अभी तक हम केवल इसीलिये धैर्यपूर्वक सुनते रहे हैं कि जिस बिन्दु पर हम अब पहुंचे हैं, सिर्फ़ उसपर पहुंचकर ही इस मामले से सचमुच निपटा जा सकता है। अभी तक केवल इस प्रश्न पर विचार करना ही पर्याप्त था कि वास्तविकता के दर्शनशास्त्र की अलग-अलग प्रस्थापनाओं को किस हद तक "परम सप्रमाणता" तथा "निर्विवाद रूप से सत्य माने जाने का अधिकार" प्राप्त है। अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि क्या मानव ज्ञान प्राप्ति की किसी भी उपज को कभी परम सप्रमाणता तथा निर्विवाद रूप से सत्य माने जाने का अधिकार प्राप्त हो सकता है, और यदि हो सकता है, तो किस उपज को।

जब मैं **मानव** ज्ञान प्राप्ति की उपज कहता हूं, तो मैं अन्य आकाश

पिण्डों के निवासियों का, जिनका परिचय प्राप्त करने का सम्मान मुझे नहीं मिला है, अपमान करने के उद्देश्य से इस विशेषण का उपयोग नहीं करता। इस विशेषण का मैं केवल इसलिये प्रयोग करता हूं कि ज्ञान प्राप्ति जानवरों को भी होती है, हालांकि वह परम ज्ञान प्राप्ति कदापि नहीं होती। कुत्ता अपने स्वामी को अपना ईश्वर समझता है, हालांकि मुमकिन है कि यह आदमी पृथ्वी का सबसे बड़ा बदमाश हो।

क्या मानव चिन्तन परम सत्तासम्पन्न होता है? इस प्रश्न का "हां" या "नहीं" में उत्तर दे सकने के पहले हमें यह पूछना पड़ेगा कि मानव चिन्तन का क्या अर्थ है? क्या वह एक मनुष्य का व्यक्तिगत चिन्तन है? नहीं। लेकिन वह भूत, वर्तमान और भविष्य काल के अरबों मनुष्यों के केवल व्यक्तिगत चिन्तन के रूप में ही पाया जाता है। इसलिये यदि मानव चिन्तन के मेरे विचार में भविष्य में पैदा होनेवाले मनुष्यों सहित इन तमाम मनुष्यों का कुल चिन्तन शामिल है, और यदि मैं यह कहता हूं कि यह कुल चिन्तन **परम सत्तासम्पन्न** है, अर्थात् संसार जैसा है, उसको यह चिन्तन जान सकता है, बशर्ते कि मानवजाति काफ़ी समय तक जीवित रहे और उसकी ज्ञानेन्द्रियों के कारण या जिन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना है, उनके कारण मानवजाति की ज्ञान प्राप्ति पर कोई सीमा न लग जाये, तो मैं एक ऐसी बात कह रहा हूं, जो काफ़ी तुच्छ और इसके अलावा काफ़ी निरर्थक भी है। कारण कि इसका जो सबसे अधिक मूल्यवान फल निकलेगा, वह यह कि हम अपने वर्तमान ज्ञान में अत्यधिक सन्देह करने लग जायेंगे, क्योंकि सम्भवतया हम अभी मानव इतिहास के केवल प्रारम्भिक काल में ही हैं और पिछली जिन पीढ़ियों के ज्ञान को सही करने का—और बहुधा काफ़ी अनादर के साथ सही करने का—हमें अवसर मिला है, उनकी तुलना में सम्भवतया उन पीढ़ियों की संख्या कहीं अधिक बड़ी होगी, जो हमारी ग़लतियों को सही करेंगी।

श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद यह घोषणा की है कि चेतना और इसलिये चिन्तन तथा ज्ञान भी अनिवार्यतः केवल बहुत-से अलग-अलग व्यक्तियों में ही प्रकट हो सकते हैं। इन तमाम व्यक्तियों में से हरेक के चिन्तन को

हम केवल उसी हद तक परम सत्तासम्पन्न मान सकते हैं, जिस हद तक कि हमें किसी ऐसी शक्ति की जानकारी नहीं है, जो ऐसे समय पर जबकि यह व्यक्ति पूर्ण जाग्रतावस्था में हो और उसका मस्तिष्क बिल्कुल सही हालत में हो, उसपर ज़बर्दस्ती कोई विचार थोप देने की सामर्थ्य रखती हो। जहां तक प्रत्येक अलग-अलग व्यक्ति के चिन्तन द्वारा उपार्जित ज्ञान की परम सप्रमाणता का सम्बन्ध है, हम सब जानते हैं कि ऐसी कोई बात नहीं है, और पिछला सारा अनुभव यह बताता है कि बिना किसी अपवाद के ऐसे समस्त ज्ञान में उन बातों की अपेक्षा जो सही होती हैं या जिनमें कोई सुधार नहीं किया जा सकता है, वैसी बातें कहीं अधिक होती हैं, जिनमें बहुत कुछ सुधार किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में चिन्तन की परम सत्ता बहुत-से अत्यन्त परम सत्ताहीन ढंग से सोचनेवाले मनुष्यों में मूर्त रूप प्राप्त करती है। वह ज्ञान, जिसे निर्विवाद रूप से सत्य माने जाने का अधिकार प्राप्त है, बहुत-सी सापेक्ष भूलों में मूर्त रूप प्राप्त करता है। और मानव अस्तित्व की अनन्त अवधि के अभाव में न तो यह पूर्णतया मूर्त रूप प्राप्त कर सकता है और न चिन्तन की परम सत्ता।

यहां एक बार फिर हम उसी प्रकार का अंतर्विरोध पाते हैं, जिस प्रकार के अंतर्विरोध से हमारी ऊपर भेंट हुई थी। मानव चिन्तन के स्वरूप की हमारी परिकल्पना आवश्यक रूप से निरपेक्ष है, पर यह परिकल्पना वास्तविकता प्राप्त करती है बहुत-से अलग-अलग मनुष्यों में, जो सब के सब केवल सीमित ढंग से ही सोच सकते हैं। यह एक ऐसा अंतर्विरोध है, जो केवल अनन्त प्रगति के दौरान ही हल हो सकता है। यह अंतर्विरोध केवल मानवजाति की असंख्य पीढ़ियों के—कम से कम व्यावहारिक दृष्टि से—एक अन्तहीन क्रम में ही हल हो सकता है। इस अर्थ में मानव चिन्तन जितना परम सत्तासम्पन्न है, ठीक उतना ही परम सत्ताहीन भी है और ज्ञान प्राप्त करने की उसकी सामर्थ्य जितनी असीम है, ठीक उतनी ही सीमित भी है। जहां तक मानव चिन्तन की प्रकृति, उसकी प्रवृत्ति, उसकी सम्भावनाओं तथा उसके अन्तिम ऐतिहासिक लक्ष्य का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न तथा असीम है। जहां तक उसके व्यक्तिगत मूर्त रूपों तथा

किसी भी विशिष्ट क्षण में उसकी वास्तविकता का सम्बन्ध है, वह परम सत्तासम्पन्न नहीं है और सीमित है।

शाश्वत सत्यों के बारे में भी ठीक यही बात सच है। यदि मानवजाति कभी ऐसी अवस्था में पहुंचती है, जहां वह केवल शाश्वत सत्यों का, अर्थात् परम सप्रमाणता प्राप्त तथा निर्विवाद रूप से सत्य माने जाने का अधिकार रखनेवाले मानव चिन्तन के निष्कर्षों का ही प्रयोग किया करेगी, तब वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जायेगी, जहां बौद्धिक जगत् का अनन्तत्व अपनी वास्तविकता तथा अपनी सम्भावनाओं दोनों के दृष्टिकोण से निःशेष हो चुका होगा और इस प्रकार अगणनीय की गिनती का वह प्रसिद्ध चमत्कार कार्यान्वित हो गया होगा।

लेकिन इस सबके बावजूद क्या कोई ऐसे सत्य हैं, जिनका आधार इतना दृढ़ हो कि उनके विषय में लेश मात्र सन्देह करना हमें पागलपन प्रतीत होता हो? जैसे दो दूना चार होते हैं; या जैसे किसी भी त्रिकोण के तीनों कोण दो समकोणों के बराबर होते हैं; या जैसे पेरिस फ़्रांस में है; अथवा जैसे जिस आदमी को भोजन नहीं मिलता, वह भूख से मर जाता है, इत्यादि, इत्यादि? अतः क्या ऊपर कही गयी तमाम बातों के बावजूद कोई **शाश्वत** सत्य, अन्तिम तथा परम सत्य होते हैं?

निश्चय ही कुछ ऐसे सत्य हैं। ज्ञान के समस्त भण्डार को हम परम्परागत ढंग से तीन विभागों में बांट सकते हैं। पहले विभाग में विज्ञान की वे शाखाएं शामिल हैं, जो निर्जीव प्रकृति का अध्ययन करती हैं और जिनका न्यूनाधिक मात्रा में गणितीय विवेचन किया जा सकता है। जैसे गणित, खगोल विज्ञान, यांत्रिकी, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान। यदि बहुत सरल-सी वस्तुओं को बहुत भारी-भरकम नाम देने से किसी आदमी को आनन्द मिलता हो, तो यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की इन शाखाओं द्वारा उपार्जित **कुछ ख़ास** परिणाम शाश्वत सत्य, अन्तिम एवं परम सत्य होते हैं। इसी कारण विज्ञान की इन शाखाओं को **तथ्य** विज्ञान कहा जाता है। लेकिन उनके सभी परिणामों को यह सप्रमाणता प्राप्त नहीं है। जब से चर परिमाणों का प्रयोग होने लगा है और उनकी विचरणशीलता का अतिमहत् और अत्यणु तक विस्तार हो गया है, तब

से गणित जिसका आचरण साधारणतया अत्यधिक नीतिसंगत हुआ करता था, ईश्वर की दया से वंचित हो गया है। उसने ज्ञान प्राप्ति के वृक्ष का फल चख लिया है, जिससे एक ओर तो उसके सामने विराट उपलब्धियों के द्वार खुल गये हैं, किन्तु उसके साथ-साथ दूसरी ओर भूलों का मार्ग भी खुल गया है। निरपेक्ष सप्रमाणता और गणित की प्रत्येक बात की अकाट्य प्रामाणिकता की अछूती अवस्था का सदा के लिये अन्त हो गया है; वाद-प्रतिवाद का युग आरम्भ हो गया है; और हम उस बिन्दु पर पहुंच गये हैं, जहां अधिकतर लोग अवकलन और अनुकलन करते हैं, तो इसलिये नहीं कि वे यह जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं, बल्कि विशुद्ध श्रद्धा के वश होकर करते हैं, क्योंकि अभी तक इन क्रियाओं के सदा सही नतीजे निकले हैं। खगोल विज्ञान और यांत्रिकी की हालत और भी ख़राब है और भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान को परिकल्पनाओं ने इस तरह घेर रखा है, जैसे मधुमक्खियों का झुण्ड टूट पड़ा हो। और यह होना अनिवार्य है। भौतिक विज्ञान में हम अणुओं की गति का अध्ययन करते हैं, रसायन विज्ञान में हम परमाणुओं से अणुओं के निर्माण का अध्ययन करते हैं और यदि प्रकाश की तरंगों के व्यतिक्रमण की बात कोरी कल्पना नहीं है, तो हमारे लिये इन मनोरंजक वस्तुओं को ख़ुद अपनी आंखों से देख पाने की तनिक भी सम्भावना नहीं है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे इस क्षेत्र में अन्तिम एवं परम सत्य बहुत ही दुर्लभ बनते जाते हैं।

भूगर्भ विज्ञान में स्थिति और भी ख़राब है। इस शाखा का चरित्र ही ऐसा है कि उसे मुख्यतया उन प्रक्रियाओं का अध्ययन करना पड़ता है, जो न केवल हमारी अनुपस्थिति में हुई थीं, बल्कि जब कोई भी मनुष्य उपस्थित नहीं था। अतः इस क्षेत्र में अन्तिम एवं परम सत्यों को खोजकर निकालना बहुत ही कठिन कार्य है और इस कार्य में बहुत ही कम सफलता मिलती है।

विज्ञान का दूसरा विभाग वह है, जिसमें जीवों का अन्वेषण आ जाता है। इस क्षेत्र में अन्तर्सम्बन्धों और कारणताओं का ऐसा बाहुल्य है कि न केवल प्रत्येक प्रश्न को हल करते ही अनेक अन्य प्रश्न उठ खड़े होते हैं,

बल्कि बहुधा हर अलग-अलग समस्या को केवल थोड़ा-थोड़ा करके और अनेक अन्वेषणों के एक पूरे क्रम के द्वारा ही हल किया जा सकता है, जिसमें अक्सर कई शताब्दियां लग जाती हैं। इसके अलावा अन्तर्सम्बन्धों को सुनियोजित ढंग से पेश करने के लिये बार-बार यह ज़रूरी होता है कि अन्तिम एवं परम सत्यों को नाना प्रकार की अनेक परिकल्पनाओं से घेर दिया जाये। स्तनधारियों में रक्त परिसंचरण जैसी सरल बात की सही-सही स्थापना करने के लिये गालेन से माल्पीगी तक मध्यवर्ती वैज्ञानिकों के कितने लम्बे क्रम की आवश्यकता हुई थी! रक्त कणिकाओं के मूल का हमें कितना कम ज्ञान है! और उदाहरण के लिये किसी रोग के लक्षणों का उसके कारणों के साथ कोई बुद्धिसंगत सम्बन्ध स्थापित कर सकने के लिये आज भी हमारे पास बीच की कितनी सारी कड़ियों का अभाव है! और अक्सर ही ऐसी खोजें – जैसे कोशिका की खोज – होती रहती हैं, जो हमें जीव विज्ञान के क्षेत्र में लगभग सभी पूर्वस्थापित अन्तिम एवं परम सत्यों का पूरी तरह संशोधन करने के लिये तथा उनमें से अनेक को एक बार सदा के लिये कूड़े के ढेर पर फेंक देने के लिये विवश कर देती हैं। इसलिये जो कोई इस क्षेत्र में सचमुच यथार्थ एवं अपरिवर्तनीय सत्यों की स्थापना करना चाहता है, उसे केवल ऐसी पिटी-पिटाई बातों से ही संतोष करना होगा, जैसे सब मनुष्य मरणाधीन हैं, सभी मादा स्तनधारियों के पास दुग्ध ग्रंथियां होती हैं, या इसी तरह की अन्य बातें। यहां तक कि वह दावे के साथ यह भी नहीं कह सकेगा कि उच्च स्तर के जन्तु अपने आमाशय तथा आन्त्रों के द्वारा पाचन क्रिया सम्पन्न करते हैं, न कि अपने सिर के द्वारा। कारण कि सिर में केंद्रित तंत्रिका क्रियाशीलता पाचन के लिये अनिवार्य होती है।

लेकिन तीसरे विभाग में, अर्थात् विज्ञान की ऐतिहासिक शाखाओं में तो शाश्वत सत्यों की हालत इससे भी अधिक ख़राब है। ये शाखाएं जिन विषयों का, उनके ऐतिहासिक अनुक्रम में तथा उनकी वर्तमान परिणामिक स्थिति में अध्ययन करती हैं, वे हैं मानव जीवन की परिस्थितियां, सामाजिक सम्बन्ध, क़ानून तथा सरकार के रूप तथा दर्शनशास्त्र, धर्म, कला, आदि की शक्ल में उनका वैचारिक ऊपरी ढांचा। जैव प्रकृति में

हम कम से कम उन प्रक्रियाओं के क्रम का अध्ययन करते हैं, जो जहां तक हमारे तात्कालिक पर्यवेक्षण का सम्बन्ध है, बहुत व्यापक ढंग की सीमाओं के भीतर काफ़ी नियमितता के साथ बार-बार होती रहती हैं। जैव जातियों में मोटे तौर पर अरस्तू के समय से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु सामाजिक इतिहास में जब हम एक बार मनुष्य की आदिम अवस्था से, या तथाकथित पाषाण युग से आगे बढ़ जाते हैं, तो परिस्थितियों की पुनरावृत्ति नियम के रूप में नहीं, बल्कि अपवाद के रूप में होती है और जब कभी इस प्रकार की कोई पुनरावृत्ति होती भी है, तो वह हूबहू पहले जैसे हालात में कभी नहीं होती। सभी सभ्य जातियों में आरम्भ में भूमि के सामूहिक स्वामित्व का पाया जाना तथा जिस तरह इस स्वामित्व का विसर्जन हुआ, ये दोनों बातें इस प्रकार की पुनरावृत्ति की मिसालें हैं। अतः मानव इतिहास के क्षेत्र में हमारा ज्ञान जीव विज्ञान के क्षेत्र के हमारे ज्ञान से भी अधिक पिछड़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त जब कभी अपवाद के रूप में किसी युग के जीवन के सामाजिक तथा राजनीतिक रूपों के बीच पाये जानेवाले आन्तरिक सम्बन्ध का पता लगता भी है, तो यह सामान्यतया केवल ऐसे समय होता है, जब इन रूपों का आधा जीवन समाप्त हो चुका होता है और जब वे विलुप्त होने के निकट पहुंचनेवाले होते हैं। इसलिये इस क्षेत्र में ज्ञान प्राप्ति मूलतया सापेक्ष होती है, क्योंकि वह कुछ ऐसे सामाजिक तथा राजकीय रूपों के अन्तर्सम्बन्धों और परिणामों की छानबीन करती है, जो केवल एक ख़ास युग में और ख़ास लोगों में ही पाये जाते हैं और जो अपने चरित्र से ही अस्थायी होते हैं। इसलिये जो कोई भी इस क्षेत्र में अन्तिम एवं परम सत्यों की, यथार्थ तथा सर्वथा अपरिवर्तनीय सत्यों की खोज करने के लिये निकलता है, वह कुछ बहुत ही निम्न स्तर की पिटी-पिटायी और तुच्छ बातों के सिवा और कुछ हाथ में लेकर नहीं लौटेगा। कुछ इस तरह की बातें ही उसके हाथ लगेंगी, जैसे मिसाल के लिये, यह बात कि आम तौर पर मनुष्य श्रम के बिना जीवित नहीं रह सकते; या यह कि अभी तक प्रायः मनुष्य शासकों और शासितों में बंटे रहे हैं; या यह कि नेपोलियन की ५ मई, १८२१ को मृत्यु हुई थी, इत्यादि, इत्यादि।

अब यह एक बहुत उल्लेखनीय बात है कि सबसे अधिक हमारी ठीक इसी क्षेत्र में उन सत्यों से भेंट होती है, जो शाश्वत, अन्तिम एवं परम, आदि, आदि होने का दावा करते हैं। इस तरह की बातों को, जैसे यह कि दो दूना चार होते हैं, या पक्षियों के चोंच होती है, इत्यादि, केवल वे ही लोग शाश्वत सत्य घोषित करते हैं, जो शाश्वत सत्यों के सामान्य अस्तित्व से यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि मानव इतिहास के क्षेत्र में भी शाश्वत सत्य होते हैं–जैसे शाश्वत नैतिकता, शाश्वत न्याय, आदि, आदि–जिनको उसी प्रकार की मान्यता तथा उतना ही विशाल क्षेत्र प्राप्त होता है, जैसी मान्यता और जितना विशाल क्षेत्र गणित के प्रमेयों तथा अनुप्रयोगों को प्राप्त है। और फिर हम पूरे भरोसे के साथ यह आशा कर सकते हैं कि मानवता का यह मित्र पहला अवसर मिलते ही हमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश करेगा कि उसके पहले जितने शाश्वत सत्यों के गढ़नेवाले हुए हैं, वे सब न्यूनाधिक रूप में गधे और ठगबैद थे और वे सब गुमराह हो गये थे और उन सबने ग़लतियां की थीं; लेकिन **उनकी** ग़लतियां और **उनकी** ग़लती करने की प्रवृत्ति प्रकृति के नियमों के अनुरूप थी और उनसे केवल यही सिद्ध होता है कि अब **इस विशिष्ट व्यक्ति के पास** सत्य और यथार्थ बातें हैं और उसके रूप में जो पैग़म्बर जनमा है, वह अन्तिम एवं परम सत्य, शाश्वत नैतिकता और शाश्वत न्याय सब कुछ बने-बनाये तैयार अपनी झोली में लेकर आया है। और यह बात अब तक सैकड़ों और हज़ारों बार हो चुकी है और हमें यह देखकर केवल आश्चर्य ही हो सकता है कि इसके बाद भी कुछ ऐसे श्रद्धालु लोग मिल जाते हैं, जो औरों के बारे में तो नहीं, पर अपने बारे में फिर यह सब विश्वास करने को तैयार हो जाते हैं। बहरहाल यहां फिर कम से कम एक और इसी तरह का पैग़म्बर हमारे सामने मौजूद है और जब कभी दूसरे लोग यह कहते हैं कि कोई भी एक व्यक्ति अन्तिम एवं परम सत्य की खोज नहीं कर सकता, तब इस तरह के तमाम पैग़म्बरों की आदत के अनुसार यह पैग़म्बर भी अत्यन्त नैतिक ढंग के क्रोध से एकदम आग-बबूला हो जाता है। इस बात की अस्वीकृति, या सच पूछिये तो इस तरह का कोई ज़रा-सा सन्देह प्रकट करना भी कमज़ोरी, भयानक

मतिविभ्रम, शून्यता और कटु संशयवाद का, विशुद्ध शून्यवाद से भी ख़राब किसी चीज़ का, सम्पूर्ण अव्यवस्था का और इसी तरह की अन्य बहुत-सी मनोरंजक बातों का परिचायक है। दूसरे तमाम पैग़म्बरों की तरह इस पैग़म्बर के यहां भी आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक परीक्षण और निर्णय के स्थान पर हमें तुरन्त ही नैतिक निन्दा सुनने को मिलने लगती है।

हम ऊपर विज्ञान की उन शाखाओं का भी ज़िक्र कर सकते थे, जो मानव चिन्तन के नियमों की खोज करती हैं; अर्थात् तर्कशास्त्र तथा द्वन्द्ववाद। किन्तु इन शाखाओं में भी शाश्वत सत्यों की हालत कुछ बेहतर नहीं है। श्री ड्यूहरिंग ने कहा है कि जिसे सचमुच द्वन्द्ववाद कहा जा सकता है, वह विशुद्ध बकवास है; और तर्कशास्त्र पर जो बहुत-सी पुस्तकें लिखी गयी हैं और अब भी लिखी जा रही हैं, उनसे यह बात स्पष्टतया प्रमाणित हो जाती है कि इस क्षेत्र में भी, कुछ लोग जितना समझते हैं, उससे बहुत कम अन्तिम एवं परम सत्य बोये जाते हैं।

जहां तक इस बात का सम्बन्ध है, हमें यह देखकर ज़रा भी घबराने की ज़रूरत नहीं है कि हम आज ज्ञान की जिस अवस्था तक पहुंच पाये हैं, वह भी पहले ही की अवस्थाओं की भांति अन्तिम नहीं है। इस ज्ञान में आज भी निर्णयों की एक अतिविशाल राशि सम्मिलित है और जो कोई भी आज किसी ख़ास विज्ञान की जानकारी हासिल करना चाहता है, उसे बहुत अधिक विशेषीकृत अध्ययन करना पड़ता है। लेकिन उस ज्ञान पर, जो अपने चरित्रवश या तो अभी अनेक पीढ़ियों तक सापेक्ष बना रहेगा और केवल एक-एक पग करके ही सम्पूरित होगा, या जगत् सृष्टि, भूगर्भ विज्ञान तथा मानव इतिहास की तरह जिसकी कुछ बीच की कड़ियां पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण सदा अज्ञात रहेंगी और जो इस कारण हमेशा अपूर्ण बना रहेगा — उस ज्ञान पर जो आदमी यथार्थ, अपरिवर्तनीय, अन्तिम एवं परम सत्य के मापदण्ड को लागू करता है, वह इस तरह केवल अपने अज्ञान तथा अपनी कुटिलता को ही प्रमाणित कर देता है। भले ही इस सब के पीछे असल बात व्यक्तिगत अभ्रान्तिशीलता का दावा ही क्यों न हो, जैसा कि इस स्थिति में पाया जाता है। पूर्ण रूप से विरोधी दिशाओं में चलनेवाली सभी वैचारिक अवधारणाओं की तरह

सत्य और भ्रान्ति को भी केवल एक बहुत ही सीमित क्षेत्र में निरपेक्ष मान्यता प्राप्त होती है, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं और जैसा कि श्री ड्यूहरिंग भी समझ पाते, यदि उनकी द्वन्द्ववाद के उन प्राथमिक तत्वों से थोड़ी बहुत भी जानकारी होती, जो सही तौर पर ध्रुवीय विरोधों की अपर्याप्तता पर ही रोशनी डालते हैं। ऊपर जिस संकुचित क्षेत्र का ज़िक्र किया गया है, जब कभी हम उसके बाहर सत्य और भ्रान्ति के विरोध का प्रयोग करते हैं, तब हमेशा यह विरोध सापेक्ष बन जाता है और इसलिये यथार्थ वैज्ञानिक विवेचन के लिये अनुपयोगी हो जाता है। और यदि हम इस विरोध का उपर्युक्त क्षेत्र के बाहर भी निरपेक्ष रूप से मान्य विरोध के रूप में प्रयोग करने की कोशिश करते हैं, तो हम एकदम मुंह की खाते हैं; वैसा करने पर विरोध के दोनों ध्रुव अपने-अपने प्रतिपक्षी में बदल जाते हैं—सत्य भ्रान्ति बन जाता है और भ्रान्ति सत्य में रूपान्तरित हो जाती है। मिसाल के लिये बौयल के सुप्रसिद्ध नियम को ही लीजिये। उसके अनुसार, यदि ताप स्थिर रहे, तो किसी भी गैस का आयतन उसपर प्रभाव डालनेवाली दाब के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। रेन्यो ने पता लगाया कि कुछ ख़ास सूरतों में यह नियम काम नहीं करता। यदि वह भी वास्तविकता का दार्शनिक होता, तो उसे कहना पड़ता कि बौयल का नियम परिवर्तनशील है, इसलिये वह यथार्थ सत्य नहीं है, और इस कारण वह सत्य ही नहीं है और इस कारण वह भ्रान्ति है। लेकिन यदि उसने यह कहा होता, तो बौयल के नियम में जितनी ग़लती है, वह उससे कहीं अधिक बड़ी ग़लती करने का अपराधी होता। उसके सत्य का एक दाना भ्रान्तियों के एक पूरे ढेर में खो जाता। वह शुरू में जिस सही निष्कर्ष पर पहुंचा था, उसे वह अपने इस कथन से एक ऐसी भ्रान्ति में बदल देता, जिसकी तुलना में बौयल का नियम, मय उसके साथ चिपकी हुई उस छोटी-सी भ्रान्ति के, सत्य के समान प्रतीत होता। लेकिन रेन्यो वैज्ञानिक था। उसने इस तरह का बचपना नहीं किया, बल्कि अपनी खोज को जारी रखा और पता लगाया कि सामान्यतया बौयल का नियम केवल मोटे तौर पर ही सत्य होता है और विशेषकर वह उन गैसों पर लागू नहीं होता, जिनका दाब के द्वारा द्रवण किया जा सकता है; अर्थात्

जैसे ही दाब उस बिन्दु पर पहुंचती है, जहां द्रवण आरम्भ हो जाता है, वैसे ही बौयल के नियम की मान्यता समाप्त हो जाती है। इसलिये प्रमाणित हो गया कि बौयल का नियम केवल कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर ही सत्य है। परन्तु क्या वह इन सीमाओं के भीतर भी निरपेक्ष और अन्तिम रूप से सत्य है? कोई भौतिकीविज्ञ यह दावा नहीं करेगा। वह कहेगा कि यह नियम दाब तथा ताप की कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर और कुछ ख़ास गैसों के लिये सत्य है; और इन अपेक्षाकृत अधिक संकुचित सीमाओं के भीतर भी वह इस संभावना से इनकार नहीं करेगा कि हो सकता है कि भावी खोज के परिणामस्वरूप इस नियम पर और भी अधिक संकीर्ण सीमाएं लग जायें या उसकी स्थापना का रूप बदल जाये।* उदाहरण के लिये भौतिक विज्ञान में अन्तिम एवं परम सत्यों की यह स्थिति है। अतः जो सचमुच वैज्ञानिक कृतियां होती हैं, उनमें सामान्य रूप से सत्य और भ्रान्ति जैसी रूढ़िवादी ढंग की नैतिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया जाता, जबकि वास्तविकता के दर्शनशास्त्र जैसी रचनाओं में

---

*जिस समय मैंने उपर्युक्त अंश लिखा था, तब से अब तक जो कुछ हुआ है, उससे लगता है कि इस अंश की पुष्टि हो गयी है। ज़्यादा अच्छे उपकरणों की सहायता से मेन्देलेयेव तथा बोगुस्की[51] ने जो नवीनतम अन्वेषण कार्य किया है, उससे पता चला है कि सभी सच्ची गैसों में दाब तथा आयतन के बीच एक चर सम्बन्ध पाया जाता है। हाइड्रोजन पर अभी तक जितने प्रकार की दाबें डाली जा चुकी हैं, उनमें से सभी दाबों पर उसके विस्तार का गुणांक धनात्मक रहा है (अर्थात् दाब की वृद्धि की अपेक्षा आयतन में अधिक धीमी गति से कमी आयी है)। वायुमण्डल की हवा के लिये तथा जिन अन्य गैसों का परीक्षण किया गया, उनके लिये दाब का एक शून्यांक होता है। जब तक दाब इस बिन्दु के नीचे रहती है, तब तक गुणांक धनात्मक रहते हैं; और जब दाब इस बिन्दु के ऊपर चली जाती है, तब गुणांक ऋणात्मक हो जाते हैं। इस प्रकार बौयल के नियम को, जो अभी तक हमेशा व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये काम आता रहा है, अब अनेक विशेष नियमों के द्वारा अनुपूरित करना पड़ेगा। (अब – १८८५ में – हमें यह भी मालूम हो गया है कि "सच्ची" गैसें कोई नहीं होतीं। उन सब का द्रवण किया जा चुका है।) **[एंगेल्स का नोट]**

हर स्थान पर इस तरह की शब्दावली से हमारी भेंट होती है। इन रचनाओं में परम सत्तासम्पन्न चिन्तन के परम सत्तासम्पन्न निष्कर्षों के रूप में अर्थहीन शब्दाडम्बर अपने आपको हमारे ऊपर थोपने की चेष्टा करता है।

लेकिन कोई भोला पाठक प्रश्न कर सकता है कि श्री ड्यूहरिंग ने साफ़-साफ़ यह किस स्थान पर कहा है कि उनके वास्तविकता के दर्शनशास्त्र का सार अन्तिम और यहां तक कि परम सत्य है? बताइये, कहां पर उन्होंने यह बात कही है? उदाहरण के लिये वह प्रशस्ति गीत देखिये, जो उन्होंने अपनी प्रणाली की प्रशंसा में (पृष्ठ १३ पर) लिखा है और जिसको हमने अध्याय २ में उद्धृत किया था*। या ऊपर उद्धृत किये गये अंश का वह स्थान देखिये**, जहां उन्होंने कहा है: जिस हद तक नैतिक सत्यों के अन्तिम आधारों की समझ पैदा होती है, वे उस हद तक गणित के प्रमेयों जैसी सप्रमाणता का दावा कर सकते हैं। और क्या श्री ड्यूहरिंग ने यह नहीं कहा है कि अपने सचमुच आलोचनात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए तथा अपने उन अन्वेषणों के द्वारा, जो चीज़ों की जड़ों तक पैठते हैं, वह इन अन्तिम आधारों अथवा मूलभूत रेखांकनों तक पहुंचने में सफल हो गये हैं और इस प्रकार उन्होंने नैतिक सत्यों को अन्तिम एवं परम मान्यता प्रदान कर दी है? या अगर श्री ड्यूहरिंग न तो अपने लिये और न ही अपने युग के लिये यह दावा करते हैं, यदि उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका सिर्फ़ इतना ही मतलब था कि सम्भव है कि अज्ञात एवं नीहारिकावत् धुंधले भविष्य में किसी दिन अन्तिम एवं परम सत्यों का आविष्कार हो जाये, और इसलिये यदि वह लगभग वही बात कहना चाहते थे, जो "कटु संशयवाद" तथा "भयानक मति-विभ्रम" कह रहे हैं, और उसी बात को वह केवल अधिक उलझे हुए रूप में पेश करना चाहते थे, तो उस हालत में यह सब शोर किस लिये है, और तब, श्री ड्यूहरिंग, हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? [52]

और यदि सत्य और भ्रान्ति के विषय में हम कुछ ख़ास प्रगति नहीं

---

* देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ५०।–सं०

** देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १३८।–सं०

कर पाये हैं, तो पाप और पुण्य के विषय में तो हम और भी कम प्रगति कर सकते हैं। यह विरोध अनन्य रूप से नैतिकता के क्षेत्र में, अर्थात् उस क्षेत्र में व्यक्त होता है, जिसका सम्बन्ध मानवजाति के इतिहास से है और ठीक इसी क्षेत्र में सबसे कम अन्तिम एवं परम सत्य बोये जा सकते हैं। एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र तथा एक युग और दूसरे युग की पाप और पुण्य की अवधारणाओं के बीच इतना बड़ा अन्तर पाया जाता है कि अक्सर वे एक दूसरे की एकदम उल्टी होती हैं।

परन्तु इसपर कोई कह सकता है कि—हां, यह ठीक है, मगर फिर भी पुण्य पाप नहीं है और पाप पुण्य नहीं है; और यदि पाप को पुण्य के साथ गड़बड़ा दिया जायेगा, तो सारी नैतिकता ख़त्म हो जायेगी और हर आदमी मनमानी किया करेगा। यदि श्री ड्यूहरिंग की भविष्यवक्ताओं जैसी शब्दावली को हटा दिया जाये, तो उनकी भी यही राय है। लेकिन मामले को इतनी आसानी से नहीं टाला जा सकता। यदि वह इतना सहज मामला होता, तो पाप और पुण्य को लेकर निश्चय ही कोई विवाद न होता। तब तो हर आदमी को मालूम होता कि पुण्य क्या है और पाप क्या है। लेकिन आज स्थिति क्या है? आजकल हमें कौनसी नैतिकता सिखायी जाती है? पहले तो ईसाई-सामन्ती नैतिकता है, जो पुराने धार्मिक कालों से विरासत में मिली है; और यह मूलतया कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट नैतिकता में बंट गयी है, जिनमें से हरेक में जेसुइट-कैथोलिक और कट्टर-प्रोटेस्टेण्ट से लेकर ढीली-ढाली "प्रबुद्ध" नैतिकताओं तक अनेक उपविभाग पाये जाते हैं। इनके साथ-साथ हमें आधुनिक बुर्जुआ नैतिकता भी दिखाई पड़ती है और उसके पार्श्व में भविष्य की सर्वहारा की नैतिकता खड़ी हुई है, जिसके फलस्वरूप सबसे उन्नत यूरोपीय देशों को भी भूत, वर्तमान और भविष्य से नैतिक सिद्धान्तों के तीन बड़े समुदाय प्राप्त हुए हैं, जो तीनों एक ही समय में और साथ-साथ प्रचलित हैं। फिर इनमें से सच्ची नैतिकता कौनसी है? निरपेक्ष तथा अन्तिम रूप सच्ची उनमें से एक भी नहीं है। लेकिन निश्चय ही उस नैतिकता में स्थायित्व के तत्व सबसे अधिक होंगे, जो वर्तमान काल में वर्तमान की पराजय का प्रतिनिधित्व करती है, भविष्य का प्रतिनिधित्व करती है, और वह है सर्वहारा की नैतिकता।

परन्तु जब हम यह देखते हैं कि आधुनिक समाज के तीन वर्गों में से—सामन्ती अभिजात वर्ग, बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग—में से प्रत्येक की अपनी अलग नैतिकता है, तो हम केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं; वह यह कि मनुष्य, सचेतन या अचेतन रूप में, अपने नैतिकता सम्बन्धी विचार अन्तिम तौर पर उन व्यावहारिक सम्बन्धों से प्राप्त करते हैं, जिनपर उनकी वर्ग स्थिति आधारित होती है—अर्थात् उन आर्थिक सम्बन्धों से प्राप्त करते हैं, जिनके अन्तर्गत वे उत्पादन तथा विनिमय करते हैं।

लेकिन फिर भी बहुत कुछ ऐसा है, जो नैतिकता के इन तीनों सिद्धान्तों में समान रूप से पाया जाता है। क्या यह, कम से कम उस नैतिकता का एक अंश नहीं है, जो एक बार सदा के लिये निश्चित हो गयी है? नैतिकता के ये तीन सिद्धान्त एक ही ऐतिहासिक विकास की तीन अलग-अलग अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इसलिये उनकी एक समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है, और इसी एक कारण से तीनों में अनिवार्यतः बहुत कुछ समान रूप से पाया जाता है। यही नहीं। आर्थिक विकास की एक सी या लगभग एक सी अवस्थाओं के नैतिक सिद्धान्तों का न्यूनाधिक रूप में एक दूसरे के समनुरूप होना आवश्यक है। जिस क्षण चल सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का विकास हो गया, उसी क्षण से उन तमाम समाज व्यवस्थाओं को, जिनमें इस प्रकार का निजी स्वामित्व पाया जाता था, समान रूप से यह नैतिक निर्देश अंगीकार कर लेना पड़ा कि चोरी करना पाप है।[53] पर क्या इस कारण यह निर्देश एक शाश्वत नैतिक निर्देश बन जाता है? हरगिज़ नहीं। जिस समाज व्यवस्था में चोरी करने की प्रेरणा देनेवाले तमाम कारण समाप्त कर दिये गये हैं, और इसलिये जिस समाज में बहुत हुआ तो केवल पागल आदमी ही कभी चोरी करेंगे, उसमें यदि कोई नैतिकता का उपदेशक कभी गम्भीरतापूर्वक इस शाश्वत सत्य की घोषणा करने का प्रयत्न करेगा कि चोरी करना पाप है, तो ज़रा सोचिये कि लोग उसपर कितना हंसेंगे!

इसलिये जब इस बहाने से कि नैतिक जगत् के भी अपने कुछ स्थायी सिद्धान्त होते हैं, जिनपर इतिहास का तथा राष्ट्रों के बीच पाये जानेवाले

भेदों का कोई असर नहीं पड़ता, जब इस बहाने से नैतिकता सम्बन्धी किसी भी रूढ़ि को एक शाश्वत, परम एवं सदा-सदा के लिये अपरिवर्तनीय नैतिक नियम के रूप में, हमपर लादने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो हम उसका विरोध करते हैं। इसके विपरीत हमारा कहना यह है कि अभी तक नैतिकता के सारे सिद्धान्त अन्तिम विश्लेषण में समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों की उपज सिद्ध हुए हैं। और चूंकि अभी तक समाज वर्ग विरोधों के भीतर विचरण करता रहा है, इसलिये नैतिकता सदा वर्गीय नैतिकता रही है। उसके द्वारा या तो शासक वर्ग के प्रभुत्व तथा हितों का औचित्य सिद्ध किया गया है, या जब से उत्पीड़ित वर्ग काफ़ी शक्तिशाली हो गया है, तब से वह इस प्रभुत्व के ख़िलाफ़ उत्पीड़ित वर्ग के क्रोध का तथा उसके भावी हितों का प्रतिनिधित्व करने लगी है। इस क्रिया के दौरान मानव ज्ञान प्राप्ति की अन्य शाखाओं की तरह नैतिकता के क्षेत्र में भी प्रगति हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं करेगा। परन्तु अभी तक हम वर्गीय नैतिकता से आगे नहीं निकले हैं। सचमुच मानव नैतिकता, जिसपर वर्ग विरोधों का और उनकी किसी भी प्रकार की स्मृति का कोई प्रभाव नहीं होगा, समाज की केवल उसी अवस्था में सम्भव होगी, जिसमें वर्ग विरोध न केवल दूर हो गये होंगे, बल्कि व्यावहारिक जीवन में उनकी स्मृति तक बाक़ी न रही होगी। और अब इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है कि श्री ड्यूहरिंग ने पुराने वर्ग समाज के बीच खड़े होकर और सामाजिक क्रान्ति के कुछ ही समय पहले भविष्य के वर्गविहीन समाज पर काल और वास्तविकता के परिवर्तनों से स्वतंत्र रहनेवाली एक शाश्वत नैतिकता थोपने का दावा करके कितनी बड़ी धृष्टता का परिचय दिया है। यदि यह भी मान लिया जाये – हालांकि अभी तक इसका हमारे पास कोई आधार नहीं है – कि वह भविष्य के समाज की कम से कम मुख्य रूपरेखा को समझते हैं, तो भी यह दावा एक भयानक धृष्टता होगा।

अन्त में एक और देववाणी पर विचार कीजिये, जो "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक" है और जिसमें इस कारण "जड़ों तक पहुंचने में" कोई कमी नहीं आयी है:

जहां तक पाप के मूल का प्रश्न है, "यह तथ्य कि छल-कपटवाली **बिल्ली की क़िस्म** जंतु जगत् में पायी जाती है, इस तथ्य के समनुरूप है कि चरित्र का इसी प्रकार का प्रारूप मनुष्यों में भी पाया जाता है ... इसलिये पाप कोई रहस्यमयी वस्तु नहीं है; हां अगर कोई आदमी बिल्ली या किसी हिंसक जानवर के अस्तित्व में ही किसी रहस्य की गंध खोजना चाहता हो, तो बात दूसरी है"।

सो पाप – बिल्ली है। और इसलिये शैतान के सींग या चिरे हुए खुर नहीं होते, बल्कि पंजे और हरी आंखें होती हैं, और गेटे ने मफ़िस्टोफ़ेलीस को काली बिल्ली के बजाय काले कुत्ते के रूप में पेश करके[54] एक अक्षम्य अपराध किया है। पाप है – बिल्ली! यह नैतिकता न केवल सभी संसारों के लिये, बल्कि बिल्ली के लिये* भी सत्य है!

---

* जर्मन पाठ में यहां श्लेष का प्रयोग किया गया है – für die Katze (बिल्ली के लिये) का अर्थ है कोई बिल्कुल बेकार चीज़ या व्यर्थ चेष्टा। – **सं०**

१०

नैतिकता और क़ानून। समानता

श्री ड्यूहरिंग की पद्धति से परिचित होने का हमें अब तक कई बार अवसर प्राप्त हो चुका है। वह ज्ञान की विषय-वस्तुओं के प्रत्येक समूह का विच्छेदन करके उनको उनके सरलतम तत्वों में परिणत कर देते हैं और इन तत्वों पर उतने ही सरल और स्वतःस्पष्ट स्वयंसिद्ध तथ्यों को लागू करते हैं तथा इस प्रकार जो परिणाम निकलते हैं, उनकी सहायता से आगे अपना विवेचन जारी रखते हैं। यहां तक कि सामाजिक जीवन के क्षेत्र के किसी भी प्रश्न का

"स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से विशिष्ट, सरल मूल रूपों के अनुसार ठीक उसी तरह निर्णय करना पड़ता है, जैसे हम गणित के सरल ... मूल रूपों का अध्ययन कर रहे हों"।

और इस प्रकार इतिहास, नैतिकता तथा क़ानून पर गणितीय पद्धति का प्रयोग करने के फलस्वरूप हमें इन क्षेत्रों में भी प्राप्त निर्णयों के सत्य की गणितीय असन्दिग्धता मिल जाती है और हम उनको सच्चे तथा अपरिवर्तनीय सत्यों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

यह उस पुरानी प्रचलित भाववादी पद्धति का ही एक नवीन संस्करण मात्र है, जो प्रागनुभविक पद्धति के नाम से भी प्रसिद्ध है और जिसमें किसी भी वस्तु के गुणों का स्वयं उस वस्तु से नहीं, बल्कि वस्तु की धारणा से तार्किक निष्कर्ष के द्वारा पता लगाया जाता है। पहले, वस्तु से वस्तु की धारणा तैयार की जाती है; और फिर सीख़चा घुमाकर वस्तु को उसके प्रतिबिम्ब से, अर्थात् उसकी धारणा से मापा जाता है। उसके बाद वस्तु को धारणा के अनुरूप होना पड़ता है; धारणा को वस्तु के अनुरूप नहीं होना पड़ता। श्री ड्यूहरिंग जिन सरलतम तत्वों तक या जिन अन्तिम अमूर्त कल्पनाओं तक पहुंच सकते हैं, उनके यहां वे अवधारणा का काम

करती हैं। इससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कारण कि इन सरलतम तत्वों का अच्छी से अच्छी स्थिति में भी विशुद्ध धारणात्मक स्वरूप होता है। इसलिये एक बार फिर यहां यह प्रमाणित हो जाता है कि वास्तविकता का दर्शनशास्त्र कोरा भाववाद है; उसमें वास्तविकता का स्वयं वास्तविकता से नहीं, बल्कि एक धारणा से निष्कर्ष निकाला जाता है।

और जब कोई ऐसा भाववादी अपने इर्द-गिर्द रहनेवाले लोगों के वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों से नहीं, बल्कि धारणा से, अथवा "समाज" के तथाकथित सरलतम तत्वों से नैतिकता और क़ानून का निर्माण करता है, तब इस निर्माण कार्य के लिये उसको क्या सामग्री उपलब्ध होती है? स्पष्ट ही वह दो प्रकार की सामग्री होती है: एक तो वास्तविक सार का वह अल्पमात्र अवशेष, जो सम्भव है, उन अमूर्त कल्पनाओं में बाक़ी रह गया हो, जिनसे विचारक आरम्भ करता है; और दूसरे, वह सार, जो हमारा विचारक ख़ुद अपनी चेतना से एक बार फिर इन कल्पनाओं में डाल देता है। और उसे अपनी चेतना में क्या मिलता है? बहुधा कुछ नैतिकता तथा क़ानून सम्बन्धी विचार, जो उन सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों की, जिनके बीच वह निवास करता है, न्यूनाधिक यथार्थ (सकारात्मक अथवा नकारात्मक, संपोषक अथवा विरोधी) अभिव्यक्ति होते हैं। इसके अलावा शायद विषय से सम्बन्धित साहित्य से प्राप्त कुछ विचार भी उसे अपनी चेतना में मिलें। और एक अन्तिम सम्भावना के रूप में उसे वहां कुछ व्यक्तिगत विलक्षणताएं मिल सकती हैं। हमारा भाववादी चाहे जितना हाथ-पैर मारे और चाहे जितना छटपटाये, मगर उसने जिस ऐतिहासिक वास्तविकता को दरवाज़े के रास्ते बाहर उठाकर फेंक दिया था; वह खिड़की के रास्ते फिर लौट आती है। वह समझता है कि वह त्रिकाल के लिये और समस्त संसारों के लिये नैतिकता और क़ानून के सिद्धान्त का निर्माण कर रहा है; पर वास्तव में वह केवल अपने काल की रूढ़िवादी अथवा क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के प्रतिबिम्ब का ही निर्माण करता है—और यह एक विकृत प्रतिबिम्ब होता है, क्योंकि वह अपने वास्तविक आधार से कट गया होता है और अवतल दर्पण में दिखाई देनेवाले प्रतिबिम्ब की भांति सिर के बल खड़ा होता है।

इस प्रकार श्री ड्यूहरिंग समाज का विच्छेदन करके उसे उसके सरलतम तत्वों में परिणत कर देते हैं और इसके फलस्वरूप यह आविष्कार करते हैं कि समाज कम से कम **दो** व्यक्तियों का होता है। तब वह इन दो आदमियों का स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से अध्ययन करना आरम्भ करते हैं। और इस तरह स्वभावतया यह मूलभूत नैतिक स्वयंसिद्ध तथ्य सामने आता है कि

"दो मानव इच्छाएं ख़ुद एक दूसरे के **पूर्णतया समान** होती हैं और सबसे पहली बात यह है कि उनमें से कोई इच्छा दूसरी इच्छा से किसी ठोस चीज़ की मांग नहीं कर सकती"। "नैतिक न्याय के मूल रूप का" यह "विशेष लक्षण है" और यह क़ानूनी न्याय का भी लक्षण है, क्योंकि "न्याय्यता की मूलभूत धारणाओं का विकास करने के लिये हमें केवल **दो व्यक्तियों** के पूर्णतया सरल एवं प्राथमिक सम्बन्ध की ही आवश्यकता है"।

यह बात कि दो व्यक्ति या दो मानव इच्छाएं खुद एक दूसरे के **पूर्णतया** समान होती हैं—यह न केवल स्वयंसिद्ध तथ्य नहीं है, बल्कि यह एक बहुत बड़ी अतिशयोक्ति भी है! पहली बात यह है कि यदि और किसी भेद पर विचार न किया जाये, तो भी दो व्यक्तियों में लिंग का भेद हो सकता है, और यह साधारण तथ्य तुरन्त ही हमें इस विचार पर पहुंचा देता है कि—यदि एक क्षण के लिये हम भी इस बचपने में हिस्सा लें तो—समाज के सरलतम तत्व दो पुरुष नहीं होते, बल्कि एक पुरुष और एक स्त्री होते हैं, जो **एक परिवार** की स्थापना कर देते हैं और यह परिवार उत्पादन के उद्देश्य से बनाये गये संघ का सबसे सरल और पहला रूप होता है। लेकिन श्री ड्यूहरिंग के लिये यह स्थिति कदापि सुविधाजनक नहीं है। कारण कि एक ओर तो समाज के इन दो संस्थापकों को, जहां तक सम्भव हो, एक दूसरे के समान बना देना है; और दूसरे, आदिम परिवार के आधार पर पुरुष और स्त्री की नैतिक तथा क़ानूनी समानता की स्थापना कर देना श्री ड्यूहरिंग के भी बूते के बाहर है। दो में से एक ही बात हो सकती है। या तो उस ड्यूहरिंगीय सामाजिक अणु के बारे में, जिसके गुणन से सम्पूर्ण समाज का निर्माण होना है,

पहले ही से यह तय है कि वह नष्ट हो जायेगा, क्योंकि दो पुरुष अपने आप किसी बच्चे को जन्म नहीं दे सकते; या हमें इन दो पुरुषों की दो परिवारों के मुखियाओं के रूप में कल्पना करनी होगी। और उस सूरत में यह पूरा सरल एवं मूलभूत रेखांकन अपनी उल्टी चीज़ में रूपान्तरित हो जाता है: उससे लोगों की समानता नहीं सिद्ध होती, बल्कि अधिक से अधिक परिवारों के मुखियाओं की समानता सिद्ध होती है, और चूंकि उसमें स्त्रियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, इसलिये उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियां पराधीन होती हैं।

अब हमें पाठक को एक अप्रिय सूचना देनी है। वह यह कि इस बिन्दु से आरम्भ करके और काफ़ी समय बीतने तक उसे इन सुप्रसिद्ध दो पुरुषों से छुटकारा नहीं मिलेगा। सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में वे वही भूमिका अदा करते हैं, जो अभी तक अन्य आकाश पिण्डों के निवासी अदा करते आये थे, जिनके साथ हम आशा करते हैं, आगे हमारा कोई काम नहीं पड़ेगा। जब कभी राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के किसी प्रश्न को हल करना होता है, तब तुरन्त ये दो पुरुष सामने आकर खड़े हो जाते हैं और पलक मारने की भी देर नहीं होती कि मामले को "स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से" तय कर देते हैं। यह हमारे वास्तविकता के दार्शनिक का सचमुच एक बहुत ही बढ़िया, सृजनात्मक और प्रणाली स्रष्टा आविष्कार है। लेकिन दुर्भाग्य से यदि हम सत्य का उचित आदर करना चाहते हैं, तो हमें कहना पड़ेगा कि ये दो पुरुष श्री ड्यूहरिंग का आविष्कार नहीं है। वे तो पूरी अठारहवीं शताब्दी की सामूहिक सम्पत्ति हैं। असमानता पर रूसो के निबंध (१७५४) में भी उनसे हमारी भेंट होती है,[55] जहां–प्रसंगवश हम यह भी बता दें–वे स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से श्री ड्यूहरिंग के कथन की उल्टी बात प्रमाणित कर देते हैं। ऐडम स्मिथ से लेकर रिकार्डो तक अर्थशास्त्रियों के यहां भी वे एक प्रमुख भूमिका अदा करते हैं; लेकिन वहां वे कम से कम इस बात में असमान होते हैं कि दोनों अलग-अलग ढंग का धंधा करते हैं–सामान्यतया उनमें से एक शिकारी होता है और दूसरा मछियारा–और वे एक दूसरे के साथ अपनी-अपनी पैदावार का विनिमय करते हैं। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी

में उन्होंने सदा मुख्यतया एक निदर्शनात्मक उदाहरण का काम किया था; और श्री ड्यूहरिंग की मौलिकता केवल इस बात में निहित है कि उन्होंने निदर्शन की इस पद्धति को समस्त समाज विज्ञान की मूलभूत पद्धति तथा सभी ऐतिहासिक रूपों की माप के पद पर आसीन कर दिया है। निश्चय ही "वस्तुओं और मनुष्यों की विशुद्ध वैज्ञानिक अवधारणा" को इससे अधिक सरल बनाना असम्भव है।

इस मौलिक स्वयंसिद्ध तथ्य की स्थापना करने के लिये कि दो व्यक्ति और उनकी इच्छाएं एक दूसरे के सर्वथा समान होती हैं और उनमें से कोई एक दूसरे के ऊपर हुक्म नहीं चला सकता, हम यूं ही किन्हीं दो पुरुषों का उपयोग नहीं कर सकते। इन दो आदमियों का हर प्रकार की वास्तविकता से दुनिया में पाये जानेवाले सभी जातीय, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों से और समस्त लैंगिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं से इतना अधिक मुक्त होना आवश्यक होता है कि "मनुष्य" नामक अवधारणा मात्र के सिवा उनमें और कुछ भी नहीं बचता और तब ज़ाहिर है कि वे "पूर्णतया समान" हो जाते हैं। इसलिये ये दो आदमी असल में दो प्रेत हैं, जिनको उन्हीं श्री ड्यूहरिंग ने अपने मंत्रबल से पैदा कर दिया है, जो हर जगह "अध्यात्मवादी" प्रवृत्तियों को खोजा और कोसा करते हैं। ज़ाहिर है कि इन दो प्रेतों को हर वह काम करना पड़ता है, जो उनको पैदा करनेवाला उनसे कराना चाहता है; और इसी कारण बाक़ी दुनिया को उनकी तमाम हरकतों में ज़रा भी दिलचस्पी नहीं होती।

लेकिन आइये, श्री ड्यूहरिंग के स्वयंसिद्ध तथ्य निर्माण का थोड़ा और आगे तक अनुसरण करें। दो इच्छाएं एक दूसरे से किसी ठोस चीज़ की मांग नहीं कर सकतीं। फिर भी यदि उनमें से एक इस तरह की मांग करती है और बलपूर्वक अपनी मनमानी कर लेती है, तो उससे अन्याय की स्थिति पैदा हो जाती है—और यही वह मूलभूत रेखांकन है, जिसकी सहायता से श्री ड्यूहरिंग अन्याय, बलात्कार, दासत्व और संक्षेप में कहें, तो बीते हुए ज़माने के सम्पूर्ण गर्हणीय इतिहास का स्पष्टीकरण कर डालते हैं। रूसो के जिस निबंध का हमने ऊपर ज़िक्र किया है, उसमें वह इसी स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से इसकी बिल्कुल उल्टी बात सिद्ध करने के लिये

इन दो पुरुषों का उपयोग कर चुके थे। वहां रूसो ने यह सिद्ध किया था कि यदि दो व्यक्ति हों, तो उनमें से "क" बलपूर्वक "ख" को अपना दास नहीं बना सकता। वह केवल "ख" को ऐसी स्थिति में डालकर ही अपना दास बना सकता है, जिसमें "क" के बिना उसका काम नहीं चल सकता। लेकिन, ज़ाहिर है, यह अवधारणा श्री ड्यूहरिंग के लिये अत्यधिक भौतिकवादी है। इसी बात को हम थोड़ा भिन्न ढंग से कह सकते हैं। मान लीजिये, किसी डूबे हुए जहाज़ के दो मुसाफ़िर किसी एक ऐसे द्वीप पर जा पहुंचते हैं, जहां और कोई मनुष्य नहीं है, और वहां पहुंचकर वे एक समाज क़ायम कर देते हैं। इन दोनों आदमियों की इच्छाएं औपचारिक रूप से एक दूसरे के सर्वथा बराबर होती हैं और यह बात दोनों आदमी स्वीकार करते हैं। लेकिन भौतिक दृष्टिकोण से दोनों के बीच बहुत बड़ी असमानता है। "क" में दृढ़ निश्चय और क्रियाशीलता है। "ख" अस्थिरचित्त, आलसी और शिथिल है। "क" शीघ्रबुद्धि है; "ख" मूर्ख है। इसमें अधिक समय नहीं लगेगा कि "क" "ख" पर नियमित रूप से अपनी इच्छा थोपने लगेगा। पहले यह चीज़ समझाने-बुझाने के फलस्वरूप होगी; बाद में इसकी आदत पड़ जायेगी; लेकिन रूप में वह हमेशा स्वैच्छिक रहेगी? यह स्वैच्छिक रूप चाहे ज्यों का त्यों बना रहे और चाहे उसे पैरों तले रौंद दिया जाये, दासत्व ही रहता है। सारे मध्य युग में स्वेच्छा से दासत्व स्वीकार कर लेने की प्रथा पायी जाती थी। जर्मनी में तीसवर्षीय युद्ध[56] के समाप्त हो जाने के बाद तक यह प्रथा प्रचलित थी। जब १८०६ और १८०७ की हार के बाद प्रशा में भूदास प्रथा का अन्त कर दिया गया और उसके साथ-साथ दयालु सामन्तों पर अभाव, बीमारी तथा बुढ़ापे की हालत में अपनी प्रजा का पालन-पोषण करने की ज़िम्मेदारी भी नहीं रह गयी, तो किसानों ने राजा से प्रार्थना की कि उन्हें दासत्व में ही रहने दिया जाये – वरना मुसीबत के वक़्त कौन उनकी मदद करेगा? अतः दो पुरुषों का यह रेखांकन समानता तथा पारस्परिक सहायता के लिये जितना "उपयुक्त" है, वह असमानता तथा दासत्व के लिये भी उतना ही "उपयुक्त" है; और चूंकि हम समाज को लोप हो जाने से बचाने के लिये यह मानकर चलने

के लिये विवश हैं कि ये दो पुरुष दो परिवारों के मुखिया हैं, इसलिये इस पूरे विचार में आरम्भ से ही पुश्तैनी दासत्व का विचार भी शामिल है।

लेकिन इस पूरी बहस को एक क्षण के लिये रोक दीजिये। मान लीजिये कि श्री ड्यूहरिंग के स्वयंसिद्ध तथ्य निर्माण से हमें उनकी बातों पर विश्वास हो गया है और हम दो इच्छाओं के बीच पायी जानेवाली अधिकारों की सम्पूर्ण समानता के, "सामान्य मानव परम सत्ता" के, "व्यक्ति की परम सत्ता" के उत्साही समर्थक बन गये हैं। ये, ज़ाहिर है, शब्दों के क्षेत्र में बृहत्काय दैत्यों के समान हैं, जिनके सामने स्टर्नर का "अहम्" और उसका स्वत्व* मात्र एक बौना प्रतीत होता है, हालांकि इसमें स्टर्नर का भी थोड़ा हाथ है। बहरहाल अब हम सब **पूर्णतया समान** और स्वतंत्र हो जाते हैं। सब? नहीं, सब के सब तो नहीं।

कुछ "अनुज्ञेय पराधीनता" के भी उदाहरण मिलते हैं, लेकिन उनका "ऐसे कारणों" के आधार पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है, "जिनको स्वयं दो इच्छाओं की क्रियाशीलता में नहीं खोजना पड़ता, बल्कि जो एक तीसरे क्षेत्र में, जैसे उदाहरण के लिये, बच्चों के मामले में उनके अपर्याप्त आत्मनिर्धारण में मिल जाते हैं"।

सचमुच! पराधीनता के कारणों को स्वयं इन दो इच्छाओं की क्रिया-शीलता में नहीं खोजना पड़ता। हां, स्वभावतया उनको वहां नहीं खोजना पड़ता; क्योंकि दो में से एक इच्छा की क्रियाशीलता वास्तव में सीमित है। परन्तु तीसरे क्षेत्र में! और यह तीसरा क्षेत्र है कौनसा? दो में से एक इच्छा का, पराधीनकृत इच्छा का अपर्याप्त मूर्त निर्धारण! हमारा वास्तविकता का दार्शनिक वास्तविकता से इतनी दूर चला गया है कि

---

* यहां निर्देश M. Stirner, *Der Einzige und sein Eigentum* ('अहम् और उसका स्वत्व'), लाइपज़िग, १८४५, की ओर है, जिसकी मार्क्स और एंगेल्स ने 'जर्मन विचारधारा' में बहुत ही तीव्र आलोचना की थी। – **सं०**

अमूर्त शब्द "इच्छा" के मुक़ाबले में, जिसमें सार का अभाव होता है, वह वास्तविक सार को, इस इच्छा के लाक्षणिक निर्धारण को एक "तीसरा क्षेत्र" समझता है। जो कुछ भी हो, हम यह कहने के लिये विवश हैं कि अधिकारों की समानता का एक अपवाद होता है। यह समानता अपर्याप्त आत्मनिर्धारण के रोग से पीड़ित इच्छा पर लागू नहीं होती। यह हुआ **पलायन नं० १।**

आगे बढ़िये।

"जहां पशु और मानव एक व्यक्ति में घुल-मिल गये हैं, वहां एक दूसरे, पूर्णतया मानव व्यक्ति की ओर से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यहां उसकी कार्य पद्धति उसी प्रकार की होनी चाहिये, जैसी उस समय होती, जब मानो केवल मानव व्यक्ति एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होते... इसलिये दो नैतिक दृष्टि से असमान व्यक्तियों की हमारी परिकल्पना, जिनमें से एक व्यक्ति के चरित्र में किसी न किसी अर्थ में वास्तविक पशु का कोई अंश मौजूद है, उन तमाम सम्बन्धों का प्रतिनिधि मूलरूप है, जो इस भेद के अनुसार... लोगों के समुदायों के भीतर तथा उनके बीच... स्थापित हो सकते हैं।"

इन अनाड़ीपन से भरी, छलपूर्ण युक्तियों के दौरान में श्री ड्यूहरिंग ने जेसुइट पादरी की तरह कलाबाजियां खायी हैं और बाल की खाल निकालकर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया है कि मानव मनुष्य पाशविक मनुष्य के विरुद्ध कितनी दूर तक जा सकता है, और वह ख़ुद अपरिवर्तनीय नैतिकता से तनिक न डिगते हुए पाशविक मानव के विषय में कितने अविश्वास का परिचय दे सकता है तथा उसके ख़िलाफ़ किस हद तक तिकड़मों तथा कठोर और यहां तक कि आतंकवादी साधनों का भी प्रयोग कर सकता है। इन छलपूर्ण बातों के बाद जो दयनीय भर्त्सना सुनने को मिलती है, उसपर पाठक ख़ुद विचार करें।

सो जब दो व्यक्ति "नैतिक दृष्टि से असमान" होते हैं, तब फिर समानता नहीं रहती। परन्तु यदि ऐसी बात है, तो निश्चय ही दो पूर्णतया समान पुरुषों का आविष्कार करने में कोई लाभ नहीं था, क्योंकि

ऐसे कोई दो व्यक्ति नहीं हो सकते, जो नैतिक दृष्टि से पूर्णतया समान हों। लेकिन असमानता इस बात में बतायी जाती है कि एक व्यक्ति मानव है और दूसरे में पशु का भी कुछ अंश है। किन्तु मनुष्य का उदय चूंकि जंतु जगत् से हुआ है, इसलिये यह अनिवार्य है कि मनुष्य पशु के अंश से कभी पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता, और इसलिये प्रश्न सदा के केवल यही हो सकता है कि उसमें पाशविकता या मानवता का न्यूनाधिक कितना अंश है, या दोनों तत्वों की मात्रा में कितना अन्तर है। मनुष्य जाति का इस प्रकार का दो स्पष्ट रूपों में विभेदित दलों में, मानव मनुष्यों और पशु मनुष्यों में, भले और बुरे इन्सानों में, मेमनों और बकरों में विभाजन – वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त – केवल ईसाई धर्म में ही पाया जाता है, जिसके पास चुनांचे इस तरह का बंटवारा करने के लिये विश्व का न्यायाधीश भी होता है। लेकिन वास्तविकता के दर्शनशास्त्र में विश्व का न्यायाधीश कौन बनेगा? सम्भवतः यहां भी वही कार्यविधि अपनानी पड़ेगी, जो ईसाइयों के व्यवहार में देखने में आती है, जहां अपने बकरों जैसे सांसारिक पड़ोसियों के सम्बन्ध में पवित्र मेमने ख़ुद ही विश्व के न्यायाधीश के पद का भार संभाल लेते हैं और जगज़ाहिर सफलता के साथ इस काम को अंजाम देते हैं। यदि वास्तविकता के दार्शनिकों का पंथ कभी अस्तित्व में आया, तो वह इस मामले में पृथ्वी के धर्मात्माओं से कभी पीछे नहीं रहेगा। किन्तु इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी दिलचस्पी तो इस बात में है कि यहां यह स्वीकार कर लिया गया है कि मनुष्यों के बीच नैतिक असमानता होने के परिणामस्वरूप समानता फिर ग़ायब हो गयी है। यह है **पलायन नं० २।**

लेकिन हमें फिर आगे बढ़ना चाहिये। श्री ड्यूहरिंग फ़रमाते हैं:

"यदि एक आदमी सत्य और विज्ञान के अनुसार कार्य करता है और दूसरा किसी अंधविश्वास या पूर्वाग्रह के अनुसार, तो... सामान्यतया पारस्परिक हस्तक्षेप होना आवश्यक है... अक्षमता, पाशविकता या चरित्र विकृति के एक निश्चित मात्रा तक बढ़ जाने पर सदा विग्रह अनिवार्य हो जाता है... केवल बच्चों और पागलों के सम्बन्ध में ही अन्तिम उपाय बल प्रयोग नहीं है। मनुष्य जाति के पूरे के पूरे प्राकृतिक समूहों और

सुसंस्कृत वर्गों का चरित्र ऐसा हो सकता है, जिसके कारण उनकी इच्छा को, जो अपनी विकृति के कारण प्रतिकूल होती है, पुनः सामूहिक सम्बन्धों की ओर मोड़ने के लिये उसे **वश में करना** अपरिहार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में भी यह समझा जाता है कि इस सबके बावजूद प्रतिकूल इच्छा को भी **समान अधिकार प्राप्त** हैं, लेकिन उसकी हानिकारक तथा प्रतिकूल क्रियाशीलता के विकृत स्वरूप ने **समानीकरण** की एक प्रक्रिया अनिवार्य बना दी है और यदि उसे वश में करने के लिए बल का प्रयोग किया जाता है, तो वह महज़ अपने कुकर्म का ही फल भोगती है।"

अतः न केवल नैतिक असमानता, बल्कि मानसिक असमानता भी दो इच्छाओं की "सम्पूर्ण समानता" को नष्ट कर देने के लिये और एक ऐसी नैतिकता को जन्म देने के लिये पर्याप्त है, जिसकी सहायता से पिछड़ी हुई जातियों के ख़िलाफ़ सभ्य कहलानेवाले डाकू राज्यों की तमाम हरकतों को, और यहां तक कि तुर्केस्तान में रूस के नृशंस अत्याचारों को भी उचित ठहराया जा सकता है।[57] जब १८७३ की गरमियों में जनरल कौफ़मन ने योमुद लोगों के तातारी क़बीले पर हमला करने का आदेश दिया और कहा कि उनके खे़मे जला दिये जायें और उनकी औरतों और बच्चों को–आदेश की शब्दावली में "अपनी पुरानी सुन्दर काकेशियाई परम्परा के अनुसार"–क़त्ल कर दिया जाये, उस वक़्त जनरल कौफ़मन ने भी यह घोषणा की थी कि योमुद लोगों की इच्छा विकृत हो जाने के कारण प्रतिकूल हो गयी है और इसलिये उसे पुनः सामूहिक सम्बन्धों की ओर मोड़ने के लिये उसे वश में करना अपरिहार्य रूप से आवश्यक हो गया है, इसके लिये वह जिन उपायों का प्रयोग करनेवाले हैं, वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सबसे अच्छे उपाय हैं, और जो कोई साध्य को प्राप्त करना चाहता है, वह साधनों का प्रयोग करने से इनकार नहीं कर सकता। मगर जनरल कौफ़मन इतने बेरहम नहीं थे कि इसके बाद योमुद लोगों का अपमान भी करते और कहते कि समानीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उनका वध करके ही वह उनकी इच्छा के समान **अधिकारों को मान्यता प्रदान कर रहे हैं। और एक बार फिर इस टक्कर**

में इन चुने हुए लोगों को, उन लोगों को, जो सत्य और विज्ञान के अनुसार कार्य करने का दावा करते हैं, और इसलिये अन्तिम विश्लेषण में कहना चाहिये कि वास्तविकता के दार्शनिकों को ही यह निर्णय करना पड़ता है कि अंधविश्वास, पूर्वाग्रह, पाशविकता तथा चरित्र विकृति क्या हैं और समानीकरण के उद्देश्य के लिए बल प्रयोग करना तथा दूसरों को वश में करना कब आवश्यक हो जाता है। इसलिये अब समानता बल प्रयोग के द्वारा समानीकरण बन जाती है; और पहली इच्छा की दृष्टि में दूसरी इच्छा के समान अधिकार पराधीनता के द्वारा कार्यान्वित होते हैं। **पलायन नं० ३,** जो अभी से अपमानजनक भगदड़ में परिणत हो गया है।

यहां प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि यह शब्दावली कि परायी इच्छा के समानाधिकार बल प्रयोग के द्वारा सम्पन्न होनेवाले समानीकरण के द्वारा कार्यान्वित होते हैं–यह शब्दावली केवल उस हेगेलीय सिद्धान्त का ही विकृत रूप है, जिसके अनुसार दण्ड अपराधी का अधिकार होता है। हेगेल के शब्दों में:

"दण्ड में अपराधी का अधिकार निहित होता है और इसलिये दण्ड पाकर वह एक विचारशील प्राणी के रूप में सम्मानित होता है"। (*Rechtsphilosophie**, पैराग्राफ़ १००, नोट)।

इस स्थान पर हम बीच में रुक सकते हैं। श्री ड्यूहरिंग ने स्वयंसिद्ध तथ्य के ढंग से जिस समानता की स्थापना की थी, उसी को और अपनी सामान्य मानव परम सत्ता आदि को वह थोड़ा-थोड़ा करके किस तरह नष्ट करते जाते हैं, इसका अब और आगे अध्ययन करना अनावश्यक है। वह किस तरह अपने उन दो पुरुषों के द्वारा समाज की स्थापना कर देते हैं, और फिर किस तरह राज्य की स्थापना करने के लिये उन्हें एक तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, क्योंकि–यदि हम संक्षेप में कहें तो–बिना तीसरे व्यक्ति के कोई भी प्रश्न बहुमत से नहीं तय हो सकता,

---

*'क़ानून का दर्शनशास्त्र'।–**सं०**

ग्रौर यदि बहुमत के निर्णय नहीं होते तथा ग्रल्पमत पर बहुमत शासन नहीं करता, तो राज्य भी क़ायम नहीं रह सकता; ग्रौर फिर किस तरह वह ग्रपनी नाव को धीरे-धीरे खेते हुए ग्रधिक निश्चल जल में पहुंच जाते हैं, जहां वह भविष्य के ग्रपने सोशलिटेरियन राज्य का निर्माण करते हैं ग्रौर जहां किसी शुभ दिन हमें उनसे भेंट करने का सम्मान प्राप्त होगा। हम यह बात पर्याप्त स्पष्टता के साथ देख चुके हैं कि दो इच्छाग्रों की पूर्ण समानता केवल उसी समय तक क़ायम रहती है, जब तक कि ये दो इच्छाएं **कोई इच्छा नहीं करतीं;** ग्रौर जैसे ही वे मात्र ग्रमूर्त मानव इच्छाएं नहीं रहतीं, बल्कि वास्तविक वैयक्तिक इच्छाग्रों में, या दो वास्तविक व्यक्तियों की इच्छाग्रों में रूपान्तरित हो जाती हैं, वैसे ही समानता समाप्त हो जाती है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां कहीं एक ग्रोर बचपन, पागलपन, तथाकथित पाशविकता, कथित ग्रंधविश्वास, ग्रारोपित पूर्वाग्रह तथा कल्पित ग्रक्षमता है ग्रौर दूसरी ग्रोर काल्पनिक मानवता तथा सत्य एवं विज्ञान का ज्ञान है—ग्रौर इसलिये जहां कहीं दो इच्छाग्रों तथा उनसे सम्बद्ध बुद्धि में किसी प्रकार का भी ग्रन्तर मौजूद है—वहां यदि व्यवहार में ग्रसमानता दिखाई दे ग्रौर वह पराधीन बनाने की सीमा तक पहुंच जाये, तो उसमें कोई दोष नहीं माना जाता। जब श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद ग्रपने बनाये हुए समानता के भवन को भित्ति से लेकर शीर्ष तक इतनी गहरी जड़ों वाले ढंग से नष्ट कर दिया है, तब हम ग्रौर क्या पूछ सकते हैं?

लेकिन यद्यपि यह सही है कि समानता के विचार का श्री ड्यूहरिंग ने जी छिछला, पैवंदलगा प्रतिपादन किया है, उसपर ग्रब हम ग्रौर समय ख़र्च नहीं करेंगे, तथापि स्वयं इस विचार से ग्रभी हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता। इस विचार ने विशेषकर रूसो के कारण एक सैद्धान्तिक भूमिका ग्रदा की है; महान क्रान्ति* के दौरान तथा उसके बाद उसने एक व्यावहारिक-राजनीतिक भूमिका ग्रदा की थी; ग्रौर यहां तक कि ग्राजकल

---

*यहां एंगेल्स १७८९ की फ़्रांस की पूंजीवादी क्रांति की ग्रोर संकेत कर रहे हैं।—**सं०**

भी वह लगभग प्रत्येक देश के समाजवादी आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण प्रचारात्मक भूमिका अदा करता है। यदि इस विचार के वैज्ञानिक सार की स्थापना कर दी जाये, तो यह भी मालूम हो जायेगा कि सर्वहारा के प्रचार के लिये उसका क्या मूल्य है।

यह विचार कि मनुष्यों के रूप में सभी मनुष्यों में कोई बात समान रूप से मौजूद होती है और उस हद तक वे एक दूसरे के समान होते हैं—यह विचार स्पष्टतया आद्यकालीन विचार है। किन्तु समानता की आधुनिक मांग ऐसी चीज़ है, जो इस विचार से पूर्णतया भिन्न है। इस मांग का तो असल में यह मतलब है कि मानव होने के उस समान गुण के आधार पर, या मनुष्यों के रूप में मनुष्यों की उस समानता के आधार पर यह दावा किया जाता है कि सभी मनुष्यों की, या कम से कम किसी राज्य के सभी नागरिकों अथवा किसी समाज के सभी सदस्यों की राजनीतिक तथा सामाजिक हैसियत एक सी होनी चाहिये। सापेक्ष समानता की उस मूल अवधारणा से उस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिये कि राज्य तथा समाज में मनुष्यों के समान अधिकार होने चाहिये, और यहां तक कि इस निष्कर्ष के एक स्वाभाविक तथा स्वतःस्पष्ट बात प्रतीत होने के लिये भी पहले हज़ारों वर्षों का बीत जाना आवश्यक था, और जब वे बीत गये तभी यह निष्कर्ष सामने आया। प्राचीनतम, आदिम जन-समुदायों में अधिकारों की समानता अधिक से अधिक केवल समुदाय के सदस्यों पर ही लागू हो सकती थी। स्त्रियां, दास-दासियां और विदेशी इस समानता से अपवर्जित थे और यह ऐसी बात थी, जो स्वतःस्पष्ट समझी जाती थी। यूनानियों और रोमनों में मनुष्यों की असमानताओं का उनकी किसी भी प्रकार की समानता से कहीं अधिक महत्व था। उस ज़माने में यदि कोई यह कहता कि यूनानियों और बर्बर लोगों की, स्वतंत्र मनुष्यों और दासों की, नागरिकों और विदेशियों की, रोमन नागरिकों और (यदि एक व्यापक अर्थवाले शब्द का प्रयोग किया जाये तो) रोमन प्रजाजन की एक सी राजनीतिक हैसियत होनी चाहिये, तो प्राचीन काल के लोग उसे पागल समझते। रोमन साम्राज्य में स्वतंत्र मनुष्यों और दासों के भेद को छोड़कर बाक़ी ये सारे भेद धीरे-धीरे लुप्त हो गये, और इस

तरह कम से कम स्वतंत्र मनुष्यों के लिये अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में उनकी समानता का वह विचार उत्पन्न हुआ, जिसके आधार पर रोमन क़ानून का विकास हुआ। निजी सम्पत्ति के आधार पर इससे अधिक पूर्ण ढंग से अन्य किसी क़ानून का विकास नहीं हुआ है। लेकिन जब तक स्वतंत्र मनुष्यों और दासों का विरोध मौजूद था, तब तक **मनुष्यजाति** की सामान्य समानता से क़ानूनी निष्कर्ष निकालने की कोई चर्चा नहीं हो सकती थी। यह बात हाल में भी हम उत्तरी अमरीकी संघ के दास प्रथावाले राज्यों में देख चुके हैं।

ईसाई धर्म को केवल **एक** ही ऐसी बात का ज्ञान था, जिसमें सब मनुष्य समान थे: वह यह कि सब समान रूप से मूल पाप की अवस्था में जन्मे थे। ईसाई धर्म दासों और उत्पीड़ितों का धर्म था और यह बात उसके इस स्वरूप से पूरी तरह मेल खाती थी। इसके अलावा यह धर्म अधिक से अधिक केवल कुछ चुने हुए लोगों की ही समानता में विश्वास करता था। किन्तु इस विचार पर केवल एकदम आरम्भ में ही ज़ोर दिया गया था। इस नये धर्म की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामूहिक स्वामित्व के भी जो चिह्न दिखाई देते हैं, वे समानता के किन्हीं वास्तविक विचारों पर आधारित नहीं थे, बल्कि वे एक निषिद्ध पंथ की एकता की भावना पर आधारित थे। थोड़ा-सा समय बीतते ही पादरियों और सांसारिक पुरुषों के बीच का अन्तर स्थापित हो गया और उसने ईसाई धर्म की इस प्रारम्भिक समानता को भी नष्ट कर दिया।

जब पश्चिमी यूरोप को जर्मनों ने पदाक्रान्त किया, तो वहां धीरे-धीरे एक ऐसे पेचीदा सामाजिक और राजनीतिक पद-सोपान का निर्माण हुआ, जैसा इसके पहले संसार में कभी नहीं देखा गया था, और उसके फलस्वरूप समानता के सारे विचार कई शताब्दियों के लिये ग़ायब हो गये। परन्तु साथ ही जर्मनों के आक्रमण ने पश्चिमी केन्द्रीय यूरोप को ऐतिहासिक विकास के क्रम के भीतर खींच लिया, पहली बार एक गठे हुए सांस्कृतिक क्षेत्र का निर्माण किया और इस क्षेत्र के भीतर पहली बार मुख्यतया जातीय राज्यों की प्रणाली को जन्म दिया, जो एक दूसरे पर प्रभाव डालते थे और एक दूसरे को नियंत्रण में रखते थे। और यह सब

करके उसने वह भूमि तैयार कर दी, जिसके आधार पर ही बाद के काल में मनुष्यों की समान हैसियत, या मनुष्य के अधिकारों का प्रश्न उठाया जा सकता था।

सामन्ती मध्य युग ने अपने गर्भ के भीतर उस वर्ग का भी विकास किया, जिसको कुछ और विकास करने के बाद समानता की आधुनिक मांग का ध्वजारोही बनना था। हमारा मतलब बुर्जुआ वर्ग से है। यह वर्ग शुरू में ख़ुद भी एक सामन्ती सामाजिक श्रेणी था। जब पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में महान सामुद्रिक खोजों के परिणामस्वरूप इस वर्ग के लिये अधिक व्यापक सम्भावनाओं के एक नये जीवन के द्वार खुल गये, तो उसने सामन्ती समाज के भीतर मुख्यतया दस्तकारी उद्योग तथा उत्पादित वस्तुओं के विनिमय का एक अपेक्षाकृत ऊंचे स्तर तक विकास किया। इसके पहले यूरोप की सीमाओं के बाहर केवल इटली और भूमध्य सागर के पूर्वी भाग के बीच व्यापार हुआ करता था। अब अमरीका और भारत के साथ भी व्यापार होने लगा और शीघ्र ही यह व्यापार विभिन्न यूरोपीय देशों के पारस्परिक विनिमय तथा प्रत्येक अलग-अलग देश के अन्दरूनी व्यापार दोनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन गया। यूरोप अमरीकी सोने और चांदी से पट गया और ये धातुएं सामन्ती समाज के प्रत्येक छिद्र, रंध्र और दरार में ज़बर्दस्ती घुसकर उसे छिन्न-भिन्न करने लगीं। अब दस्तकारी उद्योग बढ़ती हुई मांग को संतुष्ट करने में असमर्थ था। सबसे अधिक उन्नत देशों के प्रमुख उद्योगों में उसका स्थान मैनुफ़ेक्चर ने ले लिया।

लेकिन इस प्रकार समाज की आर्थिक अवस्था में जो ज़बर्दस्त क्रान्ति हो गयी, उसके अनुरूप उसके राजनीतिक गठन में तत्काल कोई परिवर्तन नहीं हुआ। राजनीतिक व्यवस्था सामन्ती बनी रही, जबकि समाज अधिकाधिक बुर्जुआ बनता गया। बड़े पैमाने के व्यापार के लिये, अर्थात् विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये, और विश्व व्यापार के लिये तो और भी स्पष्ट रूप में मालों के स्वतंत्र मालिकों की आवश्यकता होती है, जिनकी गतिविधियां अनियंत्रित हों और इसलिये जिनको समान अधिकार प्राप्त हों तथा जो ऐसे क़ानून के आधार पर अपने मालों का विनिमय

कर सकें, जो कम से कम हर विशिष्ट स्थान में सबके लिये समान हो। दस्तकारी से मैनुफ़ेक्चर में संक्रमण होने के लिये ग्रावश्यक होता है कि बहुत-से स्वतंत्र मज़दूर पहले से मौजूद हों। इन मज़दूरों को एक ग्रोर तो शिल्पी संघों के बंधनों से स्वतंत्र होना चाहिये ग्रौर दूसरी ग्रोर उन साधनों से स्वतंत्र होना चाहिये, जिनसे वे ख़ुद ग्रपनी श्रम शक्ति का उपयोग कर सकते थे। इन मज़दूरों के लिये ग्रपनी श्रम शक्ति को किराये पर उठाने के वास्ते कारख़ानेदारों से क़रार करना सम्भव होना चाहिये ग्रौर इसलिये क़रार करनेवाले दो पक्षों के रूप में उनके ग्रौर कारख़ानेदार के ग्रधिकार समान होने चाहिये। ग्रौर ग्रन्त में इस बात को कि जिस हद तक समस्त मानव श्रम **मानव** श्रम है, ग्रौर चूंकि वह **मानव** श्रम है,[58] इसलिये हर प्रकार का मानव श्रम समान है ग्रौर उसकी हैसियत बराबर है – इस बात को उसकी ग्रचेतन, किन्तु स्पष्टतम ग्रभिव्यक्ति ग्राधुनिक बुर्जुग्रा राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र के मूल्य के नियम में प्राप्त हुई, जिसके ग्रनुसार किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित सामाजिक दृष्टि से ग्रावश्यक श्रम के द्वारा मापा जाता है।*

किन्तु जहां ग्रार्थिक सम्बन्धों के लिये स्वतंत्रता ग्रौर ग्रधिकारों की समानता ग्रावश्यक थीं, वहां राजनीतिक व्यवस्था ने हर क़दम पर उनके मुक़ाबले में ग्रपने शिल्पी संघों के बंधन तथा विशेषाधिकार क़ायम कर रखे थे। स्थानीय विशेषाधिकार, विभेद शुल्कों ग्रौर हर प्रकार के ग्रसाधारण क़ानूनों का व्यापार के मामले में न केवल विदेशियों ग्रौर उपनिवेशों में रहनेवाले लोगों पर ग्रसर पड़ता था, बल्कि सम्बन्धित देश के निवासियों के भी कई पूरे के पूरे प्रवर्ग उनसे प्रभावित होते थे। हर जगह शिल्पी संघों के नित नये विशेषाधिकार मैनुफ़ेक्चर के विकास का रास्ता रोककर खड़े हो जाते थे। बुर्जुग्रा प्रतिद्वन्द्वियों के लिये कहीं भी रास्ता साफ़ नहीं था ग्रौर कहीं भी सब को समान ग्रवसर प्राप्त नहीं था,

---

*बुर्जुग्रा समाज की ग्रार्थिक ग्रवस्था से समानता के ग्राधुनिक विचारों की व्युत्पत्ति का प्रतिपादन सबसे पहले **मार्क्स** ने 'पूंजी' में किया था। **[एंगेल्स का नोट]**

हालांकि उस काल की यह मुख्य मांग थी और दिन पर दिन इस मांग का ज़ोर बढ़ता जा रहा था।

जब एक बार समाज के आर्थिक विकास ने इसके लिये परिस्थिति तैयार कर दी, तो सामन्ती बंधनों से मुक्ति प्राप्त करने और सामन्ती असमानताओं का अन्त करके अधिकारों की समानता की स्थापना करने की मांग का शीघ्र ही अधिक व्यापक आयामों को प्राप्त कर लेना अनिवार्य था। यदि पहले यह मांग उद्योग तथा व्यापार के हित में बुलन्द की गयी थी, तो किसानों के उस विशाल जन-समूह के लिये भी अधिकारों की इसी समानता की मांग करना आवश्यक था, जो पूर्ण भू-दासता से आरम्भ करके प्रत्येक स्तर के दासत्व में फंसे हुए थे और जिनको अपने श्रम काल का अधिकतर भाग बिना किसी मुआवज़े के अपने दयालु सामन्ती स्वामी को दे देना पड़ता था, और ऊपर से तरह-तरह के अन्य असंख्य कर उसे तथा राज्य को अदा करने पड़ते थे। दूसरी ओर यह भी लाज़िमी था कि सामन्ती विशेषाधिकारों का अन्त करने, अभिजात वर्ग को करों से जो छूट मिली हुई थी, उसे ख़त्म करने और अलग-अलग सामाजिक श्रेणियों के राजनीतिक विशेषाधिकारों को समाप्त करने की मांग की जाये। और चूंकि अब लोग रोमन साम्राज्य जैसे किसी संसारव्यापी साम्राज्य के भीतर नहीं रह रहे थे, बल्कि स्वतंत्र राज्यों की प्रणाली क़ायम हो गयी थी और प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करता था और चूंकि सब राज्य बुर्जुआ विकास के लगभग एक से स्तर पर थे, इसलिये यह अनिवार्य था कि समानता की मांग एक सामान्य स्वरूप प्राप्त कर ले और अलग-अलग राज्यों की सीमाओं के बाहर निकल जाये तथा स्वतंत्रता और समानता को **मानव अधिकार** घोषित कर दिया जाये। और इन मानव अधिकारों के विशिष्ट-तया बुर्जुआ स्वरूप पर इस बात से काफ़ी प्रकाश पड़ता है कि जिस अमरीकी संविधान ने सबसे पहले मनुष्य के अधिकारों को स्वीकार किया, उसी ने अमरीका में पायी जानेवाली अश्वेत नस्लों की दासता को भी मान्य घोषित कर दिया; अर्थात् वर्गीय विशेषाधिकारों पर तो प्रतिबंध लगा दिया गया, किन्तु नस्ल सम्बन्धी विशेषाधिकारों का संमोदन कर दिया गया।

लेकिन जैसा कि सुविदित है, जब से बुर्जुआ वर्ग ने सामन्ती नगर व्यवस्था के बाहर क़दम रखा है और जब से मध्य युग की यह श्रेणी विकसित होकर एक आधुनिक वर्ग बन गयी है, उसी क्षण से सर्वहारा भी सदैव तथा अनिवार्य रूप से छाया की तरह उसके पीछे लगा हुआ है। और इसी प्रकार समानता की बुर्जुआ मांगों के साथ-साथ सर्वहारा की समानता की मांगें भी सुनायी देने लगी हैं। जिस क्षण से वर्गीय **विशेषाधिकारों** का अन्त करने की बुर्जुआ मांग बुलन्द हुई है, उसी क्षण से सर्वहारा की यह मांग भी बुलन्द होने लगी है कि **स्वयं वर्गों को** ही मिटा दिया जाये। शुरू में यह मांग धार्मिक रूप में व्यक्त हुई थी और उसका झुकाव आदिम ईसाई धर्म की ओर था। बाद में वह समानता के ख़ुद पूंजीवादी सिद्धान्तों का सहारा लेने लगी। सर्वहारा ने बुर्जुआ वर्ग के दावे में उसे फंसाया – समानता केवल दिखावटी नहीं होनी चाहिये; इस सिद्धान्त को केवल राज्य के क्षेत्र पर ही लागू नहीं होना चाहिये, बल्कि समानता को वास्तविक होना चाहिये और उसे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र पर भी लागू होना चाहिये। और फ़्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग ख़ास तौर पर फ़्रांस की महान क्रांति के समय से ही नागरिक समानता को सबसे आगे रखता आया है, इसलिये फ़्रांसीसी सर्वहारा ने सामाजिक तथा आर्थिक समानता की मांग बुलन्द करके फ़्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग की प्रत्येक चोट का जवाब चोट से दिया है और समानता का नारा विशेषकर फ़्रांसीसी सर्वहारा का तो रण-घोष बन गया है।

अतः जब सर्वहारा के मुंह से समानता की मांग निकलती है, तो उसका दुहरा अर्थ होता है। या तो यह मांग घोर सामाजिक असमानताओं के विरुद्ध, धनी तथा ग़रीब, सामन्ती प्रभुओं तथा भू-दासों और अतितृप्ति तथा भूख के व्यतिरेक के विरुद्ध स्वयंस्फूर्त्त प्रतिक्रिया हो सकती है। बिल्कुल शुरू में – उदाहरण के लिये किसान युद्ध के समय – इस मांग का यही स्वरूप था। और इस रूप में वह केवल क्रान्तिकारी नैसर्गिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है और उसका औचित्य इसी में और मात्र इसी में निहित होता है। दूसरी ओर यह मांग समानता की बुर्जुआ मांग की प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुई है। इससे कई न्यूनाधिक सही और अधिक दूर तक जानेवाली

मांगें बुलन्द की गयी हैं। और यह मांग ख़ुद पूंजीपतियों के वक्तव्यों की सहायता से मज़दूरों में पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ हलचल पैदा करने के प्रचारात्मक साधन का काम करती है। और इस सूरत में यह मांग स्वयं बुर्जुआ समानता के साथ गिरती और खड़ी होती है। पर दोनों सूरतों में सर्वहारा की समानता की मांग का वास्तविक सार यह है कि **वर्गों का अन्त कर दिया जाये।** समानता की जो मांग इससे आगे जाती है, वह आवश्यक रूप से कोरी बकवास बन जाती है। हम इसके कई उदाहरण दे चुके हैं, और जब हम श्री ड्यूहरिंग की भविष्य की भ्रान्त कल्पनाओं पर विचार करेंगे, तब हमें बहुत-से और उदाहरण मिल जायेंगे।

अतः समानता का विचार अपने बुर्जुआ तथा सर्वहारा दोनों रूपों में ख़ुद भी ऐतिहासिक विकास की उपज है, जिसकी सृष्टि के लिये कुछ विशेष प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियां आवश्यक थीं और ख़ुद इन ऐतिहासिक परिस्थितियों के पैदा करने के लिये ज़रूरी था कि उनके पहले एक लम्बा ऐतिहासिक दौर गुज़र चुका हो। इसलिये यह विचार और कुछ भी हो, शाश्वत सत्य नहीं है। और यदि आज किसी न किसी अर्थ में सर्वसाधारण उसे एक निर्विवाद सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, यदि मार्क्स के शब्दों में इस विचार ने "अभी से एक लोकप्रिय पूर्वाग्रह की स्थिरता प्राप्त कर ली है",[59] तो यह उसकी स्वतःसिद्ध सत्यता का फल नहीं है, बल्कि यह इसका परिणाम है कि अठारहवीं शताब्दी के विचारों का बहुत व्यापक प्रसार हुआ है और वे आज भी समुपयुक्त प्रतीत होते हैं। इसलिये यदि श्री ड्यूहरिंग बिना अधिक सोचे-विचारे अपने दो प्रसिद्ध पुरुषों को समानता के आधार पर अपने आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करने की अनुमति दे देते हैं, तो इसका कारण यह है कि सर्वसाधारण के पूर्वाग्रह को यह बात बहुत स्वभाविक प्रतीत होती है। और असल में श्री ड्यूहरिंग अपने दर्शनशास्त्र को **प्राकृतिक** दर्शन इसीलिये कहते हैं कि वह केवल उन बातों पर आधारित है, जो उनको बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। लेकिन वे उनको क्यों स्वाभाविक प्रतीत होती हैं—यह, ज़ाहिर है, एक ऐसा प्रश्न है, जो वह अपने से कभी नहीं पूछते।

११

नैतिकता और क़ानून।
स्वतंत्रता और आवश्यकता

"राजनीति और क़ानून के क्षेत्र में इस पाठ्यक्रम में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे **अतिसम्पूर्ण एवं विशिष्टीकृत अध्ययन पर** आधारित हैं। इसलिये... हमें इस तथ्य से आरम्भ करना चाहिये कि हमारे सामने यहां जो कुछ मौजूद है, वह... क़ानूनी तथा राजनीतिक क्षेत्र में उपार्जित **निष्कर्षों** का सुसंगत प्रतिपादन है। विधिशास्त्र मेरा मूल विशिष्ट विषय था और मैंने उसके अध्ययन में केवल वे तीन वर्ष ही नहीं ख़र्च किये हैं, जो सामान्यतया विश्वविद्यालय में सैद्धान्तिक तैयारी के लिये ख़र्च करने पड़ते हैं, बल्कि मैंने तीन और साल अदालतों में विधिशास्त्र का व्यावहारिक प्रयोग किया तथा उस दौरान में उसका अध्ययन भी जारी रखा, जिसमें मेरा विशेष उद्देश्य उसके वैज्ञानिक सार को **और गहरा बनाना** था। और **निश्चय ही** निजी क़ानूनी सम्बन्धों और तदनुरूप क़ानूनी अपर्याप्ताओं की समीक्षा **इतने विश्वास के साथ** प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी, यदि यह चेतना न होती कि उसे विषय के बलवान पक्ष के साथ-साथ उसकी सारी दुर्बलताएं भी **ज्ञात हैं।**"

जो आदमी ख़ुद अपने बारे में यह कहने का हक़ रखता है, वह शुरू से ही बड़ा विश्वास जगायेगा, विशेषकर जब उसके विपरीत

"श्री मार्क्स का विधिशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, बहुत कुछ उपेक्षित रहा"।

और इस कारण हमें यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि निजी क़ानूनी सम्बन्धों की जो समीक्षा इतने विश्वास के साथ रंगमंच पर उतरी है, वह हमें केवल यह बताने तक ही सीमित रहती है कि

"विधिशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप का बहुत अधिक विकास नहीं हुआ है"; सकारात्मक दीवानी क़ानून अन्याय है, क्योंकि वह बल पर आधारित सम्पत्ति रखने की अनुमति दे देता है; और फ़ौजदारी क़ानून का "प्राकृतिक आधार" **प्रतिशोध** है।

हालांकि इस अन्तिम कथन में एकमात्र नयी बात "प्राकृतिक आधार" का उसका रहस्यमय आवरण ही है; और कुछ नहीं। राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग के निष्कर्ष उन प्रसिद्ध तीन पुरुषों के कार्यकलाप तक ही सीमित हैं, जिनमें से एक ने अभी तक बाक़ी दो को बलपूर्वक दबा रखा है; और श्री ड्यूहरिंग पूर्ण गम्भीरता के साथ यह खोज करते हैं कि इनमें से दूसरे व्यक्ति ने पहले हिंसा का प्रयोग किया था और दूसरों को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न किया था, या तीसरे व्यक्ति ने।

किन्तु आइये, हम अपने इस परम आत्मविश्वासी विधिवेत्ता के अति-सम्पूर्ण विशिष्टीकृत अध्ययन और तीन वर्ष के अदालती प्रयोग द्वारा गंभीरीकृत पाण्डित्य की थोड़ी और गहराई में जाकर छानबीन करें।

श्री ड्यूहरिंग ने लासाल के बारे में हमें बताया है कि

उसपर "एक तिजोरी की चोरी का प्रयत्न करने के वास्ते **किसी को उभाड़ने के लिये**" मुक़दमा चलाया गया था, लेकिन "अदालत" का सज़ा का हुक्म दर्ज नहीं हो सका, क्योंकि **प्रमाण के अभाव में** तथाकथित बरी – वह **आधी** बरी – बीच में आ गयी, जो **"उस समय तक सम्भव थी"।**

यहां लासाल के जिस मुक़दमे का ज़िक्र किया गया है, वह १८४८ की गरमियों में कोलोन की अदालत के सामने पेश हुआ था,[60] जहां लगभग पूरे राइन प्रान्त की भांति फ़्रांसीसी फ़ौजदारी क़ानून लागू था। प्रशा का Landrecht* अपवाद के रूप में केवल राजनीतिक अपराधों और जुर्मों के लिये लागू किया गया था, लेकिन इस अपवाद स्वरूप प्रयोग को कैम्पहाउसेन ने अप्रैल १८४८ में ही बन्द करा दिया था। अपराध करने का प्रयत्न करने के लिये "उभाड़ने" की बात तो दूर रही, फ़्रांसीसी क़ानून को प्रशा के Landrecht की अपराध करने के लिये "उभाड़ने" जैसी ढीली-ढाली कोटि का भी कोई ज्ञान नहीं है। उसे केवल अपराध करने के लिये **वरग़लाने** का ही ज्ञान है, और यह वरग़लाना भी केवल उसी समय दण्डनीय होता है, जब किसी को "भेंट देकर, वायदे करके, धमकियां देकर, अधिकार या शक्ति का दुरुपयोग करके,

---

* राष्ट्रीय क़ानून। – सं०

दाण्डिक तिकड़मों अथवा छलबन्द का प्रयोग करके" वरग़लाया गया हो (Code pénal, धारा ६०)[61]। अत्यन्त स्पष्ट रूप में निर्धारित फ़्रांसीसी संहिता और Landrecht की अस्पष्ट अनिश्चितताओं के बीच जो मूलभूत अन्तर है, उसे राज्य मन्त्रालय, जिसकी नस-नस में प्रशा का Landrecht कूट-कूट कर भरा हुआ था, उसी तरह अनदेखा कर गया, जिस तरह श्री ड्यूहरिंग उसे अनदेखा कर गये हैं। और उसने लासाल पर मुक़दमा दायर कर दिया, जो बड़े पक्षपातपूर्ण ढंग से चलाया गया, लेकिन फिर भी उसमें उसे घोर असफलता ही मिली। जिसे फ़्रांस के आधुनिक क़ानून का पूर्ण अज्ञान है, केवल वही व्यक्ति यह कहने का साहस कर सकता है कि फ़्रांसीसी दण्ड-विधि प्रशा के Landrecht के ढंग से प्रमाण के अभाव के कारण अभियुक्त को बरी कर देने की, या उस प्रकार की **आधी** बरी की अनुमति देती थी। फ़्रांसीसी क़ानून के अन्तर्गत फ़ौजदारी मुक़दमे में या तो दोषसिद्धि अथवा बरी करने का विधान है, और इन दोनों के बीच में कुछ नहीं होता।

और इसलिये हम यह कहने के लिये विवश हो जाते हैं कि यदि श्री ड्यूहरिंग ने एक बार भी कभी Code Napoléon[62] हाथ में उठाया होता, तो वह लासाल के विरोध में "यह श्रेष्ठ शैली का ऐतिहासिक चित्रण" हरग़िज़ न कर पाते। इसलिये हमें इस तथ्य की घोषणा करनी पड़ती है कि आधुनिक फ़्रांसीसी क़ानून की, अर्थात् उस **एकमात्र** आधुनिक ज़ाब्ता दीवानी की, जो महान फ़्रांसीसी क्रान्ति की सामाजिक उपलब्धियों पर आधारित है और जिसने इन उपलब्धियों को क़ानूनी रूप दिया है, श्री ड्यूहरिंग को **तनिक भी जानकारी नहीं है।**

एक अन्य स्थान पर बहुमत से निर्णय देनेवाली जूरी से मुक़दमे कराने की प्रथा की आलोचना करते हुए, जो कि फ़्रांसीसी नमूने के आधार पर सारे महाद्वीप में प्रचलित हो गयी थी, श्री ड्यूहरिंग हमसे कहते हैं:

"हां, इस विचार से, जिसकी सच पूछिये तो इतिहास में इसके पहले की भी कई मिसालें मिल जायेंगी, परिचित होना **भी** सम्भव होगा कि किसी भी आदर्श समाज में **जूरी में मतभेद होने** की अवस्था में दोष-सिद्धि होना असम्भव संस्थाओं में गिना जाना चाहिये... किन्तु जैसा कि

हमने ऊपर संकेत किया है, **यह महत्वपूर्ण** तथा **गम्भीर मेधावी** चिन्तन प्रणाली परम्परागत रूपों के लिये आवश्यक रूप से अनुपयुक्त प्रतीत होगी, क्योंकि यह उनके लिये **अतिउत्तम** है।"

एक बार फिर श्री ड्यूहरिंग को इस तथ्य की कोई जानकारी नहीं है कि इंगलैण्ड के सामान्य क़ानून के अन्तर्गत, अर्थात् परम्परा के उस अलिखित क़ानून के अन्तर्गत, जो स्मरणातीत काल से और कम से कम चौदहवीं शताब्दी से तो निश्चय ही वहां लागू है, न केवल फ़ौजदारी के मुक़दमों में दोषसिद्धि के लिये, बल्कि दीवानी के मुक़दमों में फ़ैसला सुनाने के लिये भी जूरी का एकमत होना नितान्त आवश्यक होता है। इस प्रकार उस महत्वपूर्ण तथा गम्भीर मेधावी चिन्तन प्रणाली को, जो श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार आजकल की दुनिया के लिये **अतिउत्तम** है, इंगलैण्ड में अत्यन्त अंधकारमय मध्य युग में भी क़ानूनी मान्यता प्राप्त थी और इंगलैण्ड से यह प्रणाली आयरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका और इंगलैण्ड के सभी उपनिवेशों में ले जायी गयी थी। मगर फिर भी अत्यन्त सम्पूर्ण ढंग का विशिष्टीकृत अध्ययन करने पर भी श्री ड्यूहरिंग के कानों में इस सब की कोई भनक नहीं पड़ी। अतः जिस क्षेत्र में जूरी का सर्वसम्मत निर्णय आवश्यक है, वह न केवल उस लघु क्षेत्र से कहीं अधिक बड़ा है, जहां प्रशा का Landrecht लागू है, बल्कि वह उन तमाम क्षेत्रों के संयुक्त रक़बे से भी बड़ा है, जहां जूरी बहुमत से फ़ैसला करती है। श्री ड्यूहरिंग को न केवल फ़्रांसीसी क़ानून की, जो कि संसार का एकमात्र आधुनिक क़ानून है, तनिक भी जानकारी नहीं है; उनको उस एकमात्र जर्मन क़ानून का भी कोई ज्ञान नहीं है, जिसका वर्तमान काल तक रोमन क़ानून के प्रभाव से स्वतंत्र विकास हुआ है और जो संसार के सभी भागों में फैल गया है। हमारा मतलब अंग्रेज़ी क़ानून से है। और श्री ड्यूहरिंग को उसका ज्ञान क्यों नहीं है? इसलिये कि

अंग्रेज़ी ढंग की क़ानून सम्बन्धी चिन्तन प्रणाली, श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार, "रोम के प्रामाणिक विधिवेत्ताओं की विशुद्ध धारणाओं के उस शिक्षण के सामने किसी भी हालत में नहीं ठहर पायेगी, जो जर्मन भूमि पर दी जाती है"।

और आगे उन्होंने लिखा है:

हमारी भाषा के स्वाभाविक गठन के मुक़ाबले में एक बच्चों की सी, गड्ड-मड्ड भाषा का प्रयोग करनेवाली अंग्रेज़ी भाषा-भाषी दुनिया की हैसियत क्या है?"

इसके उत्तर में हम स्पिनोज़ा की तरह यह कह सकते हैं कि: Ignorantia non est argumentum, अज्ञान कोई युक्ति नहीं है।[63]

चुनांचे अन्त में हम इसके सिवा और किसी परिणाम पर नहीं पहुंच सकते कि श्री ड्यूहरिंग ने, जो अत्यन्त सम्पूर्ण विशिष्टीकृत अध्ययन किया है, उसकी असलियत केवल यह है कि तीन साल तक वह Corpus juris[64] के सैद्धान्तिक अध्ययन में डूबे रहे थे, और तीन वर्ष उन्होंने प्रशा के महान Landrecht के व्यावहारिक अध्ययन में ख़र्च किये हैं। यह निश्चय ही काफ़ी प्रशंसनीय है और पुराने प्रशा में किसी भी संभ्रान्त ज़िला जज या वकील के लिये इतना अध्ययन पर्याप्त होता। लेकिन जब कोई व्यक्ति सभी संसारों और सभी युगों के लिये एक क़ानूनी दर्शनशास्त्र की रचना करने का बीड़ा उठाता है, तो उसे फ़्रांस, इंगलैण्ड और अमरीका जैसे राष्ट्रों की क़ानूनी प्रणालियों की कम से कम कुछ जानकारी ज़रूर होनी चाहिये। इन राष्ट्रों ने इतिहास में जो भूमिका अदा की है, वह उस भूमिका से बहुत भिन्न है, जो जर्मनी के उस छोटे-से टुकड़े ने अदा की है, जहां प्रशा का Landrecht प्रचलित है। मगर छोड़िये इस बात को; हम देखें कि श्री ड्यूहरिंग आगे क्या कहते हैं।

"बहुत ही मनमाने ढंग से, कभी इस दिशा में तो कभी उस दिशा में दौड़नेवाले, एक दूसरे को काटनेवाले, और कभी सामान्य क़ानून, तो कभी लिखित क़ानून के रूप में सामने आनेवाले उन स्थानीय, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय क़ानूनों की यह पंचमेल खिचड़ी, जो बहुधा अतिमहत्वपूर्ण प्रश्नों पर विशुद्ध वैधानिक रूप का आवरण डाल देते हैं—अव्यवस्था और परस्पर विरोधी बातों की यह प्रतिरूप पुस्तिका, जिसमें कभी विशिष्ट बातें सामान्य सिद्धान्तों को दबा देती हैं और कभी सामान्य सिद्धान्त विशिष्ट बातों को दबा देते हैं—इसकी सहायता से सचमुच कोई भी अपने मन में विधिशास्त्र की कोई स्पष्ट धारणा नहीं बना सकता।"

लेकिन यह गड़बड़ कहां पायी जाती है? उस क्षेत्र में, जहां प्रशा का Landrecht लागू है, जहां इस Landrecht के साथ, उसके ऊपर या नीचे प्रान्तीय क़ानून तथा स्थानीय परिनियम लागू हैं, जहां कहीं-कहीं पर सामान्य क़ानून तथा अन्य प्रकार की बकवास का भी राज्य है और जहां इन विभिन्न क़ानूनों को विभिन्न मात्राओं में सापेक्ष मान्यता मिली हुई है, जिसके कारण सभी व्यावहारिक विधिवेत्ता सहायता के लिये चीख़ा करते हैं। श्री ड्यूहरिंग के शब्दों में हमें इन्हीं चीख़ों की सहानुभूतिपूर्ण गूंज सुनायी दे रही है। अन्य सभ्य देशों की बात जाने दीजिये, जहां इस तरह की दक़ियानूसी परिस्थितियां कभी की समाप्त हो गयी हैं, श्री ड्यूहरिंग को अपने प्रिय प्रशा से भी बाहर निकलने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह केवल राइन नदी के तट तक चले आयें; उन्हें विश्वास हो जायेगा कि ऊपर उन्होंने जिन परिस्थितियों का वर्णन किया है, उनका वहां पिछले सत्तर वर्ष से कोई अस्तित्व नहीं है।

श्री ड्यूहरिंग आगे लिखते हैं:

"थोड़े कम अनगढ़ रूप में अलग-अलग व्यक्तियों के स्वाभाविक उत्तरदायित्व पर किन्हीं मण्डलों अथवा सार्वजनिक प्राधिकार की अन्य संस्थाओं के गुप्त और इसलिये गुमनाम सामूहिक निर्णयों तथा कार्यों का आवरण पड़ जाता है, जिससे इन मण्डलों या संस्थाओं के प्रत्येक अलग-अलग सदस्य का व्यक्तिगत दायित्व आंखों से ओझल हो जाता है।"

एक और अंश इस प्रकार है:

"हमारी वर्तमान स्थिति में, यदि कोई आदमी सामूहिक संस्थाओं के माध्यम के द्वारा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को अनदेखा कर देने या उसपर पर्दा डाल देने का विरोध करता है, तो उसकी मांग को **आश्चर्यजनक** तथा अत्यन्त कठोर मांग समझा जायेगा।"

सम्भवतः श्री ड्यूहरिंग को यह सूचना आश्चर्यजनक प्रतीत होगी कि इंगलैण्ड के क़ानून के अन्तर्गत न्यायाधीश-मण्डली के प्रत्येक सदस्य को

अपना फ़ैसला अलग से और खुली अदालत में देना पड़ता है और बताना पड़ता है कि उसने किन बातों के आधार पर यह फ़ैसला देना उचित समझा है; और वे प्रशासकीय सामूहिक संस्थाएं, जिनका चुनाव नहीं होता और जो न तो अपना काम-काज खुले में करती हैं और न ही खुले ढंग से वोट देती हैं, वे मूलतया **प्रशा** की संस्थाएं हैं और दूसरे देशों में उनका कोई अस्तित्व नहीं है, और इसलिये यदि उनकी मांग कहीं पर आश्चर्यजनक तथा अत्यन्त कठोर प्रतीत हो सकती है, तो केवल... **प्रशा में !**

इसी प्रकार उन्होंने जन्म, विवाह, मृत्यु, तथा अन्तिम संस्कार के समय धार्मिक रीतियों को अनिवार्य बना देने की जो शिकायतें की हैं, वे भी समस्त अपेक्षाकृत बड़े और सभ्य देशों में अकेले प्रशा पर ही लागू होती हैं, और जब से वहां नागरिक रजिस्टरी की प्रणाली आरम्भ हो गयी है, तब से तो ये शिकायतें प्रशा पर भी नहीं लागू होतीं।[65] जो कार्य श्री ड्यूहरिंग केवल भविष्य की "सोशलिटेरियन" व्यवस्था के द्वारा ही सम्पन्न कर सकते हैं, उसे इस बीच बिस्मार्क जैसे व्यक्ति ने एक साधारण-से क़ानून के द्वारा पूरा कर दिया है।

श्री ड्यूहरिंग की यह शिकायत भी कुछ इसी तरह की है कि "विधिवेत्ता अपने धंधे के लिये अपर्याप्त तैयारी करते हैं"। यह शिकायत उनके कथनानुसार "प्रशासकीय कर्मचारियों" के बारे में भी की जा सकती है। यह एक विशिष्ट रूप से प्रशियाई विलाप है; और यहां तक कि यहूदियों के प्रति श्री ड्यूहरिंग की घृणा भी, जिसे वह हास्यास्पद सीमाओं तक ले जाते हैं और जिसका वह प्रत्येक सम्भव अवसर पर प्रदर्शन करते हैं, एक ऐसी विशेषता है, जो यदि विशिष्ट रूप से प्रशा की नहीं तो एल्ब नदी के पूर्व के प्रदेश की विशेषता अवश्य है। वास्तविकता के जिस दार्शनिक के मन में हर प्रकार के पूर्वाग्रहों और अंधविश्वासों के प्रति सर्वोच्च तिरस्कार का भाव है, वह ख़ुद अपने व्यक्तिगत झक्कीपन में इतना गहरा डूबा हुआ है कि वह मध्य युग के कट्टरपन से विरासत में मिले यहूदी विरोधी लोक पूर्वाग्रह को "प्राकृतिक कारणों" पर आधारित एक "प्राकृतिक निर्णय" कहता है और फिर वह निश्चय कथन की

स्तूपाकार ऊंचाइयों पर चढ़कर घोषणा करता है कि "समाजवाद ही एक ऐसी शक्ति है, जो अधिक यहूदी संमिश्रणवाली आबादी परिस्थितियों का मुक़ाबला कर सकती है" (यहूदी संमिश्रणवाली आबादी परिस्थितियां! – क्या "प्राकृतिक" भाषा लिखी है!)।

पर यह सब बहुत हो चुका। क़ानूनी पाण्डित्य की इन दर्पपूर्ण डींगों का आधार–यदि बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाये, तो भी–पुराने प्रशा के किसी भी अत्यन्त साधारण विधिवेत्ता के अतिसाधारण व्यावसायिक ज्ञान से अधिक कुछ नहीं है। वैधिक और राजनीतिक विज्ञान का वह क्षेत्र, जिसके विषय में श्री ड्यूहरिंग बड़े सुसंगत ढंग से अपने निष्कर्ष पेश किया करते हैं, ठीक उस क्षेत्र से "मेल खाता है", जिसमें प्रशियाई Landrecht का राज है। रोमन क़ानून के अतिरिक्त, जिससे अब इंगलैण्ड तक में प्रत्येक विधिवेत्ता काफ़ी अच्छी तरह परिचित है, श्री ड्यूहरिंग का विधि-ज्ञान पूरी तरह और सम्पूर्णतया प्रशियाई Landrecht तक सीमित है– अर्थात् उनका ज्ञान एक प्रबुद्ध पितृसत्तात्मक निरंकुशता की उस वैधिक संहिता तक सीमित है, जो उस भाषा में लिखी गयी है, जिसमें लगता है, श्री ड्यूहरिंग को शिक्षा मिली है और जो अपनी नैतिक क़लई, अपनी वैधिक अस्पष्टता तथा असंगति, और यातना तथा दण्ड देने के साधन के रूप में बेंत लगाने के साथ पूरी तरह क्रान्ति के पहले के युग की चीज़ है। इसके आगे दुनिया में जो कुछ है, वह श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में शैतान की शरारत है–फ़्रांस का आधुनिक दीवानी क़ानून और अपने काफ़ी अनोखे विकास तथा वैयक्तिक स्वाधीनता को सुरक्षित रखने की अपनी भावना के साथ अंग्रेज़ी क़ानून, जिस जैसा महाद्वीप में और कहीं नहीं पाया जाता, दोनों इस मद में आ जाते हैं। जो दर्शनशास्त्र "किसी मात्र **दिखावटी** क्षितिज को मान्य स्वीकार नहीं कर सकता, बल्कि जो क्रान्ति पैदा करनेवाली अपनी शक्तिशाली गति के द्वारा बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति की समस्त धराओं और अन्तरिक्षों को खोलकर रख देता है"–उस दर्शनशास्त्र का **वास्तविक** क्षितिज है... पुराने प्रशा के छः पूर्वी प्रान्तों की सीमाएं[66] और उसके अतिरिक्त सम्भवतया थोड़े-से अन्य भूमिखण्ड, जहां महान Landrecht का राज है। और इस क्षितिज के

आगे वह न तो धराओं को खोलकर रखता है और न आसमानों को, न बाह्य प्रकृति का आविष्कार करता है और न ही आन्तरिक प्रकृति का, बल्कि बाक़ी संसार में जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में केवल घोरतम अज्ञान का ही परिचय देता है।

यह बहुत कठिन है कि नैतिकता और क़ानून की चर्चा हो और तथाकथित स्वतंत्र इच्छा, मनुष्य के मानसिक उत्तरदायित्व और आवश्यकता तथा स्वतंत्रता के सम्बन्ध का प्रश्न सामने आकर न खड़ा हो जाये। और वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के पास इस समस्या का केवल एक हल नहीं है; बल्कि उसके पास इसके दो-दो हल मौजूद हैं।

"स्वतंत्रता के तमाम झूठे सिद्धान्तों के स्थान पर हमें उस सम्बन्ध को स्थापित करना चाहिये, जो एक ओर बुद्धिसंगत समझ और दूसरी ओर नैसर्गिक आवेगों के बीच पाया जाता है तथा जिसके स्वरूप को हम अपने अनुभव से जानते हैं और जो सम्बन्ध **मानो** बुद्धिसंगत समझ तथा नैसर्गिक आवेगों को एक परिणामिक बल में संयुक्त कर देता है। गति-विज्ञान के इस रूप के मूलभूत तथ्यों को पर्यवेक्षण से प्राप्त करना होता है और जो घटनाएं अभी नहीं हुई हैं, उनकी पहले से गणना करने के लिये इन तथ्यों के स्वरूप तथा परिमाण दोनों का **यथासम्भव ठीक-ठीक** अनुमान लगाना पड़ता है। इस प्रकार आन्तरिक स्वतंत्रता के उन भ्रमों का, जिनकी लोग हज़ारों वर्षों से जुगाली कर रहे हैं और जिनके बारे में लोग हज़ारों वर्षों से सोच रहे हैं, न केवल पूरी तरह सफ़ाया हो जाता है, बल्कि उनका स्थान एक ऐसी ठोस वस्तु ले लेती है, जिसका जीवन का व्यावहारिक नियमन करने के लिये उपयोग किया जा सकता है।"

इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्रा का अर्थ यह है कि यदि बुद्धिसंगत समझ मनुष्य को दायीं ओर खींचती है, तो अबुद्धिसंगत आवेग उसे बायीं ओर खींचते हैं और शक्तियों के इस समान्तरचतुर्भुज में वास्तविक गति विकर्ण की दिशा में होती है। अतः स्वतंत्रता समझ और आवेग, विवेक और अविवेक का मध्यमान है और प्रत्येक अलग-अलग सूरत में स्वतंत्रता की मात्रा, खगोल विज्ञान की शब्दावली में, अनुभव पर आधारित एक "वैयक्तिक समीकरण" के द्वारा निर्धारित की जा सकती है।[67] लेकिन इसके कुछ पृष्ठ आगे हमें यह पढ़ने को मिलता है :

"हम नैतिक उत्तरदायित्व को स्वतंत्रता पर आधारित करते हैं; किन्तु स्वतंत्रता हमारे लिये अपनी स्वाभाविक तथा उपार्जित बुद्धि के अनुसार सचेतन प्रेरणाओं के प्रति हमारी संवेदनशीलता से अधिक और कुछ नहीं है। ऐसी तमाम प्रेरणाएं सम्भव विपरीत कार्यों की चेतना के बावजूद अनिवार्य प्राकृतिक नियमितता के साथ कार्य करती हैं; लेकिन जब हम नैतिक उत्तोलक का प्रयोग करते हैं, तब हम ठीक इसी अपरिहार्य बाध्यता का सहारा लेते हैं।"

स्वतंत्रता की यह दूसरी परिभाषा भी, जो पहली परिभाषा को बड़े अनादर के साथ एक ही चोट में ढेर कर देती है, हेगेलीय अवधारणा के एक अत्यन्त भद्दे रूप के सिवा और कुछ नहीं है। हेगेल पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्वतंत्रता और आवश्यकता के सम्बन्ध की सही व्याख्या की थी। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता आवश्यकता की अनुभूति है। "आवश्यकता केवल उसी हद तक **अंधी** होती है, **जिस हद तक वह समझी नहीं जाती***।"[68] स्वतंत्रता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्न में निहित नहीं है, बल्कि वह इन नियमों के ज्ञान में तथा इस ज्ञान की सहायता से इन नियमों से निश्चित उद्देश्यों के लिये सुनियोजित ढंग से कार्य कराने की जो सम्भावना पैदा होती है, उस सम्भावना में निहित है। यह बात बाह्य प्रकृति के नियमों के लिये भी सच है और उन नियमों के लिये भी, जो ख़ुद मनुष्यों के शारीरिक तथा मानसिक अस्तित्व पर शासन करते हैं। नियमों के इन दो वर्गों को हम अधिक से अधिक केवल चिन्तन में ही एक दूसरे से अलग कर सकते हैं। वास्तव में उन्हें अलग करना असम्भव है। अतः इच्छा की स्वतंत्रता का अर्थ विषय के ज्ञान के आधार पर निर्णय करने की सामर्थ्य के सिवा और कुछ नहीं है। इसलिये किसी ख़ास प्रश्न के सम्बन्ध में किसी आदमी का मत जितना **अधिक स्वतंत्र** है, इस मत के सार को उतनी ही अधिक **आवश्यकता के साथ** निर्धारित किया जायेगा; जबकि दूसरी ओर अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चितता, जो बहुत-से भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर विरोधी सम्भव निर्णयों से किसी

---

*शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है, ठीक अपने इस कार्य से ही यह स्पष्ट कर देती है कि वह स्वतंत्र नहीं है, बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियंत्रण में है, जिसका उसे ख़ुद नियंत्रण करना चाहिये था। अतः स्वतंत्रता अपने ऊपर तथा बाह्य प्रकृति के ऊपर नियंत्रण में निहित होती है और यह नियंत्रण प्राकृतिक आवश्यकता के ज्ञान पर आधारित होता है। इसलिये स्वतंत्रता लाज़िमी तौर पर ऐतिहासिक विकास का फल होती है। जो मनुष्य पहले पहल अपने को जंतु जगत् से अलग करने में सफल हुए थे, वे तमाम मूल बातों में उतने स्वतन्त्र नहीं थे, जितने ख़ुद पशु। लेकिन संस्कृति के क्षेत्र में उठाया गया प्रत्येक क़दम स्वतंत्रता की ओर उठता था। मानव इतिहास के प्रवेश द्वार पर हमारी इस आविष्कार से भेंट होती है कि यांत्रिक गति को ऊष्मा में रूपान्तरित किया जा सकता है। हमारा मतलब रगड़ से आग पैदा करने के आविष्कार से है। और अभी तक जितना विकास हुआ है, उसके अन्त में हमें इस आविष्कार के दर्शन होते हैं कि ऊष्मा को यांत्रिक गति में रूपान्तरित किया जा सकता है। हमारा मतलब भाप के इंजिन के आविष्कार से है।

और भाप का इंजिन सामाजिक जगत् में जो विराट मुक्तिदायक क्रान्ति कर रहा है—तथा जो अभी आधी भी पूरी नहीं हुई है—उसके बावजूद इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि रगड़ से आग पैदा करने के आविष्कार का मनुष्यजाति की मुक्ति पर और भी गहरा प्रभाव पड़ा था। कारण कि रगड़ से आग पैदा करके मनुष्य पहली बार प्रकृति की एक शक्ति को नियंत्रित करने में सफल हुआ था और इस घटना ने उसे सदा के लिये जंतु जगत् से अलग कर दिया था। भाप के इंजिन पर बहुत बड़ी-बड़ी उत्पादक शक्तियां निर्भर करती हैं। और केवल इन्हीं शक्तियों के द्वारा समाज की वह अवस्था सम्भव होती है, जिसमें न तो वर्ग भेद रहेंगे और न ही व्यक्ति को जीवन निर्वाह के साधनों के लिये परेशान होना पड़ेगा और जिसमें पहली बार वास्तविक मानव स्वतंत्रता तथा प्रकृति के ज्ञात नियमों के अनुरूप जीवन व्यतीत करने की बात सोची जा सकती है। इन विराट उत्पादन शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में भाप का इंजिन हमें चाहे जितना महत्वपूर्ण प्रतीत होता हो, पर उससे मानव विकास

में उतनी बड़ी छलांग कभी नहीं लग पायेगी, जितनी बड़ी छलांग रगड़कर आग जलाने के आविष्कार के फलस्वरूप लग सकी थी। परन्तु अभी तक का सम्पूर्ण मानव इतिहास मनुष्यजाति की किशोरावस्था का प्रतिनिधित्व करता है और हम लोगों के इस समय जो विचार हैं, उन विचारों को निरपेक्ष रूप से मान्य समझने की प्रत्येक चेष्टा अत्यन्त हास्यास्पद है। इसका प्रमाण यह साधारण-सा तथ्य है कि अभी तक के समस्त इतिहास के बारे में हम कह सकते हैं कि वह यांत्रिक गति के ऊष्मा में रूपान्तरण के व्यावहारिक आविष्कार के युग से ऊष्मा के यांत्रिक गति में रूपान्तरण के युग तक का इतिहास है।

यह सच है कि श्री ड्यूहरिंग भिन्न ढंग से इतिहास की व्याख्या करते हैं। वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के लिये इतिहास सामान्यतया भूलों, अज्ञान, बर्बरता, हिंसा तथा दूसरों को जीतने की गाथा होने के नाते एक घृणित वस्तु है; लेकिन यदि उसपर विस्तार से विचार किया जाये, तो वह दो बड़े कालों में बंट जाता है: (१) पदार्थ की स्वसमान अवस्था से फ़्रांसीसी क्रान्ति तक का काल; और (२) फ़्रांसीसी क्रान्ति से श्री ड्यूहरिंग तक का काल।

है उन्नीसवीं शताब्दी "फिर भी मूलतया प्रतिक्रियावादी ही रहती और बौद्धिक दृष्टिकोण से देखिये, तो वह अठारहवीं शताब्दी से भी अधिक प्रतिक्रियावादी"(!) "है"। इसके बावजूद यह शताब्दी समाजवाद को और उसके साथ-साथ "फ़्रांसीसी क्रान्ति के पूर्वजों एवं वीरों द्वारा कल्पित" (!) "पुनरुत्थान से भी ज़्यादा ज़बर्दस्त पुनरुत्थान के बीज को" अपने गर्भ में धारण किये हुए है।

बीते हुए समस्त इतिहास को वास्तविकता का दर्शनशास्त्र जिस उपेक्षा से देखता है, उसके समर्थन में निम्नलिखित युक्ति दी गयी है:

"जब हम उन हज़ारों वर्षों के अनुक्रम के विषय में सोचते हैं, जो भविष्य में आनेवाले हैं, तब वे चन्द हज़ार वर्ष, जिनका ऐतिहासिक सिंहावलोकन मूल प्रलेखों के कारण सुगम हो गया है, और साथ ही अभी

तक मनुष्य के गठन का विकास **बहुत ही कम महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं...** यदि पूरी मनुष्यजाति के जीवन काल पर विचार किया जाये, तो अभी वह बहुत युवा है, और जब भविष्य में विज्ञान को हज़ारों वर्षों का नहीं, बल्कि दसियों हज़ार वर्षों का सिंहावलोकन करना पड़ेगा, तब हमारी संस्थाओं का बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व बचपन हमारे युग के सम्बंध में एक निर्विवाद स्वतःस्पष्ट पूर्वाधार बन जायेगा और तब लोग हमारे वर्तमान युग का एक अत्यन्त प्राचीन काल के रूप में आदर किया करेंगे।"

अन्तिम वाक्य के सचमुच "मौलिक भाषा गठन" पर विचार न करके हम केवल दो ही बातों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करेंगे। एक तो यह कि यह "अत्यन्त प्राचीन काल" समस्त भावी पीढ़ियों के लिये हर सूरत में अत्यन्त रोचक ऐतिहासिक काल रहेगा, क्योंकि इसके बाद जितना भी विकास होनेवाला है, यह उसका आधार बनाता है; और इस काल का प्रस्थान-बिन्दु है मनुष्य का जंतु जगत् के बाहर विकास करना तथा उसका सार है ऐसी रुकावटों पर विजय पाना, जिनका भविष्य में सम्बद्ध मनुष्यजाति को कभी सामना नहीं करना पड़ेगा। और दूसरे, इस अत्यन्त प्राचीन काल – जिसके मुक़ाबले में इतिहास के भावी कालों की प्रगति को इस प्रकार की रुकावटें नहीं रोक सकेंगी और उनमें अभूतपूर्व वैज्ञानिक, प्राविधिक और सामाजिक उपलब्धियों की आशा है – के अन्तिम दिनों में यदि कोई व्यक्ति हमारी अत्यन्त "पिछड़ी हुई" तथा "प्रतिगामी" शताब्दी के बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व बचपन के आधार पर आविष्कृत अन्तिम एवं परम सत्यों और गहरी जड़ों तक जानेवाली अवधारणाओं के रूप में भविष्य में आनेवाले हज़ारों वर्षों के लिये अभी से नियम बना देना चाहता है, तो हमें कहना पड़ेगा कि उसने इस कार्य के लिये एक बहुत विचित्र क्षण चुना है। जो दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में रिचर्द वैगनर के समान हो, पर जिसमें वैगनर की प्रतिभा न हो, केवल उसी व्यक्ति को यह बात नहीं दिखाई देगी कि पिछले ऐतिहासिक विकास पर वह जितनी गालियों की बौछार करता है, वे सब उस तथाकथित वास्तविकता के दर्शनशास्त्र से भी चिपक जाती हैं, जिसके बारे में दावा किया जाता है कि वह इस सम्पूर्ण विकास का अन्तिम फल है।

इस नवीन, गहरी जड़ों तक जानेवाले विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश वह अनुभाग है, जिसमें विशिष्टीकरण तथा जीवन का मूल्य बढ़ाने की चर्चा की गयी है। इस अनुभाग में पूरे तीन अध्यायों तक लगातार अतिसाधारण बातों की इस तरह भविष्यवाणी होती रहती है, जैसे जल भूमि को चीरकर एक वेगवान धारा के रूप में फूट निकला हो। दुर्भाग्य से हम यहां पर कुछ संक्षिप्त उदाहरण ही दे सकते हैं।

"समस्त संवेदना और इसलिये जीवन के समस्त आत्मनिष्ठ रूपों का अधिक गूढ़ सार अवस्थाओं के **अन्तर** पर आधारित है... लेकिन **पूर्ण**" (!) "जीवन के लिये यह प्रमाणित करने में कोई ख़ास झंझट" (!) "नहीं होगी एक ख़ास अवस्था में बने रहने से नहीं, बल्कि जीवन में एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करते रहने से जीवन की समझ बढ़ती है और निर्णायक उद्दीपनाओं का विकास होता है... उस लगभग स्वसमान अवस्था का, जो **मानो** स्थायी जड़ता की अवस्था होती है और जो **मानो** संतुलन की उसी स्थिति में बनी रहती है, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, सत्ता को परखने के लिये बहुत कम महत्व होता है... आदत पड़ जाने पर या कहिये कि अभ्यास हो जाने पर यह अवस्था परम उदासीनता तथा विरक्ति का विषय बन जाती है, वह ऐसी चीज़ बन जाती है, जो निस्सत्वता से बहुत भिन्न नहीं होती। बहुत हुआ तो नीरसता की यातना भी एक प्रकार के नकारात्मक जीवन आवेग के रूप में उसमें प्रवेश कर जाती है... गतिहीनता का जीवन व्यक्तियों तथा जातियों, दोनों के लिये समस्त राग और जीवन में समस्त रुचि को नष्ट कर देता है। **लेकिन इन सारी परिघटनाओं की केवल हमारे अन्तर के नियम के द्वारा ही व्याख्या की जा सकती।**"

श्री ड्यूहरिंग अपने भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्षों की जिस तेज़ी के साथ स्थापना करते हैं, उसे देखकर अपनी आंखों पर विश्वास नहीं होता। यह साधारण-सी बात है कि यदि एक ही तंत्रिका का लगातार उद्दीपन होता रहे या एक ही प्रकार की उद्दीपना लगातार जारी रहे, तो प्रत्येक तंत्रिका या प्रत्येक तंत्रिका-तंत्र थक जाता है, और इसलिये सामान्य अवस्था में तंत्रिका उद्दीपनाओं को बीच-बीच में रोक देना चाहिये तथा उनमें हेर-फेर कर देना चाहिये।

वर्षों से शरीरक्रिया विज्ञान की प्रत्येक पाठ्य-पुस्तक इस बात का उल्लेख करती आयी है और प्रत्येक कूपमण्डूक अपने अनुभव से उसे जानता है। परन्तु यहां इस बात का पहले वास्तविकता के दर्शनशास्त्र की भाषा में अनुवाद किया जाता है। और जैसे ही इस पिटी-पिटायी बात को, जो एक जानी-मानी और बहुत पुरानी बात है, अनुवाद करके उसे इस रहस्य-मय सूत्र में रूपान्तरित कर दिया जाता है कि "समस्त संवेदन का अधिक गूढ़ सार अवस्थाओं के अन्तर पर आधारित होता है", वैसे ही यह बात थोड़ा और रूपान्तरित होकर "**हमारे** अन्तर के नियम" में बदल जाती है। और यह अन्तर का नियम अनेक ऐसी परिघटनाओं के एक पूरे क्रम को "पूर्ण रूप से व्याख्या योग्य" बना देता है, जो विविधता की रमणी-यता के उदाहरणों और निदर्शनों से अधिक और कुछ नहीं हैं और जिनको अत्यन्त साधारण ढंग के कूपमंडूक दिमाग़ के लिये भी किसी प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है तथा जिनकी स्पष्टता में इस तथाकथित अन्तर के नियम का हवाला देने से लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती।

लेकिन इतना कहने से "**हमारे** अन्तर के नियम" की गहरी जड़ों तक जानेवाले स्वरूप पर पूरा प्रकाश हरगिज़ नहीं पड़ता।

"जीवन में आयु अनुक्रम और उससे सम्बद्ध जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अभ्युदय के रूप में एक बहुत स्पष्ट उदाहरण हमारे सामने आता है, जिससे **हमारे** अन्तर के नियम पर प्रकाश पड़ता है। बच्चा, लड़का, युवक और वयस्क मनुष्य प्रत्येक अवस्था में जीवन की समझ की तीव्रता का अनुभव उस समय उतना नहीं करते, जब उनकी अवस्था स्थिर हो गयी होती है, जितना वे एक अवस्था से दूसरी अवस्था के संक्रमण के काल में करते हैं।"

पर यह भी पर्याप्त नहीं है:

"यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जिस चीज़ का पहले ही प्रयत्न किया जा चुका है, या जो चीज़ पहले ही की जा चुकी है, उसकी पुनरावृत्ति में कोई आकर्षण नहीं होता, तो **हमारे** अन्तर के नियम का और भी विस्तृत रूप में प्रयोग किया जा सकता है।"

और अब पाठक स्वयं उस देववाणी तुल्य बकवास की कल्पना कर

सकता है, जिसके लिये उपर्युक्त वाक्यों जैसी गहराई और गम्भीरतावाले वाक्य प्रस्थान-बिन्दु का काम करते हैं! कोई आश्चर्य नहीं, यदि अपनी पुस्तक के अन्त में श्री ड्यूहरिंग विजयोल्लास के साथ चिल्ला पड़ते हैं कि

"जीवन के मूल्य को आंकने और बढ़ाने के लिये अन्तर का नियम सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से निर्णायक बन गया है!"

इसी प्रकार अपने पाठकों के बौद्धिक मूल्य को श्री ड्यूहरिंग ने जिस तरह आंका है, उसके बारे में भी यही बात सच है। लगता है, उनकी राय में उनके पाठक सब सरासर गधे या कूपमण्डूक हैं।

इसके आगे जीवन के निम्नलिखित अत्यन्त व्यावहारिक नियम हमें बताये गये हैं:

"वह पद्धति, जिसके द्वारा जीवन में सम्पूर्ण रुचि को सक्रिय रखा जा सकता है," (यह कार्य निश्चय ही कूपमण्डूकों को और उन लोगों को शोभा देता है, जो कूपमण्डूक बनना चाहते हैं!) "यह है कि समस्त रुचि जिन विशिष्ट या **मानो** प्राथमिक रुचियों से मिलकर बनी होती है, उनको प्राकृतिक कालावधियों के अनुसार विकसित होने दिया जाये या एक दूसरे का अनुगमन करने दिया जाये। इसके साथ-साथ एक ही अवस्था के लिये स्थितियों के क्रम का इस प्रकार उपयोग किया जा सकता है कि हम निम्नतर तथा ज़्यादा आसानी से संतुष्ट हो जानेवाले उद्दीपनों का स्थान उच्चतर तथा अधिक स्थायी रूप से प्रभावोत्पादक उद्दीपनों को दे सकते हैं, ताकि कोई ऐसे अंतराल न रहने पायें, जिनमें रुचि का पूर्ण अभाव हो। लेकिन इस बात को भी सुनिश्चित करना आवश्यक होगा कि प्राकृतिक तनावों को या सामाजिक अस्तित्व के सामान्य क्रम के दौरान में पैदा होनेवाले तनावों को मनमाने ढंग से संचित न कर लिया जाये या उनको ज़बर्दस्ती न बढ़ा दिया जाये, अथवा विपरीत विकृति के रूप में उनको सूक्ष्मतम उद्दीपन से संतुष्ट करके ऐसी मांग का विकास करने से न रोक दिया जाये, जिसकी परितुष्टि सम्भव हो। अन्य सूरतों की तरह इस सूरत में भी हर प्रकार की सामंजस्यपूर्ण तथा सुखद गति की शर्त यह है कि प्राकृतिक लय को बनाये रखा जाये। और किसी स्थिति के उद्दीपनों के लिये प्रकृति ने या परिस्थितियों ने जो अवधि नियत कर रखी है, उन उद्दीपनों को उस अवधि के बाद भी जारी रखने की असमाधेय समस्या को हल करने की किसी को कोशिश नहीं करनी चाहिये", – इत्यादि, इत्यादि।

हद से ज़्यादा छिछली और पिटी-पिटायी बातों में बारीकी पैदा करने-वाले कूपमण्डूकतापूर्ण पण्डिताऊपन के इन गम्भीर एवं देववाणी तुल्य सूत्रों को जो भोला व्यक्ति "जीवन को परखने" के नियम समझ बैठेगा, उसे निश्चय ही "ऐसे अंतरालों" का कभी रोना नहीं पड़ेगा, "जिसमें रुचि का पूर्ण अभाव हो"। अपने सुखों की पूरी तैयारी करने तथा उनको उचित क्रम के अनुसार ग्रहण करने में ही उसका सारा समय निकल जायेगा और यहां तक कि अपने सुखों का आनन्द लेने के लिये भी उसके पास एक क्षण नहीं बचेगा।

हमें जीवन का, सम्पूर्ण जीवन का अनुभव करके देखना चाहिये। श्री ड्यूहरिंग ने हमें केवल दो बातों की मनाही की है :

एक तो "तम्बाकू का अतिसेवन करने की अस्वच्छता" की; और दूसरे, उन खाद्य तथा पेय पदार्थों की "जिनमें कुछ ऐसे द्रव्य होते हैं, जिनसे अरुचि उत्पन्न होती है या जो अधिक सुसंस्कृत भावनाओं के लिये सामान्यतया अप्रिय होते हैं"।

किन्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र के अपने पाठ्यक्रम में श्री ड्यूहरिंग ने शराब खींचने की एक ऐसी प्रशस्ति लिख डाली है, जिससे यह असम्भव प्रतीत होता है कि वह तेज़ शराब को भी इसी कोटि में गिनते हों। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये विवश हैं कि उन्होंने केवल हल्की शराब की ही मनाही की है। बस वह मांस की और मनाही कर दें, तब वह वास्तविकता के दर्शनशास्त्र को उसी ऊंचाई तक उठा ले जायेंगे, जिस ऊंचाई पर स्वर्गीय गुस्टाव स्त्रूवे इतनी महान सफलता के साथ विचरण किया करते थे – हमारा मतलब विशुद्ध बचकानेपन की ऊंचाई से है।

जहां तक तेज़ शराबों का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग थोड़ी और उदारता दिखा सकते थे। जो आदमी ख़ुद यह तसलीम करता है कि वह अभी तक स्थिर से गतिशील तक पहुंचानेवाले पुल का पता नहीं लगा सका है, उसको निश्चय ही उस ग़रीब आदमी का फ़ैसला करते समय थोड़ी दया दिखाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, जिसने एक बार अपने प्याले में ज़्यादा गहरी डुबकी लगा ली है और जो इसके फलस्वरूप ख़ुद भी गतिशील से स्थिर तक पहुंचानेवाले पुल की वृथा तलाश कर रहा है।

१२

द्वन्द्ववाद। परिमाण और गुण

"सत्ता के मूलभूत तार्किक गुणों का प्रथम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि **अंतर्विरोध का अपवर्जन** कर दिया जाता है। अंतर्विरोध एक ऐसी परिकल्पना है, जिसका केवल विचारों के संयोजनों से ही सम्बन्ध हो सकता है, पर जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुओं में किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं होता; या इसी बात को एक दूसरे ढंग से कहा जाये, तो वास्तविकता के रूप में स्वीकृत अंतर्विरोध स्वयं बेतुकेपन का चरम शिखर होता है... एक दूसरे का मुक़ाबला करने में लगी हुई और उल्टी दिशाओं में गतिमान शक्तियों का विरोध ही वस्तुतः संसार तथा उसके निवासियों के जीवन की समस्त प्रक्रियाओं का मूल रूप है। परन्तु तत्वों तथा व्यक्तियों की शक्तियों ने जो दिशाएं ग्रहण कर रखी हैं, उनकी यह प्रतिकूल बेतुके अंतर्विरोधों के विचार से ज़रा भी मेल नहीं खाती... यहां पर हम यह संतोष कर सकते हैं कि तर्कशास्त्र के कल्पित रहस्यों से सामान्यतया जो कुहासा उठा करता है, उसे हमने वास्तविकता में अंतर्विरोध को ढूंढ़ने के असली बेतुकेपन का एक स्पष्ट चित्र पेश करके एकदम साफ़ कर दिया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि अंतर्विरोध के द्वन्द्ववाद के सम्मान में—उस बहुत भद्दे ढंग से तराशी गयी लकड़ी की गुड़िया के सम्मान में, जिसको विरोधी विश्व रेखांकन के स्थान पर बैठा दिया जाता है—धूप जलाने की व्यर्थता सिद्ध कर दी गयी है"।

'दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम' में द्वन्द्ववाद के विषय में बस केवल इतना ही कहा गया है। किन्तु अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में श्री ड्यूहरिंग ने अंतर्विरोध के द्वन्द्ववाद के साथ और विशेष रूप से हेगेल के साथ बिल्कुल दूसरे ढंग का व्यवहार किया है।

"हेगेलीय तर्कशास्त्र के अनुसार या कहना चाहिये कि लोगोस सिद्धान्त के अनुसार अंतर्विरोध वास्तव में चिन्तन में मौजूद नहीं होता, क्योंकि

चिन्तन का तो स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी केवल आत्मनिष्ठ तथा सचेतन चिन्तन के रूप में ही कल्पना की जा सकती है; बल्कि वह ख़ुद वस्तुओं और प्रक्रियाओं में मौजूद होता है, और हम मानो उसका मूर्त रूप में अनुभव कर सकते हैं। अतः बेतुकापन विचारों का एक असम्भव संयोजन नहीं रहता, बल्कि एक वास्तविक शक्ति बन जाता है। तर्कसंगत तथा तर्कविरुद्ध की हेगेलीय एकता के विश्वास का पहला मूल मंत्र बेतुकेपन की वास्तविकता है... कोई वस्तु जितने अधिक अंतर्विरोधों से भरी है, वह उतनी ही अधिक यथार्थ है; या दूसरे शब्दों में कोई वस्तु जितनी अधिक बेतुकी है, वह उतनी ही अधिक विश्वसनीय है। यह सूत्र जो किसी नवीन आविष्कार का फल नहीं है, बल्कि ईश्वरीय ज्ञान के धर्मशास्त्र और रहस्य-वाद से उधार लिया गया है, तथाकथित द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की नग्न अभिव्यक्ति है।"

ऊपर जिन दो अंशों को उद्धृत किया गया है, उनकी विचार-वस्तु का सारांश इस वक्तव्य के रूप में पेश किया जा सकता है कि अंतर्विरोध = बेतुकापन, और इसलिये वह वास्तविक संसार में नहीं घटित हो सकता। जो लोग अन्य मामलों में काफ़ी ऊंचे दर्जे की व्यावहारिक बुद्धि का परिचय देते हैं वे, सम्भव है, यह समझें कि इस वक्तव्य को भी उतनी ही स्वतः-स्पष्ट मान्यता प्राप्त है, जितनी इस वक्तव्य की प्राप्त है कि सीधी रेखा वक्र रेखा नहीं हो सकती और वक्र रेखा सीधी रेखा नहीं हो सकती। लेकिन व्यावहारिक बुद्धि चाहे जितनी चीख़-पुकार मचाये, उसके बावजूद कुछ परिस्थितियों में अवकलन गणित सीधी रेखाओं और वक्र रेखाओं का समीकरण कर देता है और ऐसा करके ऐसी सफलताएं प्राप्त करता है, जिन्हें सीधी रेखाओं तथा वक्र रेखाओं के समरूप होने के विचार के बेतुकेपन पर ज़ोर देनेवाली व्यावहारिक बुद्धि कभी नहीं प्राप्त कर सकती। और प्राचीन यूनानियों के समय से वर्तमान काल तक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में तथाकथित अंतर्विरोध के द्वन्द्ववाद ने जितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उसको ध्यान में रखते हुए तो श्री ड्यूहरिंग के मुक़ाबले में एक अधिक शक्तिशाली विरोधी भी इस एक वक्तव्य और अनेक गालियों के अलावा कुछ और युक्तियों से लैस होकर ही उसकी आलोचना करना आवश्यक समझता।

यह सच है कि जब तक हम वस्तुओं पर उनकी विश्रामावस्था तथा निर्जीवितावस्था में विचार करते हैं, जब तक हम हरेक वस्तु पर अलग-अलग, उसे दूसरी वस्तुओं के पार्श्व में रखकर तथा एक के बाद दूसरी वस्तु पर विचार करते हैं, तब तक उनके भीतर का कोई विरोध हमारे सामने नहीं आता। कुछ ऐसे गुण हमारे सामने आते हैं, जो आंशिक रूप से समान, आंशिक रूप से एक दूसरे से भिन्न और यहां तक कि एक दूसरे के विरोधी भी होते हैं; लेकिन इस अन्तिम अवस्था में ये गुण अलग-अलग वस्तुओं में बंटे होते हैं और इसलिये उनके भीतर कोई विरोध नहीं होता। पर्यवेक्षण के इस क्षेत्र की सीमाओं के भीतर हम प्रचलित, अधिभूतवादी चिन्तन प्रणाली के आधार पर आगे बढ़ते जा सकते हैं। लेकिन जैसे ही हम वस्तुओं पर उनकी गति की अवस्था में, परिवर्तन की अवस्था में, उनकी जीवितावस्था में, एक दूसरे के साथ उनके पारस्परिक प्रभाव को ध्यान में रखते हुए विचार करते हैं, वैसे ही स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। तब हम तत्काल अंतर्विरोधों में फंस जाते हैं। गति स्वयं एक अंतर्विरोध है; यहां तक कि साधारण यांत्रिक स्थिति परिवर्तन भी केवल इसी तरह सम्पन्न हो सकता है कि एक पिण्ड काल के एक ही क्षण में एक स्थान पर भी होता है और दूसरे स्थान पर भी; वह एक स्थान विशेष पर होता भी है और नहीं भी होता है। और इस अंतर्विरोध का निरन्तर पैदा होते जाना और साथ ही हल भी होते जाना – इसी का नाम गति है।

इसलिये यहां एक ऐसा अंतर्विरोध हमारे सामने आता है, "जो वस्तुतः ख़ुद वस्तुओं और प्रक्रियाओं में होता है और हम उसका मानो मूर्त रूप में अनुभव कर सकते हैं।"

और श्री ड्यूहरिंग को इस अंतर्विरोध के बारे में क्या कहना है? वह फ़रमाते हैं कि

अभी तक "बुद्धिसंगत यांत्रिकी" में कोई भी "ऐसा पुल नहीं है", जो हमें "विशुद्ध गतिहीन से गतिशील तक" पहुंचा दे।

अब आख़िर पाठक यह समझ सकता है कि श्री ड्यूहरिंग के इन

प्रिय शब्दों के पीछे क्या छिपा है। उनके पीछे इसके सिवा और कुछ नहीं छिपा है कि जो मस्तिष्क अधिभूतवादी ढंग से सोचता है, वह विश्राम के विचार से गति के विचार तक पहुंचने में सर्वथा असमर्थ होता है, क्योंकि ऊपर जिस अंतर्विरोध का संकेत किया गया है, वह उसका रास्ता रोककर खड़ा हो जाता है। ऐसे मस्तिष्क के लिये गति को समझ पाना ही असम्भव होता है, क्योंकि गति एक अंतर्विरोध है। और गति की अबोधगम्यता की घोषणा करके ऐसा मस्तिष्क अपनी इच्छा के विपरीत इस अंतर्विरोध के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है, और इस प्रकार वह ख़ुद वस्तुओं तथा प्रक्रियाओं में एक ऐसे अंतर्विरोध की वास्तविक उपस्थिति को स्वीकार कर लेता है, जो इसके अतिरिक्त एक वास्तविक शक्ति भी है।

यदि साधारण यांत्रिक स्थिति परिवर्तन में एक अंतर्विरोध निहित होता है, तो पदार्थ की गति के उच्चतर रूपों के लिये, और विशेषकर कार्बनिक जीवन तथा उसके विकास के लिये तो यह बात और भी अधिक सत्य है। हमने ऊपर देखा था* कि जीवन यथार्थतः और मुख्यतः इसी का नाम है कि एक जीव प्रत्येक क्षण ख़ुद भी होता है और साथ ही कुछ और भी होता है। अतः जीवन भी एक अंतर्विरोध है, जो ख़ुद वस्तुओं और प्रक्रियाओं में मौजूद होता है और जो लगातार पैदा होता रहता है तथा जो अपने आपको लगातार हल करता रहता है। और जैसे ही अंतर्विरोध समाप्त हो जाता है, वैसे ही जीवन का भी अन्त हो जाता है और मृत्यु आ पहुंचती है। इसी तरह हमने यह भी देखा था** कि चिन्तन के क्षेत्र में भी हम अंतर्विरोध से छुटकारा नहीं पा सकते; और उदाहरण के लिये मनुष्य की ज्ञान प्राप्त करने की मूलतया असीमित सामर्थ्य तथा केवल बाह्य रूप से सीमित और परिमित संज्ञानवाले मनुष्यों में उसकी वास्तविक उपस्थिति के बीच पाये जानेवाले अंतर्विरोध का हल—कम से कम व्यवहारतः हमारे लिये पीढ़ियों के अन्तहीन क्रम में, अनन्त उन्नति में पाया जाता है।

---

* देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १३५।—सं०
** देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ६५, १४१।—सं०

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि उच्चतर गणित का एक मूलभूत सिद्धान्त यह अंतर्विरोध है कि कुछ ख़ास परिस्थितियों में सीधी रेखाएं और वक्र रेखाएं एक हो सकती हैं। इससे यह दूसरा अंतर्विरोध भी सामने आता है कि जो रेखाएं हमारी आंखों के सामने एक दूसरे का प्रतिच्छेदन करती हैं, उनको प्रतिच्छेदन के बिन्दु से केवल पांच या छः सेंटीमीटर की दूरी पर ही समांतर प्रमाणित किया जा सकता है; अर्थात् यह सिद्ध किया जा सकता है कि इन रेखाओं का यदि अनन्तत्व तक विस्तार किया जाये, तो भी वे कभी आपस में नहीं मिलेंगी। और फिर भी इन और इनसे कहीं अधिक बड़े अंतर्विरोधों की सहायता से काम करते हुए हम ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचते हैं, जो न केवल सही होते हैं, बल्कि जो निम्न गणित की पहुंच के बिल्कुल बाहर होते हैं।

लेकिन निम्न गणित में भी अंतर्विरोध भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिये, यह एक अंतर्विरोध है कि A का मूल, **A** का घात हो; और फिर भी $A^{\frac{1}{2}}=\sqrt{A}$ । यह एक अंतर्विरोध है कि कोई ऋणात्मक मात्रा किसी चीज़ का वर्ग हो; क्योंकि किसी भी ऋणात्मक मात्रा में यदि स्वयं उसी से गुणा किया जाये तो उसका फल एक धनात्मक वर्ग होता है। इसलिये ऋण एक का वर्गमूल न केवल एक अंतर्विरोध है, बल्कि एक बिल्कुल बेतुका अंतर्विरोध है। लेकिन फिर भी गणित की सही क्रियाओं का फल आवश्यक रूप से $\sqrt{-1}$ होता है। इसके अतिरिक्त ज़रा यह भी सोचिये कि यदि गणित को $\sqrt{-1}$ का प्रयोग करने की मनाही कर दी जाये, तो निम्न और उच्च दोनों प्रकार के गणित का क्या हाल होगा?

चर मात्राओं का प्रयोग करते हुए गणित स्वयं द्वन्द्ववाद के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है, और यह बात महत्वपूर्ण है कि इस प्रगति का श्रेय एक द्वन्द्ववादी दार्शनिक देकार्त को है। चर मात्राओं के गणित तथा अचर मात्राओं के गणित के बीच मोटे तौर पर उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जिस प्रकार का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक चिन्तन तथा अधिभूतवादी चिन्तन के बीच है। लेकिन फिर भी अधिकतर गणितज्ञ केवल गणित के क्षेत्र में ही द्वन्द्ववाद को मानते हैं और उनमें से बहुतेरे द्वन्द्ववादी ढंग से प्राप्त

पद्धतियों का प्रयोग करते हुए भी पुराने, सीमित, अधिभूतवादी ढंग से ही काम करते रहते हैं।

श्री ड्यूहरिंग के शक्तियों के विरोध पर तथा उनके विरोधपूर्ण विश्व रेखांकन पर हम और नज़दीक से विचार करते, यदि इस विषय के सम्बन्ध में उन्होंने मात्र इन खोखले **शब्दों** के अलावा हमें कुछ भी और बताया होता। उनका यह विरोध न तो उनके विश्व रेखांकन में एक बार भी काम करता हुआ दिखाया गया है और न ही उनके प्राकृतिक दर्शन में। यह इस बात का सबसे पक्का प्रमाण है कि श्री ड्यूहरिंग "संसार तथा उसके निवासियों के जीवन की समस्त प्रक्रियाओं के" अपने "मूलरूप" की सहायता से सकारात्मक ढंग का कोई भी कार्य नहीं कर सकते। जिस आदमी ने असल में हेगेल के "सार के सिद्धान्त" को अंतर्विरोधों में नहीं, बल्कि केवल विपरीत दिशाओं में हरकत करनेवाली शक्तियों की एक अति-साधारण और पिटी-पिटायी बात में परिणत कर दिया है, वह निश्चय ही सबसे अच्छा काम केवल यही कर सकता है कि इस तुच्छ निरूपण का कहीं पर भी प्रयोग न होने दे।

मार्क्स की रचना 'पूंजी' के रूप में श्री ड्यूहरिंग को द्वन्द्ववाद पर अपना क्रोध निकालने के लिये एक नया अवसर मिल जाता है। वह लिखते हैं:

"इन द्वन्द्ववादी झालरों और भूलभुलैयों तथा धारणात्मक बेलबूटों की विशेषता यह है कि उनमें प्राकृतिक तथा बोधगम्य तर्क का अभाव है... यहां तक कि जो भाग प्रकाशित हो चुका है, उसपर भी हमें यह सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा कि एक ख़ास दृष्टि से और साथ ही सामान्य दृष्टि से भी" (!) "एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक पूर्वधारणा के अनुसार हरेक में सब को खोजना चाहिये और सब में हरेक को, और इसलिये इस मिश्रित एवं मिथ्याकल्पित विचार के अनुसार अन्त में सब कुछ उसी एक चीज़ में परिणत हो जाता है।"

इस सुप्रसिद्ध दार्शनिक पूर्वधारणा की असलियत को अच्छी तरह समझने के कारण श्री ड्यूहरिंग बड़े विश्वास के साथ यह भविष्यवाणी भी कर

देते हैं कि मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत प्रतिपादन का अन्त में क्या "परिणाम" होगा; अर्थात् 'पूंजी' के जो खण्ड भविष्य में प्रकाशित होनेवाले हैं, उनमें क्या रहेगा। और यह भविष्यवाणी वह उस स्थल के केवल सात पंक्तियों के बाद ही कर देते हैं, जहां पर उन्होंने यह कहा है कि

"यदि सीधी और सरल मानव भाषा का प्रयोग किया जाये, तो अभी से यह बता सकना बिल्कुल असम्भव है कि दो" (अन्तिम)[69] "खण्डों में आगे और क्या आनेवाला है"।

किन्तु यह पहला अवसर नहीं है, जब श्री ड्यूहरिंग की रचनाएं भी उसी प्रकार की "वस्तुएं" प्रमाणित हुई हैं, जिनमें "अंतर्विरोध वास्तव में मौजूद होता है और हम उसका मानो मूर्त रूप में अनुभव कर सकते हैं"। लेकिन इससे उनके सामने कोई बाधा पेश नहीं होती है, वह विजयोल्लास में भरे हुए लिखते जाते हैं:

"फिर भी अधिक सम्भावना इसी बात की है कि तर्क की विकृति पर स्वस्थ तर्क की विजय होगी... जिस किसी में लेशमात्र स्वस्थ निर्णय शक्ति है, वह श्रेष्ठता के इस ढोंग को देखकर और इस रहस्यमय द्वन्द्ववादी बकवास को सुनकर... चिन्तन प्रणाली और शैली की इन अपरूपताओं के साथ किसी प्रकार का भी वास्ता रखना नहीं चाहेगा। द्वन्द्ववादी मूर्खताओं के अन्तिम अवशेषों की मृत्यु के साथ-साथ... आंखों में धूल झोंकने के इस साधन का सारा भ्रान्तिजनक प्रभाव जाता रहेगा, और तब कोई यह विश्वास नहीं करेगा कि ज्ञान की किसी गूढ़ बात की तह तक पहुंचने के लिये उसे अपने आपको तरह-तरह की यातनाएं देनी चाहिये; हालांकि असल में वहां अतिगूढ़ बातों का छिलका उतर जाने पर यदि सर्वथा अतिसाधारण बातों का नहीं, तो अधिक से अधिक साधारण सिद्धान्तों का ही चेहरा नज़र आता है... स्वस्थ तर्क की हत्या किये बिना, लोगोस सिद्धान्त के अनुसार, इस" (मार्क्सीय) "भूलभुलैयों को काग़ज़ पर उतारकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करना असम्भव है"। श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार मार्क्स की पद्धति यह है कि "वह अपने निष्ठावान अनुयायियों के लाभार्थ द्वन्द्ववादी चमत्कार करके दिखाया करते हैं", इत्यादि, इत्यादि।

मार्क्स के अन्वेषण के आर्थिक परिणाम कितने सही हैं और कितने ग़लत, इससे अभी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां पर तो हम केवल उस द्वन्द्ववादी पद्धति पर विचार कर रहे हैं, जिसका मार्क्स ने उपयोग किया है। लेकिन एक बात निश्चित है–'पूंजी' के अधिकतर पाठकों को पहली बार श्री ड्यूहरिंग से यह मालूम होगा कि असल में उन्होंने उस पुस्तक में क्या पढ़ा है। और श्री ड्यूहरिंग ख़ुद भी इन लोगों में शामिल होंगे, क्योंकि १८६७ में उनमें भी इस पुस्तक की एक ऐसी समीक्षा लिखने की सामर्थ्य थी (*Ergänzungsblätter**, खण्ड ३, अंक ३)[70], जो उनकी जैसी प्रतिभा के विचारक के लिये एक अपेक्षाकृत बुद्धिसंगत समीक्षा समझी जायेगी। और इस समीक्षा को लिखने के पहले उनको मार्क्सीय विवेचन का ड्यूहरिंगीय भाषा में अनुवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी थी, हालांकि अब वह कहते हैं कि इस प्रकार का अनुवाद किये बिना काम नहीं चल सकता। और यद्यपि उस समय भी उन्होंने मार्क्सीय द्वन्द्ववाद तथा हेगेलीय द्वन्द्ववाद को एक ही चीज़ समझने की भूल की थी, तथापि उस समय तक उनमें पद्धति तथा उसके प्रयोग द्वारा उपलब्ध परिणामों के बीच भेद करने की क्षमता थोड़ी-बहुत बाक़ी थी और वह यह समझते थे कि आम तौर पर पद्धति का मज़ाक़ बनाकर उसके द्वारा प्राप्त परिणामों का खण्डन नहीं किया जा सकता।

बहरसूरत श्री ड्यूहरिंग से हमें जो सबसे अधिक आश्चर्यजनक सूचना मिली है, वह यह है कि मार्क्सीय दृष्टिकोण से "अन्त में सब कुछ एक चीज़ में परिणत हो जाता है", और इसलिये उदाहरणार्थ पूंजीपति और मज़दूर तथा उत्पादन की सामन्ती, पूंजीवादी और समाजवादी प्रणालियां भी मार्क्स के लिये सब "एक ही चीज़" हैं–और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अन्त में जाकर तो मार्क्स और श्री ड्यूहरिंग भी दोनों "एक ही चीज़ में परिणत हो जाते हैं"। इस तरह की सरासर निरर्थक बातों का केवल एक यही कारण समझ में आता है कि "द्वन्द्ववाद" शब्द सुनते ही श्री ड्यूहरिंग मानसिक अनुत्तरदायित्व की एक ऐसी अवस्था में पहुंच

* 'परिशिष्ट'। –सं०

जाते हैं, जहां एक ख़ास मिश्रित तथा मिथ्याकल्पित विचार के फलस्वरूप वह जो कुछ करते और कहते हैं, वह सब अन्त में "एक ही चीज़ में परिणत हो जाता है"।

यहां उस शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसके बारे में श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है कि:

"**मैंने** अतिभव्य शैली में ऐतिहासिक वर्णन किया है" या जिसके विषय में उन्होंने कहा है कि यह "वह संक्षिप्त विवेचन है, जो जाति और प्ररूप को निश्चित कर देता है, और जो बाल की खाल निकालकर और विस्तार की अतिसूक्ष्म बातों का वर्णन करके उन लोगों को ख़ुश करने की कोशिश नहीं करता, जिनको किसी ह्यूम ने पण्डितों की भीड़ का नाम दिया था। उच्चतर एवं महानतर शैली में एकमात्र इस प्रकार का विवेचन ही पूर्ण सत्य के हितों के प्रति तथा शिल्पी संघों के बंधनों से मुक्त पाठकों के प्रति अपने कर्तव्य के अनुरूप होता है"।

अतिभव्य शैली में ऐतिहासिक वर्णन तथा जाति और प्ररूप का संक्षिप्त निर्धारण श्री ड्यूहरिंग के लिये निश्चय ही बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं, क्योंकि इस पद्धति का प्रयोग करते हुए वह सभी ज्ञात तथ्यों को विस्तार की अतिसूक्ष्म बातें कहकर अनदेखा कर जाते हैं और उनको शून्य के बराबर मान लेते हैं; और इसके परिणामस्वरूप उनको किसी बात का प्रमाण देने की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि केवल मोटी-मोटी बातें कहकर, घोषणाएं करके और गालियां बककर ही उनका काम चल जाता है। इस पद्धति का एक और लाभ यह है कि उससे शत्रु को पैर रखने के लिये कोई जगह नहीं मिलती, और उसके पास जवाब देने को इसके सिवाय और कोई तरीक़ा नहीं बचता कि वह भी अतिभव्य शैली में इसी प्रकार की घोषणाएं करे, मोटी-मोटी बातें दुहराये और अन्त में श्री ड्यूहरिंग को गालियां दे – या संक्षेप में कहा जाये, तो श्री ड्यूहरिंग के साथ गाली देने में होड़ करे, जो ज़ाहिर है हर आदमी को रुचिकर नहीं प्रतीत हो सकता। इसलिये हमें इसके वास्ते श्री ड्यूहरिंग के प्रति अनुगृहीत होना चाहिये कि उन्होंने कहीं-कहीं पर अपवाद के रूप में उच्चतर एवं महानतर

शैली को त्याग दिया है और अस्वस्थ मार्क्सीय लोगोस सिद्धान्त के कम से कम दो उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिये हैं।

"इस भ्रान्त एवं अस्पष्ट हेगेलीय विचार की चर्चा करने से कैसा हास्यास्पद प्रभाव पैदा होता है कि परिमाण गुण में बदल जाता है, और इसलिये जब एक पेशगी रक़म एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है, तो केवल इस परिमाणात्मक वृद्धि के द्वारा ही वह पूंजी बन जाती है।"

श्री ड्यूहरिंग ने इस बात को जिस "विशोधित" रूप में प्रस्तुत किया है, उससे निश्चय ही काफ़ी अजीब प्रभाव पैदा होता है। पर हम यह देखें कि मार्क्स की मूल रचना में इसका क्या रूप है। मार्क्स ने पृष्ठ ३१३ पर ('पूंजी', द्वितीय संस्करण) अचल और चल पूंजी तथा बेशी मूल्य का विवेचन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि "मुद्रा की या मूल्य की हर रक़म को इच्छानुसार पूंजी में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार का रूपान्तरण करने के लिये, असल में, यह ज़रूरी होता है कि जो व्यक्ति मुद्रा अथवा मालों का मालिक है, उसके हाथ में पहले से ही कम से कम एक निश्चित मात्रा में मुद्रा अथवा विनिमय मूल्य विद्यमान हो"*। मार्क्स ने उद्योग की किसी भी शाखा के उस मज़दूर का उदाहरण दिया है, जो हर रोज़ आठ घण्टे ख़ुद अपने लिये—अर्थात् अपनी मजूरी का मूल्य पैदा करने के लिये—काम करता है और बाक़ी चार घण्टे पूंजीपति के लिये, उस बेशी मूल्य को पैदा करने के लिये काम करता है, जो तुरन्त पूंजीपति की जेब में चला जाता है। इस सूरत में रोज़ाना इतना बेशी मूल्य जेब में डालने के लिये, जिससे आदमी अपने एक मज़दूर के समान जीवन बिता सके, उसके पास मूल्यों की कम से कम वह मात्रा होनी चाहिये, जो दो मज़दूरों के लिये कच्चा माल, श्रम के औज़ार और मजूरी मुहैय्या करने के लिये काफ़ी हो। और चूंकि पूंजीवादी उत्पादन का

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ३४९।
—सं०

उद्देश्य केवल जिन्दा रहना नहीं होता, बल्कि उसका उद्देश्य धन की वृद्धि करना होता है, इसलिये हमारा यह आदमी दो मज़दूरों से काम लेने पर भी पूंजीपति नहीं बन पायेगा। एक साधारण मज़दूर से दुगुना अच्छा जीवन बिताने के लिये, और जितना बेशी मूल्य पैदा होता है, उसके आधे भाग को फिर पूंजी में बदल देने के लिये उसे आठ मज़दूरों को नौकर रखने के क़ाबिल बनना पड़ेगा। अर्थात् उसके पास ऊपर हम जितनी रक़म मानकर चले थे, उसकी चौगुनी रक़म होनी चाहिये। और इतना सब कह चुकने के बाद तथा इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण तथा पुष्टि करने के बाद कि मूल्यों की हर छोटी-मोटी रक़म पूंजी में बदले जाने के लिये पर्याप्त नहीं होती, बल्कि इस दृष्टि से विकास के प्रत्येक काल के लिये तथा उद्योग की प्रत्येक शाखा के लिये एक निश्चित अल्पतम रक़म आवश्यक होती है, मार्क्स ने लिखा है कि "प्राकृतिक विज्ञान की तरह यहां भी ('तर्कशास्त्र' में) हेगेल द्वारा आविष्कृत उस नियम की सत्यता **सिद्ध हो जाती है** कि केवल परिमाणात्मक भेद एक बिन्दु से आगे पहुंचकर गुणात्मक परिवर्तनों में बदल जाते हैं"।*

और अब पाठक ज़रा उस उच्चतर एवं महानतर शैली को देखें, जिसके प्रताप से मार्क्स ने सचमुच जो कुछ कहा था, श्री ड्यूहरिंग ने उसकी बिल्कुल उल्टी बात उनके मुंह में रख दी है। मार्क्स ने कहा है कि यह तथ्य कि मूल्यों की कोई रक़म केवल उसी समय पूंजी में बदली जा सकती है, जब वह एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है; और यह आकार परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, मगर हर अलग-अलग सूरत के लिये एक निश्चित अल्पतम आकार आवश्यक होता है—यह तथ्य हेगेलीय नियम की **सत्यता का प्रमाण** है। लेकिन श्री ड्यूहरिंग ने मार्क्स के मुंह में यह बात रख दी है कि **चूंकि** हेगेलीय नियम के अनुसार परिमाण गुण में बदल जाता है, "**इसलिये** जब एक पेशगी रक़म एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है, तो वह पूंजी बन जाती है"। अर्थात् उन्होंने बिल्कुल उल्टी बात मार्क्स के मुंह में रख दी है।

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ३५१। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

श्री ड्यूहरिंग ने डार्विन के मामले में जिस तरह का व्यवहार किया था, उससे हम उनकी "पूर्ण सत्य के हितों में" और "शिल्पी संघों के बंधनों से मुक्त जनता के प्रति अपने कर्तव्य" का पालन करने के उद्देश्य से दूसरों की पुस्तकों के ग़लत उद्धरण देने की आदत का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है कि यह आदत वास्तविकता के दर्शनशास्त्र की एक आन्तरिक आवश्यकता है, और यह निश्चय ही बहुत "संक्षिप्त विवेचन" है। और ऊपर से यह बात अलग है कि श्री ड्यूहरिंग ने मार्क्स से "कोई भी पेशगी रक़म" कहलवाया है, जबकि असल में मार्क्स ने केवल कच्चे माल, श्रम के औज़ारों और मजूरी की शक्ल में पेशगी रक़म का ज़िक्र किया है। और इस तरह श्री ड्यूहरिंग मार्क्स के मुंह से एक सर्वथा निरर्थक बात कहलाने में सफल हो गये हैं। और फिर वह ख़ुद अपनी गढ़ी हुई बकवास को **हास्यास्पद** कहने का भी साहस करते हैं! जिस तरह उन्होंने डार्विन के मुक़ाबले में अपनी ताक़त आज़माने के लिये एक काल्पनिक डार्विन बनाकर खड़ा कर दिया था, उसी तरह यहां उन्होंने एक काल्पनिक मार्क्स बनाकर खड़ा कर दिया है। यह निश्चय ही "अतिभव्य शैली में ऐतिहासिक वर्णन" है!

विश्व रेखांकन पर विचार करते हुए हम यह पहले ही देख चुके हैं* कि मापगत सम्बन्धों की इस हेगेलीय संक्रमण रेखा के सम्बन्ध में – जिसमें परिमाणात्मक अन्तर कुछ ख़ास बिन्दुओं पर पहुंचकर अचानक गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाता है – श्री ड्यूहरिंग के साथ एक दुर्घटना हो गयी थी। दुर्बलता के एक क्षण में उन्होंने ख़ुद इस रेखा को स्वीकार कर लिया था और उसका उपयोग भी कर गये थे। वहां हमने एक अत्यन्त विख्यात उदाहरण का – जल की समुच्चित अवस्थितियों के परिवर्तन का – हवाला दिया था। सामान्य वायुमण्डलीय दाब के नीचे जल 0° सेंटीग्रेड पर द्रव से ठोस बन जाता है, और १००° सेंटीग्रेड पर द्रव से गैसीय अवस्था में पहुंच जाता है, और इस तरह इन दोनों परावर्तन बिन्दुओं पर पहुंचकर ताप का मात्र परिमाणात्मक परिवर्तन जल की दशा में एक गुणात्मक परिवर्तन पैदा कर देता है।

---

* देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ७८। – **सं०**

इस नियम के प्रमाण के रूप में प्रकृति की तरह मानव समाज के क्षेत्र से भी इस प्रकार के सैकड़ों तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है। उदाहरण के लिये मार्क्स की रचना 'पूंजी' के समूचे चौथे भाग में – 'सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन' – सहकारिता, श्रम के विभाजन तथा मैनुफ़ेक्चर, मशीनरी और आधुनिक उद्योग की चर्चा की गयी है; पूरा का पूरा भाग ऐसे असंख्य उदाहरणों से भरा हुआ है, जिनमें परिमाणात्मक परिवर्तन से विचाराधीन वस्तुओं के गुण में परिवर्तन आ जाता है, और साथ ही गुणात्मक परिवर्तन से उनके परिमाण में फ़र्क़ पड़ जाता है, और इसलिये जिनमें – यदि हम उस शब्दावली का प्रयोग करें, जिससे श्री ड्यूहरिंग इतनी घृणा करते हैं, तो परिमाण गुण में रूपान्तरित हो जाता है और गुण परिमाण में। जैसे मिसाल के लिये, इसी तथ्य को लीजिये कि अनेक व्यक्तियों के सहयोग से, या बहुत-से बलों के संयोग के फलस्वरूप एक बल के बन जाने से, मार्क्स के शब्दों में एक "नयी ताक़त" का सृजन हो जाता है, जो अपने अलग-अलग बलों के योग से मूलतया भिन्न होती है।*

इसके अलावा जिस अंश को, पूर्ण सत्य के हितों में श्री ड्यूहरिंग ने तोड़-मरोड़कर उसकी बिल्कुल उल्टी बात में बदल दिया है, उसके साथ मार्क्स ने एक फ़ुटनोट भी जोड़ा था, जिसमें लिखा है: "आधुनिक रसायन विज्ञान का अणु सिद्धान्त, जिसका वैज्ञानिक प्रतिपादन पहली बार लौरें और गेरहार्ट ने किया था, और किसी नियम पर आधारित नहीं है"**। लेकिन श्री ड्यूहरिंग के लिये इस सब का क्या महत्व है? वह तो जानते हैं कि:

"चिन्तन की प्राकृतिक-वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट रूप से आधुनिक शिक्षणात्मक तत्वों का ख़ास तौर पर उन लोगों में अभाव होता है, जो मार्क्स और उसके प्रतिद्वन्द्वी लासाल की भांति अर्ध-विज्ञान और थोड़ी-बहुत दर्शनबाज़ी, बस इतने से मसाले से अपने पांडित्य पर नया रंग-रोग़न चढ़ाकर बैठ जाते हैं" –

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ३७०। – सं०

** वही, पृष्ठ ३५१। – सं०

जबकि श्री ड्यूहरिंग के चिन्तन में "यांत्रिकी, भौतिकी तथा रसायन विज्ञान के क्षेत्रों में यथार्थ ज्ञान की मुख्य उपलब्धियां आधार का काम करती हैं।" वे किस तरह करती हैं, यह तो हम देख चुके हैं। किन्तु इस मामले के बारे में अन्य व्यक्ति भी अपनी कुछ राय बना सकें, इसके लिये ज़रूरी है कि हम मार्क्स के फ़ुटनोट में दिये गये उदाहरण पर कुछ और नज़दीक से विचार करें।

वहां कार्बन के उन यौगिकों की समानुरूप मालाओं की चर्चा की गयी है, जिनमें से बहुतों का पता लगाया जा चुका है और जिनमें से हरेक का अपना अलग संरचना का बीजगणितीय सूत्र होता है। उदाहरण के लिये, यदि रसायन विज्ञान की तरह यहां भी कार्बन के एक परमाणु को C से सूचित किया जाये, हाइड्रोजन के एक परमाणु को H से, तथा आक्सीजन के एक परमाणु को O से और प्रत्येक यौगिक में उपस्थित कार्बन के परमाणुओं की संख्या को n से सूचित किया जाये, तो इनमें से कुछ मालाओं के आणविक सूत्रों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

C_nH_{2n+2} – सामान्य पैराफ़िनों की माला,
$C_nH_{2n+2}O$ – साधारण अलकोहलों की माला,
$C_nH_{2n}O_2$ – मोनोबेसिक वसा-एसिडों की माला।

उदाहरण के लिये इनमें से अन्तिम माला को लीजिये; पहले फ़र्ज़ कीजिये कि n=१; फिर फ़र्ज़ कीजिये कि n=२; फिर n=३ इत्यादि, इत्यादि। तब (समावयवियों को छोड़कर) निम्नलिखित परिणाम हमारे सामने आते हैं:

CH_2O_2 – फ़ार्मिक एसिड – क्वथनांक १००°, गलनांक १°
$C_2H_4O_2$ – ऐसीटिक एसिड – क्वथनांक ११८°, गलनांक १७°
$C_3H_6O_2$ – प्रोपिग्रोनिक एसिड – क्वथनांक १४०°, गलनांक –
$C_4H_8O_2$ – बुटीरिक एसिड – क्वथनांक १६२°, गलनांक –
$C_5H_{10}O_2$ – वैलेरियानिक एसिड – क्वथनांक १७५°, गलनांक –

और $C_{30}H_{60}O_2$, अर्थात् मेलिस्सिक एसिड तक यह क्रम इसी तरह चलता जाता है। मेलिस्सिक एसिड केवल ८०° पर गलता है और उसका कोई क्वथनांक नहीं होता, क्योंकि बिना विघटन हुए उसका वाष्पन नहीं हो सकता।

इसलिये यहां गुणात्मक दृष्टि से भिन्न पिण्डों की एक पूरी माला हमारे सामने है, जो तत्वों के साधारण परिमाणात्मक योग से बनती जाती हैं; और वस्तुतः यह योग भी सदा एक से अनुपात में होता है। यह बात सबसे अधिक स्पष्टता के साथ वहां सामने आती है, जहां यौगिक के सभी तत्वों का परिमाण एक से अनुपात में बदलता है। जैसे सामान्य पैराफ़िनों (C_nH_{2n+2}) में निम्नतम मेथेन (CH_4) नामक गैस है, और अभी तक ज्ञात उच्चतम हेक्साडेकेन ($C_{16}H_{34}$) नामक एक ठोस वस्तु है, जिसके स्फटिक रंगहीन होते हैं और जो २१° पर गलती है और कहीं २७८° पर जाकर उबलती है। दोनों मालाओं का प्रत्येक नया सदस्य पूर्वगामी सदस्य के आणविक सूत्र में CH_2, या एक परमाणु कार्बन और दो परमाणु हाइड्रोजन के जुड़ जाने के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है; और आणविक सूत्र में होनेवाला यह परिमाणात्मक परिवर्तन हर बार गुणात्मक दृष्टि से भिन्न वस्तु पैदा कर देता है।

लेकिन ये मालाएं तो मात्र एक विशेष रूप से स्पष्ट उदाहरण हैं। एक तरह से पूरे रसायन विज्ञान में, और यहां तक कि विविध प्रकार की नाइट्रोजन आक्साइडों और फ़ासफ़ोरस या गंधक के आक्सीजनवाले एसिडों में भी, "परिमाण के गुण में बदल जाने" के उदाहरण भरे पड़े हैं; और यह तथाकथित भ्रान्त एवं अस्पष्ट हेगेलीय विचार वस्तुओं और प्रक्रियाओं में मूर्त रूप में दिखाई देता है–और उसे देखकर श्री ड्यूहरिंग के सिवा और किसी का माथा ख़राब नहीं होता और न ही किसी की आंखों के सामने धुंध छा जाता है। और यदि मार्क्स ने सबसे पहले इस ओर ध्यान आकर्षित किया था, और यदि श्री ड्यूहरिंग ने इस संदर्भ को बिना समझे हुए पढ़ा (क्योंकि वरना निश्चय ही इस अभूतपूर्व अन्याय को बिना चुनौती दिये अपनी नज़रों से नहीं निकलने दे सकते थे), तो सुप्रसिद्ध ड्यूहरिंगीय प्राकृतिक दर्शनशास्त्र पर पुनः दृष्टि डालने की कोई

ज़रूरत नहीं रहती ; बस इतना ही यह स्पष्ट करने के लिये बहुत काफ़ी है कि मार्क्स और श्री ड्यूहरिंग, इन दोनों में से किसमें "प्राकृतिक-वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली से प्राप्त विशिष्ट रूप से आधुनिक शिक्षणात्मक तत्वों" का अभाव है और "रसायन विज्ञान की मुख्य उपलब्धियों" से कौन अपरिचित है।

अन्त में हम परिमाण के गुण में रूपान्तरित हो जाने के पक्ष में एक गवाह और पेश करेंगे। वह गवाह नेपोलियन है। नेपोलियन ने फ़्रांसीसी घुड़सवार सेना और ममलूकों की लड़ाई का वर्णन किया है। फ़्रांसीसी घुड़सवार सेना के सैनिक अच्छे सवार नहीं थे, लेकिन अनुशासनबद्ध थे। ममलूक लोग लड़ाई में अपने काल के सर्वोत्तम घुड़सवार समझे जाते थे, लेकिन उनमें अनुशासन का अभाव था। नेपोलियन ने कहा है :

"दो ममलूक निस्संदेह रूप से तीन फ़्रांसीसियों से प्रबल सिद्ध होते थे ; १०० ममलूक १०० फ़्रांसीसियों के बराबर उतरते थे ; ३०० फ़्रांसीसी आम तौर पर ३०० ममलूकों को हरा देते थे, और १,००० फ़्रांसीसी १,५०० ममलूकों को अनिवार्य रूप से पराजित कर देते थे।"[71]

जिस प्रकार मार्क्स के मतानुसार विनिमय मूल्यों की किसी रक़म का पूंजी में रूपान्तरण हो सकने के लिये उसका एक निश्चित अल्पतम मात्रा में होना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार नेपोलियन के मतानुसार घुड़सवार दस्ते में सैनिकों की एक निश्चित अल्पतम संख्या होने पर ही उसमें अनुशासन की वह शक्ति पैदा होती है, जो संवृत क्रम तथा सुनियोजित कार्यवाही में व्यक्त होती है और जो असंगठित घुड़सवारों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या के मुक़ाबले में भी भारी पड़ती है, हालांकि न असंगठित सैनिकों के घोड़े कहीं अधिक अच्छे होते हैं, वे कहीं अधिक कुशल सवार और योद्धा होते हैं और कम से कम उतने ही बहादुर होते हैं। लेकिन श्री ड्यूहरिंग के मुक़ाबले में इस सबसे क्या प्रमाणित हो सकता है? क्या यूरोप से टक्कर होने पर नेपोलियन बुरी तरह पराजित नहीं हुआ था? क्या उसकी हार पर हार नहीं हुई थी? और क्यों हुई थी? केवल इस कारण कि उसने घुड़सवार सेना के व्यूह कौशल में उस भ्रान्त एवं अस्पष्ट हेगेलीय विचार को सम्मिलित कर दिया था!

१३

द्वन्द्ववाद। निषेध का निषेध

"(इंगलैण्ड में पूंजी के तथाकथित आदिम संचय की उत्पत्ति की) यह ऐतिहासिक रूपरेखा मार्क्स की पुस्तक का अपेक्षाकृत सर्वोत्तम भाग है, और यदि इस भाग की पाण्डित्य सम्बन्धी बैसाखी की सहायता के लिये द्वन्द्ववादी बैसाखी का सहारा न लिया गया होता, तो वह और भी अच्छा होता। अन्य किसी अधिक अच्छे और स्पष्ट उपाय के अभाव में यहां अतीत के गर्भ में से भविष्य को जनवाने के लिये असल में हेगेलीय निषेध के निषेध को दाई का काम करना पड़ता है। 'व्यक्तिगत स्वामित्व' का उन्मूलन, जो सोलहवीं शताब्दी के बाद से ऊपर बताये गये ढंग से सम्पन्न हो चुका है, पहला निषेध है। इसके बाद दूसरा निषेध आयेगा, जिसका स्वरूप निषेध के निषेध का होगा और इसलिये जिसके द्वारा 'व्यक्तिगत स्वामित्व' की पुनर्स्थापना हो जायेगा; परन्तु इसका रूप पहले से उच्चतर होगा। वह भूमि तथा श्रम के औज़ारों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित होगी। श्री मार्क्स ने इस नये 'व्यक्तिगत स्वामित्व' को 'सामाजिक स्वामित्व' भी कहा है; और इसमें वह हेगेलीय उच्चतर एकता सामने आती है, जिसमें समझा जाता है कि विरोध का ऊर्ध्वपातन हो जाता है, यानी हेगेलीय शाब्दिक बाज़ीगरी के अनुसार अंतर्विरोध पर क़ाबू पा लिया जाता है और साथ ही वह क़ायम भी रहता है... इसके अनुसार अपहरणकर्त्ताओं का सम्पत्तिहरण ऐतिहासिक वास्तविकता का, जहां तक उसके भौतिक दृष्टि से बाह्य सम्बन्धों का ताल्लुक़ है, मानो स्वतःउत्पन्न फल होता है... निषेध का निषेध जैसी हेगेलीय शाब्दिक बाज़ीगरी में आस्था रखने के आधार पर किसी भी विवेकवान मनुष्य को भूमि और पूंजी के सामूहिक स्वामित्व की आवश्यकता के बारे में विश्वास दिलाना कठिन होगा... लेकिन जो कोई यह जानता है कि हेगेलीय द्वन्द्ववाद को वैज्ञानिक आधार मानकर कैसी-कैसी निरर्थक बातें गढ़ी जा सकती हैं, या शायद कहना चाहिये कि जो कोई यह जानता है कि हेगेलीय द्वन्द्ववाद से कैसी-कैसी निरर्थक बातों का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य होता है, उसे मार्क्स की अवधारणाओं के नीहारिकावत् प्रसंकर कोई ख़ास विचित्र नहीं लगेंगे। जो पाठक इन हथकण्डों से परिचित नहीं है, उसके लाभार्थ यह

बता देना आवश्यक है कि हेगेल का पहला निषेध मनुष्य के नैतिक पतन का विचार है, जो धार्मिक पुस्तक से लिया गया है; और उसका दूसरा निषेध एक उच्चतर एकता का विचार है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य का प्रायश्चित हो जाता है। धार्मिक क्षेत्र से उधार लिये गये इस निरर्थक सादृश्य को, निश्चय ही, तथ्यों के तर्क का आधार नहीं बनाया जा सकता... पर श्री मार्क्स अपने उस स्वामित्व के नीहारिकावत् संसार में बहुत प्रसन्न हैं, जो एक ही समय में व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी और इस गूढ़ द्वन्द्ववादी पहेली को बूझने का काम उन्होंने अपने शिष्यों के लिये छोड़ दिया है।"

यहां तक हमने श्री ड्यूहरिंग की बात सुनी।

चुनांचे सामाजिक क्रान्ति करने और भूमि तथा श्रम द्वारा उत्पादित उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना करने की आवश्यकता को प्रमाणित करने का मार्क्स के सामने इसके सिवा और कोई तरीक़ा नहीं है कि हेगेलीय निषेध के निषेध का हवाला दे दें। और चूंकि मार्क्स ने धर्म से उधार लिये गये निरर्थक सादृश्यों को अपने समाजवादी सिद्धान्त का आधार बनाया है, इसीलिये वह इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि भावी समाज में उस स्वामित्व का बोलबाला होगा, जो ऊर्ध्वपातित अंतर्विरोध की हेगेलीय उच्चतर एकता के अनुसार व्यक्तिगत भी होगा और सामाजिक भी।

लेकिन क्षण भर के लिये निषेध के निषेध को छोड़कर उस "स्वामित्व" पर विचार कीजिये, जो "एक ही समय में व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी"। श्री ड्यूहरिंग ने इसे एक "नीहारिकावत् संसार" कहा है, और पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनकी बात सचमुच सही है। किन्तु दुर्भाग्य से इस नीहारिकावत् संसार में मार्क्स नहीं, बल्कि श्री ड्यूहरिंग ख़ुद निवास करते हैं। जिस प्रकार श्री ड्यहरिंग को "भ्रान्तचित्त प्रलाप" की हेगेलीय पद्धति का प्रयोग करने में सिद्धहस्त होने के कारण यह पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी कि 'पूंजी' के जो खण्ड अभी तक पूरे तैयार नहीं हुए हैं, उनमें कौनसी सामग्री होगी, उसी प्रकार यहां भी वह बिना किसी ख़ास कष्ट के एक ऐसे स्वामित्व की उच्चतर

एकता की बात मार्क्स के मुंह में रखकर, जिसके बारे में मार्क्स की रचना में एक शब्द भी नहीं है, उनको हेगेल के रास्ते पर ले आते हैं।

मार्क्स ने लिखा है: "यह निषेध का निषेध होता है। इससे उत्पादक के लिये निजी स्वामित्व की पुनर्स्थापना नहीं होती, किन्तु उसे पूंजीवादी युग की उपलब्धियों पर आधारित, अर्थात् सहकारिता और भूमि तथा उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित व्यक्तिगत स्वामित्व मिल जाता है। व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न होनेवाले बिखरे हुए निजी स्वामित्व के पूंजीवादी निजी स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया स्वभावतया पूंजीवादी निजी स्वामित्व के समाजीकृत स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया की तुलना में कहीं अधिक लम्बी, कठिन और हिंसात्मक होती है, क्योंकि पूंजीवादी निजी स्वामित्व तो व्यवहार में पहले से ही समाजीकृत उत्पादन पर आधारित होता है"।* और बस। यहां अपहरणकर्त्ताओं के सम्पत्तिहरण से उत्पन्न होनेवाली परिस्थिति को व्यक्तिगत स्वामित्व की पुनर्स्थापना कहा गया है, लेकिन **उसका आधार** होता है भूमि का तथा स्वयं श्रम द्वारा उत्पादित उत्पादन के साधनों का सामूहिक स्वामित्व। जो कोई भी सीधी और साफ़ बात समझने की सामर्थ्य रखता है, उसको यह समझने में कोई कठिनाई न होगी कि इसका अर्थ यह है कि सामूहिक स्वामित्व भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर होगा और व्यक्तिगत स्वामित्व बाक़ी वस्तुओं पर, अर्थात् उपभोग की वस्तुओं पर होगा। और अपनी बात को इतनी सरल बना देने के लिये कि उसे छः वर्ष के बच्चे भी समझ सकें, मार्क्स ने पृष्ठ ५६ पर एक ऐसे "स्वतन्त्र व्यक्तियों के समुदाय" की कल्पना की है, "जिसके सदस्य सामूहिक उत्पादन साधनों से काम करते हैं और जिसमें तमाम अलग-अलग व्यक्तियों की श्रम शक्ति को सचेतन ढंग से समुदाय की संयुक्त श्रम शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।" अर्थात् उन्होंने एक समाजवादी आधार पर संगठित समाज की कल्पना की है। मार्क्स ने आगे लिखा है: "हमारे

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ८५५-८५६। – सं०

इस समाज की कुल पैदावार सामाजिक होती है। उसका एक हिस्सा उत्पादन के नये साधनों के रूप में काम में आता है और इसलिये **सामाजिक ही रहता है।** लेकिन एक दूसरे हिस्से का समाज के सदस्य जीवन निर्वाह के साधनों के रूप में उपभोग करते हैं। **चुनांचे इस हिस्से का उनके बीच बंटवारा आवश्यक होता है।**"* निश्चय ही इस बात को समझने में तो श्री ड्यूहरिंग को भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये, हालांकि उनके दिमाग़ पर हेगेल का भूत सवार है।

वह स्वामित्व, जो एक ही समय में सामाजिक भी है और व्यक्तिगत भी, यह भ्रान्तिजनक प्रसंकर, यह बकवास, जो हेगेलीय द्वन्द्ववाद की अनिवार्य उपज है, यह नीहारिकावत् संसार, यह गूढ़ द्वन्द्ववादी पहेली, जिसे बूझने का काम मार्क्स ने अपने शिष्यों के लिये छोड़ दिया है—यह भी श्री ड्यूहरिंग की ही एक नयी स्वतंत्र सृष्टि एवं कल्पना है। मार्क्स चूंकि एक तथाकथित हेगेलवादी हैं, इसलिये उनके वास्ते आवश्यक है कि निषेध के निषेध के फलस्वरूप एक वास्तविक उच्चतर एकता उत्पन्न कर दें, और चूंकि मार्क्स यह काम श्री ड्यूहरिंग की रुचि के अनुसार नहीं करते, इसलिये श्री ड्यूहरिंग को फिर अपनी उच्चतर एवं महानतर शैली का सहारा लेना पड़ता है और पूर्ण सत्य के हित में मार्क्स के मुंह में ख़ुद अपनी गढ़ी हुई बातें रख देनी पड़ती हैं। जो आदमी दूसरों की रचनाओं को सही उद्धृत करने में सर्वथा असमर्थ है, जो यहां तक कि अपवाद के रूप में भी कभी सही उद्धरण नहीं दे सकता, उसको निश्चय ही उन लोगों के "चीनी पाण्डित्य" पर अपना नैतिक क्रोध व्यक्त करने का अधिकार है, जो दूसरों की रचनाओं को सदा सही-सही उद्धृत करते हैं, लेकिन जो ऐसा करके भी इस बात को पूरी तरह नहीं छिपा पाते कि "जिन विभिन्न लेखकों को उन्होंने उद्धृत किया है, उनके विचारों की समग्रता को वे नहीं समझ पाये हैं"। सत्य वचन, श्री ड्यूहरिंग! अतिभव्य शैली का ऐतिहासिक वर्णन चिरंजीवी हो!

इस स्थल तक हमारी यह मान्यता रही है कि ग़लत उद्धरण देने की

---

*वही, पृष्ठ ९३। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—सं०

श्री ड्यूहरिंग की स्थायी आदत के पीछे भी सद्भावना काम करती है, और वह या तो चीज़ों को समझने की पूर्ण असमर्थता से उत्पन्न होती है और या केवल स्मृति के बल पर उद्धरण देने की आदत से – जो अतिभव्य शैली के ऐतिहासिक वर्णन की एक ख़ास विशेषता प्रतीत होती है, हालांकि आम तौर पर इस आदत को फूहड़पन समझा जाता है। लेकिन मालूम होता है कि अब हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच गये हैं, जहां श्री ड्यूहरिंग के लेखन में भी परिमाण गुण में रूपान्तरित हो जाता है। कारण कि पहले हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिये कि मार्क्स द्वारा लिखित अंश बिल्कुल स्पष्ट है और इसके अतिरिक्त उसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर इसी विचार को और भी विशद रूप में व्यक्त किया गया है, जिससे ग़लतफ़हमी की ज़रा भी गुंजाइश नहीं रहती। दूसरे, जो स्वामित्व "एक ही समय में सामाजिक भी है और व्यक्तिगत भी" उसकी भयानकता का आविष्कार श्री ड्यूहरिंग ने न तो परिशिष्ट (*Ergänzungsblätter*) में 'पूंजी' की अपनी समीक्षा में किया था और न ही 'आलोचनात्मक इतिहास' के पहले संस्करण में। इसकी चर्चा इस पुस्तक के केवल दूसरे संस्करण में मिलती है। मतलब यह कि 'पूंजी' को **तीसरी बार** पढ़ने पर ही श्री ड्यूहरिंग यह आविष्कार कर पाये हैं। इसके अलावा 'आलोचनात्मक इतिहास' के दूसरे संस्करण में, समाजवादी भावना में पुनः लिखा गया था, श्री ड्यूहरिंग ने यह ज़रूरी समझा कि समाज के भावी संगठन के बारे में अधिक से अधिक निरर्थक बातें मार्क्स के मुंह में रख दी जायें, ताकि उनके मुक़ाबले में उस "आर्थिक कम्यून" को और भी शानदार ढंग से सामने लाया जा सके, "जिसकी आर्थिक तथा वैधिक रूपरेखा का **मैंने** अपने 'पाठ्यक्रम' में वर्णन किया है"। जब हम इन तमाम बातों पर विचार करते हैं, तब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये लगभग विवश हो जाते हैं कि श्री ड्यूहरिंग ने यहां पर जानबूझकर मार्क्स के विचार का "हितकारी ढंग से" – श्री ड्यूहरिंग के लिये हितकारी ढंग से – "विस्तार" कर दिया है।

लेकिन मार्क्स की रचना में निषेध के निषेध ने क्या भूमिका अदा की है? पचास पृष्ठ तक पूंजी के तथाकथित आदिम संचय की आर्थिक

तथा ऐतिहासिक छानबीन करने के बाद मार्क्स ने पृष्ठ ७६१ और इसके अगले पृष्ठों पर अन्तिम निष्कर्ष दिये हैं*। पूंजीवादी युग के पहले कम से कम इंगलैण्ड में लघु उद्योग पाया जाता था, जिसका आधार यह था कि उत्पादन के साधन मज़दूर की निजी सम्पत्ति होते थे। वहां पूंजी का तथाकथित आदिम संचय इस तरह हुआ कि जो लोग स्वयं उत्पादन करते थे, उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया गया; अर्थात् उस निजी स्वामित्व का अन्त हो गया, जो स्वयं अपने स्वामी के श्रम पर आधारित थी। यह इसलिये मुमकिन हुआ कि ऊपर जिस लघु उद्योग का ज़िक्र किया गया है, वह उत्पादन और समाज की केवल सकुंचित और आदिम सीमाओं के साथ ही मेल खाता है, और एक ख़ास अवस्था में पहुंचने पर वह ख़ुद अपने विनाश के भौतिक अभिकर्त्ताओं को जन्म दे देता है। यह विनाश उत्पादन के बिखरे हुए तथा व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक रूप से संकेन्द्रित साधनों में रूपान्तरित हो जाना—यह पूंजी का प्राक्-इतिहास है। जैसे ही श्रमिक, सर्वहाराओं में बदल जाते हैं और उनके श्रम के साधन पूंजी में रूपान्तरित हो जाते हैं, जैसे ही उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है—वैसे ही श्रम का और अधिक समाजीकरण, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों का पूंजी में और अधिक रूपान्तरण, और इसलिये निजी सम्पत्ति के मालिकों का और अधिक सम्पत्तिहरण एक नया रूप धारण कर लेते हैं। "अब जिसका सम्पत्ति-अपहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह ख़ुद अपने लिये काम करनेवाला मज़दूर नहीं है, बल्कि वह है बहुत-से मज़दूरों का शोषण करनेवाला पूंजीपति। यह सम्पत्ति-अपहरण स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियमों के अमल में आने के फलस्वरूप पूंजी के केन्द्रीयकरण के द्वारा सम्पन्न होता है। एक पूंजीपति हमेशा बहुत-से पूंजीपतियों की हत्या करता है। इस केन्द्रीयकरण के साथ-साथ, या यूं कहिये कि कुछ पूंजीपतियों द्वारा बहुत-से पूंजीपतियों के इस सम्पत्ति-अपहरण के साथ-साथ, अधिकाधिक

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ८५३-८५६।—सं०

बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम क्रिया का सहकारी स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिये सचेतन ढंग से विज्ञान का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढंग से जोता-बोया जाता है, श्रम के औज़ार ऐसे औज़ारों में बदलते जाते हैं, जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, समाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है। रूपान्तरण की इस क्रिया से उत्पन्न होनेवाली समस्त सुविधाओं पर जो लोग ज़बर्दस्ती अपना एकाधिकार क़ायम कर लेते हैं, पूंजी के उन बड़े-बड़े स्वामियों की संख्या यदि एक ओर बराबर घटती जाती है, तो दूसरी ओर ग़रीबी, अत्याचार, ग़ुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मज़दूर वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है और स्वयं पूंजीवादी उत्पादन क्रिया का यंत्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासनबद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिये एक बन्धन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अन्तर्गत जन्मी है और फूली-फली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण और श्रम का समाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे अपने पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है। पूंजीवादी निजी स्वामित्व की मौत की घण्टी बज उठती है। सम्पत्ति-अपहरण करनेवालों की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है।"*

और अब मैं पाठक से पूछता हूं कि वे द्वन्द्ववादी झालरें और भूल-भुलैयाएं और धारणात्मक बेल-बूटे कहां हैं; वे मिश्रित एवं मिथ्याकल्पित विचार कहां हैं, जिनके अनुसार सब कुछ अन्त में एक ही चीज़ में परिणत हो जाता है; वे द्वन्द्ववादी चमत्कार कहां हैं, जो मार्क्स ने अपने

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ८५५। —सं०

अनुयायियों के लाभार्थ किये हैं; वह रहस्यमयी द्वन्द्ववादी बकवास और हेगेल के लोगोस सिद्धान्त की समनुरूप वह भूलभुलैया कहां है, जिसके बिना श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार मार्क्स अपने विवेचन को आकार देने में असमर्थ हैं? मार्क्स ने तो केवल इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित किया है और यहां संक्षेप में यह बताया है कि जिस प्रकार पहले लघु उद्योग ने अपने विकास के द्वारा अनिवार्य रूप से ख़ुद अपने विनाश की, अर्थात् छोटे मालिकों के सम्पत्तिहरण की परिस्थितियां तैयार कर दी थीं, उसी प्रकार अब उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली ने स्वयं उन भौतिक परिस्थितियों को तैयार कर दिया है, जिनके कारण उसका नष्ट हो जाना लाज़िमी है। यह प्रक्रिया एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, और यदि उसके साथ-साथ वह एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया भी है, तो यह बात श्री ड्यूहरिंग को चाहे जितनी बुरी लगे, पर उसमें मार्क्स का कोई दोष नहीं है।

इस बिन्दु पर पहुंचकर ही ऐतिहासिक तथा आर्थिक तथ्यों के आधार पर पूरा प्रमाण देने के बाद ही मार्क्स ने यह लिखा है: "हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का फल पूंजीवादी निजी स्वामित्व को जन्म देती है। ख़ुद मालिक के श्रम पर आधारित निजी स्वामित्व का इस प्रकार पहला निषेध होता है। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियमों की निर्ममता के साथ ख़ुद अपने निषेध को जन्म देता है। यह निषेध का निषेध होता है" इत्यादि, इत्यादि (जैसा कि ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)। *

अतएव इस प्रक्रिया को निषेध का निषेध कहकर मार्क्स यह प्रमाणित करना नहीं चाहते कि यह प्रक्रिया ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक थी। बात इसकी उल्टी है। वह तो इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि वस्तुतः इस प्रकार की प्रक्रिया आंशिक रूप में सम्पन्न हो चुकी है, और आंशिक रूप में भविष्य में सम्पन्न होनेवाली है और यह प्रमाणित करने के बाद ही वह उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो एक निश्चित द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार

---

* वही, पृष्ठ ८५५। — **सं०**

विकसित होती है। बस इतनी सी बात है। इसलिये, जब श्री ड्यूहरिंग यह घोषणा करते हैं कि यहां निषेध के निषेध को अतीत के गर्भ में से भविष्य को जनवाने के लिये दाई का काम करना पड़ता है, या जब वह यह फ़रमाते हैं कि मार्क्स निषेध के निषेध में श्रद्धा रखने के आधार पर लोगों को भूमि तथा पूंजी के सामूहिक स्वामित्व की आवश्यकता (यह ख़ुद एक ठोस ड्यूहरिंग-मार्का विरोध है) का विश्वास दिलाना चाहते हैं, तब एक बार फिर श्री ड्यूहरिंग महज़ तथ्यों को तोड़-मरोड़कर ही पेश कर रहे हैं।

श्री ड्यूहरिंग को द्वन्द्ववाद के स्वरूप की तनिक भी समझ नहीं है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि वह उसे महज़ प्रमाण पैदा करने का अस्त्र समझते हैं। सीमित मस्तिष्कवाले मनुष्य सम्भवतया आकारपरक तर्क या प्रारम्भिक गणित को भी यही समझते हैं। परन्तु आकारपरक तर्क भी मूलतया नये परिणामों पर पहुंचने की, ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की पद्धति है; और द्वन्द्ववाद भी यही है, अन्तर केवल यह है कि वह एक अधिक महत्वपूर्ण अर्थ में इस प्रकार की पद्धति है, इसके अतिरिक्त क्योंकि वह आकारपरक तर्क के संकुचित क्षितिज से आगे बढ़ जाती है, उसमें संसार की एक अधिक व्यापक समझ का बीज निहित है। गणित में भी हमें इसी प्रकार का सह-सम्बन्ध मिलता है। प्रारम्भिक गणित, अथवा अचर मात्राओं का गणित कम से कम अपने समग्र रूप में आकारपरक तर्क की सीमाओं के भीतर घूमता है। चर मात्राओं का गणित, जिसका सबसे महत्वपूर्ण भाग अत्यणु कलन है, मूलतया इसके सिवा और कुछ नहीं है कि गणितीय सम्बन्धों पर द्वन्द्ववाद को लागू कर दिया जाता है। उसमें अन्वेषण के नये क्षेत्रों में इस पद्धति के बहुविध प्रयोग के मुक़ाबले में प्रमाण का सीधा-सादा प्रश्न पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है। परन्तु अवकलन गणित के प्रथम प्रमाणों से आरम्भ करते हुए उच्चतर गणित के लगभग सभी प्रमाण विशुद्ध प्रारम्भिक गणित के दृष्टिकोण से वस्तुतः असत्य हैं। और जैसा कि आम तौर पर देखने में आता है, जब द्वन्द्ववाद के क्षेत्र में प्राप्त परिणामों को आकारपरक तर्क के द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है, तब ऐसा होना अनिवार्य होता है। जिस तरह

लाइबनिट्ज़ ग्रौर उनके शिष्यों का ग्रपने काल के गणितज्ञों के सामने ग्रत्यणु कलन के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने का प्रयत्न केवल वक़्त ज़ाया करना था, उसी तरह श्री ड्यूहरिंग जैसे एक घोर ग्रधिभूतवादी के सामने किसी बात को केवल द्वन्द्ववाद के द्वारा सिद्ध करने की कोशिश भी फ़िज़ूल माथा खपाना है। उस काल के गणितज्ञों को ग्रवकलन का नाम सुनकर उसी तरह की जूड़ी चढ़ जाती थी, जिस तरह की जूड़ी श्री ड्यूहरिंग को निषेध के निषेध का नाम सुनकर चढ़ जाती है; ग्रौर जैसा कि हम ग्रागे देखेंगे, निषेध के निषेध में ग्रवकलन भी एक ख़ास भूमिका ग्रदा करता है। ग्रन्त में उस काल के गणितज्ञ–या उनमें से वे लोग, जो इस बीच मर नहीं गये थे–यदि न चाहते हुए भी चुप हो गये, तो इस कारण नहीं कि उनको ग्रवकलन में विश्वास हो गया था, बल्कि इसलिये कि उससे परिणाम हमेशा सही निकलता था। जैसा कि श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद हमें बताया है, उनकी ग्रायु ग्रभी केवल कोई चालीसेक है, ग्रौर यदि वह, जैसी कि हमारी ग्राशा है, वृद्धत्व को प्राप्त हुए, तो सम्भवतः उनको भी उसी तरह का ग्रनुभव होगा।

परन्तु तब वह भयानक निषेध का निषेध क्या है, जिसने श्री ड्यूहरिंग के जीवन को इतना कटु बना दिया है, ग्रौर जो उनकी दृष्टि में ग्रक्षम्य पाप की उसी प्रकार की भूमिका ग्रदा करता है, जिस प्रकार की भूमिका ईसाई धर्म में पवित्र ग्रात्मा के विरुद्ध किग्रा जानेवाला पाप ग्रदा करता है? वास्तव में यह एक बहुत ही सरल सी प्रक्रिया है, जो हर स्थान पर ग्रौर प्रति दिन होती रहती है। यदि उसपर पड़े हुए रहस्य के उस ग्रावरण को हटा दिया जाये, जिसके द्वारा पुराने भाववादी दर्शन ने उसे ढांक रखा था ग्रौर जिसको उसपर डाले रखना श्री ड्यूहरिंग जैसी योग्यता रखनेवाले ग्रसहाय ग्रधिभूतवादियों के हित में है, तो कोई भी बच्चा उसे समझ सकता है। जौ का एक दाना लीजिये। इस तरह के ग्ररबों दाने पीसकर, उबालकर ग्रौर उनकी बियर बनाकर इस्तेमाल किये जाते हैं। लेकिन यदि इस तरह के एक दाने को उस तरह की परिस्थितियां मिल जाये, जो उसके लिये सामान्य हैं, यदि वह उपयुक्त ढंग की मिट्टी पर जा पड़े, तो गरमी ग्रौर नमी के ग्रसर से उसमें एक विशिष्ट प्रकार का

परिवर्तन हो जायेगा। अर्थात् उसमें अंकुर निकल आयेगा। तब ख़ुद उस दाने का अस्तित्व नहीं रहता, उसका निषेध हो जाता है, और उसके स्थान पर वह पौधा नज़र आता है, जो इस दाने से पैदा हुआ है, और जो इस दाने का निषेध है। किन्तु इस पौधे की सामान्य जीवन क्रिया कैसे चलती है? वह बढ़ता है, उसपर फूल आते हैं, उसका निषेचन होता है, और अन्त में एक बार फिर वह जौ के दानों को जन्म देता है और जैसे ही ये दाने पककर तैयार होते हैं, वैसे ही पौधे का धड़ सूखकर मर जाता है; अर्थात् पौधे की बारी आने पर उसका भी निषेध हो जाता है। निषेध के इस निषेध के फलस्वरूप एक बार फिर हमें वह जौ का दाना मिल जाता है, लेकिन इस बार एक दाना नहीं, बल्कि पहले के दसगुने, बीसगुने, या तीसगुने दाने हमारे हाथ में होते हैं। दानों की जाति बहुत ही धीरे-धीरे बदलती है। इसलिये आजकल की जौ लगभग उसी तरह की है, जैसी सौ बरस पहले की जौ थी। लेकिन यदि हम कोई लचीला सजावटी पौधा लें, मिसाल के लिये, यदि हम डेहलिया या ऑर्किड का पौधा लें और उसके बीज तथा बीज से पैदा होनेवाले पौधे का माली की कला के अनुसार उपचार करें, तो निषेध के इस निषेध के फलस्वरूप हमें न केवल पहले से अधिक बीज मिल जाते हैं, बल्कि इन बीजों की क़िस्म भी पहले से बेहतर होती है, और उनसे अधिक सुन्दर फूल तैयार होते हैं, और इस क्रिया को जब-जब दोहराया जाता है, तब-तब हर बार निषेध के प्रत्येक नये निषेध के फलस्वरूप पूर्णता तक पहुंचने की प्रक्रिया को बढ़ावा मिलता है।

अधिकतर कीड़ों में भी यह प्रक्रिया उसी मार्ग का अनुसरण करती है, जिस मार्ग का वह जौ के दाने के सम्बन्ध में अनुसरण करती है। उदाहरण के लिये, तितलियां अण्डे के निषेध के द्वारा पैदा होती हैं, कुछ ख़ास ढंग के रूपान्तरणों में से गुज़रती हैं, और अन्त में लैंगिक परिपक्वता प्राप्त होकर युग्मन करती हैं तथा फिर उनका निषेध हो जाता है। जैसे ही युग्मन क्रिया पूरी हो जाती है और मादा अनेक अण्डे दे चुकती है, वैसे ही तितलियां मर जाती हैं। फ़िलहाल इस तथ्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है कि अन्य पौधों तथा जीव जंतुओं में इस प्रक्रिया का इतना

सरल रूप नहीं होता, और मरने के पहले वे एक बार नहीं, बल्कि अनेक बार बीज, अण्डे या सन्तान पैदा करती हैं। हमारा उद्देश्य तो यहां पर केवल यह प्रमाणित कर देना है कि जीव जगत् के दोनों क्षेत्रों में निषेध का निषेध **सचमुच होता है।** इसके अलावा पूरा भूगर्भ विज्ञान निषेधित निषेधों का एक क्रम है, जिसमें बार-बार पुरानी शैल संरचनाओं का ध्वंस और नयी शैल संरचनाओं का निक्षेप होता रहता है। द्रव पिण्ड के ठण्डा पड़ने पर पृथ्वी की जो मूल पपड़ी बनी थी, वह महासागरीय क्रियाओं, ऋतु क्रियाओं तथा वायुमण्डलीय-रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप टूट-फूट जाती है, और इन टूटे हुए पिण्डों का महासागर के तल पर स्तरण हो जाता है। महासागर के तल में होनेवाली स्थानीय उथल-पुथल से समुद्र की सतह के ऊपरवाले कुछ हिस्सों पर वर्षा का, अलग-अलग ऋतुओं के बदलते हुए ताप का और वायुमण्डल की आक्सीजन तथा कार्बनिक एसिड का असर पड़ता है। उन पिघले हुए शैल पुंजों पर भी इन्हीं क्रियाओं का असर पड़ता है, जो पृथ्वी के गर्भ में से स्तरों को तोड़कर बाहर निकलते हैं और बाद में ठण्डे पड़ जाते हैं। इस तरह दसियों लाख शताब्दियों तक नित नये स्तरों का निर्माण होता रहता है और फिर उनमें से भी अधिकांश नष्ट हो जाते हैं और हर बार नये स्तरों के निर्माण की सामग्री का काम करते हैं। परन्तु इस पूरी प्रक्रिया का एक बहुत धनात्मक परिणाम हुआ है। वह यह कि इस तरह अत्यन्त विविध प्रकार के रासायनिक तत्वों से मिलकर बनी और यांत्रिक ढंग से अपखण्डित मिट्टी तैयार हुई है, जिसके कारण नाना प्रकार की वनस्पति का बहुत प्रचुरता के साथ पैदा होना सम्भव हो गया है।

गणित में भी यही हालत है। बीजगणित की किसी भी मात्रा को ले लीजिये। उदाहरण के लिये a को लीजिये। यदि उसका निषेध कर दिया जाये, तो हमारे हाथ में आ जायेगा $-a$ (ऋण a)। यदि हम $-a$ को $-a$ से गुणा करके इस निषेध का भी निषेध कर दें, तो हमारे पास होगा $+a^2$, अर्थात् हमारे पास फिर वही मूल धनात्मक मात्रा होगी, लेकिन इस बार उसका घात पहले से ऊंचा होगा; वह मात्रा अब अपने द्वितीय घात पर पहुंच गयी होगी। यहां पर भी इस बात से कोई अन्तर

नहीं पड़ता कि a को ख़ुद a से गुणा करके भी हम इसी a^2 को प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उसका परिणाम भी वही a^2 होता है। इसका कारण तो यह है कि a^2 में निषेधित निषेध इतनी मज़बूती से जमा हुआ है कि a^2 की सदा दो वर्ग मूल होती हैं: $+a$ और $-a$। और जैसे ही हम वर्ग समीकरणों पर पहुंचते हैं, वैसे ही यह तथ्य बहुत स्पष्ट महत्व प्राप्त कर लेता है कि निषेधित निषेध से, वर्ग की ऋणात्मक मूल से छुटकारा पाना असम्भव है।

अधिक ऊंचे विश्लेषण में, "अनिश्चित रूप से लघु परिमाणों के उन संकलनों" में, जो ख़ुद श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार गणित की उच्चतम क्रियाएं हैं और जो साधारण भाषा में अवकलन गणित तथा अनुकलन गणित कहलाते हैं, निषेध का निषेध और भी अधिक स्पष्ट रूप में सामने आता है। कलन के इन रूपों को किस तरह व्यवहार में लाया जाता है? उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि किसी ख़ास प्रश्न में मेरे पास दो चर मात्राएं हैं: x और y, जिनमें से कोई भी उस समय तक बदलती नहीं, जब तक कि दूसरी मात्रा भी परिस्थिति विशेष के तथ्यों से निर्धारित अनुपात में बदल नहीं जाती। मैं x और y का अवकलन करता हूं, अर्थात् मैं x और y को इतना अधिक छोटा मानकर चलता हूं कि किसी भी वास्तविक मात्रा के मुक़ाबले में वह चाहे कितनी भी छोटी मात्रा क्यों न हो, ये दोनों मात्राएं ग़ायब हो जाती हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के अतिरिक्त x और y में से कुछ नहीं बचता, और इस सम्बन्ध का भी मानो भौतिक आधार कुछ नहीं रहता, वह एक ऐसा परिमाणात्मक अनुपात होता है, जिसमें तनिक भी परिमाण नहीं होता। इसलिये $\frac{dy}{dx}$, अर्थात् x और y के अवकलों का अनुपात $\frac{0}{0}$ के बराबर होता है, लेकिन यह $\frac{0}{0}$ $\frac{y}{x}$ की अभिव्यक्ति होता है। यहां केवल प्रसंगवश मैं यह भी कह दूं कि जो ग़ायब हो गयी हैं, ऐसी दो मात्राओं का, ग़ायब होने के क्षण का यह अनुपात एक विरोध है। लेकिन हमें उससे कोई परेशानी नहीं होती, जिस तरह लगभग दो सौ वर्ष से सम्पूर्ण गणित को उससे कोई परेशानी नहीं हुई है। और अब यह बताइये कि यहां मैंने x और y का

निषेध करने के सिवा ग्रौर क्या किया है, हालांकि यह सही है कि उनका निषेध इस ढंग से नहीं है कि उसके बाद हम इन मात्राग्रों की सारी चिन्ता से छूट जायें। यानी हमने उनका इस ढंग से निषेध नहीं किया है, जिस ढंग से ग्रधिभूतवाद निषेध करता है, बल्कि हमने परिस्थिति विशेष के तथ्यों के समनुरूप ढंग से उनका निषेध किया है। इसलिये ग्रब मेरे पास जो सूत्र या समीकरण मौजूद होते हैं, उनमें x ग्रौर y के स्थान पर उनके निषेध dx ग्रौर dy होते हैं। तब भी मैं इन सूत्रों का उपयोग करता रहता हूं, ग्रौर dx तथा dy को वास्तविक, किन्तु ग्रपवाद स्वरूप नियमों के ग्रधीन मात्राएं मानकर चलता हूं; ग्रौर फिर एक ख़ास बिन्दु पर पहुंचकर मैं **निषेध का निषेध कर देता हूं**, ग्रर्थात् मैं ग्रवकल सूत्र का ग्रनुकलन कर देता हूं, ग्रौर dx तथा dy के स्थान पर फिर वास्तविक मात्राएं x तथा y मेरे हाथ में ग्रा जाती हैं; लेकिन तब मैं फिर उसी स्थान पर नहीं पहुंच जाता, जिस स्थान से मैंने ग्रारम्भ किया था, बल्कि इस पद्धति का उपयोग करके मैं उस समस्या को हल कर देता हूं, जिसको यदि साधारण रेखागणित तथा साधारण बीजगणित हल करने की कोशिश करते, तो शायद उनके जबड़े टूट जाते, पर समस्या टस से मस न होती।

इतिहास में भी यही चीज़ देखने को मिलती है। सभी सभ्य क़ौमों के यहां शुरू में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। जितनी क़ौमें एक ख़ास ग्रादिम ग्रवस्था के बाहर निकल ग्रायी हैं, उन सबके यहां यह सामूहिक स्वामित्व खेती के विकास के दौरान में उत्पादन के लिये एक बंधन बन जाता है। वह मिटा दिया जाता है; उसका निषेध हो जाता है, ग्रौर कुछ मध्यवर्ती ग्रवस्थाग्रों के एक ग्रपेक्षाकृत लम्बे या छोटे क्रम के बीतने के बाद वह निजी स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु, जब ख़ुद भूमि के निजी स्वामित्व के फलस्वरूप खेती का विकास एक ग्रौर भी ऊंची ग्रवस्था में पहुंचता है, तो ग्रब की बार उल्टी बात होती है ग्रौर निजी स्वामित्व उत्पादन के लिये बंधन बन जाती है। ग्राजकल छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार का भू-स्वामित्व उत्पादन के लिये बंधन बना हुग्रा है। तब लाज़िमी तौर पर यह मांग उठती है कि इस निजी स्वामित्व का

भी निषेध होना चाहिये और एक बार फिर उसे सामूहिक स्वामित्व में रूपान्तरित कर देना चाहिये। लेकिन इस मांग का अर्थ यह नहीं है कि आदिम ढंग के सामूहिक स्वामित्व की पुनः स्थापना कर दी जाये; बल्कि इसका अर्थ यह है कि सामूहिक स्वामित्व के एक कहीं अधिक ऊंचे तथा विकसित रूप की स्थापना की जाये, जो उत्पादन के रास्ते में रोड़े का काम नहीं करेगा, बल्कि जो इसके विपरीत पहली बार उत्पादन को तमाम बंधनों से मुक्त कर देगा, और उसे आधुनिक रासायनिक खोजों तथा यांत्रिक आविष्कारों का पूर्ण उपयोग करने के योग्य बना देगा।

या एक और मिसाल लीजिये: प्राचीन काल का दर्शनशास्त्र था आदिम ढंग का प्राकृतिक भौतिकवाद। उस रूप में उसमें मन और पदार्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की सामर्थ्य नहीं थी। लेकिन इस प्रश्न के बारे में एक साफ़ समझ प्राप्त करने के उद्देश्य से पहले एक ऐसी आत्मा की कल्पना की गयी, जिसे देह से अलग किया जा सकता है; फिर इस आत्मा की अनश्वरता की घोषणा की गयी; और अन्त में एकेश्वरवाद की स्थापना हो गयी। अतः पुराने भौतिकवाद का भाववाद के द्वारा निषेध हो गया। लेकिन जब दर्शनशास्त्र का और विकास हुआ तो भाववाद भी निराधार बन गया, और उसका आधुनिक भाववाद के द्वारा निषेध हो गया। आधुनिक भौतिकवाद, निषेध का निषेध, केवल पुराने भाववाद की पुनर्स्थापना नहीं है, बल्कि वह पुराने भौतिकवाद की स्थायी एवं मूल स्थापनाओं में दर्शनशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान के दो हज़ार वर्ष के विकास के और साथ ही इन दो हज़ार वर्षों के इतिहास के सम्पूर्ण विचार तत्व को जोड़ देता है। अब वह दर्शनशास्त्र हरगिज़ नहीं रह जाता है, बल्कि अब तो वह एक विचारधारा हो जाती है, जिसे सब विज्ञानों से अलग खड़े हुए एक विज्ञानों के विज्ञान के रूप में अपनी मान्यता को स्थापित नहीं करना है, बल्कि जो सकारात्मक विज्ञानों के रूप में अपनी मान्यता को स्थापित करती है और उन्हीं में प्रयुक्त होती है। अतः यहां पर दर्शनशास्त्र का "ऊर्ध्वपातन" हो जाता है, अर्थात् "उसपर क़ाबू पा लिया जाता है और साथ ही वह क़ायम भी रहता है"। जहां तक उसके रूप

का सम्बन्ध है, उसपर क़ाबू पा लिया जाता है, और जहां तक उसके वास्तविक सार का सम्बन्ध है, वह क़ायम रहता है। इस प्रकार, जहां श्री ड्यूहरिंग को केवल "शाब्दिक बाज़ीगरी" दिखाई देती है, वहां अधिक नज़दीक से अध्ययन करने पर वास्तविक सार दिखाई देने लगता है।

अन्त में रूसो का समानता का वह सिद्धान्त भी—जिसकी ड्यूहरिंग का सिद्धान्त एक क्षीण तथा विकृत प्रतिध्वनि मात्र है—कभी प्रकाश में न आ पाता, यदि हेगेलीय निषेध का निषेध दाई के रूप में उसको जनवाने में मदद न देता, हालांकि यह ख़ुद हेगेल के जन्म के बीस वर्ष से अधिक पहले की बात है।[72] लज्जित होना तो दूर रहा, बल्कि जिस रूप में उस सिद्धान्त का पहले पहल प्रतिपादन किया गया था, उसपर तो उसकी द्वन्द्ववादी उत्पत्ति की ऐसी गहरी छाप है कि लगता है, जैसे उसे इसकी घोषणा करने में गर्व अनुभव होता हो। प्राकृतिक अवस्था अथवा वन्य अवस्था में सब मनुष्य समान थे; और रूसो तो चूंकि भाषा को भी प्राकृतिक अवस्था की विकृति समझते हैं, इसलिये एक ही जाति की सीमाओं के भीतर जंतुओं के बीच जो समानता पायी जाती है, उसका यदि रूसो उन पशु मानवों तक विस्तार कर देते हैं, जिनको हैकेल ने हाल में एक परिकल्पना के तौर पर Alali, अथवा मूक वर्ग में रखा है, तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं है।[73] लेकिन इन समान पशु मानवों में एक गुण था, जिससे अन्य जंतुओं के मुक़ाबले में उनकी स्थिति मज़बूत हो जाती थी। वह था परिपक्वशीलता, अर्थात् और विकास करने की क्षमता। और यह गुण असमानता का कारण बन गया। इसलिये रूसो असमानता के उद्भव को प्रगति का सूचक समझते हैं। लेकिन इस प्रगति में एक अंतर्विरोध निहित था, वह उन्नति होने के साथ-साथ अवनति भी थी।

(आदिम अवस्था के आगे) "समस्त प्रगति का अर्थ बहुत-से ऐसे क़दम उठाना था, जो ऊपर से देखने में **मनुष्य की व्यक्तिगत सिद्धि** की ओर उठाये गये क़दम प्रतीत होते थे, पर वास्तव में वे क़दम **जाति के पतन** की ओर उठाये गये थे। धातु का काम और खेती—ये दो कलाएं

थीं, जिनके आविष्कार ने यह महान क्रान्ति पैदा की थी" (जिसके द्वारा आदिम वन जोती-बोयी भूमि में रूपान्तरित हो गया, हालांकि उसके साथ-साथ सम्पत्ति की स्थापना के ज़रिये ग़रीबी और दासता भी आरम्भ हो गयी)। "कवि के दृष्टिकोण से सोने और चांदी ने **मनुष्यों को** सभ्य बनाया है और मनुष्य **जाति** का **सत्या**नाश कर दिया है, लेकिन दार्शनिक के दृष्टिकोण से लोहे और अनाज **ने** यह काम किया है।"

सभ्यता की प्रगति का प्रत्येक नया क़दम साथ ही असमानता की प्रगति का क़दम होता है। सभ्यता के साथ-साथ जिस समाज का उद्भव हुआ है, वह जितनी संस्थाओं को क़ायम करता है, वे सब जिस उद्देश्य से क़ायम की जाती हैं, उसका उल्टा काम करने लगती हैं।

"यह एक निर्विवाद तथ्य तथा समस्त सार्वजनिक क़ानून का मूल सिद्धान्त है कि लोग़ अपने मुखियाओं को इसलिये गद्दी पर बिठाते हैं कि वे उनकी स्वतंत्रता की रक्षा करें, न कि इसलिये कि वे उनको गुलाम बना लें।"

लेकिन फिर भी ये मुखिया लाज़िमी तौर पर लोगों के उत्पीड़क बन जाते हैं और उत्पीड़न को इस हद तक बढ़ा देते हैं कि असमानता अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर पुनः अपनी विरोधावस्था में आ जाती है और समानता का कारण बन जाती है। निरंकुश शासक के सामने सब समान होते हैं—सबकी स्थिति समान रूप से शून्य की स्थिति होती है।

"यहां पर असमानता अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। **यह वह अन्तिम बिन्दु है, जो वृत्त को सम्पूर्ण कर देता है और उस बिन्दु से मिल जाता है, जिससे हमने आरम्भ किया था।** यहां एक बार फिर सारे व्यक्ति केवल इसलिये एक दूसरे के समान हो जाते हैं कि वे सब शून्य के समान हैं और प्रजा के लिये उसके मालिक की इच्छा के सिवा और कोई क़ानून नहीं है।" लेकिन निरंकुश शासक केवल उसी समय तक मालिक रहता है, जब तक कि वह बल प्रयोग कर सकता है, और इसलिये, "जब उसे निकाल बाहर किया जाता है", तब वह "बल प्रयोग की शिकायत

नहीं कर सकता ... उसकी शक्ति का ग्राधार केवल बल था, ग्रौर केवल बल ही उसका तख़्ता उलट देता है; इसलिये हर चीज़ ग्रपने स्वाभाविक क्रम के ग्रनुसार होती है"।

ग्रौर इस तरह ग्रसमानता एक बार फिर समानता में बदल जाती है, लेकिन वह ग्रादिकालीन मूक मनुष्यों की पहलेवाली प्राकृतिक समानता में नहीं बदलती, बल्कि सामाजिक संविदा की उच्चतर समानता में रूपान्तरित हो जाती है। तब उत्पीड़कों का उत्पीड़न होता है। निषेध का निषेध हो जाता है।

इसलिये हमें रूसो में भी न केवल एक ऐसी चिन्तनधारा मिलती है, जो हूबहू मार्क्स की 'पूंजी' में विकसित चिन्तनधारा के समनुरूप है, बल्कि ब्यौरे की बातों में भी रूसो ठीक उन्हीं द्वन्द्ववादी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, जिनका मार्क्स ने प्रयोग किया था: प्रक्रियाग्रों में जो स्वभावतः विरोधात्मक हैं, विरोध पाया जाता है; एक चरम पद का उसके विपरीत पद में रूपान्तरण; ग्रौर ग्रन्त में पूरी चीज़ के ग्रसली सार के रूप में निषेध का निषेध। ग्रौर यद्यपि १७५४ में रूसो "हेगेलीय पिशाच भाषा" का प्रयोग नहीं कर सकते थे, तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हेगेल के जन्म के सोलह वर्ष पहले उन्हें उस हेगेलीय महामारी ने, विरोध के द्वन्द्ववाद ने, लोगोस सिद्धान्त ने, ग्रध्यात्मवाद ने, ग्रौर इसी प्रकार की ग्रन्य चीज़ों ने बुरी तरह ग्रस लिया था। ग्रौर जब श्री ड्यूहरिंग रूसो के समानता के सिद्धान्त के ग्रपने तुच्छ संस्करण का प्रतिपादन करते हुए ग्रपने दो सर्वविजयी पुरुषों का प्रयोग ग्रारम्भ करते हैं, तो वह ख़ुद उस ढालू समतल पर खड़े होते हैं, जहां से फिसलकर उनका निषेध के निषेध की गोद में पहुंच जाना ग्रवश्यम्भावी होता है। वह परिस्थिति, जिसमें दो पुरुषों की समानता ग्रक्षुण्ण थी ग्रौर जिसका एक ग्रादर्श परिस्थिति के रूप में भी वर्णन किया गया है, उसको श्री ड्यूहरिंग ने ग्रपनी रचना 'दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम' के पृष्ठ २७१ पर "ग्रादिम ग्रवस्था" का नाम दिया है। किन्तु पृष्ठ २७९ पर लिखा है कि इस ग्रादिम ग्रवस्था का "दस्यु व्यवस्था" द्वारा ग्रनिवार्यतः ग्रन्त हो गया – यह हुग्रा पहला निषेध। लेकिन ग्रब, वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के प्रताप से,

हम इस हद तक प्रगति कर गये हैं कि हमने दस्यु व्यवस्था का अन्त कर दिया है और उसके स्थान पर श्री ड्यूहरिंग द्वारा आविष्कृत, समानता पर आधारित, आर्थिक कम्यून स्थापित कर दी है — यह हुआ निषेध का निषेध, जिसके द्वारा एक उच्चतर स्तर की समानता स्थापित हो गयी है। कितना मनोहर दृश्य है, और यह दृश्य कितने हितकारी ढंग से हमारे दृष्टि क्षेत्र का विस्तार कर देता है: ज़रा देखिये तो, श्री ड्यूहरिंग का सुविख्यात व्यक्तित्व भी निषेध के निषेध का महापाप कर रहा है!

अस्तु यह निषेध का निषेध क्या है? यह प्रकृति, इतिहास तथा चिन्तन के विकास का एक अत्यन्त सामान्य — और इस कारण अत्यन्त प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण — नियम है। यह एक ऐसा नियम है जो, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जंतु जगत् तथा वनस्पति जगत् पर, भूगर्भ विज्ञान पर, गणित पर, इतिहास पर और दर्शनशास्त्र पर लागू है। यह एक ऐसा नियम है, जिसका यहां तक कि श्री ड्यूहरिंग को भी अपने तमाम ज़िद्दी विरोध के बावजूद अनजाने में और अपने विशिष्ट ढंग से अनुसरण करना पड़ा है। स्पष्ट है कि जब मैं उदाहरण के लिये यह कहता हूं कि अंकुरण से लेकर फलोत्पादक पौध की मृत्यु तक जौ का एक दाना जिस प्रक्रिया से गुज़रता है, वह निषेध के निषेध की क्रिया होती है, तब मैं विकास की इस **विशिष्ट** प्रक्रिया के बारे में कुछ नहीं कहता। कारण कि अनुकलन गणित भी निषेध के निषेध की क्रिया होती है; और यदि मैं ऐसा कहूंगा तो मैं यह निरर्थक-सी बात कह रहा हूंगा कि मेरे विचार से जौ के पौध की जीवन प्रक्रिया अनुकलन गणित है, या यूं कहें, समाजवाद है। किन्तु अधिभूतवादी लोग द्वन्द्ववाद पर सदा ठीक यही आरोप लगाते आये हैं। जब मैं यह कहता हूं कि ये सारी प्रक्रियाएं निषेध के निषेध की क्रियाएं हैं, तब मैं इन सारी प्रक्रियाओं को गति के इस एक नियम के अन्तर्गत ले आता हूं, और इसी कारण मैं हर अलग-अलग प्रक्रिया की विशिष्ट विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु द्वन्द्ववाद, प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन की गति एवं विकास के सामान्य नियमों के विज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है।

लेकिन इसपर कोई यह आपत्ति कर सकता है कि यहां पर जो निषेध हुआ है, वह वास्तविक निषेध नहीं है। जब मैं जौ के एक दाने को पीस डालता हूं, या किसी कीड़े को पैर तले मसल देता हूं, या धनात्मक मात्रा a को काट देता हूं, तब भी मैं जौ के दाने, कीड़े या धनात्मक मात्रा a का निषेध कर देता हूं; और इसी तरह की और भी मिसालें ली जा सकती हैं। या इस वाक्य को लीजिये कि गुलाब गुलाब है। जब मैं यह कहता हूं कि गुलाब गुलाब नहीं है, तब पहले वाक्य का निषेध कर देता हूं। और यदि उसके बाद मैं इस निषेध का निषेध कर देता हूं और कहता हूं कि आख़िर गुलाब गुलाब ही है—तब मुझे क्या मिलता है?

सच पूछिये तो ये आपत्तियां ही द्वन्द्ववाद के विरुद्ध अधिभूतवादियों की मुख्य युक्तियां हैं; वे इस चिन्तन प्रणाली की संकुचित मनोवृत्ति के सर्वथा उपयुक्त हैं। द्वन्द्ववाद में निषेध का अर्थ केवल इन्कार कर देना, या यह घोषणा कर देना नहीं है कि अमुक वस्तु नहीं है; या किसी वस्तु को मनचाहे ढंग से नष्ट कर देना भी निषेध नहीं है। बहुत दिन पहले स्पिनोज़ा ने कहा था: Omnis determinatio est negatio—प्रत्येक सीमांकन अथवा निर्धारण साथ ही निषेध भी होता है।[74] और इसके अलावा यहां जिस प्रकार के निषेध की चर्चा है, वह प्रथमतः प्रक्रिया विशेष के सामान्य स्वरूप से और द्वितीयतः उसके विशिष्ट स्वरूप से निर्धारित होता है। मुझे न केवल निषेध करना पड़ता है, बल्कि निषेध का ऊर्ध्वपातन भी करना पड़ता है। इसलिये मुझे पहले निषेध की ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे दूसरे निषेध की भी सम्भावना बनी रहे, या जिससे दूसरा निषेध भी सम्पन्न हो जाये। यह कैसे होता है? वह प्रत्येक स्थिति के विशिष्ट स्वरूप पर निर्भर करता है। यदि मैं जौ के दाने को पीस डालता हूं या कीड़े को मसल डालता हूं, तो मैं क्रिया के पहले भाग को तो पूरा कर देता हूं, पर उसके दूसरे भाग को असम्भव बना देता हूं। इसलिये प्रत्येक अलग-अलग वस्तु का इस प्रकार निषेध करने का, जिससे उसका और विकास हो सके, एक ख़ास ढंग होता है; और हर प्रकार की अवधारणा या विचार के लिये भी यही बात सच है। अत्यणु

कलन में एक ऐसे निषेध का प्रयोग किया जाता है, जो उस निषेध से भिन्न होता है, जिसका ऋणात्मक मूलों से धनात्मक घातों का निर्माण करने में उपयोग किया जाता है। अन्य तमाम कलाओं की तरह इस कला को भी सीखना पड़ता है। यदि मुझे केवल इतना ही ज्ञान हो कि जौ का पौधा और अत्यणु कलन, इन दोनों पर निषेध का निषेध लागू होता है, तो यह ज्ञान सफलतापूर्वक जौ पैदा करने अथवा अवकलन और अनुकलन करने में मेरी मदद नहीं करेगा। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे केवल डोरियों के आयामों के द्वारा ध्वनि के निर्धारण के नियमों का ज्ञान होने पर मैं वायोलिन नहीं बजा पाऊंगा।

लेकिन यह बात स्पष्ट है कि निषेध के जिस निषेध में a को बारी-बारी से लिखने और काट देने की खिलवाड़ की जाती है, या जिसमें एक बार यह कहा जाता है कि गुलाब गुलाब है और दूसरी बार यह कहा जाता है कि गुलाब गुलाब नहीं है, उसका इसके सिवा और कोई परिणाम नहीं होता कि जो व्यक्ति इस क्लान्तिकर कार्यविधि का प्रयोग करता है, उसकी मूर्खता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु फिर भी अधिभूतवादी हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यदि हम कभी निषेध का निषेध करना चाहें, तो उसका यही एक सही तरीक़ा है।

इसलिये जब श्री ड्यूहरिंग यह फ़रमाते हैं कि निषेध का निषेध हेगेल द्वारा आविष्कृत एक मूर्खतापूर्ण उपमा है, जो धर्म के क्षेत्र से उधार ली गयी है और जो मनुष्य के नैतिक पतन तथा उसके प्रायश्चित की कथा पर आधारित है, तब एक बार फिर ख़ुद वही हमें रहस्यमयी बातों की भूलभुलैया में डाल देते हैं, और कोई नहीं। जिस प्रकार "गद्य" शब्द का आविष्कार होने के बहुत पहले से लोग गद्य में बोलते आ रहे थे, उसी प्रकार द्वन्द्ववाद क्या है, इसका मनुष्यों को ज्ञान होने के बहुत पहले से वे द्वन्द्ववादी ढंग से सोचते आ रहे थे। निषेध के निषेध का नियम प्रकृति तथा इतिहास में और जब तक उसका ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक हमारे दिमाग़ों में भी अचेतन ढंग से अमल में आता है। हेगेल ने केवल उसको पहली बार स्पष्ट रूप में सूत्रबद्ध किया था। और यदि श्री ड्यूहरिंग ख़ुद उसका चुपचाप प्रयोग करना चाहते हैं और वह केवल इस

नाम को सहन नहीं कर सकते, तो उनको चाहिये कि कोई बेहतर नाम ढूंढ़ निकालें। किन्तु यदि उनका उद्देश्य इस प्रक्रिया को ही चिन्तन के क्षेत्र से निकाल बाहर करना है, तो हमें उनसे कहना पड़ेगा कि कृपा करके पहले प्रकृति और इतिहास से इस प्रक्रिया का निष्कासन कीजिये और गणित की किसी ऐसी प्रणाली का आविष्कार करके दिखाइये, जिसमें $-a \times -a = +a^2$ न होता हो और जिसमें अवकलन तथा अनुकलन पर कठोर दंड की धमकी के साथ प्रतिबंध लगा दिया गया हो।

१४

उपसंहार

अब हम दर्शनशास्त्र से विदा ले सकते हैं। 'पाठ्यक्रम' में भविष्य के सम्बन्ध में जो अन्य भ्रान्त कल्पनाएं मिलती हैं, उनपर हम उस समय विचार करेंगे, जब हम समाजवाद के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग द्वारा प्रवर्तित क्रान्ति पर ग़ौर करेंगे। श्री ड्यूहरिंग ने हमसे किन-किन चीज़ों का वायदा किया था? हर चीज़ का। और अपने कितने वायदे उन्होंने पूरे किये हैं? एक भी नहीं। "उस दर्शनशास्त्र के तत्व, जो वास्तविक है और इसलिये जो प्रकृति तथा जीवन की वास्तविकता का अध्ययन करता है". "संसार की विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक अवधारणा", "प्रणाली स्रष्टा विचार", और श्री ड्यूहरिंग की अन्य समस्त सफलताएं, जिनकी ख़ुद श्री ड्यूहरिंग ने इतनी आडम्बरपूर्ण शब्दावली में दुनिया के सामने घोषणा की है—उनको जहां कहीं पर भी हमने पकड़ा, वे **विशुद्ध ठगबंदी** ही सिद्ध हुईं। वह विश्व रेखांकन, जिसने "विचारों की गूढ़ता में ज़रा भी कमी किये बिना सत्ता के मौलिक रूपों की सुनिश्चित रूप में स्थापना कर दी थी", हेगेलीय तर्कशास्त्र की एक अत्यन्त विकृत प्रतिलिपि सिद्ध हुआ। हेगेलीय तर्कशास्त्र की तरह ही इस विश्व रेखांकन का भी यह अंधविश्वास है कि ये "मौलिक रूप" अथवा तार्किक परिकल्पनाएं संसार का जन्म होने के पहले से और संसार के बाहर कहीं पर रहस्यमय रूप से विद्यमान हैं, और संसार पर इन रूपों अथवा परिकल्पनाओं को "लागू करना होता है"। प्राकृतिक दर्शन से हमें जगत्सृष्टि का एक ऐसा सिद्धान्त प्राप्त हुआ, जिसका प्रस्थान-बिन्दु "पदार्थ की स्वसमान अवस्था" है—इस अवस्था की कल्पना केवल उसी समय सम्भव है, जब हम पदार्थ और गति के बीच पाये जानेवाले सम्बन्ध को एकदम गड़बड़ा दें, और इसके अतिरिक्त इस अवस्था की कल्पना केवल ईश्वर नामक एक अलौकिक व्यक्ति को मानकर ही की जा सकती है,

क्योंकि पदार्थ की इस अवस्था में केवल ऐसा ईश्वर ही गति का संचार कर सकता है। जीव प्रकृति का विवेचन करते हुए वास्तविकता के दर्शनशास्त्र ने पहले डार्विन के जीवन संघर्ष और प्राकृतिक वरण को "मानवता के विरुद्ध एक पाशविक कृत्य" के रूप में अस्वीकार किया, और फिर इन दोनों ही चीज़ों को उसे प्रकृति में कार्यरत तत्वों के रूप में पिछवाड़े के रास्ते से पुनः अन्दर ले लेना पड़ा, हालांकि उसने इनको दूसरे दर्जे के तत्वों का स्थान दिया। इसके अतिरिक्त वास्तविकता के दर्शनशास्त्र ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे घोर अज्ञान का परिचय दिया, जैसा अज्ञान आजकल, जबकि लोकगम्य विज्ञान के भाषणों से बच सकना असम्भव हो गया है, "शिक्षित वर्गों" की बेटियों में भी नहीं पाया जाता। नैतिकता और क़ानून के क्षेत्र में वास्तविकता के दर्शनशास्त्र को रूसो के सिद्धान्तों को विकृत रूप में पेश करने में उतनी ही कम सफलता प्राप्त हुई, जितनी उसे पहले हेगेल के सिद्धान्तों का एक तुच्छ संस्करण पेश करने में प्राप्त हुई थी। और जहां तक विधिशास्त्र का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग के तमाम आश्वासनों के बावजूद वास्तविकता के दर्शनशास्त्र ने ज्ञान के ऐसे घोर अभाव का परिचय दिया है, जो पुराने प्रशा के अतिसाधारण विधिवेत्ताओं में भी मुश्किल से ही मिलेगा। जो दर्शनशास्त्र "किसी मात्र दिखावटी क्षितिज को मान्य स्वीकार करने" को तैयार नहीं है, वह क़ानून सम्बन्धी मामलों में एक ऐसे वास्तविक क्षितिज से ही संतुष्ट हो जाता है, जिसकी सीमाएं उस इलाक़े की सीमाओं से मेल खाती हैं, जहां प्रशा का Landrecht लागू है। जिस प्रकार हम "परम एवं अन्तिम सत्यों" तथा "सर्वथा मूलभूत" चीज़ का ज्ञान प्राप्त करने की अभी तक प्रतीक्षा कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार हम अभी तक "बाह्य और आन्तरिक प्रकृति की उन समस्त धराओं और अन्तरिक्षों" को भी नहीं देख पाये हैं, जिनका इस दर्शनशास्त्र ने "क्रांति पैदा करनेवाली अपनी शक्तिशाली गति के द्वारा" हमें दिखाने का वायदा किया था। जिस दार्शनिक की चिन्तन प्रणाली में "संसार के विषय में एक आत्मनिष्ठ रूप से सीमित अवधारणा बना लेने की किसी प्रवृत्ति के लिये तनिक भी स्थान नहीं रहता" उसके बारे में हमें पता चला कि वह आत्मनिष्ठ रूप से न केवल ऐसी बातों से सीमित है, जैसे उसका अत्यन्त दोषपूर्ण

ज्ञान, उसकी संकुचित अधिभूतवादी चिन्तन प्रणाली, और उसका अपरूप अहंकार, बल्कि यहां तक कि वह उसकी व्यक्तिगत बचकानी आदतों तथा झक्कीपने से भी सीमित है। तम्बाकू, बिल्लियों तथा यहूदियों के प्रति अपनी घृणा को प्रकट किये बिना, और इस घृणा को यहूदियों समेत समस्त मानवजाति के लिये एक सामान्य नियम के रूप में मान्य घोषित किये बिना, वह अपने वास्तविकता के दर्शनशास्त्र का उत्पादन नहीं कर सकता। अन्य लोगों के प्रति उसका "सचमुच आलोचनात्मक दृष्टिकोण" बार-बार उन लोगों के मुंह में ऐसी बातें रख देने के रूप में प्रकट होता है, जो उन्होंने कभी नहीं कही थीं और जो ख़ुद श्री ड्यूहरिंग की अपनी गढ़ी हुई बातें हैं। जीवन का मूल्य तथा जीवन का सुख भोगने के सर्वोत्तम ढंग जैसे कूपमण्डूकों को शोभा देनेवाले विषयों पर श्री ड्यूहरिंग ने रात-रात-भर बैठकर, जो शब्दाडम्बरपूर्ण अंश लिखे हैं, ख़ुद उनमें भी कूपमण्डूकता इतनी कूट-कूटकर भरी हुई है कि उसको देखकर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री ड्यूहरिंग गेटे के फ़ॉस्ट से इतने क्यों नाराज़ हैं। वास्तविकता के गम्भीर दार्शनिक, वैगनर के बजाय अनैतिक फ़ॉस्ट को अपना चरित्र नायक बनाकर गेटे ने सचमुच एक अक्षम्य अपराध किया है।

संक्षेप में वास्तविकता का दर्शनशास्त्र कुल मिलाकर हेगेल के शब्दों में "जर्मन भावी नव-जागृति की क्षीणतम तलछट" सिद्ध हुआ है। और वह भी ऐसी तलछट, जिसकी क्षीणता तथा जिसके स्पष्ट एवं अतिसाधारण स्वरूप को केवल कुछ देववाणी तुल्य शब्दालंकारों का चूरा मिलाकर अधिक ठोस और अपारदर्शी बना दिया गया है। और अब श्री ड्यूहरिंग की पुस्तक को समाप्त करने के बाद हमारे ज्ञान का भण्डार उतना ही है, जितना उसे पढ़ने के पहले था; और हम यह स्वीकार करने को विवश हो जाते हैं कि इस "नयी चिन्तन प्रणाली" ने, इन "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक निष्कर्षों एवं विचारों" ने और इन "प्रणाली स्रष्टा विचारों" ने विविध प्रकार की मौलिक मूर्खताएं तो अवश्य हमारे सामने प्रस्तुत की हैं, लेकिन उनमें एक भी पंक्ति नहीं है, जिससे हम कुछ सीख पाते। और यह आदमी, जो अन्य किसी भी बाज़ारू ठगबैद

की तरह शोर मचा-मचाकर और झांझ-मंजीरे और तुरही बजाकर अपनी प्रतिभा की प्रशंसा तथा अपनी रचनाओं का विज्ञापन किया करता है, और जिसके भारी-भरकम शब्दों के पीछे कुछ भी नहीं, बिल्कुल कुछ भी नहीं मिलता – यह आदमी फ़िख़्टे, शेलिंग और हेगेल जैसे व्यक्तियों के बारे में, जिनमें से सबसे कम प्रतिभावान आदमी भी श्री ड्यूहरिंग के मुक़ाबले में ज्ञान का सागर प्रतीत होता है, यह कहने की जुर्रत करता है कि ये सब के सब ठगबैद हैं। ठगबैद, हां ठीक तो है, लेकिन यह विशेषण सबसे अधिक किसको शोभा देता है?

भाग २

राजनीतिक अर्थशास्त्र

१

विषय-वस्तु और पद्धति

राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने व्यापकतम अर्थ में मानव समाज के जीवन निर्वाह के भौतिक साधनों के उत्पादन तथा विनिमय पर शासन करनेवाले नियमों का विज्ञान है। उत्पादन और विनिमय दो अलग-अलग कार्य हैं। उत्पादन विनिमय के बिना भी हो सकता है, किन्तु विनिमय चूंकि लाज़िमी तौर पर उत्पादित वस्तुओं का विनिमय होता है, इसलिये वह उत्पादन के बिना नहीं हो सकता। इन दोनों सामाजिक कार्यों में से प्रत्येक कुछ विशेष प्रकार के बाह्य प्रभावों के अधीन होता है, जो बहुत हद तक केवल इस ख़ास कार्य की ही विशिष्टता होते हैं, और इस कारण प्रत्येक कार्य के बहुत हद तक अपने विशेष नियम होते हैं। लेकिन दूसरी ओर वे सदा एक दूसरे को इस हद तक निर्धारित तथा प्रभावित करते रहते हैं कि उनको आर्थिक वक्र का भुजांक और कोटि अंक कहा जा सकता है।

जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत लोग उत्पादन और विनिमय करते हैं, वे प्रत्येक देश के साथ बदलती रहती हैं और प्रत्येक देश के भीतर वे हर नयी पीढ़ी के साथ परिवर्तित होती जाती हैं। इसलिये सभी देशों के लिये और तमाम ऐतिहासिक युगों के लिये एक-सा राजनीतिक अर्थशास्त्र नहीं हो सकता। तीर और धनुष, पत्थर के चाकू तथा जंगलियों के बीच केवल अपवाद के ढंग से कभी-कभी होनेवाले विनिमय कार्य और एक हज़ार अश्वशक्तिवाले भाप के इंजिन, यांत्रिक करघे, रेलों तथा बैंक ऑफ़ इंगलैंड के बीच में बहुत बड़ी दूरी है। तियेरा देल फ़ुएगो कें निवासी अभी बड़े पैमाने के उत्पादन तथा विश्व व्यापार तक नहीं पहुंच पाये हैं, और न ही उन्हें हुंडियों की दलाली या शेयर बाज़ार के यकायक बैठ जाने का कोई अनुभव है। जो कोई भी तियेरा देल फ़ुएगो के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर उन नियमों को लागू करने की कोशिश करेगा, जो आजकल इंगलैंड में लागू हैं, वह यह ज़ाहिर है कि कुछ बहुत ही पिटी-पिटायी तुच्छ बातों

के सिवा और कुछ भी नहीं पैदा कर पायेगा। अतः राजनीतिक अर्थशास्त्र मूलतया एक **ऐतिहासिक** विज्ञान है। वह ऐसी सामग्री का अध्ययन करता है, जो ऐतिहासिक होती है, जो बराबर बदलती रहती है। उसे पहले उत्पादन और विनिमय के विकास की हर अलग-अलग अवस्था के विशेष नियमों की छानबीन करनी पड़ती है, और जब यह खोज पूरी हो जाती है, केवल तभी वह कुछ ऐसे काफ़ी सामान्य ढंग के नियमों की स्थापना कर पाता है, जो उत्पादन तथा विनिमय पर सामान्य रूप में लागू होते हैं। साथ ही कहने की आवश्यकता नहीं कि जो नियम उत्पादन की कुछ निश्चित ढंग की प्रणालियों तथा विनिमय के कुछ ख़ास रूपों पर लागू होते हैं, वे उन सभी ऐतिहासिक युगों के लिये सत्य होते हैं, जिनमें उत्पादन की ये प्रणालियां तथा विनिमय के ये रूप पाये जाते हैं। चुनांचे मिसाल के लिये, जब धातु की बनी मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ, तो उससे नियमों की एक ऐसी श्रेणी अमल में आयी, जो उन सभी देशों और ऐतिहासिक युगों के लिये सत्य है, जिनमें धातु की बनी मुद्रा विनिमय के माध्यम का काम करती है।

किसी भी निश्चित ऐतिहासिक समाज में उत्पादन तथा विनिमय की जैसी प्रणाली पायी जाती है, और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों से इस समाज का जन्म होता है, वे उसकी उत्पादित वस्तुओं के वितरण की प्रणाली को निर्धारित करती हैं। भूमि के सामूहिक स्वामित्ववाले क़बीला समुदाय या ग्राम समुदाय में—जिसके साथ या जिसके सहज ही पहचान में आ जानेवाले अवशेषों के साथ सभी सभ्य जातियों का इतिहास आरम्भ होता है—उत्पादित वस्तुओं का बराबर-बराबर वितरण अनिवार्य है। जहां कहीं समुदाय के सदस्यों के बीच वितरण के मामले में काफ़ी असमानता दिखाई देती है, वहां समझना चाहिये कि समुदाय छिन्न-भिन्न होने लगा है।

बड़े पैमाने की और छोटे पैमाने की दोनों प्रकार की खेती के साथ बहुत भिन्न-भिन्न प्रकार का वितरण हो सकता है। उसका रूप उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जिनसे वह उत्पन्न हुआ है। लेकिन यह स्पष्ट है कि बड़े पैमाने की खेती से जिस ढंग का वितरण उत्पन्न होता है, वह छोटे पैमाने की खेती से उत्पन्न होनेवाले वितरण

से बिल्कुल भिन्न होता है। बड़े पैमाने की खेती होने के पहले वर्ग विरोध का होना आवश्यक होता है, या वह ख़ुद वर्ग विरोध पैदा कर देती है—जैसे दासों के मालिकों और दासों का विरोध, सामन्ती प्रभुओं और भू-दासों का विरोध, या पूंजीपतियों और मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों का विरोध। किन्तु छोटे पैमाने की खेती के लिये कृषि उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों के बीच वर्ग भेदों का होना आवश्यक नहीं है और इसके विपरीत इस प्रकार के भेदों का अस्तित्व मात्र ही इस बात का सूचक होता है कि छोटे पैमाने की खेती की अर्थव्यवस्था का विसर्जन आरम्भ हो गया है।

जिस देश में अभी तक सर्वत्र स्वावलंबी अर्थव्यवस्था पायी जाती थी या जिस देश में अभी तक स्वावलंबी अर्थव्यवस्था का प्रभुत्व था, उसमें जब धातु की बनी मुद्रा का प्रयोग होने लगता है तथा उसका व्यापक प्रसार हो जाता है, तब उसके साथ-साथ हमेशा वितरण की पुरानी प्रणाली में कमोबेश तेज़ी के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगते हैं; और वे इस तरह होते हैं कि अलग-अलग व्यक्तियों के बीच वितरण की असमानता और इसलिये धनिकों और ग़रीबों का विरोध अधिकाधिक उग्र रूप धारण करते जाते हैं।

जब तक मध्य युग का शिल्पी संघों द्वारा नियंत्रित, स्थानीय ढंग का, दस्तकारी का उत्पादन जीवित था, तब तक बड़े पूंजीपतियों और पूरा जीवन मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों का जन्म नहीं हो सकता था। और ठीक इसी तरह जब आधुनिक ढंग का बड़े पैमाने का उद्योग, आजकल की उधार व्यवस्था और इन दोनों के विकास से मेल खानेवाला विनिमय का रूप—स्वतंत्र होड़—अस्तित्व में आ गये, तो बड़े पूंजीपतियों और मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों का अनिवार्य रूप से जन्म हो गया।

लेकिन वितरण में भेद होता है, तो **वर्ग भेद** पैदा हो जाते हैं। समाज वर्गों में बंट जाता है: एक ओर विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग होते हैं, दूसरी ओर अपहृत वर्ग; एक ओर शोषक, दूसरी ओर शोषित; एक ओर शासक, दूसरी ओर शासित। और राज्य, जिसका शुरू-शुरू में एक ही क़बीले के समुदायों के आदिम समूहों ने अपने समान हितों की रक्षा करने के लिये (जैसे पूर्वी देशों में सिंचाई के लिये) और बाहरी शत्रुओं से

अपनी हिफ़ाज़त करने के लिये निर्माण किया था, वह इस अवस्था में और उसके आगे पराधीन वर्ग के विरुद्ध बल का प्रयोग करके शासक वर्ग के अस्तित्व तथा प्रभुत्व की परिस्थितियों को क़ायम रखने का भी काम करने लगता है।

लेकिन वितरण उत्पादन तथा विनिमय का महज़ एक निष्क्रिय फल नहीं होता। इन दोनों के ऊपर भी उसकी प्रतिक्रिया होती है। उत्पादन की हर नयी प्रणाली या विनिमय के हर नये रूप के रास्ते में न केवल पुराने रूप और उनसे मेल खानेवाली राजनीतिक संस्थाएं अड़ंगा डालती हैं, बल्कि वितरण की पुरानी प्रणाली भी उनके विकास को रोकती है। उत्पादन की नयी प्रणाली या विनिमय का नया रूप एक लम्बे संघर्ष के द्वारा ही अपने लिये उपयुक्त ढंग की वितरण प्रणाली प्राप्त करने में सफल होता है। लेकिन उत्पादन तथा विनिमय की कोई ख़ास प्रणाली जितनी अधिक गतिशील होती है, उसमें विकास करने और परिपूर्ण बनने की जितनी ही अधिक क्षमता होती है, उतनी ही तेज़ी से वितरण उस अवस्था में पहुंच जाता है, जहां वह अपने जनक से, अर्थात् अभी तक प्रचलित उत्पादन तथा विनिमय की प्रणाली से अधिक बढ़ जाता है और उससे टकराने लगता है। पुराने आदिम समुदाय, जिनकी हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं, हज़ारों वर्ष तक ज़िन्दा रह पाये – इसकी मिसाल है भारत और स्लाव लोग, जिनमें आज तक ऐसे समुदाय पाये जाते हैं – और उसके बाद ही कहीं जाकर बाहरी दुनिया से व्यवहार शुरू होने पर उनके भीतर सम्पत्ति की वे असमानताएं पैदा हुईं, जिनके फलस्वरूप ये समुदाय टूटने लगे। इसके विपरीत आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन ने, जो मुश्किल से तीन सौ वर्ष पुराना है और जिसका प्रभुत्व केवल आधुनिक ढंग के उद्योग की स्थापना के बाद ही, यानी केवल पिछले सौ वर्षों में ही क़ायम हो पाया है, इस अल्पकाल में ही एक ओर मुट्ठी भर लोगों के हाथों में पूंजी को संकेन्द्रित करके और दूसरी ओर बड़े-बड़े शहरों में सम्पत्तिविहीन जनता को संकेन्द्रित करके वितरण के ऐसे विरोध पैदा कर दिये हैं, जो अनिवार्य रूप से उसका अन्त कर देंगे।

किसी भी काल में समाज के अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों और

वितरण प्रणाली के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है, वह इतना स्वाभाविक होता है कि वह सदा जनता की नैसर्गिक प्रवृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है। जब तक उत्पादन की कोई प्रणाली विकास के आरोही वक्र की रचना करती रहती है, तब तक वे लोग भी उत्साह के साथ उसका स्वागत करते हैं, जो इस उत्पादन प्रणाली के समनुरूप वितरण प्रणाली के कारण सबसे अधिक घाटे में रहते हैं। आधुनिक उद्योग के प्रारम्भिक काल में अंग्रेज़ी मज़दूरों की यही हालत थी। और जब तक उत्पादन की यह प्रणाली समाज के लिये सामान्य प्रणाली बनी रहती है, तब तक आम तौर पर सभी लोग वितरण से भी संतुष्ट रहते हैं, और यदि उसपर एतराज़ करने-वाली कोई आवाज़ें सुनाई देने लगती हैं, तो वे ख़ुद शासक वर्ग के भीतर से उठती हैं (जैसे सेंट-साइमन, फ़ूरिये, ओवेन) और शोषित जनता से उनको तनिक भी समर्थन प्राप्त नहीं होता। केवल जब यह विशेष उत्पादन प्रणाली अपने अवरोही वक्र का काफ़ी बड़ा भाग तय कर चुकती है, यानी जब उसका ज़माना आधा ख़त्म हो चुका होता है और जब उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक परिस्थितियों का बहुत हद तक लोप हो चुका होता है, तथा जब उसका उत्तराधिकारी दरवाज़े पर खड़ा दस्तक दे रहा होता है–तब कहीं वितरण के मामले में वह निरन्तर बढ़ती जानेवाली असमानता लोगों को न्यायविरुद्ध प्रतीत होती है; और केवल इस अवस्था में पहुंचने के बाद ही उन तथ्यों के विरुद्ध, जिनका ज़माना बीत गया है, तथाकथित शाश्वत न्याय के दरबार में गुहार मचायी जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नैतिकता और क़ानून की यह दुहाई हमें एक इंच भी आगे बढ़ने में मदद नहीं देती। नैतिक क्रोध, वह चाहे कितना भी न्यायसंगत क्यों न हो, एक युक्ति के रूप में आर्थिक विज्ञान की कोई सेवा नहीं कर सकता। वह तो केवल एक लक्षण के रूप में ही उसके काम आ सकता है। आर्थिक विज्ञान का काम तो यह प्रमाणित करना है कि हाल में जो सामाजिक बुराइयां बढ़ने लगी हैं, वे उत्पादन की वर्तमान प्रणाली का अनिवार्य परिणाम हैं और साथ ही वे निकट भविष्य में उसका विसर्जन हो जाने की भी सूचना देती हैं। और गति के उस आर्थिक रूप के भीतर, जिसका विसर्जन आरम्भ हो चुका है, आर्थिक विज्ञान को उत्पादन और विनिमय

के उस भावी नवीन संगठन के तत्वों को खोजकर निकालना होता है, जो इन बुराइयों का अन्त कर देंगे। वह क्रोध, जो कवि को जन्म देता है,[75] इन बुराइयों का वर्णन करने में और साथ ही शासक वर्गों के टुकड़ख़ोर, मेल-मिलाप के उन पैग़म्बरों पर चोट करने में, जो या तो इन बुराइयों के अस्तित्व से इनकार करते हैं या उनपर लीपापोती करने की कोशिश में रहते हैं, यथास्थान प्रकट होता है। किन्तु किसी भी विशेष परिस्थिति में क्रोध से कोई चीज़ **प्रमाणित** नहीं होती। यह इस बात से ज़ाहिर है कि अभी तक जितना इतिहास बीत चुका है, उसके **प्रत्येक** युग में इस प्रकार के क्रोध के लिये सामग्री का कभी कोई अभाव नहीं रहा है।

लेकिन उन परिस्थितियों और रूपों का अध्ययन करनेवाले विज्ञान के रूप में, जिनके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के मानव समाजों ने उत्पादन तथा विनिमय और इस आधार पर अपनी पैदावार का वितरण किया है–इस अधिक व्यापक अर्थ में राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्म होना अभी बाक़ी है। अभी तक हमारे पास जिस तरह का अर्थशास्त्र है, वह लगभग अनन्य रूप से केवल पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की उत्पत्ति और विकास तक ही सीमित है। वह आरम्भ होता है उत्पादन और विनिमय के सामन्ती रूपों के अवशेषों की समालोचना के साथ। फिर वह उनके स्थान पर पूंजीवादी रूपों की स्थापना करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करता है। उसके बाद वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली तथा उसके समनुरूप विनिमय के रूपों के नियमों के सकारात्मक पहलुओं पर, अर्थात् उन पहलुओं पर, जिनमें वे समाज के सामान्य उद्देश्यों को आगे बढ़ाते हैं, प्रकाश डालता है। और अन्त में वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की समाजवादी समालोचना करके, अर्थात् इस प्रणाली के नियमों के नकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डालकर और यह प्रमाणित करके समाप्त हो जाता है कि उत्पादन की यह प्रणाली स्वयं अपने विकास के फलस्वरूप एक ऐसे बिन्दु की ओर अग्रसर हो रही है, जहां वह ख़ुद अपने अस्तित्व को असम्भव बना देगी। यह समालोचना यह सिद्ध कर देती है कि उत्पादन और विनिमय के पूंजीवादी रूप स्वयं उत्पादन के लिये अधिकाधिक असहनीय बंधन का रूप धारण

करते जाते हैं। इन रूपों ने अनिवार्य तौर पर जिस प्रकार की वितरण प्रणाली उत्पन्न कर दी है, उसने वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों में एक ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी है, जो दिन-ब-दिन अधिक असहनीय बनती जा रही है—और पूंजीपतियों तथा मजूरी पर काम करनेवाले सम्पत्तिविहीन मज़दूरों का विरोध अधिकाधिक उग्र होता जा रहा है। पूंजीपतियों की संख्या तो घटती जा रही है, पर उनका धन बराबर बढ़ता जा रहा है। उधर सम्पत्तिविहीन मज़दूरों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है और उनकी हालत कुल मिलाकर लगातार गिरती जा रही है। और अन्तिम बात यह कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के भीतर जिन विराट उत्पादक शक्तियों का सृजन हो गया है, और जिनको क़ाबू में रखना इस प्रणाली के लिये असम्भव हो गया है, वे केवल इस बात की प्रतीक्षा कर रही हैं कि सुनियोजित आधार पर सहकारी कार्य के लिये संगठित समाज उनपर कब अधिकार करता है, जिससे उनकी सहायता से समाज के सभी सदस्यों को जीवन निर्वाह के साधन मिलने की और उनकी क्षमताओं के स्वतंत्र विकास की गारंटी हो सके और जिससे ये दोनों कार्य निरन्तर बढ़ते हुए परिमाण में हो सकें।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की इस प्रकार की समालोचना को संपूर्ण रूप से करने के लिये उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के पूंजीवादी रूपों से परिचित होना काफ़ी नहीं था। उसके लिये उन रूपों का भी कम से कम उनकी मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करना आवश्यक था, जो पूंजीवादी रूप के पहले पाये जाते थे या जो कम विकसित देशों में पूंजीवादी रूप के साथ-साथ आज भी देखने को मिलते हैं। एक मोटी रूप-रेखा की शक्ल में इस प्रकार की छानबीन और तुलनात्मक अध्ययन अभी तक केवल मार्क्स ने किया है, और इसलिये पूर्व-बुर्जुआ सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के बारे में अभी तक जो कुछ निश्चित रूप से मालूम हो सका है, लगभग उस सबका श्रेय केवल मार्क्स के अन्वेषणों को है।

यद्यपि अधिक संकुचित अर्थ में राजनीतिक अर्थशास्त्र ने पहले पहल सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में कुछ अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्कों में जन्म लिया था, तथापि जिस सकारात्मक रूप में उसे प्रकृति-

वादी अर्थशास्त्रियों तथा ऐडम स्मिथ ने सूत्रबद्ध किया है, उस रूप में वह मूलतया अठारहवीं शताब्दी की सन्तान है, और उसे जागृति युग के महान फ़्रांसीसी दार्शनिकों की अन्य उपलब्धियों के साथ एक पंक्ति में रखना पड़ेगा, और उनकी तरह उसमें भी उस काल के सारे गुण-अवगुण मौजूद हैं। दार्शनिकों के बारे में हमने जो कुछ कहा है*, वह उस काल के अर्थशास्त्रियों के लिये भी सच है। उनकी दृष्टि में यह नया विज्ञान उनके युग की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति नहीं था, बल्कि वह शाश्वत बुद्धि की अभिव्यक्ति था। इस विज्ञान ने उत्पादन और विनिमय के जिन नियमों का आविष्कार किया था, वे उनकी दृष्टि में इन क्रियाओं के एक ऐतिहासिक विकास द्वारा निर्धारित रूप के नियम नहीं थे, बल्कि वे प्रकृति के शाश्वत नियम थे, जिनका मनुष्य के स्वभाव से निगमन किया गया था। लेकिन जब इस मनुष्य का अधिक नज़दीक से अध्ययन किया गया, तो पता चला कि यह उस युग का एक औसत दर्जे का नगरवासी था, जो निकट भविष्य में बुर्जुआ बन जानेवाला था, और उसका स्वभाव उस काल की ऐतिहासिक विकास द्वारा निर्धारित परिस्थितियों के अनुसार माल तैयार करने और व्यापार करने में निहित था।

अब तक चूंकि हम "आलोचनात्मक आधारशिलाओं के संस्थापक" श्री ड्यूहरिंग के विषय में और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में वह जिस पद्धति का उपयोग करते हैं, उसके बारे में काफ़ी जानकारी हासिल कर चुके हैं, इसलिये हमारे लिये पहले से ही यह बता देना कठिन नहीं होगा कि वह राजनीतिक अर्थशास्त्र के साथ किस तरह पेश आयेंगे। दर्शनशास्त्र में जिस हद तक कि उनकी रचनाएं कोरी बकवास नहीं थीं (जैसा कि प्राकृतिक दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी रचनाएं थीं), उस हद तक उनकी समस्याओं पर विचार करने की प्रणाली अठारहवीं शताब्दी की चिन्तन प्रणाली का एक विकृत रूप थी। उनके सामने विकास के ऐतिहासिक नियमों का पता लगाने का सवाल नहीं था। वह तो प्रकृति के नियमों का और

---

* देखिये प्रस्तुत संस्करण पृष्ठ ३१-३३।-सं०

शाश्वत सत्यों का पता लगाने चले थे। उनकी दृष्टि में सामाजिक सम्बन्धों को, जैसे नैतिकता और क़ानून को, अपने युग की वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियां नहीं निर्धारित करतीं, बल्कि उन्हें वे दो प्रसिद्ध पुरुष निर्धारित करते हैं, जिनमें से एक या तो दूसरे का उत्पीड़न करने लगता है या नहीं करता – हालांकि यह दूसरा विकल्प, अफ़सोस की बात है, अभी तक कहीं भी देखने को नहीं मिला है। इसलिये यदि हम इससे यह निष्कर्ष निकालें, तो किसी ख़ास ग़लती की सम्भावना नहीं है कि श्री ड्यूहरिंग राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी खोजते-खोजते अन्त में परम एवं अन्तिम सत्यों, प्रकृति के शाश्वत नियमों और अत्यन्त अर्थहीन एवं व्यर्थ के पुनरुक्तिपूर्ण स्वयंसिद्ध तथ्यों पर पहुंच जायेंगे; और फिर पिछवाड़े के रास्ते से राजनीतिक अर्थशास्त्र के समस्त सकारात्मक सार को, जहां तक उनको उसका ज्ञान है, पुनः भीतर ले आयेंगे; और वह वितरण को एक सामाजिक परिघटना के रूप में उत्पादन तथा विनिमय के आधार पर विकसित नहीं करेंगे, बल्कि उसे अपने उन प्रसिद्ध दो पुरुषों को अन्तिम हल निकालने के लिये सौंप देंगे। और चूंकि इन तमाम हथकण्डों का हम पहले ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये इस प्रश्न का हमारा विवेचन उतना ही संक्षिप्त होगा।

वस्तुतः श्री ड्यूहरिंग ने पृष्ठ २[76] पर ही हमें यह बता दिया है कि

उनका अर्थशास्त्र उन बातों से जुड़ा हुआ है, जिनकी उनके दर्शनशास्त्र में "**स्थापना की जा चुकी है**" और "कुछ मूल बातों में वह एक उच्चतर स्तर के ऐसे **सत्यों** पर निर्भर करता है, जिनकी अनुसंधान के एक उच्चतर क्षेत्र में पहले ही **निष्पत्ति हो चुकी है** (ausgemacht)"।

हर जगह हमें वही दुराग्रहपूर्ण आत्मप्रशंसा सुनने को मिलती है। हर जगह श्री ड्यूहरिंग उन बातों पर विजयोल्लास प्रकट करते हुए नज़र आते हैं, जिनकी श्री ड्यूहरिंग ने स्थापना कर दी है और जिनका उन्होंने निपटारा कर दिया है (ausgemacht)। निपटारा कर दिया है – जी हां, हम तो इस क्रिया को देखते-देखते एकदम ऊब गये हैं – लेकिन श्री

ड्यूहरिंग तो इस तरह निपटारा करते हैं, जिस तरह लोग रह-रहकर भभक उठनेवाली मोमबत्ती का निपटारा कर देते हैं*।

इसके बाद तुरन्त ही

"समस्त अर्थव्यवस्था पर शासन करनेवाले अत्यन्त सामान्य **प्राकृतिक नियमों**" से हमारी भेंट हो जाती है—

सो हमारी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती है।

लेकिन इन प्राकृतिक नियमों की सहायता से बीते हुए इतिहास को केवल उसी समय समझा जा सकता है, जब उनका "उस अधिक सुनिश्चित निर्धारण में अन्वेषण किया जाता है, जिसका इन नियमों के परिणामों ने पराधीनता तथा समूहन के राजनीतिक रूपों के ज़रिये अनुभव कर लिया है। दास प्रथा और मज़दूरों की ग़ुलामी जैसी संस्थाओं को, जिनके साथ उनकी यमज बहिन, बल पर आधारित सम्पत्ति जुड़ी हुई है, विशुद्ध राजनीतिक ढंग के सामाजिक-आर्थिक वैधानिक रूप समझना चाहिये। और अभी तक वह ढांचा इन्हीं संस्थाओं का बना हुआ है, जिसके भीतर ही प्रकृति के आर्थिक नियमों के परिणाम प्रकट हो पाते हैं"।

यह वाक्य वह शंखनाद है, जो वैगनर की संगीत के leitmotif (मुख्य लय) की तरह इस बात की घोषणा कर रहा है कि शीघ्र ही वे प्रसिद्ध दो पुरुष रंगमंच पर उतरनेवाले हैं। लेकिन असल में इस वाक्य का महत्व इससे अधिक है। यह श्री ड्यूहरिंग की पूरी पुस्तक का मूल विषय है। क़ानून के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग हमें इससे अधिक कुछ नहीं दे सके थे कि उन्होंने रूसो के समानता के सिद्धान्त का समाजवाद की भाषा में** भद्दा अनुवाद कर दिया था, हालांकि पेरिस में मज़दूरों के किसी

---

*यहां पर मूल जर्मन में एक श्लेष का प्रयोग किया गया है। Ausmachen का अर्थ निष्पत्ति करना भी है और निपटारा कर देना भी।—**सं०**

देखिये प्रस्तुत संस्करण पृष्ठ १५८–१६६।—सं०**

भी कॉफ़ी घर में बहुत दिन पहले से उसका कहीं ग्रधिक सफल ग्रनुवाद सुना जा सकता है। ग्रब वह हमें प्रकृति के शाश्वत ग्रार्थिक नियमों तथा उनके प्रभावों के, राज्य के हस्तक्षेप के कारण, या बल प्रयोग के कारण, विकृत हो जाने पर ग्रर्थशास्त्रियों के विलाप का उतना ही भद्दा समाजवादी ग्रनुवाद सुना देते हैं। ग्रौर इस दृष्टि से श्री ड्यूहरिंग समाजवादियों में बिल्कुल ग्रकेले हैं, ग्रौर यह बात सर्वथा उचित ही है। प्रत्येक समाजवादी मज़दूर, वह चाहे जिस जाति से सम्बन्ध रखता हो, ग्रच्छी तरह जानता है कि बल शोषण को जन्म नहीं देता, वह केवल उसकी रक्षा करता है। हर समाजवादी मज़दूर ग्रच्छी तरह जानता है कि उसके शोषण का ग्राधार वह सम्बन्ध है, जो पूंजी ग्रौर मजूरी के बीच पाया जाता है, ग्रौर यह सम्बन्ध बल के द्वारा हरगिज़ क़ायम नहीं हुग्रा है, बल्कि विशुद्ध रूप से ग्रार्थिक कारणों के द्वारा क़ायम हुग्रा है।

इसके ग्रागे हमसे कहा जाता है कि

सभी ग्रार्थिक प्रश्नों में "दो प्रक्रियाग्रों में, उत्पादन की प्रक्रिया ग्रौर वितरण की प्रक्रिया में भेद किया जा सकता है"। ग्रौर यह भी कि ज० ब० सेय ने, जो ग्रपनी सतही ढंग की बातों के लिये कुविख्यात हैं, इन दो प्रक्रियाग्रों के ग्रलावा एक तीसरी प्रक्रिया, उपभोग की प्रक्रिया का भी ज़िक्र किया है, लेकिन जिस तरह से उसके उत्तराधिकारी उपभोग की प्रक्रिया के बारे में कोई बुद्धिमानी की बात नहीं कह सके हैं, उसी तरह वह ख़ुद भी उसके बारे में कोई ऐसी बात नहीं कह पाये हैं। किन्तु विनिमय या परिचलन उत्पादन का ही एक विभाग है, क्योंकि उत्पादित वस्तुग्रों को ग्रन्तिम उपभोक्ता के पास तक, ग्रसली उपभोक्ता के पास तक, पहुंचाने के लिये जितनी भी क्रियाएं ग्रावश्यक होती हैं, वे सब उत्पादन में शामिल हैं।

उत्पादन तथा परिचलन की दो मूलतया भिन्न, यद्यपि एक दूसरे पर निर्भर प्रक्रियाग्रों को ग्रापस में गड़बड़ाकर ग्रौर बिना किसी लज्जा के यह घोषणा करके कि इस भ्रम में न पड़ने की कोशिश से केवल "भ्रम ही पैदा हो सकता है", श्री ड्यूहरिंग ने महज़ यह बात साफ़ कर दी है कि पिछले पचास वर्षों में ख़ास इस परिचलन का जो विराट विकास हुग्रा

है, उसके बारे में या तो वह कुछ जानते नहीं हैं और या वह उसको समझते नहीं हैं। और सच पूछिये तो उनकी पुस्तक के बाक़ी हिस्से से यह बात और भी साफ़ हो जाती है। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। उत्पादन और विनिमय को गड्ड-मड्ड कर देने के बाद, इन दोनों को केवल उत्पादन मान लेने के बाद वह वितरण को एक दूसरी तथा पूर्णतया बाहरी प्रक्रिया के रूप में, जिसका पहली क्रिया से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, उत्पादन **के पार्श्व में** बैठा देते हैं। अब हम यह बात देख चुके हैं कि यदि वितरण की निर्णायक विशेषताओं की ओर ध्यान दिया जाये, तो वह सदा किसी विशेष समाज व्यवस्था के उत्पादन तथा विनिमय के सम्बन्धों का, और साथ ही उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का, जिनसे इस समाज का जन्म हुआ है, अनिवार्य परिणाम होता है। यहां तक कि जब हमें इन सम्बन्धों तथा इन परिस्थितियों का ज्ञान होता है, तो उसके आधार पर हम समाज व्यवस्था में प्रचलित वितरण प्रणाली का विश्वास के साथ अनुमान लगा सकते हैं। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि श्री ड्यूहरिंग ने नैतिकता, क़ानून तथा इतिहास की अपनी अवधारणाओं के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों की "स्थापना" कर दी है, यदि वह उनके प्रति अश्रद्धा का परिचय नहीं देना चाहते और विशेषकर यदि वह अपने उन अपरिहार्य दो पुरुषों को राजनीतिक अर्थशास्त्र में घुसा देना चाहते हैं, तो उनके लिये ज़रूरी है कि इस प्राथमिक आर्थिक तथ्य के अस्तित्व से ही इनकार कर दें। और जब एक बार वितरण उत्पादन तथा विनिमय के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध होने की उलझन से मुक्त हो जाता है, तो यह महान घटना सहज ही सम्पन्न हो जाती है।

पहले यह स्मरण कीजिये कि नैतिकता तथा क़ानून के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग ने अपनी युक्तियों को किस तरह विकसित किया था। उन्होंने आरम्भ किया था एक पुरुष से और कहा था:

"यदि एक मनुष्य की इस प्रकार कल्पना की जाये कि वह अकेला है, या जो वस्तुतः एक ही बात है, यदि अन्य मनुष्यों के साथ उसके समस्त सम्बन्धों के बाहर उसकी कल्पना की जाये, तो ऐसे एक मनुष्य का कोई **दायित्व** नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्य के लिये इसका कोई सवाल

नहीं हो सकता कि उसे क्या करना **चाहिये**, बल्कि उसके लिये तो केवल एक ही प्रश्न हो सकता है कि वह क्या करना चाहता है"।

लेकिन यह मनुष्य जिसकी इस प्रकार कल्पना की गयी है कि वह अकेला है और किसी के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है–यह स्वर्ग के निवासी उस अभागे "आद्य यहूदी आदम" के सिवा और कौन है, जो स्वर्ग में केवल इसलिये निष्पाप जीवन बिताता था कि वहां इसके लिये पाप करना सम्भव नहीं था?

किन्तु वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के इस आदम को भी अन्त में पाप के पंक में फंसना ही पड़ता है। इस आदम के बराबर में एक दिन अकस्मात् आविर्भाव होता है–लहराते हुए केशों वाली हौवा का नहीं, बल्कि ... एक दूसरे आदम का। और उसी क्षण आदम का कुछ दायित्व हो जाता है, और ... वह उसकी अवहेलना भी कर डालता है। वह यह नहीं मानता कि उसके भाई को उसके बराबर अधिकार प्राप्त है; वह अपने भाई को गले नहीं लगाता; बल्कि उसपर अपना प्रभुत्व क़ायम कर देता है, उसको अपना ग़ुलाम बना लेता है–और जब से इतिहास आरम्भ हुआ है, तब से आज तक दुनिया इस प्रथम पाप के, मनुष्य को ग़ुलाम बनाने के इस मूल पाप के परिणामों को ही भोगती आ रही है–और इसी कारण श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में इतिहास का कौड़ी बराबर भी मूल्य नहीं है।

यहां प्रसंगवश हम यह भी याद दिला दें कि श्री ड्यूहरिंग ने "निषेध के निषेध" को मूल पाप तथा प्रायश्चित की पुरानी कथा की एक नक़ल मात्र बताकर उसकी पर्याप्त अपकीर्त्ति कर दी थी। लेकिन उसी कथा का श्री ड्यूहरिंग ने जो यह नवीनतम संस्करण प्रस्तुत किया है, उसके बारे में हम क्या कहें? (कारण कि यथासमय हम प्रायश्चित्त के विषय में भी, रेंगनेवाले प्रेस की शब्दावली में[77] "मामले की तह तक" पहुंच जायेंगे।) उसके बारे में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमें वह प्राचीन शामी आख्यान ज़्यादा पसन्द है, जिसमें पुरुष और स्त्री ने अपनी पापरहित दशा से बाहर निकलने में अपना हित देखा था, और श्री

ड्यूहरिंग को केवल इस बात का निर्विरोध श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने अपना मूल पाप दो पुरुषों से ही करा दिया है।

अब ज़रा देखिये कि वह इस मूल पाप का आर्थिक शब्दावली में किस तरह अनुवाद करते हैं:

"उत्पादन के विचार के लिये हमें उस रोबिन्सन क्रूसो की अवधारणा से एक उपयुक्त चिन्तन रेखांकन प्राप्त हो सकता है, जो अकेला प्रकृति का मुक़ाबला कर रहा है और जिसे किसी और को हिस्सा नहीं देना पड़ता ... वितरण के विचार के अत्यन्त मूलभूत तत्व का प्रतिनिधान करने के लिये उतना ही उपयुक्त उन दो व्यक्तियों का रेखांकन है, जो अपनी आर्थिक शक्तियों को संयुक्त कर देते हैं और जिनको ज़ाहिर है कि अपने-अपने हिस्से के बारे में किसी न किसी पारस्परिक समझौते पर पहुंचना पड़ता है। वस्तुत: वितरण के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्धों का ठीक-ठीक चित्रण कर सकने के लिये और उनके नियमों का भ्रूणरूप में उनकी तार्किक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करने के लिये इस सरल द्वैत से अधिक किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है ... यहां जिस तरह एक पक्ष को पूर्णतया पराधीन बनाकर शक्तियों के संयोजन की कल्पना की जा सकती है, उसी तरह समानता के आधार पर सहकारी कार्य की भी कल्पना की जा सकती है। पहली सूरत में पराधीन पक्ष को दास के रूप में या महज़ एक औज़ार के रूप में आर्थिक सेवा करनी पड़ती है और उसे केवल औज़ार की तरह ही ज़िन्दा रखा जाता है ... एक ओर, समानता की स्थिति और ऐसी स्थिति के बीच, जहां एक ओर, तुच्छता तथा दूसरी ओर, सर्वशक्तिमत्ता तथा एकमात्र सक्रिय सहभागिता है, अनेक ऐसी अवस्थाएं आती हैं, जो नाना प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से परिपूर्ण हैं। इतिहास में **न्याय** और **अन्याय** की जितनी संस्थाएं देखने में आयी हैं, उनका सार्वत्रिक सिंहावलोकन यहां एक अत्यन्त आवश्यक पूर्वमान्यता का काम करता है" ...

और अन्त में वितरण का पूरा प्रश्न

"वितरण के आर्थिक अधिकार" में रूपान्तरित कर दिया जाता है।

अब आख़िर श्री ड्यूहरिंग को अपने पैरों तले ठोस ज़मीन महसूस होती है। अपने उन दो पुरुषों की बांह में बांह डालकर अब वह अपने

युग को चुनौती दे सकते हैं। लेकिन इस त्रिमूर्ति के पीछे एक और भी व्यक्ति खड़ा है, जिसका नाम अज्ञात है।

"अतिरिक्त श्रम का पूंजी ने आविष्कार नहीं किया है। जहां कहीं समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, वहां मज़दूर को, वह स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन निर्वाह के लिये जितने समय तक काम करना आवश्यक होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन निर्वाह के साधन तैयार करने के लिये कुछ अतिरिक्त समय तक काम करना पड़ता है। उत्पादन के साधनों का यह स्वामी एथेंस का kalos Kagathos* है या प्राचीन इत्रुरिया के धर्मतंत्र का शासक, civis Romanus" (रोमन नागरिक) है या "नौर्मन सामन्त, अमरीकी ग़ुलामों का मालिक है, या वैलेशिया का श्रीमन्त, या आधुनिक ज़मींदार अथवा पूंजीपति है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता" (मार्क्स, 'पूंजी', खंड १, द्वितीय संस्करण, पृ० २२७)**

इस प्रकार जब श्री ड्यूहरिंग को यह मालूम हो गया कि अभी तक उत्पादन के जितने रूप देखे गये हैं, उनमें–जहां तक ये रूप वर्ग विरोधों के भीतर विकसित हुए हैं–शोषण का कौनसा मूलरूप समान ढंग से मौजूद था, तब उनके सामने बस इतना काम और रह गया कि उस रूप पर अपने उन दो पुरुषों को लागू कर दें; और यह करते ही वास्तविकता के राजनीतिक अर्थशास्त्र का गहरी जड़ों वाला आधार तैयार हो गया। इस "प्रणाली स्रष्टा विचार" को कार्यान्वित करने में वह एक क्षण के लिये भी नहीं हिचकिचाये। श्रम जिसके लिये मुआवज़ा नहीं दिया जाता, वह श्रम जो मज़दूर ख़ुद अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक श्रम काल के बीत जाने के बाद भी करता रहता है–यही है असली बात। आदम, जिसका नाम यहां रोबिन्सन क्रूसो रख दिया जाता है, अपने दूसरे आदम से–अपने नौकर फ़ाइडे से–जीतोड़ काम लेता है। लेकिन फ़ाइडे को ख़ुद अपने जीवन निर्वाह के लिये जितनी मेहनत करना ज़रूरी है, उससे

---

* अभिजात। –सं०

** 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ २६५। –सं०

ज़्यादा मेहनत वह क्यों करता है? मार्क्स ने इस प्रश्न का भी सुसंगत रूप से उत्तर दिया है। परन्तु इन दो पुरुषों में इतना धैर्य कहां कि इस उत्तर को सुनते और समझते। वहां तो मामला क्षण-भर में हल हो जाता है। क्रूसो फ़्राइडे का "उत्पीड़न करने लगता है", उसे "दास या एक औज़ार के रूप में आर्थिक सेवा करने के लिये विवश कर देता है" और उसकी परवरिश करता है, पर "केवल एक औज़ार की तरह"। अपने इन नवीनतम सृजनात्मक हथकण्डों से श्री ड्यूहरिंग मानो एक पंथ दो काज की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। एक तो वह वितरण के उन विविध रूपों का, उनके भेदों तथा कारणों का स्पष्टीकरण करने की परेशानी से बच जाते हैं, जो अभी तक दुनिया में देखने में आये हैं। वे सभी रूपों के बारे में निर्णय दे देते हैं कि वे सब बेकार हैं, क्योंकि वे उत्पीड़न पर–बल पर–आधारित हैं। इसकी शीघ्र ही हमें विस्तार से चर्चा करनी पड़ेगी। दूसरे, वह वितरण के पूरे सिद्धान्त को आर्थिक क्षेत्र से नैतिकता और क़ानून के क्षेत्र में स्थानांतरित कर देते हैं। अर्थात् वह उसे प्रमाणित भौतिक तथ्यों के क्षेत्र से हटाकर न्यूनाधिक रूप में ढुलमुल सम्मतियों तथा भावनाओं के क्षेत्र में सम्मिलित कर देते हैं। इस कारण अब उनको वस्तुओं की छानबीन करने या उनको प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह जी भरकर वक्तृताएं झाड़ सकते हैं और मांग कर सकते हैं कि श्रम की पैदावार के वितरण का नियमन उसके वास्तविक कारणों के अनुसार नहीं, बल्कि उन सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिये, जो ख़ुद उनको, अर्थात् श्री ड्यूहरिंग को नीतिसंगत तथा न्यायोचित प्रतीत होते हैं। परन्तु जो बात श्री ड्यूहरिंग को न्यायोचित प्रतीत होती है, वह अपरिवर्तनीय कदापि नहीं है और इसलिये उसे एक यथार्थ सत्य नहीं समझा जा सकता। कारण कि ख़ुद श्री ड्यूहरिंग का कहना है कि यथार्थ सत्य "सर्वथा अपरिवर्तनीय" होते हैं। १८६८ में श्री ड्यूहरिंग ने – *Die Schicksale meiner sozialen Denkschrift, etc.* में – कहा था कि

"सभी अपेक्षाकृत ऊंची सभ्यताओं में **सम्पत्ति पर अधिकाधिक ज़ोर देने की** प्रवृत्ति पायी जाती है; और आधुनिक विकास का सार तत्व एवं

भविष्य अधिकारों तथा प्रभुसत्ता के क्षेत्रों के उलझावे में नहीं, बल्कि इसी बात में निहित है"।

और इसके अतिरिक्त वह यह देखने में बिल्कुल असमर्थ थे कि

"मजूरी के जीविका कमाने के किसी और ढंग में रूपान्तरित हो जाने की बात का मानव प्रकृति के नियमों तथा सामाजिक निकाय की स्वाभाविक रूप से आवश्यक संरचना के साथ कैसे समाधान किया जा सकता है"। *

इस प्रकार १८६८ में निजी सम्पत्ति और मजूरी उनकी दृष्टि में स्वाभाविक रूप से आवश्यक और इस कारण न्यायसंगत थीं। पर १८७६ में[78] ये दोनों चीज़ें उनके लिये बल की और "डाकाज़नी" की पैदावार बन गयीं और इस कारण न्यायविरुद्ध हो गयीं। और चूंकि हमारे लिये यह बताना सम्भव नहीं है कि कुछ वर्षों के बाद इस महान एवं दुस्साहसी प्रतिभा को क्या चीज़ नीतिसंगत तथा न्यायोचित प्रतीत होगी, इसलिये बेहतर होगा, यदि हम धन के वितरण पर विचार करते समय केवल वास्तविक, वस्तुगत, आर्थिक नियमों की ओर ही ध्यान दें और न्याय तथा अन्याय के बारे में श्री ड्यूहरिंग की क्षणिक, परिवर्तनशील तथा आत्मनिष्ठ अवधारणाओं पर भरोसा करके न बैठे रहें।

अभाव और विलास, भूख और अतितृप्ति के उग्र व्यतिरेकों वाली श्रम की पैदावार के वितरण की वर्तमान प्रणाली के निकट भविष्य में समाप्त हो जाने की, यदि हमारे पास इस चेतना से अच्छी और कोई गारंटी नहीं है कि यह वितरण प्रणाली न्यायविरुद्ध है तथा अन्त में न्याय की विजय होनी चाहिये, तो हमारी हालत काफ़ी पतली नज़र आयेगी और मुमकिन है कि हमें बहुत लम्बे समय तक इन्तजार करना पड़े। पृथ्वी पर

---

* *Die Schicksale meiner sozialen Denkschrift für das Preussische Staatsministerium* ('प्रशा के राज्य मंत्रालय के लिये सामाजिक समस्या के विषय में मेरे स्मृति-पत्र की नियति'), बर्लिन, १८६८, पृष्ठ ५। —**सं०**

ईसा के पुनरागमन के एक हज़ार वर्ष बाद का स्वप्न देखनेवाले मध्य युग के रहस्यवादियों को उस समय भी वर्ग विरोधों के अन्याय की चेतना थी। साढ़े तीन सौ वर्ष हुए टॉमस मुंज़र ने आधुनिक इतिहास की ड्यौढ़ी पर खड़े होकर संसार के सामने इस बात की घोषणा की थी। इंगलैंड और फ़्रांस की बुर्जुआ क्रान्तियों में भी यही रणघोष गूंजा था और फिर ... धीरे-धीरे शून्य में विलीन हो गया था। और आज यदि वर्ग विरोधों तथा वर्ग भेदों को समाप्त करने की वही मांग, जो १८३० तक मेहनत करनेवाले तथा दुख भोगनेवाले वर्गों में तनिक भी उत्साह नहीं पैदा कर पायी थी, – आज यदि वही मांग पहले से लाखगुने अधिक ज़ोर के साथ दुनिया में गूंज रही है; यदि वह एक के बाद दूसरे देश में उसी क्रम में तथा उसी तेज़ी के साथ उठती जाती है, जिस क्रम में तथा जिस तेज़ी के साथ प्रत्येक देश में आधुनिक उद्योग का विकास हो रहा है; यदि एक पीढ़ी के समय के भीतर ही इस मांग ने इतनी ज़बर्दस्त शक्ति प्राप्त कर ली है कि वह उन तमाम ताक़तों को चुनौती दे रही है, जो उसके ख़िलाफ़ एकजुट हो गयी हैं और उसे निकट भविष्य में विजय प्राप्त करने का पूरा विश्वास है – तो इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग ने एक ओर तो सर्वहारा को जन्म दिया है, जो एक ऐसा वर्ग है, जो इतिहास में पहली बार किसी ख़ास वर्ग संगठन को, या किसी ख़ास वर्गीय विशेषाधिकार को समाप्त करने की नहीं, बल्कि स्वयं वर्गों को समाप्त करने की मांग कर सकता है और जिसकी स्थिति ऐसी है कि यदि वह इस मांग को कार्यान्वित नहीं करता, तो वह चीनी कुली के स्तर पर पहुंच जायेगा। दूसरी ओर, इस बड़े पैमाने के उद्योग ने पूंजीपति वर्ग के रूप में एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया है, जिसका उत्पादन के तमाम औज़ारों और जीवन निर्वाह के साधनों पर एकाधिकार है, परन्तु जो सट्टेबाज़ी की तेज़ी के प्रत्येक काल में और उसके बाद आनेवाले प्रत्येक संकट में यह प्रमाणित कर देता है कि अब उसमें उत्पादक शक्तियों को अपने नियंत्रण में रखने की सामर्थ्य नहीं रह गयी है और वे उसके बूते के बाहर निकल गयी हैं। यह एक ऐसा वर्ग है, जिसके नेतृत्व में समाज रेल के उस इंजन की तरह बरबादी की ओर दौड़ा जा

रहा है, जिसका सुरक्षावाल्व जाम हो गया है और जिसके ड्राइवर में उसे खोलने की ताक़त नहीं रह गयी है। दूसरे शब्दों में इसका कारण यह है कि आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने जिन उत्पादक शक्तियों को जन्म दिया है और उसने उत्पादित वस्तुओं के वितरण की जो प्रणाली स्थापित की है, ये दोनों ख़ुद उत्पादन प्रणाली से बुरी तरह टकरा रही हैं; और सच पूछिये तो उत्पादन प्रणाली के साथ इन दोनों का विरोध इतना अधिक बढ़ गया है कि यदि समस्त आधुनिक समाज को नष्ट नहीं हो जाना है, तो उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली में एक क्रान्ति का होना नितान्त आवश्यक है; और यह क्रान्ति ऐसी होनी चाहिये, जो समस्त वर्ग भेदों का अन्त कर दे। आधुनिक समाजवाद को अपनी विजय में जो विश्वास है, वह कुर्सीतोड़ दार्शनिकों की न्याय तथा अन्याय की किन्हीं अवधारणाओं पर आधारित नहीं है; बल्कि वह इस ठोस तथा भौतिक तथ्य पर आधारित है, जो न्यूनाधिक स्पष्ट रूप में, किन्तु दुर्लंघ्य अपरिहार्यता के साथ शोषित सर्वहारा के मानसपटल पर अंकित होता जा रहा है।

२

बल सिद्धान्त

"मेरी प्रणाली में सामान्य राजनीति और आर्थिक क़ानून के रूपों का सम्बन्ध इतने सुनिश्चित ढंग से तथा साथ ही **इतने मौलिक ढंग से** निर्धारित किया गया है कि अध्ययन को सुगम बनाने के लिये इस बात की ख़ास तौर पर चर्चा करना अनावश्यक नहीं होगा। **राजनीतिक** सम्बन्धों की बनावट **ऐतिहासिक दृष्टि से बुनियादी** चीज़ होती है, और **आर्थिक** पराधीनता के उदाहरण केवल उसके **प्रभाव** अथवा कुछ विशेष प्रकार के प्रकरण होते हैं, और इसलिये वे हमेशा **द्वितीय श्रेणी के तथ्यों में** गिने जाते हैं। कुछ नवीन समाजवादी प्रणालियों ने एक बिल्कुल उल्टे सम्बन्ध के आभास मात्र को अपने मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। कारण कि वे यह मानकर चलती हैं कि राजनीतिक घटनाएं आर्थिक परिस्थितियों के अधीन होती हैं और मानो उन्हीं में से विकसित होती हैं। यह सच है कि द्वितीय श्रेणी के ये प्रभाव सचमुच इसी रूप में पाये जाते हैं, और आजकल वे अत्यधिक स्पष्ट रूप में दिखाई दे रहे हैं; लेकिन मूल तत्व की हमें किसी अप्रत्यक्ष आर्थिक शक्ति में नहीं, बल्कि **प्रत्यक्ष राजनीतिक बल** में ही खोज करनी चाहिये।"

यही अवधारणा एक और अंश में भी व्यक्त हुई है। उसमें श्री ड्यूहरिंग ने

"इस सिद्धान्त से आरम्भ किया है कि राजनीतिक हालात आर्थिक परिस्थिति का निर्णायक कारण होते हैं और इसका उल्टा सम्बन्ध केवल एक द्वितीय श्रेणी की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है ... जब तक आदमी राजनीतिक समूहन पर स्वयं उसकी ख़ातिर विचार नहीं करता और उसे अपना प्रस्थान-बिन्दु नहीं बनाता, बल्कि उसे केवल **एक पेट भरनेवाली संस्था** मानता है, तब तक वह ऊपर से चाहे जितना उग्र समाजवादी और क्रान्तिकारी क्यों न प्रतीत होता हो, उसके मन के भीतर प्रतिक्रिया का एक अंश छिपा रहता है।"

यह है श्री ड्यूहरिंग का सिद्धान्त। इस अंश में और अन्य बहुत-से अंशों में इस सिद्धान्त की केवल घोषणा कर दी गयी है, या यूं कहिये

कि उसे महज़ एक फ़रमान निकालकर जारी कर दिया गया है। श्री ड्यूहरिंग के तीन मोटे-मोटे पोथों में कहीं पर भी इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने की या इसके विपरीत दृष्टिकोण का खण्डन करने की तनिक भी कोशिश नहीं की गयी है। हो सकता है कि इस सिद्धान्त के पक्ष में जामुनों के ढेर जितनी युक्तियां हों[79], पर हमारे सामने श्री ड्यूहरिंग ने उनमें से एक भी युक्ति पेश नहीं की है। कारण कि उनकी नज़रों में तो यह पूरा मामला उस प्रसिद्ध मूल पाप के द्वारा उसी समय प्रमाणित हो गया था, जब रोविन्सन क्रूसो ने फ़ाइडे को अपना दास बनाया था। यह बल प्रयोग का कार्य था और इस कारण एक राजनीतिक कार्य था। और चूंकि फ़ाइडे के दास बना लिये जाने की यह घटना समस्त भूतकालिक इतिहास का प्रस्थान-बिन्दु तथा उसका मूलभूत तथ्य थी, चूंकि इस दासत्व ने समस्त इतिहास के शरीर में मानो अन्याय के मूल पाप का टीका लगा दिया था; चूंकि उसका असर इतना ज़्यादा था कि बाद के कालों में भी केवल उसकी उग्रता में ही थोड़ी-बहुत कमी आ सकी थी और वह "आर्थिक पराधीनता के अधिक अप्रत्यक्ष रूपों में बदल गया था"; और चूंकि इसी तरह "बल पर आधारित सम्पत्ति" भी, जिसे आज तक हमेशा वैधिक मान्यता प्राप्त रही है, दूसरे आदमी को अपना दास बना लेने के उसी मूल कर्म पर आधारित है, इसलिये यह बात स्पष्ट है कि सभी आर्थिक घटनाओं के राजनीतिक कारण होते हैं, अर्थात् उनके कारण बल प्रयोग में निहित होते हैं। और यदि किसी आदमी को इस सिद्धान्त से संतोष नहीं होता, तो वह छिपा हुआ प्रतिक्रियावादी है।

पहले हम यह कहना चाहेंगे कि इस मत को इतना "मौलिक" केवल वही आदमी समझ सकता है, जिसमें श्री ड्यूहरिंग जैसा घोर अहंकार हो। इस मत में मौलिकता तनिक भी नहीं है। यह विचार कि राजनीतिक कार्य या राज्य सम्बन्धी बड़ी-बड़ी घटनाएं इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा करती हैं–यह विचार उतना ही पुराना है, जितना पुराना स्वयं लिखित इतिहास है। और यही वह मुख्य बात है, जिसके कारण विभिन्न क़ौमों के उस सचमुच प्रगतिशील विकास के बारे में हमारे लिये इतनी कम सामग्री सुरक्षित रखी गयी है, जो राजनीतिक रंगमंच पर होनेवाली इन

कोलाहलपूर्ण घटनाओं के पीछे, पृष्ठभूमि में, ख़ामोशी के साथ होता रहा है। भूतकाल में इतिहासकारों की समस्त अवधारणाओं पर इस विचार की ज़बर्दस्त छाप थी; और उसपर पहला प्रहार केवल राजतंत्र की पुनर्स्थापना के काल के फ़्रांसीसी बुर्जुआ इतिहासकारों ने[80] किया था। उसमें यदि कोई "मौलिकता" है, तो केवल यही कि श्री ड्यूहरिंग को इस सब की भी कोई जानकारी नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हम एक क्षण के लिये यह भी मान लें कि श्री ड्यूहरिंग का यह कथन सही है कि समस्त भूतकालिक इतिहास का मूल मनुष्य द्वारा मनुष्य के दास बना लिये जाने में है, तो भी हम मामले की तह तक नहीं पहुंचते, बल्कि उससे बहुत दूर रह जाते हैं। कारण कि तब यह प्रश्न उठता है कि क्रूसो ने फ़्राइडे को दास क्यों बनाया? केवल मज़ा लेने के लिये? हरगिज़ नहीं। इसके विपरीत हमें बताया गया है कि "फ़्राइडे को दास के रूप में या महज़ एक औज़ार के रूप में **आर्थिक** सेवा करनी पड़ती है और केवल एक औज़ार की तरह उसकी परवरिश की जाती है"। क्रूसो ने फ़्राइडे को केवल इस उद्देश्य से अपना दास बनाया था कि वह क्रूसो के लाभार्थ काम किया करे। और क्रूसो फ़्राइडे के श्रम से ख़ुद कोई लाभ कैसे उठा सकता है? केवल इस तरह कि फ़्राइडे को मेहनत करने लायक़ हालत में रखने के लिये क्रूसो को उसे जो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं देनी पड़ती हैं, फ़्राइडे अपने श्रम से उनसे अधिक वस्तुएं तैयार कर दिया करे। इसलिये क्रूसो श्री ड्यूहरिंग के स्पष्ट आदेशों का पालन नहीं करता। वह फ़्राइडे के दासत्व से उत्पन्न होनेवाले "राजनीतिक समूहन" पर "स्वयं उसकी ख़ातिर" विचार नहीं करता और न ही उसे "अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाता है"; बल्कि उसे **"केवल एक पेट भरनेवाली संस्था"** मानता है। और अब क्रूसो को इस बात की फ़िक्र करनी चाहिये कि अपने स्वामी तथा प्रभु, ड्यूहरिंग के दरबार में वह अपने किये की क्या सफ़ाई देगा।

इसलिये यह साबित करने के लिये कि बल प्रयोग ही "ऐतिहासिक दृष्टि से बुनियादी चीज़ है" श्री ड्यूहरिंग ने जो बचकानी मिसाल चुनी है, उससे वास्तव में यह सिद्ध होता है कि बल प्रयोग केवल साधन है,

ग्रौर उद्देश्य है ग्रार्थिक लाभ। ग्रौर उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयोग में ग्रानेवाले साधन की ग्रपेक्षा उद्देश्य जितना "ज़्यादा बुनियादी" होता है, इतिहास में राजनीतिक पक्ष की ग्रपेक्षा ग्रार्थिक पक्ष भी उतना ही ज़्यादा बुनियादी होता है। इसलिये इस मिसाल के ज़रिये जो बात साबित की जा रही थी, ग्रसल में वह उसकी उल्टी बात को साबित कर देती है। ग्रौर जो बात क्रूसो ग्रौर फ़ाइडे के सम्बन्ध में सही है, वह प्रभुत्व तथा पराधीनता की उन समस्त घटनाग्रों के लिये भी सही है, जो ग्राज तक दुनिया में देखी गयी हैं। यदि हम श्री ड्यूहरिंग की सुललित शब्दावली का प्रयोग करें, तो हमें कहना चाहिये कि दूसरों को ग्रपने वश में कर लेने की प्रथा ने सदा ही एक "पेट भरनेवाली संस्था" का काम किया है (यहां "पेट भरने" का बहुत व्यापक ग्रर्थ लगाया गया है); ग्रौर राजनीतिक समूहन कभी भी ग्रौर कहीं पर भी "ख़ुद ग्रपनी ख़ातिर" स्थापित नहीं हुग्रा है। यह कल्पना श्री ड्यूहरिंग ही कर सकते हैं कि राजकीय कर केवल "द्वितीय श्रेणी के प्रभाव" हैं, या शासक बुर्जुग्रा वर्ग तथा शासित सर्वहारा का वर्तमानकालीन राजनीतिक समूहन, शासक बुर्जुग्रा के लिये एक "पेट भरनेवाली संस्था" के रूप में, ग्रर्थात् मुमाफ़ा कमाने तथा पूंजी का संचय करने की ख़ातिर ग्रस्तित्व में नहीं ग्राया है, बल्कि "ख़ुद ग्रपनी ख़ातिर" पैदा हो गया है।

बहरहाल ग्राइये, हम फिर ग्रपने उन दो पुरुषों की ग्रोर लौट चलें। क्रूसो "तलवार हाथ में लेकर" फ़ाइडे को ग्रपना दास बना लेता है। परन्तु इस उद्देश्य में सफल होने के लिये क्रूसो को तलवार के ग्रलावा भी किसी चीज़ की ग्रावश्यकता होती है। हर ग्रादमी के लिए दास उपयोगी नहीं हो सकता। दास को इस्तेमाल करने के लिये ग्रादमी के पास दो तरह की चीज़ें होनी चाहिये: एक तो वे ग्रौज़ार ग्रौर वह सामग्री, जिसकी मदद से उसका दास श्रम कर सके; ग्रौर दूसरे, दास को ज़िन्दा-भर रखने के लिये ग्रावश्यक जीवन निर्वाह के साधन। इसलिये दास प्रथा केवल तभी सम्भव होती है, जब पहले उत्पादन एक ख़ास स्तर पर पहुंच जाता है ग्रौर वितरण में कुछ ग्रसमानता पहले से ही पैदा हो जाती है। ग्रौर दासों के श्रम को पूरे समाज की मुख्य उत्पादन प्रणाली का स्थान प्राप्त

होने के लिये तो उत्पादन, व्यापार तथा धन के संचय में कहीं अधिक बड़ी वृद्धि का होना आवश्यक था। प्राचीन काल के आदिम समुदायों में, जिनके यहां भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था, दास प्रथा का या तो कोई अस्तित्व नहीं था, या यदि था भी, तो वह बहुत गौण भूमिका अदा करती थी। रोम के मूलतया किसान नगर में भी यही स्थिति थी; परन्तु जब रोम एक "विश्व नगर" बन गया और इटली में भूमि का स्वामित्व अत्यन्त धनी भू-स्वामियों के एक छोटे-से वर्ग के हाथों में अधिकाधिक केन्द्रीभूत होता गया, तो किसान आबादी का स्थान दासों की आबादी ने ले लिया। यदि फ़ारस से युद्धों के काल में दासों की संख्या कोरिंथ में ४,६०,००० और एजीना में ४,७०,००० हो गयी थी, और हर स्वतंत्र मनुष्य के पीछे दस दास हो गये थे[81], तो इसके लिये "बल प्रयोग" के अलावा किसी और चीज़ की भी आवश्यकता हुई थी। उसके लिये अत्यन्त विकसित हस्तकलाओं और दस्तकारी के उद्योग तथा विस्तृत वाणिज्य की आवश्यकता हुई थी। संयुक्त राज्य अमरीका में जो दास प्रथा पायी जाती थी, वह जितना इंगलैंड के सूती उद्योग पर आधारित थी, उसकी अपेक्षा "बल प्रयोग" पर बहुत कम आधारित थी। जिन इलाक़ों में कपास की खेती नहीं होती थी, या जो सीमावर्ती राज्यों की भांति कपास की खेती करनेवाले राज्यों के लिये दासों को नहीं पैदा करते थे, उन इलाक़ों में दास प्रथा लाभदायक न होने के कारण अपने आप मिट गयी और उसे मिटाने के लिये किसी प्रकार के बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं हुई।

अतः वर्तमानकालीन सम्पत्ति को बल पर आधारित सम्पत्ति कहकर, और उसे

"प्रभुत्व का वह रूप" बताकर, "जिसकी जड़ न सिर्फ़ इस बात में है कि साथी-मनुष्यों को जीवन निर्वाह के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने से रोक दिया जाता है, बल्कि **जिसका मूल इस बात में भी है** कि—और इसका कहीं अधिक महत्व है—आदमी से दास की तरह काम कराने के लिये उसे अपने वश में कर लिया जाता है"—श्री ड्यूहरिंग ने पूरे सम्बन्ध को सिर के बल खड़ा कर दिया है।

किसी आदमी से दास की तरह काम लेने के उद्देश्य से उसे अपने

वश में करने के जितने भी रूप हैं, उन सबके लिये यह ग्रावश्यक है कि वश में करनेवाले के पास ऐसे श्रम के साधन हों, जिनकी सहायता से वह उससे काम ले सके ग्रौर दास प्रथा में इसके ग्रलावा उसके पास दास को ज़िन्दा रखने के लिये जीवन निर्वाह के साधन हों। इसलिये इस सम्बन्ध के सभी रूपों के लिये जरूरी होता है कि दास के स्वामी के पास ग्रौसत से कुछ ज़्यादा सम्पत्ति हो। यह सम्पत्ति किस प्रकार ग्रस्तित्व में ग्रायी थी? बहरसूरत यह बात साफ़ है कि यद्यपि यह सम्भव है कि यह सम्पत्ति सचमुच डाका मारकर प्राप्त की गयी हो, ग्रौर इसलिये **बल पर** ग्राधारित हो, फिर भी ऐसा होना लाज़िमी नहीं है। मुमकिन है कि यह सम्पत्ति श्रम करके प्राप्त की गयी हो, किसी से चुरा ली गयी हो, या व्यापार ग्रथवा धोखेधड़ी के ज़रिये मिल गयी हो। वस्तुतः उसपर डाका पड़ने की कोई भी सम्भावना केवल उसी समय पैदा हो सकती थी, जब वह पहले श्रम करके प्राप्त कर ली गयी हो।

निजी सम्पत्ति डाकाज़नी या बल प्रयोग के फल के रूप में इतिहास में प्रवेश नहीं करती। बात इसकी उल्टी है। सभी सभ्य जातियों के प्राचीनकालीन ग्रादिम समुदायों में वह पहले से मौजूद थी, हालांकि उन दिनों वह कुछ ख़ास वस्तुग्रों तक ही सीमित थी। इन समुदायों के भीतर उसने विकसित होकर मालों का रूप धारण कर लिया। शुरू में यह क्रिया विदेशियों के साथ होनेवाली वस्तुग्रों की ग्रदला-बदली के ज़रिये सम्पन्न हुई। ग्रादिम समुदाय की पैदावार जितना ही मालों का रूप धारण करती गयी, ग्रर्थात् पैदावार ख़ुद उत्पादकों के उपयोग के लिये जितना ही कम पैदा होने लगी ग्रौर जितना ही ग्रधिक वह विनिमय करने के उद्देश्य से पैदा की जाने लगी ग्रौर जितना ही पुराने प्राकृतिक श्रम विभाजन का स्थान समुदाय के भीतर होनेवाला विनिमय लेता गया – उतना ही समुदाय के ग्रलग-ग्रलग सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के मामले में उनके ग्रसमानता बढ़ती गयी, उतना ही भूमि के प्राचीन स्वामित्व की जड़ खुदती गयी, ग्रौर उतनी ही तेज़ी से समुदाय ग्रपने विसर्जन की ग्रोर बढ़ने लगा तथा छोटी-छोटी जोतों वाले किसानों के गांव में रूपान्तरित होने लगा। ये समुदाय हज़ारों वर्ष से क़ायम थे ग्रौर पूर्वी निरंकुशता

तथा विजेता यायावर जातियों का बदलता हुआ शासन उनको कोई हानि नहीं पहुंचा सके थे। परन्तु बड़े पैमाने के उद्योग की पैदावार की होड़ ने धीरे-धीरे इन समुदायों के आदिम घरेलू उद्योग को नष्ट कर दिया, जिसके फलस्वरूप ये समुदाय क्रमशः विसर्जन के बिन्दु के निकट पहुंच गये। इस प्रक्रिया में बल प्रयोग की भूमिका उतनी ही कम थी, जितनी कम वह मोसेल नदी के तट पर स्थित तथा हौख़वाल्ड के ग्राम समुदायों (Gehöferschaften) की सामूहिक भूमि के बंटवारे की उस प्रक्रिया में है, जो आज भी जारी है। वहां तो सीधी-सी बात यह है कि किसानों को भूमि के सामूहिक स्वामित्व के स्थान पर निजी स्वामित्व क़ायम कर देने में अपना लाभ दिखाई देता है।[82] जैसा कि केल्ट लोगों में, जर्मनों में और भारतीय पंजाब में देखने में आया, आदिम अभिजात वर्ग का निर्माण भी भूमि के सामूहिक स्वामित्व के आधार पर हुआ था, और शुरू में वह किसी भी प्रकार से बल पर आधारित नहीं था, बल्कि स्वेच्छा पर तथा रूढ़ि पर आधारित था। जहां कहीं भी निजी सम्पत्ति का विकास हुआ है, वहां वह उत्पादन तथा विनिमय के बदले हुए सम्बन्धों के फलस्वरूप और उत्पादन में वृद्धि तथा विनिमय के विकास के हित में हुआ है – अर्थात् वह आर्थिक कारणों के फलस्वरूप हुआ है। इसमें बल की तनिक भी कोई भूमिका नहीं रही है। वस्तुतः यह बात स्पष्ट है कि कोई डाकू किसी दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति को केवल उसी समय **छीन** सकता है, जब निजी सम्पत्ति की प्रथा पहले से प्रचलित हो, और इसलिये बल प्रयोग से निजी सम्पत्ति का स्वामित्व बदला जा सकता है, पर उससे निजी सम्पत्ति पैदा नहीं हो सकती।

और "मनुष्य से दास की तरह काम लेने के उद्देश्य से उसे अपने वश में कर लेने" का जो सबसे आधुनिक रूप – मजूरी – है, उसे भी न तो बल प्रयोग के द्वारा समझा जा सकता है और न ही बल पर आधारित सम्पत्ति के द्वारा। जब श्रम की पैदावार मालों में रूपान्तरित हो जाती है और वह अपने पैदा करनेवालों के उपभोग के वास्ते नहीं, बल्कि विनिमय के लिये पैदा की जाती है, तब यह घटना प्राचीन समुदायों के विसर्जन में, अर्थात् निजी सम्पत्ति के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रसार में जो भूमिका

अदा करती है, उसका हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं। अब 'पूंजी' में मार्क्स ने बिल्कुल स्पष्टता के साथ यह प्रमाणित कर दिया है—और श्री ड्यूहरिंग ने इसकी ओर ज़रा-सा संकेत तक नहीं किया है—कि विकास की एक ख़ास अवस्था में पहुंचकर माल उत्पादन पूंजीवादी उत्पादन में रूपान्तरित हो जाता है और इस अवस्था में "हस्तगतकरण के नियम, अथवा निजी स्वामित्व के नियम, जो मालों के उत्पादन तथा परिचलन पर आधारित होते हैं, ख़ुद अपने आन्तरिक एवं अनिवार्य द्वन्द्व के फलस्वरूप अपने बिल्कुल उल्टे नियमों में बदल जाते हैं। हमने शुरू किया था एक ऐसी क्रिया से, जिसमें सममूल्यों का विनिमय हुआ था; वह अब इस तरह बदल जाती है कि केवल दिखावटी विनिमय ही होता है। इसका कारण एक तो यह है कि श्रम शक्ति के साथ जिस पूंजी का विनिमय होता है, वह ख़ुद दूसरों के श्रम की पैदावार का एक हिस्सा होती है, जिसे उसके एवज़ में कोई सममूल्य दिये बग़ैर ही हस्तगत कर लिया गया है। और दूसरे, उसका कारण यह है कि उत्पादक को न केवल इस पूंजी का स्थान भरना पड़ता है, बल्कि उसके साथ-साथ कुछ अतिरिक्त पूंजी भी पैदा करनी पड़ती है... शुरू में हमें लगता था कि स्वामित्व का अधिकार आदमी के अपने श्रम पर आधारित होता है ... बल्कि अब" (मार्क्सीय विश्लेषण के अन्त में) "यह मालूम होता है कि पूंजीपति के लिये स्वामित्व का अर्थ यह होता है कि उसे दूसरों के अदत्त श्रम को या उस श्रम की पैदावार को हस्तगत करने का हक़ मिल जाता है, और मज़दूर के लिये यह कि उसके लिये ख़ुद अपनी पैदावार को हस्तगत करना असम्भव हो जाता है। जो नियम ऊपर से देखने में श्रम और सम्पत्ति के एकात्म्य से उत्पन्न हुआ था, श्रम और सम्पत्ति का अलगाव उसका एक अनिवार्य फल बन गया है"*। दूसरे शब्दों में यदि हम डाकाज़नी, बल प्रयोग और धोखाधड़ी की समस्त सम्भावनाओं का अपवर्जन कर देते हैं; यदि हम यह मान लेते हैं कि समस्त निजी सम्पत्ति शुरू में अपने स्वामी के अपने

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खंड १, पृष्ठ ६५५-६५६।—**सं०**

श्रम पर आधारित थी और उसके बाद जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसमें हमेशा समान मूल्यों का केवल समान मूल्यों के साथ विनिमय हुआ करता था, तो भी उत्पादन और विनिमय का उत्तरोत्तर विकास हमें आवश्यक रूप से वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर और उस अवस्था में पहुंचा देता है, जहां संख्या की दृष्टि से एक छोटे-से वर्ग का उत्पादन के साधनों तथा जीवन निर्वाह के साधनों पर एकाधिकार क़ायम हो जाता है, और सम्पत्तिविहीन सर्वहारा श्रमजीवियों का दूसरा वर्ग, जिसका प्रबल बहुमत होता है, पतन के गढ़े में गिर पड़ता है। उत्पादन और विनिमय का उत्तरोत्तर विकास हमें आवश्यक रूप से सट्टेबाज़ी पर आधारित उत्पादन की तेज़ी और व्यापारिक संकटों के नियतकालिक क्रम और उत्पादन की वर्तमानकालीन सम्पूर्ण अराजकता की अवस्था में ला पटकता है। इस पूरी प्रक्रिया को विशुद्ध आर्थिक कारणों के आधार पर समझा जा सकता है। किसी भी बिन्दु पर डाकाज़नी, बल प्रयोग या किसी प्रकार के राजकीय अथवा राजनीतिक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि "बल पर आधारित सम्पत्ति" एक शेख़ीबाज़ की शब्दावली के सिवा और कुछ नहीं है, जिसके द्वारा वह वस्तुओं के वास्तविक विकास क्रम की समझ के अपने अभाव पर पर्दा डालना चाहता है।

वस्तुओं का यह विकास क्रम ऐतिहासिक शब्दावली में बुर्जुआ वर्ग के विकास का इतिहास है। यदि "राजनीतिक हालात आर्थिक परिस्थिति का निर्णायक कारण होते हैं", तो आधुनिक बुर्जुआ वर्ग सामन्तवाद से संघर्ष करते हुए विकास नहीं कर सकता था, तब तो वह सामन्तवाद की प्रिय सन्तान होता, जिसको उसने स्वेच्छा से पैदा किया होता। हर आदमी जानता है कि वास्तव में इसकी उल्टी बात हुई थी। बुर्जुआ वर्ग शुरू में एक उत्पीड़ित श्रेणी था, जिसको शासन करनेवाले सामन्ती अभिजात वर्ग को अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे और जो अपने सदस्यों को तरह-तरह के भू-दासों और कम्मियों में से भर्ती किया करता था। परन्तु यह वर्ग अभिजात वर्ग से निरन्तर संघर्ष करते हुए एक के बाद दूसरे मोर्चे को जीतता गया, और अन्त में सबसे अधिक विकसित देशों में अभिजात वर्ग

से सत्ता छीनकर ख़ुद गद्दी पर बैठ गया। फ़्रांस में उसने प्रत्यक्ष रूप में अभिजात वर्ग का तख़्ता उलटकर यह कार्य किया। इंगलैंड में उसने अभिजात वर्ग को अधिकाधिक बुर्जुआ बनाकर और अपने दिखावटी प्रधान के रूप में उसका अपने भीतर समावेश करके यह उद्देश्य पूरा किया। और यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न हुआ? केवल "आर्थिक परिस्थिति" को बदलकर, जिसके उपरान्त देर या सबेर, स्वेच्छापूर्वक या संघर्ष के परिणामस्वरूप राजनीतिक हालात में भी तब्दीली आ गयी। सामन्ती अभिजात वर्ग के ख़िलाफ़ बुर्जुआ वर्ग का संघर्ष देहात के ख़िलाफ़ शहर का, भूमि-सम्पत्ति के ख़िलाफ़ उद्योग का और नैसर्गिक अर्थव्यवस्था के ख़िलाफ़ मुद्रा अर्थव्यवस्था का संघर्ष है। और इस संघर्ष में बुर्जुआ वर्ग का निर्णायक अस्त्र उसके **आर्थिक** शक्ति के साधन हैं, जिनका शुरू में दस्तकारी उद्योग के रूप में और बाद में मैनुफ़ेक्चर के रूप में उद्योग के विकास के द्वारा तथा वाणिज्य के प्रसार के द्वारा निरन्तर विस्तार होता जाता है। इस पूरे संघर्ष के दौरान में राजनीतिक शक्ति अभिजात वर्ग के पक्ष में थी। केवल वह काल ही इसका अपवाद था, जब सम्राट् ने एक सामाजिक श्रेणी के द्वारा दूसरी सामाजिक श्रेणी को बढ़ने से रोकने के उद्देश्य से बुर्जुआ को अभिजात वर्ग के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया था। परन्तु जैसे ही बुर्जुआ वर्ग, जो राजनीतिक दृष्टि से उस समय भी शक्तिहीन था, अपनी बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति के कारण ख़तरनाक बनता दिखाई दिया, वैसे ही सम्राट् ने अभिजात वर्ग के साथ पुनः मैत्री स्थापित कर ली, जिसके फलस्वरूप पहले इंगलैंड में और फिर फ़्रांस में बुर्जुआ क्रान्ति हो गयी। फ़्रांस के "राजनीतिक हालात" में कोई तब्दीली नहीं आयी थी, लेकिन "आर्थिक परिस्थिति" उनकी सीमाओं से आगे निकल गयी थी। यदि राजनीतिक हैसियत की दृष्टि से देखा जाये, तो अभिजात पुरुष सब कुछ था और बुर्जुआ कुछ भी नहीं था। परन्तु यदि सामाजिक स्थिति की दृष्टि से देखा जाये, तो अब बुर्जुआ वर्ग राज्य का सबसे महत्वपूर्ण वर्ग हो गया था, जबकि अभिजात पुरुष के सारे सामाजिक कार्य उससे छीन लिये गये थे और अब उसे जो आय होती थी, उसके रूप में वह केवल ऐसे कार्यों की उजरत पा रहा था, जिनका कोई अस्तित्व नहीं रह गया था।

और बात यहां पर भी ख़त्म नहीं होती थी। बुर्जुआ उत्पादन अपनी समग्रता में अब भी मध्य युग के उन सामन्ती राजनीतिक रूपों से घिरा हुआ था, जिनकी सीमाओं से न केवल मैनुफ़ेक्चर का उत्पादन, बल्कि यहां तक कि दस्तकारी उद्योग का उत्पादन भी, बहुत दिन पहले आगे निकल गया था। उत्पादन अब भी शिल्पी संघों के हज़ारों तरह के विशेषाधिकारों और चुंगी की स्थानीय तथा प्रान्तीय चौकियों से घिरा हुआ था, जो अब उत्पादन के लिये महज़ विघ्न डालनेवाली बाधाएं और बेड़ियां बन गयी थीं।

बुर्जुआ क्रान्ति ने इस स्थिति का अन्त कर दिया। किन्तु यह कार्य उसने श्री ड्यूहरिंग के सिद्धान्तानुसार आर्थिक परिस्थिति को राजनीतिक हालात के अनुकूल ढाल करके नहीं किया – अभिजात वर्ग तथा सम्राट् वर्षों से बिल्कुल यही चीज़ करने की कोशिश कर रहे थे – बल्कि उसने इसकी उल्टी चीज़ करके, यानी पुराने, सड़े-गले, राजनीतिक कूड़े को हटाकर और ऐसे राजनीतिक हालात पैदा करके, जिनमें नयी "आर्थिक परिस्थिति" अस्तित्व में आ सके और विकसित हो सके, यह कार्य सम्पन्न किया। और इस राजनीतिक तथा क़ानूनी वातावरण में, जो नयी "आर्थिक परिस्थिति" की आवश्यकताओं के अनुकूल था, उसका बहुत तेज़ी के साथ विकास हुआ – इतनी तेज़ी के साथ कि बुर्जुआ वर्ग अभी से लगभग उसी स्थिति में पहुंच गया है, जिस स्थिति में अभिजात वर्ग १७८९ में था। वह अधिकाधिक न केवल सामाजिक दृष्टि से अनावश्यक बनता जा रहा है, बल्कि एक सामाजिक रुकावट का रूप भी धारण करता जा रहा है। उत्पादक क्रियाशीलता से उसका अधिकाधिक सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है और भूतकाल के अभिजात वर्ग की भांति वह भी अधिकाधिक एक ऐसा वर्ग बनता जा रहा है, जो केवल अपनी जेब भरता है। और अपनी स्थिति में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा करने के लिये तथा एक नये वर्ग, सर्वहारा का सृजन करने के लिये बुर्जुआ वर्ग ने किसी भी प्रकार के बल प्रयोग की बाज़ीगरी का सहारा नहीं लिया है, बल्कि विशुद्ध आर्थिक ढंग से यह कार्य सम्पन्न किया है। यही नहीं; उसके अपने कार्यों तथा क्रिया-कलाप का जो यह परिणाम हुआ है, उसकी उसने कभी इच्छा नहीं की थी। इसके विपरीत यह परिणाम बुर्जुआ वर्ग की इच्छा के विरुद्ध और

उसके इरादों के ख़िलाफ़ अपने आप एक ऐसी शक्ति के द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसका रास्ता रोकना असम्भव था। बुर्जुआ वर्ग की अपनी उत्पादक शक्तियां इतना अधिक विकास कर गयी हैं कि अब उनको नियंत्रण में रखना उसके बूते के बाहर हो गया है। और मानो एक प्राकृतिक नियम की अपरिहार्यता का पालन करते हुए ये उत्पादक शक्तियां पूरे बुर्जुआ समाज को बरबादी या क्रान्ति की ओर लिये जा रही हैं। और आजकल यदि बुर्जुआ वर्ग लड़खड़ाती हुई "आर्थिक परिस्थिति" को अन्तिम ध्वंस से बचाने के लिये बल प्रयोग करना चाहता है, तो इससे केवल यही प्रकट होता है कि वह भी उसी भ्रम का शिकार है, जिस भ्रम के शिकार श्री ड्यूहरिंग हैं; अर्थात्, वह भी इसी भ्रान्ति में पड़ा हुआ है कि "राजनीतिक हालात आर्थिक परिस्थिति का निर्णायक कारण होते हैं"। इससे केवल यही प्रकट होता है कि श्री ड्यूहरिंग की तरह बुर्जुआ वर्ग भी यही सोचता है कि वह "प्राथमिक तत्व" का, अर्थात् "प्रत्यक्ष राजनीतिक बल" का प्रयोग करके "द्वितीय श्रेणी के तथ्यों" को, अर्थात् आर्थिक परिस्थिति तथा उसके अनिवार्य विकास क्रम को अपनी इच्छानुसार नये सांचे में ढाल सकता है; और इस कारण भाप के इंजिन तथा उससे चलनेवाली आधुनिक मशीनों के आर्थिक परिणामों को, विश्व व्यापार और बैंक प्रणाली तथा उधार प्रणाली के वर्तमानकालीन विकसित रूपों के आर्थिक प्रभावों को क्रूप्प के कारख़ानों में बनी तोपों और मौज़ेर राइफ़लों से मिटाया जा सकता है।

३

बल सिद्धान्त

(अनुवर्त्ती)

किन्तु आइये, श्री ड्यूहरिंग के इस सर्वशक्तिमान "बल" पर थोड़ा और निकट से विचार करें। रोबिन्सन क्रूसो ने "तलवार हाथ में लेकर" फ़ाइडे को अपना दास बना लिया। परन्तु वह तलवार उसे कहां से मिली? रोबिन्सन क्रूसो की वीरगाथा के काल्पनिक द्वीपों में भी आज तक कभी यह सुनने में नहीं आया है कि तलवारें पेड़ों पर उगती हैं। और श्री ड्यूहरिंग ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया है। यदि रोबिन्सन क्रूसो को कहीं से तलवार मिल जाना सम्भव था, तो हमें यह कल्पना करने का भी उतना ही अधिकार है कि किसी दिन फ़ाइडे एक भरा हुआ पिस्तौल हाथ में लेकर आ सकता है और ऐसा होते ही "बल" का यह पूरा सम्बन्ध उलट जायेगा। तब फ़ाइडे हुक्म दिया करेगा और मशक़्क़त रोबिन्सन क्रूसो को करनी पड़ेगी। रोबिन्सन क्रूसो और फ़ाइडे की यह गाथा विज्ञान के क्षेत्र की चीज़ नहीं है, बल्कि बच्चों के क़िस्से-कहानियों के क्षेत्र की चीज़ है। हम इसके लिये पाठकों से क्षमा चाहते हैं कि हम बार-बार इस कहानी पर लौट आते हैं। पर हम करें भी तो क्या? हमें श्री ड्यूहरिंग की स्वयंसिद्ध तथ्य की पद्धति का ईमानदारी के साथ प्रयोग करना पड़ रहा है और ऐसा करते हुए यदि हमें अपना सारा समय विशुद्ध बचकानेपन के क्षेत्र के भीतर बिता देना पड़ता है, तो इसमें हमारा क्या दोष है? सो तब तलवार पर पिस्तौल की जीत होती है; और इससे शायद सबसे ज़्यादा बचकाने स्वयंसिद्धतथ्यवादी की समझ में भी यह बात आ जायेगी कि बल प्रयोग इच्छा का कृत्य मात्र नहीं है, बल्कि इस इच्छा के अमल में आने के पहले कुछ बहुत वास्तविक ढंग की प्रारम्भिक परिस्थितियों का अस्तित्व में आना आवश्यक है। अर्थात् उसके लिये पहले कुछ **औज़ारों** का होना आवश्यक है, जिनमें से जो अधिक अच्छे औज़ार होते हैं, वे कम अच्छे औज़ारों पर विजय पाते हैं। इसके अतिरिक्त इन औज़ारों को बनाकर तैयार करना पड़ता है, जिसका मतलब यह है कि बल प्रयोग के अधिक

अच्छे औज़ारों का पैदा करनेवाला, जो आम तौर पर हथियार कहलाते हैं, कम अच्छे औज़ारों के पैदा करनेवाले पर विजय पाता है। संक्षेप में इसका मतलब यह है कि बल की विजय हथियारों के उत्पादन पर आधारित होती है, और हथियारों का उत्पादन ख़ुद सामान्य उत्पादन पर–और इसलिये "आर्थिक शक्ति" पर, "आर्थिक परिस्थिति" पर और उन **भौतिक** साधनों पर आधारित होता है, जिनसे बल काम ले सकता है।

आजकल बल का अर्थ है सेना और नौसेना; और जैसा कि हम अपने कटु अनुभव से जानते हैं, ये दोनों चीज़ें "हद से ज़्यादा महंगी" पड़ती हैं। लेकिन बल रुपया नहीं बना सकता। अधिक से अधिक वह उस रुपये को छीन सकता है, जो पहले से बनाकर तैयार कर दिया गया है–पर इससे भी कोई ख़ास मदद नहीं मिलती, जैसा कि हम फ़्रांसीसी अरबों के अपने कटु अनुभव के दौरान में देख चुके हैं।[83] इसलिये अंतिम विश्लेषण में रुपया आर्थिक उत्पादन के माध्यम से ही मिल सकता है; और इस प्रकार एक बार फिर हम यह देखते हैं कि बल आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर करता है, जिससे बल प्रयोग के औज़ारों को सज्जित करने तथा उन्हें बनाये रखने के साधन प्राप्त होते हैं। परन्तु बात यहां पर भी समाप्त नहीं होती। सेना और नौसेना आर्थिक पूर्वावश्यकताओं पर जितना अधिक निर्भर करती हैं, उतना अधिक और कोई चीज़ निर्भर नहीं करती। शस्त्रास्त्र, सेना संरचना, सैनिक संगठन, व्यूह कौशल तथा रणनीति सबसे अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि उस समय उत्पादन तथा संचार का विकास किस अवस्था तक पहुंचा है। इस क्षेत्र पर प्रतिभाशाली सेनापतियों के "मस्तिष्क की स्वतंत्र सृष्टियों" का क्रान्तिकारी प्रभाव नहीं होता; उसपर बेहतर हथियारों के आविष्कार का तथा मानव सामग्री में, अर्थात् सैनिकों में आनेवाले परिवर्तनों का क्रान्तिकारी प्रभाव होता है। प्रतिभाशाली सेनापतियों की भूमिका अधिक से अधिक केवल नये हथियारों तथा नये लड़नेवालों के अनुसार युद्ध की पद्धतियों का अनुकूलन करने तक ही सीमित रहती है*।

---

*'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' की प्रारम्भिक पाण्डुलिपि के दूसरे भाग में आगे चलकर निम्नलिखित छः पैरों की जगह मूल पाठ का अधिक ब्योरेवार

चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी यूरोप को अरबों से बारूद प्राप्त हुआ; और जैसा कि स्कूल में पढ़नेवाला हर बच्चा जानता है, बारूद ने युद्ध की पद्धतियों में आमूल क्रान्ति कर दी। लेकिन बारूद और आतिशी हथियारों का प्रयोग बल का कृत्य कदापि नहीं था। वह तो उद्योग की प्रगति का एक क़दम था; अर्थात्, वह आर्थिक प्रगति का क़दम था। उद्योग उद्योग ही रहता है, वह चाहे वस्तुओं के उत्पादन के लिये इस्तेमाल किया जाये, चाहे उनके विनाश के लिये। और आतिशी हथियारों के प्रयोग का न केवल युद्ध के संचालन पर, बल्कि प्रभुत्व तथा पराधीनता के राजनीतिक सम्बन्धों पर भी क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। बारूद और आतिशी हथियारों को हासिल करने के लिये उद्योग और रुपये की ज़रूरत हुई, और ये दोनों चीज़ें नगरों में रहनेवाले बुर्जुआ के हाथ में थीं। इसलिये शुरू से ही आतिशी हथियार नगरों के हथियार थे, और उनको वह उदीयमान राजतंत्र, जिसे नगरों का समर्थन प्राप्त था, सामन्ती अभिजात वर्ग के ख़िलाफ़ इस्तेमाल कर रहा था। अभी तक अभिजात पुरुषों के दुर्गों की पत्थर की प्राचीरों पर हमला करना असम्भव था। पर अब नगरवासी बुर्जुआ की तोपों ने इन प्राचीरों को ध्वस्त कर दिया और उनकी बन्दूक़ों की गोलियों ने पुराने सूरमा सरदारों के कवचों को छेद दिया। अभिजात वर्ग की कवचधारी घुड़सवार सेना की पराजय के साथ-साथ उसका प्रभुत्व भी समाप्त हो गया। बुर्जुआ वर्ग के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक पैदल सेना और तोपख़ाना निर्णायक अस्त्रों का रूप धारण करते गये। तोपख़ाने के विकास से मजबूर होकर सैनिक व्यवसाय को अपने संगठन में एक नया और सर्वथा औद्योगिक उपविभाग जोड़ देना पड़ा। हमारा मतलब इंजीनियर दल से है।

आतिशी हथियारों में बहुत धीरे-धीरे सुधार हुआ। तोपें बहुत दिनों तक बेढंगी थीं और ब्योरे की बातों पर प्रभाव डालनेवाले अनेक नये

पाठ दिया गया था, जिसे एंगेल्स ने बाद में एक अलग अध्याय के रूप में 'पैदल सेना का व्यूह कौशल, भौतिक कारणों के आधार पर' शीर्षक से प्रस्तुत किया (देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ५७१–५८१)।—सं०

आविष्कारों के बावजूद बन्दूक़ बहुत दिनों तक एक अनगढ़ अस्त्र बनी रही। एक ऐसे हथियार के निर्माण में, जिससे पूरी की पूरी पैदल सेना को लैस किया जा सके, तीन सौ वर्ष लग गये। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में जाकर कहीं यह सम्भव हुआ कि पैदल सेना की सज्जा में नेज़े का स्थान संगीन लगी पत्थरकला बन्दूक़ ने अन्तिम रूप से ले लिया। उस काल के पैदल सैनिक राजाओं के ज़रख़रीद नौकर थे। उनमें नैतिक दृष्टि से समाज के सबसे अधिक पतित लोग भर्ती होते थे। उनको कड़ी क़वायद कराके तैयार किया जाता था, पर फिर भी उनपर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता था। केवल डण्डे के ज़ोर से ही उनको अधीन रखा जा सकता था। अक्सर शत्रु के सिपाहियों को युद्ध में बन्दी बनाकर फ़ौज में ज़बर्दस्ती भर्ती कर लिया जाता था। इस तरह के सिपाही नये हथियारों को केवल एक ही प्रकार के युद्ध में इस्तेमाल कर सकते थे; वह था रेखा व्यूह का युद्ध, जिसका सबसे अधिक विकास फ़्रेडरिक द्वितीय की सेना में हुआ था। पूरी पैदल सेना तीन-तीन पंक्तियों में एक लम्बे और खोखले वर्ग के रूप में व्यूहबद्ध कर दी जाती थी; और युद्ध के समय पूरा वर्ग एकसाथ चलता था। अधिक से अधिक वर्ग की दोनों भुजाओं में से एक भुजा थोड़ा-सा आगे बढ़ सकती थी या थोड़ा-सा पीछे हट सकती थी। यह भारी जन-समूह अपनी व्यूह रचना को बनाये हुए केवल पूर्णतया समतल भूमि पर ही चल सकता था, और उसपर भी बहुत ही धीरे-धीरे (एक मिनट में पचहत्तर क़दम)। युद्ध के दौरान में व्यूह रचना में परिवर्तन करना असम्भव होता था। और जब एक बार पैदल सेनाओं का मुक़ाबला होने लगता था, तो हार या जीत बहुत तेज़ी के साथ और एक ही चोट में तय हो जाती थी।

अमरीका के स्वतंत्रता युद्ध में इन भारी-भरकम पंक्तियों का मुक़ाबला विद्रोहियों के जत्थों से हुआ, जिनकी क़वायद तो इतनी अच्छी तरह नहीं हुई थी, पर जो अपनी चूड़ीदार नालवाली बन्दूक़ों से उतना ही ज़्यादा अच्छी तरह गोली चला सकते थे। ये विद्रोही अपने मौलिक हितों के लिये लड़ रहे थे, और इसलिये वे ज़रख़रीद सिपाहियों की तरह मैदान से भागते नहीं थे और न ही कभी अंग्रेज़ों के साथ ख़ुद भी पंक्ति बनाकर

ग्रौर साफ़ तथा समतल भूमि पर लड़ने की मेहरबानी करते थे। वे सदा बिखरे हुए जत्थों के रूप में ग्रौर जंगलों की ग्राड़ लेकर धावा बोलते थे ग्रौर पक्के तौर पर निशाना लगाते थे। इस प्रकार की लड़ाई में रेखा व्यूह निकम्मा सिद्ध होता था, ग्रौर ग्रपने ग्रदृश्य तथा ग्रगम्य विरोधियों के सामने हथियार डाल देता था। ग्रब बिखरे हुए जत्थों के रूप में युद्ध करने की कला का पुनः ग्राविष्कार किया गया—यह युद्ध की एक नयी पद्धति थी, जो मानव युद्ध सामग्री में परिवर्तन ग्रा जाने का फल थी।

सैनिक क्षेत्र में भी ग्रमरीकी क्रान्ति ने जिस प्रक्रिया को ग्रारम्भ किया था, उसे फ़्रांसीसी क्रान्ति ने सम्पूर्ण किया। संयुक्त शक्तियों की सुप्रशिक्षित ज़रख़रीद सेनाग्रों के मुक़ाबले में फ़्रांसीसी क्रान्ति केवल कम प्रशिक्षित सिपाहियों को ही मैदान में उतार सकती थी। पर इन सिपाहियों की संख्या बहुत बड़ी थी। यह लोक सेना थी। परन्तु सैनिकों के इस विशाल समूह को पेरिस की रक्षा करनी थी, ग्रर्थात् एक निश्चित क्षेत्र की हिफ़ाज़त करनी थी; ग्रौर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये खुले जन-संग्राम में विजय प्राप्त करना नितान्त ग्रावश्यक था। यहां केवल बिखरे हुए जत्थों से काम नहीं चल सकता था। यहां तो व्यूह रचना का कोई ऐसा रूप निकालना था, जिसमें सैनिकों के विशाल समूहों से काम लिया जा सके; ग्रौर **स्कंध** की शक्ल में इस रूप का भी ग्राविष्कार हो गया। स्कंध व्यूह स्चना बनाकर कम प्रशिक्षित सैनिक भी काफ़ी सुव्यवस्थित ढंग से चल सकते थे ग्रौर वह भी पहले से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार के साथ (एक मिनट में सौ या उससे कुछ ज़्यादा क़दम)। इस व्यूह रचना के द्वारा पुराने रेखा व्यूह के बंधे-बंधाये रूपों को भंग कर देना सम्भव हो गया। इस तरह की व्यूह रचना करके सैनिक किसी भी तरह की भूमि पर लड़ सकते थे, यहां तक कि वे उस भूमि पर भी लड़ सकते थे, जो रेखा व्यूह के लिए हद से ज़्यादा ग्रसुविधाजनक थी। ग्रब थोड़ी भी सुविधा की ख़ातिर सैनिकों के किसी भी प्रकार के दल बनाये जा सकते थे। इस प्रकार की व्यूह रचना करके लड़नेवाले सैनिक, पक्के निशानेबाज़ों के बिखरे हुए जत्थों के सहयोग से शत्रु की पंक्तियों को ग्रागे बढ़ने से रोक सकते थे, उनको लड़ाई में फंसाये रख सकते थे ग्रौर उनको थकाकर चूर कर

सकते थे। और आख़िर एक क्षण आता था, जब कुमक सेना मोर्चे के निर्णायक बिन्दु पर शत्रु की पंक्तियों को तोड़ देती थी। युद्ध करने की यह नयी पद्धति बिखरे हुए जत्थों और स्कंधों की संयुक्त कार्रवाई पर आधारित थी; और उसमें सेना को स्वतंत्र डिवीजनों या सैन्य दस्तों में बांट दिया जाता था, जिनमें से प्रत्येक में सेना की सभी शाखाओं के सिपाही शामिल होते थे। इस पद्धति के व्यूह कौशल तथा रणनीति सम्बन्धी, दोनों पक्षों का सबसे अधिक विकास नेपोलियन ने किया। यह पद्धति मूलतया सैनिकों के बदले हुए स्वरूप के कारण, फ़्रांसीसी क्रान्ति के कारण आवश्यक बन गयी थी। इसके अतिरिक्त दो बहुत महत्वपूर्ण तकनीकी पूर्वावश्यकताएं भी पूरी हो गयी थीं। एक तो बड़ी तोपों को ढोने के लिये ग्रिबोवाल ने ज़्यादा हल्की गाड़ियां तैयार कर दी थीं। इन तोपों को जिस तेज़ रफ़्तार के साथ इधर से उधर ले जाने की ज़रूरत थी, वह केवल इन हल्की गाड़ियों की मदद से ही मुमकिन हो सका था। और दूसरे, अब राइफ़ल के कुंदे को तिरछा कर दिया गया था। इसके पहले कुंदा नाल की सीध में और बिल्कुल सीधा होता था। इस तरह का कुंदा फ़्रांस में पहली बार १७७७ में इस्तेमाल हुआ। वह शिकारियों के हथियारों की नक़ल करके बनाया गया था। उसकी मदद से किसी भी विशेष व्यक्ति को गोली मारी जा सकती थी और इसकी कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी कि निशाना चूक जायेगा। यदि यह सुधार न हुआ होता, तो पुराने हथियारों की मदद से बिखरे हुए जत्थों के रूप में लड़ना नामुमकिन था।

समस्त जनता को हथियारबन्द कर देने की क्रान्तिकारी प्रणाली शीघ्र ही अनिवार्य भर्ती तक सीमित हो गयी (धनी लोग सेना में भर्ती होने के बदले धन देकर इस कार्य से मुक्ति पा सकते थे), और इस रूप में यूरोपीय महाद्वीप के अधिकतर बड़े राज्यों ने इस प्रणाली को अंगीकार कर लिया। केवल प्रशा ने अपनी Landwehr प्रणाली[84] के ज़रिये राष्ट्र की सैनिक शक्ति से अपेक्षाकृत अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। प्रशा ही वह पहला राज्य था, जिसने अपनी पूरी पैदल सेना को सबसे आधुनिक हथियार, यानी पीछे से भरी जानेवाली राइफ़ल से लैस किया

था। इस राइफ़ल के प्रयोग में आने के पहले थोड़े-से समय के लिये सामने से भरी जानेवाली राइफ़ल भी इस्तेमाल हो चुकी थी, जिसमें १८३० और १८६० के बीच काफ़ी सुधार किया गया था और जो युद्ध में उपयोग करने योग्य बन गयी थी। १८६६ में प्रशा ने जो सफलताएं प्राप्त की थीं, उनका श्रेय इन दो नवीन प्रयोगों को था।[85]

फ़्रांस और प्रशा के युद्ध में पहली बार दो ऐसी सेनाओं ने एक दूसरे का मुक़ाबला किया, जो पीछे से भरी जानेवाली राइफ़लों से लैस थीं। इसके अलावा इन दोनों सेनाओं की व्यूह रचना बुनियादी तौर पर उसी प्रकार की थी, जिस प्रकार की व्यूह रचना सीधी नालवाली पत्थरकला बन्दूक़ों के ज़माने में इस्तेमाल की जाती थी। अन्तर केवल यह था कि प्रशा की सेना में किसी ऐसी युद्ध शैली का आविष्कार करने की कोशिशों के सिलसिले में, जो नये ढंग के हथियारों के अनुरूप हो, कम्पनी स्कंध व्यूह रचना का प्रयोग आरम्भ हो गया था। परन्तु जब १८ अगस्त को सें-प्रिव[86] में प्रशियाई गार्ड ने कम्पनी स्कंध व्यूह रचना का गम्भीरतापूर्वक प्रयोग करने की चेष्टा की, तो दो घण्टे से कम समय में लड़ाई में मुख्य भाग लेनेवाले पांच रेजिमेण्टों के एक तिहाई से अधिक आदमी खेत रहे (उनमें कुल १७६ अफ़सर और ५,११४ सिपाही थे)। बस उसी समय से व्यूह रचना के रूप में कम्पनी स्कंध भी उतना ही बुरा समझा जाने लगा, जितने बुरे बटालियन स्कंध और रेखा व्यूह समझे जाते थे। अब किसी भी प्रकार की गठी हुई व्यूह रचना बनाकर अपने सैनिकों को शत्रु की तोपों का शिकार बनने के लिये छोड़ देना परम मूर्खता समझा जाने लगा; और जहां तक जर्मन पक्ष का सम्बन्ध था, इसके बाद जितनी भी लड़ाई हुई, वह निशानेबाजों की सुगठित शृंखलाओं द्वारा लड़ी गयी, जिनमें विभिन्न स्कंध गोलियों की प्राणलेवा बौछार के नीचे अपने आप और नियमित रूप में बंट जाते थे, हालांकि ऊंचे अफ़सरों ने इसकी सख़्त मनाही कर रखी थी। इसी प्रकार शत्रुओं की राइफ़लों की बौछार के नीचे केवल एक ही तरह, केवल **दौड़-दौड़कर** ही चला जा सकता था—और शीघ्र ही केवल इसी तरह चला जाने लगा। एक बार फिर यह सिद्ध हो गया कि साधारण सिपाही अफ़सर की अपेक्षा अधिक चतुर होता

है। उसी ने अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति की सहायता से उस एकमात्र युद्ध शैली का आविष्कार किया, जो पीछे से भरी जानेवाली राइफ़लों की गोलियों की मार के नीचे आज तक काम दे रही है। और अपने अफ़सरों के विरोध के बावजूद उसी ने इस शैली को सफल बनाया।

फ़्रांस और प्रशा का युद्ध एक ऐसे परिवर्तन-बिन्दु का सूचक था, जिससे सर्वथा नयी समस्याएं पैदा हो गयीं। एक तो उसमें जिन हथियारों का प्रयोग किया गया, वे विकास की एक ऐसी अवस्था पर पहुंच गये थे कि अब उनमें कोई ऐसा सुधार करना सम्भव नहीं रह गया था, जिसका क्रान्तिकारी ढंग का प्रभाव पड़े। जब एक बार सेनाओं को ऐसी तोपें मिल गयीं, जिनसे किसी भी बटालियन को, ज्यों ही वह दिखाई दे, त्यों ही निशाना बनाया जा सकता था, और ऐसी राइफ़लें मिल गयीं, जो अलग-अलग सिपाहियों को मारकर गिराने में उतना ही अच्छा काम देती थीं और जिनको भरने में निशाना लगाने से कम समय लगता था— तब उसके बाद जितने भी नये सुधार हो सकते थे, उनका युद्ध शैली के लिये गौण महत्व रह गया। इसलिए जहां तक इस दिशा का सम्बन्ध है, सभी मूलभूत बातों में विकास का युग समाप्त हो गया है। दूसरे, इस युद्ध ने यूरोपीय महाद्वीप की सभी शक्तियों को अपने देश में प्रशा की Landwehr प्रणाली को एक अधिक कड़े रूप में जारी कर देने के लिये विवश कर दिया है, जिसके कारण उनके कंधों पर एक ऐसा सैनिक बोझ आ पड़ा है, जो चन्द वर्षों में उनको लाज़िमी तौर पर बरबाद कर देगा। सेना राज्य का मुख्य ध्येय बन गयी है, जैसे वह स्वयं अपना उद्दिष्ट हो। जनता का काम केवल सिपाहियों को पैदा करना और उनके लिये भोजन, कपड़े की व्यवस्था करना है। यूरोप में सैन्यवाद का बोलबाला है और वह यूरोप को निगलता जा रहा है। परन्तु इस सैन्यवाद के गर्भ में उसके अपने विनाश के बीज निहित हैं। अलग-अलग राज्यों के बीच जो प्रतियोगिता चलती है, वह उनको एक ओर तो सेना, नौसेना और तोपख़ाने, आदि पर प्रति वर्ष पहले से अधिक रुपया ख़र्च करने के लिये मजबूर करती है, जिससे उनके आर्थिक अधःपतन की घड़ी अधिकाधिक निकट आती जाती है। और दूसरे, वह उनको सार्वजनिक अनिवार्य सैनिक सेवा

का अधिकाधिक व्यापक ढंग से उपयोग करने के लिये विवश कर देती है, जिसके फलस्वरूप समस्त जनता हथियारों का इस्तेमाल सीख जाती है और इसलिये वह इस योग्य बन जाती है कि एक निश्चित क्षण आने पर शासन करनेवाले सैनिकवादियों के ऊपर अपनी इच्छा को थोप दे। और जैसे ही जन-साधारण के मन में—शहर और देहात के मज़दूरों तथा किसानों के मन में—सचमुच कोई इच्छा **पैदा हो जायेगी**—वैसे ही यह क्षण भी आ जायेगा। इस बिन्दु पर पहुंचकर राजाओं की सेनाएं सहसा जनता की सेनाओं में रूपान्तरित हो जायेंगी; यंत्र काम करना बन्द कर देगा और सैन्यवाद स्वयं अपने विकास में निहित द्वन्द्ववाद के कारण ध्वस्त हो जायेगा। जो काम १८४८ का बुर्जुआ जनतंत्र केवल इस कारण नहीं कर सका था कि वह सर्वहारा जनतंत्र नहीं था, बल्कि **बुर्जुआ** जनतंत्र था—अर्थात् श्रमिक जनता के मन में एक ऐसी इच्छा पैदा करने का काम, जिसका सार उसकी वर्ग स्थिति के अनुरूप हो—उसे समाजवाद निश्चित रूप से सम्पन्न करेगा। और इसका अर्थ यह होगा कि सैन्यवाद तथा उसके साथ-साथ तमाम स्थायी सेनाएं **भीतर से** फट जायेंगी।

आधुनिक पैदल सेना के हमारे इतिहास से हमें पहली सीख यह मिलती है। दूसरी सीख, जो हमें फिर श्री ड्यूहरिंग की चर्चा करने पर मजबूर कर देती है, यह है कि सैन्य युद्ध का सम्पूर्ण संगठन तथा युद्ध की पद्धति और उनके साथ-साथ विजय और पराजय, भौतिक, अर्थात् आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। वे मानव सामग्री पर और युद्ध सामग्री पर, और इसलिये आबादी के परिमाण तथा गुणों पर और प्राविधिक विकास पर निर्भर करती हैं। अमरीकावासियों जैसी एक शिकारी क़ौम ही बिखरे हुए जत्थों के रूप में लड़ाई का पुनः आविष्कार कर सकती थी। और ये लोग विशुद्ध आर्थिक कारणों के फलस्वरूप शिकारी बन गये थे। अब अमरीका के पुराने राज्यों के वे ही अमरीकी विशुद्ध आर्थिक कारणों के फलस्वरूप काश्तकारों, उद्योगपतियों, जहाज़ियों और सौदागरों में बदल गये हैं। अब वे आदिम जंगलों में छिटपुट लड़ाइयां नहीं लड़ते, बल्कि उसके स्थान पर सट्टेबाज़ी के मैदान में इस रण कौशल का उतनी ही अधिक सफलता के साथ प्रयोग करते हैं, और

इस क्षेत्र में उन्होंने विशाल जन-समूहों का प्रयोग करने में भी कामयाबी हासिल की है।

केवल फ़्रांसीसी क्रान्ति जैसा इनक़लाब ही, जिसने बुर्जुआ वर्ग को और विशेषकर किसानों को आर्थिक मुक्ति दिलायी थी, विशाल जन-सेनाओं का निर्माण कर सकता था और साथ ही गति के उन स्वतंत्र रूपों का आविष्कार कर सकता था, जिन्होंने उन पुराने कठोर रेखा व्यूहों को अन्त में चकनाचूर कर दिया, जो उस निरंकुशता का सैनिक प्रतिरूप थे, जिसकी वे रेखा व्यूह रक्षा कर रहे थे। और एक के बाद दूसरी, अनेक घटनाओं में हम यह देख चुके हैं कि जब प्रविधि में कोई सुधार होता है और जब वह सैनिक क्षेत्र में प्रयोग के योग्य हो जाती है तथा वहां सचमुच उसका प्रयोग किया जाने लगता है, तो किस तरह युद्ध की पद्धतियों में तत्काल और लगभग बलपूर्वक गम्भीर परिवर्तन, और यहां तक कि क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं। और सच पूछिये तो बहुधा ये परिवर्तन सेनानायकों की इच्छा के बावजूद होते हैं। और आजकल तो कोई भी उत्साही एन०सी०ओ० श्री ड्यूहरिंग को यह बता सकता है कि युद्ध का संचालन सेना के अपने पिछवाड़े की तथा साथ ही युद्ध भूमि की उत्पादक शक्तियों और संचार के साधनों पर कितना अधिक निर्भर करता है। संक्षेप में प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर आर्थिक परिस्थितियां और आर्थिक शक्ति के औज़ार ही "बल" को जीतने में सहायता देते हैं; और उनके बिना बल बल नहीं रहता। और जो कोई इसके विपरीत दृष्टिकोण से ड्यूहरिंगीय सिद्धान्तों के आधार पर युद्ध की पद्धतियों में सुधार करने की चेष्टा करता है, उसको पिटाई के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता*।

---

*प्रशा के जनरल स्टाफ़ के अफ़सर इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। प्रशा के जनरल स्टाफ़ के कप्तान श्री मार्क्स येन्स ने एक वैज्ञानिक व्याख्यान के दौरान में कहा था: "विभिन्न जातियों की **आर्थिक** जीवन शैली ही मूलतया युद्ध कर्म का **आधार** होती है"। (*Kölnische Zeitung*, २० अप्रैल, १८७६, पृष्ठ ३)।[87] **[एंगेल्स का नोट]**

अब यदि हम भूमि युद्ध को छोड़कर समुद्री युद्ध पर आ जायें, तो हमें पता चलता है कि पिछले बीस वर्षों में वहां और भी बड़ी क्रान्ति हो गयी है। क्रीमिया के युद्ध में[88] जिस प्रकार के युद्ध पोतों का प्रयोग हुआ था, वे लकड़ी के बने दो-मंज़िले या ति-मंज़िले जहाज़ थे, जिनमें ६० से १०० तक तोपें लगी रहती थीं। ये जहाज़ उस समय भी मुख्यतया पाल से चलते थे और कम शक्ति का एक भाप का इंजिन केवल सहायक का काम करता था। इन जंगी जहाज़ों की अधिकतर तोपें ३२ पौण्ड का गोला फेंकती थीं, और उनका भार लगभग ५० सैण्टनर* होता था। ६८ पौण्ड का गोला फेंकनेवाली ६५ सैण्टनर वज़न की तोपें बहुत कम थीं। क्रीमिया के युद्ध के अन्तिम दिनों में पहली बार लोहे के कवच से ढका समुद्री तोपख़ाना मैदान में उतरा। ये बहुत अनगढ़ और दैत्याकार तोपख़ाने थे, जो लगभग निश्चल खड़े रहते थे। परन्तु उस ज़माने की तोपें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थीं। शीघ्र ही युद्ध पोतों पर भी लोहे का कवच चढ़ गया। शुरू में कवच की चादरें पतली थीं और चार इंच मोटी चादर के कवच को बहुत भारी कवच समझा जाता था। परन्तु शीघ्र ही तोपख़ाने की प्रगति कवच से आगे निकल गयी। जब कभी कवच की मज़बूती में कोई वृद्धि होती थी, तो हर बार उसे आसानी से छेद सकनेवाली नयी और पहले से भारी तोप का आविष्कार हो जाता था। इस तरह करते-करते आजकल एक ओर, यदि १०, १२, १४ और २४ इंच मोटी चादरों के कवच बनने लगे हैं (इटली तीन फ़ीट मोटी चादरों वाला एक जहाज़ बनाने की बात सोच रहा है), तो दूसरी ओर २५, ३५, ८० और यहां तक कि १०० टन (२० सैण्टनर के हिसाब से) भारी, चूड़ीदार नालों वाली तोपें बनायी जा रही हैं, जो ३००, ४००, १,७०० और यहां तक कि २,००० पौण्ड के गोले इतनी लम्बी दूरी तक फेंक देती हैं, जिसकी पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी। आजकल जिस तरह का युद्ध पोत इस्तेमाल होता है, वह लोहे के कवच से ढका स्क्रू स्टीमर है, जिसकी वहन क्षमता ८,०००

---

* जर्मन सैण्टनर जो ५० किलोग्राम का, यानी दशमिक सैण्टनर का आधा होता है। – **सं०**

से ६,००० टन तक होती है और जो ६,००० से ८,००० तक अश्वशक्ति का है। उसमें घूमती हुई बुर्जियां और चार या अधिक से अधिक छः तोपें लगी रहती हैं। अगवाड़ा पानी के नीचे-नीचे आगे को निकला रहता है और शत्रु, के जहाज़ों को टक्कर मारकर तोड़ देने के लिये मूसल का काम करता है। आजकल का युद्ध पोत एक विराट यंत्र के समान होता है, जिसमें भाप न केवल जहाज़ को बड़ी तेज़ रफ़्तार से चलाने का काम करती है, बल्कि चालन उपयंत्रों को चलाती है, लंगर उठाती और गिराती है, बुर्जियों को घुमाती है, तोपों की ऊंचाई को कम-ज़्यादा करती है, तोपों में गोला भरती है, पानी को निकालकर बाहर फेंकती है, नावों को ऊपर उठाती है और नीचे उतारती है और इनमें से कुछ नावें भी भाप से चलती हैं, इत्यादि, इत्यादि। और जहाज़ों पर लोहे की चादरों का कवच चढ़ाने की कोशिश तथा तोपों की मार की होड़ अभी समाप्त नहीं हुई है। आजकल कोई जहाज़ लगभग कभी भी आधुनिक कसौटियों पर खरा नहीं उतरता और पानी में उतारे जाने के पहले ही पुराना पड़ जाता है। आधुनिक युद्ध पोत न केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग की पैदावार है, बल्कि वह स्वयं उसका एक उदाहरण है। वह समुद्र में तैरनेवाली एक फ़ैक्टरी के समान है, हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि यह फ़ैक्टरी प्रायः केवल रुपया नष्ट करती है। जिस देश में बड़े पैमाने के उद्योग ने सबसे अधिक विकास किया है, उसे इन युद्ध पोतों के निर्माण पर लगभग एकाधिकार प्राप्त है। तुर्की के सारे, रूस के लगभग सभी और जर्मनी के अधिकतर बख़्तरबन्द जहाज़ इंगलैण्ड में बनाये गये हैं। शेफ़ील्ड के बाहर मुश्किल से ही कहीं पर ऐसी बख़्तरी चादरें बनती हैं। यूरोप में इस्पात के केवल तीन कारख़ाने हैं, जो सबसे भारी तोपों को बना सकते हैं। उनमें से दो (वूलविच और एल्सविक) इंगलैंड में हैं और तीसरा (क्रूप्प का कारख़ाना) जर्मनी में है। इस क्षेत्र में यह बात बिल्कुल साफ़ है कि वह "प्रत्यक्ष राजनीतिक बल", जो श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार, "आर्थिक परिस्थिति का निर्णायक कारण" होता है, वास्तव में इसके विपरीत पूर्णतया आर्थिक स्थिति के अधीन होता है; और बल प्रयोग के समुद्री अस्त्र का न केवल निर्माण, बल्कि संचालन भी स्वयं

बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग की एक शाखा बन गया है। और इस स्थिति से सबसे अधिक परेशानी स्वयं बल को, अर्थात् राज्य को होती है। उसे अब एक अकेले जहाज़ के लिये उतना पैसा देना पड़ता है, जितना पैसा पहले एक छोटे जहाज़ी बेड़े के लिये काफ़ी होता था। उसे बरबस इस स्थिति को क़बूल करना पड़ता है कि ये महंगे जहाज़ बनकर तैयार नहीं होते कि पुराने पड़ जाते हैं और पानी में उतरने के पहले ही बेकार हो जाते हैं। और श्री ड्यूहरिंग की तरह ही राज्य को भी यह देखकर निश्चय ही बहुत बुरा लगता होगा कि अब "आर्थिक परि-स्थिति" के प्रतिनिधि, इंजीनियर का "प्रत्यक्ष बल" के प्रतिनिधि, जहाज़ के कप्तान से कहीं ज़्यादा महत्त्व हो गया है। हमें इसके विपरीत यह देखकर कोई परेशानी नहीं होनी चाहिये कि जहाज़ों के कवच और तोपों के इस प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष में जंगी जहाज़ का विकास इस स्तर पर पहुंच रहा है कि वह हद से ज़्यादा महंगा और युद्ध में उपयोग के अयोग्य बनता जा रहा है*; और इस संघर्ष के द्वारा समुद्री युद्ध के क्षेत्र में गति के वे अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मक नियम अभिव्यक्त हो रहे हैं, जिनके आधार पर अन्य प्रत्येक ऐतिहासिक परिघटना की भांति सैन्यवाद भी स्वयं अपने विकास के फलस्वरूप विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है।

अतः यहां पर भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि यह कथन कदापि सत्य नहीं है कि "मूल तत्व की हमें किसी अप्रत्यक्ष आर्थिक शक्ति में नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष राजनीतिक बल में ही खोज करनी चाहिये"। सचाई इसकी उल्टी है। कारण कि स्वयं बल का "मूल तत्व" क्या है? आर्थिक शक्ति, बड़े पैमाने के उद्योग के शक्ति के साधनों का प्रयोग करने की सम्भावना। अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्री राजनीतिक बल,

---

*सामुद्रिक युद्ध में प्रयोग की जानेवाली आधुनिक उद्योग की नवीनतम पैदावार, स्वचालित टारपीडो के सुघड़ बना लिये जाने का यह परिणाम होगा कि छोटी से छोटी टारपीडो बोट अधिक से अधिक शक्तिशाली बख़्तरबन्द युद्ध पोत से ज़्यादा ताक़तवर साबित होगी। (याद रखना चाहिये कि यह बात १८७८ में लिखी गयी थी)।[89] **[एंगेल्स का नोट]**

जो आधुनिक युद्ध पोतों पर आधारित है, "प्रत्यक्ष बल" कदापि नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह बल आर्थिक शक्ति, अत्यन्त विकसित धातु उद्योग निपुण तकनीशियनों से काम लेने की सम्भावना तथा अत्यन्त उत्पादक कोयला खानों पर **निर्भर करता है।**

परन्तु इस सबसे क्या लाभ है? यदि हम श्री ड्यूहरिंग को अगले समुद्री युद्ध का प्रधान सेनापति नियुक्त कर दें, तो वह कवचधारी युद्ध पोतों के तमाम बेड़ों को, जोकि "आर्थिक परिस्थिति" के दास हैं, बिना किसी टारपीडो के या बिना किसी अन्य प्रकार के अस्त्र के केवल अपने "प्रत्यक्ष बल" से नष्ट कर देंगे।

४

बल सिद्धान्त

(समापन)

"इस बात का बहुत बड़ा महत्व है कि वस्तुतः **प्रकृति** पर प्रभुत्व सामान्यतया" (!) "केवल **मनुष्य** के ऊपर प्रभुत्व के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था"। (प्रभुत्व सम्पन्न हुआ था!) "कहीं पर भी ऐसा नहीं हुआ कि भू-सम्पत्ति के काफ़ी बड़े-बड़े टुकड़ों पर खेती होने लगी हो और उसके पहले दास श्रम या बेगार के किसी न किसी रूप के द्वारा मनुष्य को पराधीन न बना लिया गया हो। वस्तुओं के ऊपर आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना के पहले सदा यह आवश्यक होता है कि मनुष्य पर मनुष्य का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रभुत्व क़ायम हो जाये। एक बड़े भू-स्वामी की कल्पना ही कैसे की जा सकती है, यदि उसके साथ-साथ दासों, भू-दासों या अप्रत्यक्ष रूप में अस्वाधीन अन्य व्यक्तियों पर उसके प्रभुत्व का विचार भी इस कल्पना का एक अंग न हो? विस्तृत पैमाने की खेती में एक व्यक्ति के प्रयत्नों का, जिसे अधिक से अधिक अपने परिवार के प्रयत्नों की सहायता मिल जाती थी, क्या महत्व हो सकता था या कभी हो सकता है? भूमि का उपयोग या भूमि के आर्थिक नियंत्रण का इतना अधिक विस्तार कर देना, जो व्यक्ति की प्राकृतिक क्षमताओं की पहुंच के बाहर हो—भूतकालिक इतिहास में केवल इसी प्रकार सम्भव हुआ था कि या तो भूमि पर प्रभुत्व क़ायम होने के पहले या उसके साथ-साथ मनुष्य को दास बना लिया गया था। विकास के बाद के कालों में यह दासत्व कुछ ढीला पड़ गया... अपेक्षाकृत अधिक सभ्य राज्यों में उसका वर्तमान रूप मजूरी का है, जो न्यूनाधिक मात्रा में पुलिस के शासन के नीचे करायी जाती है। इस प्रकार मजूरी से वर्तमानकालीन धन के उस रूप की व्यावहारिक सम्भावना पैदा हो जाती है, जिसका प्रतिनिधित्व भूमि के बड़े-बड़े रक़बों पर प्रभुत्व और" (!) "विस्तृत भू-सम्पत्ति करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वितरणीय धन के अन्य समस्त रूपों का भी ऐतिहासिक दृष्टि से इसी ढंग से स्पष्टीकरण किया जाना चाहिये। और मनुष्य पर मनुष्य की उस अप्रत्यक्ष पराधीनता को, जो अब आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक विकसित परिस्थितियों की परमावश्यक लक्षण बन गयी है, ख़ुद परिस्थितियों की प्रकृति के आधार पर नहीं समझा जा

सकता और न ही इस आधार पर उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है; बल्कि उसे तो केवल एक पुराने प्रत्यक्ष पराभव तथा सम्पत्ति अपहरण के कुछ रूपान्तरित धरोहर के रूप में ही समझा जा सकता है"।

यह है श्री ड्यूहरिंग का कथन।

प्रस्थापना: प्रकृति पर (मनुष्य का) प्रभुत्व क़ायम होने के पहले मनुष्य पर (मनुष्य का) प्रभुत्व क़ायम होना आवश्यक है।

प्रमाण: **काफ़ी बड़े आकार के भू-खण्डों के रूप में भू-सम्पत्ति** की खेती कहीं पर भी क्रीतदासों का उपयोग किये बिना नहीं हो सकी है।

प्रमाण का प्रमाण: क्रीतदासों के अभाव में बड़े भू-स्वामी कैसे हो सकते हैं? कारण कि अपने परिवार की मदद लेकर भी बड़ा भू-स्वामी क्रीतदासों की मदद के बिना अपनी भू-सम्पत्ति के केवल एक लघु भाग को ही जोत सकता है।

इसलिये अब श्री ड्यूहरिंग यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि प्रकृति पर अपना नियंत्रण क़ायम करने के पहले मनुष्य को अन्य मनुष्यों को अपने वश में करना पड़ा था, तब वह "प्रकृति" को बिना किसी संकोच के "काफ़ी बड़े आकार के भू-खण्डों की भू-सम्पत्ति के रूप में" बदल डालते हैं, और उसके बाद यह भू-सम्पत्ति – जिसका स्वामी कौन है, यह नहीं बताया जाता – तुरन्त ही एक बड़े भू-स्वामी की सम्पत्ति में बदल दी जाती है, जो स्वभावतया क्रीतदासों के बिना अपनी ज़मीन को नहीं जोत सकता।

अब पहली बात तो यह है कि "प्रकृति पर प्रभुत्व क़ायम करना" और "भू-सम्पत्ति पर खेती करना" – ये दोनों एक ही चीज़ हरगिज़ नहीं हैं। उद्योग में खेती से बिल्कुल भिन्न ढंग से और कहीं अधिक बड़े पैमाने पर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व क़ायम किया जाता है, क्योंकि खेती आज भी मौसम को नियंत्रित नहीं कर पाती, बल्कि इसके विपरीत ख़ुद उसके अधीन रहती है।

दूसरे, यदि हम अपने को केवल काफ़ी बड़े आकार के भू-खण्डों के रूप में भू-सम्पत्ति की खेती तक ही सीमित कर देते हैं, तो प्रश्न उठता

है कि यह भू-सम्पत्ति किसकी है? और तब हमें पता चलता है कि सभी सभ्य जातियों के प्रारम्भिक इतिहास में इन "बड़े भू-स्वामियों" से हमारी कभी भेंट नहीं होती, जिनको श्री ड्यूहरिंग ने अपने अभ्यस्त हस्त कौशल का प्रयोग करते हुए – इस हस्त कौशल को उन्होंने "प्राकृतिक द्वन्द्ववाद"[९०] का नाम दे रखा है – यहां बीच में घुसा दिया है। बल्कि वहां हमारी केवल क़बायली समुदायों तथा ग्राम समुदायों से भेंट होती है, जिनका भूमि पर सामूहिक स्वामित्व हुआ करता था। भारत से लेकर आयरलैण्ड तक काफ़ी बड़े आकार के भू-खण्डों के रूप में भू-सम्पत्ति की खेती मूलतया इस प्रकार के क़बायली और ग्राम समुदाय किया करते थे। कभी-कभी खेती के योग्य भूमि पूरे समुदाय की ओर से संयुक्त रूप से जोती जाती थी। कभी-कभी समुदाय भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े करके उनको अस्थायी रूप से अलग-अलग परिवारों में बांट देता था, मगर जंगल तथा चरागाह की भूमि का संयुक्त रूप से उपयोग किया जाता था। "राजनीति और क़ानून के क्षेत्र में" श्री ड्यूहरिंग ने जो "अतिसम्पूर्ण विशिष्टीकृत अध्ययन" किया है, उसका यह भी एक ख़ास गुण है कि इन तमाम बातों का उनको तनिक भी ज्ञान नहीं है। उनकी तमाम रचनाओं से यह बात झलकती है कि समस्त जर्मन क़ानून के आधार, जर्मन मार्क के आदिम संविधान के विषय में मौरेर की युगान्तरकारी रचनाओं[९१] का उनको पूर्ण अज्ञान है। और श्री ड्यूहरिंग को उस साहित्य की भी कोई जानकारी नहीं है, जिसका आकार नित्य प्रति बढ़ता जा रहा है, जिसकी प्रेरणा मुख्यतया मौरेर से मिली है, जिसका मूल उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि यूरोप और एशिया की सभी सभ्य जातियों के यहां भूमि का आदिम ढंग का सामूहिक स्वामित्व पाया जाता था और जो यह पता लगाने की कोशिश करता है कि इस सामूहिक स्वामित्व के अस्तित्व तथा विसर्जन के कौन-कौनसे अलग-अलग रूप हैं। जिस प्रकार फ़्रांस और इंगलैंड के क़ानून के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग ने "अपना समस्त अज्ञान ख़ुद ही प्राप्त किया था"[९२], हालांकि यह अज्ञान बहुत बड़ा था – उसी प्रकार जर्मन क़ानून के विषय में उनका यह और भी बड़ा अज्ञान उनका अपना अर्जित किया हुआ है। इस क्षेत्र में जो आदमी विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों के सीमित क्षितिज

को देखकर क्रोध से ग्राग-बबूला हो जाता है, वह ख़ुद ग्राज ग्रधिक से ग्रधिक उस स्तर पर खड़ा हुग्रा है, जिस स्तर पर विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसर बीस वर्ष पहले खड़े थे।

जब श्री ड्यूहरिंग यह कहते हैं कि काफ़ी बड़े ग्राकार के भू-खण्डों के रूप में भू-सम्पत्ति की खेती के लिये भू-स्वामियों ग्रौर क्रीतदासों की ग्रावश्यकता थी, तब वास्तव में वह एक विशुद्ध "स्वतंत्र सृष्टि तथा कल्पना" गढ़ डालते हैं। पूर्व में ज़मीन या तो ग्राम समुदायों की सम्पत्ति होती है या राज्य की। वहां जो ग्रनेक भाषाएं बोली जाती हैं, उनमें "ज़मींदार" शब्द ही नहीं है। श्री ड्यूहरिंग चाहें, तो इस विषय में ग्रंग्रेज़ी क़ानूनदानों की साक्ष्य देख सकते हैं, जिन्होंने भारत में इस प्रश्न को हल करने की बहुत कोशिश की थी कि भूमि का स्वामी कौन है? मगर ये कोशिशें भी उतनी ही बेकार साबित हुईं, जितनी बेकार र्‌यूस-ग्राइज़-श्लाइट्ज़-लोबेंस्टाइन-एबे-र्स्वाल्डे के स्वर्गीय राजकुमार हेनरिक बहत्तरवें[93] की कोशिशें साबित हुई थीं, जो इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न कर रहे थे कि रात को पहरा कौन दे रहा था। सबसे पहले तुर्कों ने पूर्व के जिन देशों को उन्होंने जीता, उनमें भूमि का एक प्रकार का सामन्ती स्वामित्व क़ायम किया। यूनान ने ग्रपने वीरगाथा-युग में सामाजिक श्रेणियों की एक ऐसी व्यवस्था के साथ इतिहास में प्रवेश किया था, जो ख़ुद स्पष्ट ही एक लम्बे किन्तु ग्रज्ञात पूर्व-इतिहास की पैदावार थी। परन्तु वहां भी भूमि को मुख्यतया स्वतंत्र किसान जोतते थे। ग्रभिजात व्यक्तियों तथा क़बीलों के मुखियाग्रों की बड़ी जागीरें ग्रपवादस्वरूप थीं। इसके ग्रलावा वे शीघ्र ही ग़ायब हो गयी थीं। इटली को मुख्यतया किसानों ने पहली बार जोता था। जब रोमन प्रजातंत्र के ग्रन्तिम काल में छोटे-छोटे किसानों का स्थान बड़ी-बड़ी जागीरों ने ले लिया ग्रौर वे किसानों के बदले दासों से खेती कराने लगीं, तो इसके साथ-साथ इन जागीरों ने ज़मीन की जुताई-बुवाई का स्थान पशु-पालन को दे दिया ग्रौर, जैसा कि प्लिनी पहले ही जानता था, इस तरह इटली को बरबाद कर दिया (latifundia Italiam perdidere)।[94] मध्य युग में सारे यूरोप में किसानों की खेती का बोलबाला था (ख़ासकर उन स्थानों में, जहां परती

ज़मीन को जोता गया था)। और जिस प्रश्न पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसके सम्बन्ध में इस बात का कोई महत्व नहीं है कि इन किसानों को सामन्ती प्रभुओं को कोई लगान देने पड़ते थे या नहीं, और यदि देने पड़ते थे, तो कौनसे। एल्ब नदी के पूर्व की स्लाव लोगों से छीनी गयी ज़मीन को फ़्रीज़लैण्ड, निम्न सैक्सोनी, फ़्लैण्डर्स तथा निम्न राइन के जिन उपनिवेशियों ने जोता था, उन्होंने स्वतंत्र किसानों के रूप में यह कार्य किया था और उनको यह ज़मीन "बेगार के किसी रूप" के मातहत नहीं मिली हुई थी, बल्कि बहुत अनुकूल शर्तों के मुताबिक़ लगान पर मिली हुई थी।

उत्तरी अमरीका में भूमि का अधिकांश भाग स्वतंत्र किसानों के श्रम से जोता गया था; जबकि दक्षिण के बड़े ज़मींदारों ने, जो दासों से काम लेते थे और भूमि को अंधाधुंध जोतते थे, धरती की सारी उर्वरता नष्ट कर दी थी और अब उसपर केवल चीड़ के पेड़ ही उग सकते थे तथा इसके परिणामस्वरूप कपास की खेती अधिकाधिक पश्चिम की ओर हटती जाती थी। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में ब्रिटिश सरकार ने कृत्रिम ढंग से एक भू-स्वामी अभिजात वर्ग बना देने की बहुत कोशिश की, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। संक्षेप में यदि उष्णकटिबंध और उपोष्ण क्षेत्र के उपनिवेशों को छोड़ दिया जाये, जहां के जलवायु में तो यूरोप के लोग खेती का किसी भी प्रकार का श्रम नहीं कर सकते—तो अपने दासों या भू-दासों से श्रम कराके प्रकृति को अपने वश में करनेवाला और भूमि की जुताई-बुवाई करानेवाला बड़ा ज़मींदार केवल एक कल्पित कथा है। वास्तविकता इसकी एकदम उल्टी है। प्राचीन काल में इटली की तरह जहां कहीं बड़ा ज़मींदार दिखाई देता है, वहां वह परती भूमि को तोड़कर उसकी जुताई-बुवाई नहीं कराता, बल्कि जिस खेती योग्य भूमि को किसानों ने जोता था, उसको भी पशुओं की चरागाहों में बदल देता है और सम्पूर्ण देशों को उजाड़ देता है और बरबाद कर देता है। यह तो केवल हाल ही की बात है कि जब से जनसंख्या के बढ़ते हुए घनत्व के कारण भूमि का मूल्य बढ़ गया है, और विशेषकर जब से कृषि विज्ञान के विकास के फलस्वरूप अपेक्षाकृत ख़राब ज़मीन भी खेती के

योग्य बन गयी है, तब से बड़े-बड़े भू-स्वामी बड़े पैमाने पर परती भूमि और चरागाहों की भूमि को जोतने में भाग लेने लगे हैं; और यह काम उन्होंने इंगलैंड तथा जर्मनी, दोनों देशों में मुख्यतया सामुदायिक भूमि को किसानों से छीनकर किया है। लेकिन इस चीज़ का भी एक दूसरा पहलू था। इंगलैंड में बड़े भू-स्वामियों ने जितनी एकड़ सामुदायिक भूमि को जोता, स्काटलैण्ड में उसकी कम से कम तिगुनी खेती योग्य भूमि को उन्होंने भेड़ों की चरागाहों में और अन्त में तो महज़ शिकार खेलने के जंगलों में बदल दिया।

यहां पर हम श्री ड्यूहरिंग के केवल उस कथन पर विचार कर रहे हैं कि काफ़ी बड़े आकार के भू-खण्डों की जुताई और इसलिये सच पूछिये तो लगभग उस तमाम रक़बे की जुताई, जिसपर आजकल खेती हो रही है, "कहीं पर भी और कभी भी" बड़े ज़मींदारों तथा उनके क्रीतदासों के बिना नहीं हो सकी थी। जैसा कि हम देख चुके हैं यह कथन केवल वही व्यक्ति कर सकता था, जिसका इतिहास का अज्ञान सचमुच अभूतपूर्व हो। इसलिये हमें यहां न तो इस प्रश्न पर विचार करने की कोई आवश्यकता है कि जो क्षेत्र पहले ही से पूर्णतया अथवा मुख्यतया खेती के योग्य बना दिये गये थे, उनको अलग-अलग कालों में किस हद तक दास जोतते थे (जैसा कि यूनान के उत्कर्ष के काल में होता था), या किस हद तक भू-दास जोतते थे (जैसा कि मध्य युग की जागीरों में), और न ही इस प्रश्न पर कि अलग कालों में बड़े भू-स्वामियों की सामाजिक भूमिका क्या थी।

और जब श्री ड्यूहरिंग अपनी कल्पना का यह चमत्कार हमें दिखा चुकते हैं – जिसमें हम नहीं जानते कि निगमन की बाज़ीगरी की ज़्यादा प्रशंसा करें या इतिहास के साथ जालसाज़ी करने की – तब वह विजयोल्लास के साथ घोषणा करते हैं कि

"कहने की आवश्यकता नहीं कि वितरणीय धन के अन्य समस्त रूपों का भी **ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ इसी ढंग से स्पष्टीकरण किया जाना चाहिये!"**

इससे ज़ाहिर है कि वह उदाहरण के लिये, पूंजी की उत्पत्ति के विषय में थोड़ा भी और माथा खपाने की ज़हमत से बिल्कुल बच जाते हैं।

जब श्री ड्यूहरिंग यह कहते हैं कि प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व क़ायम होने की शर्त यह है कि मनुष्य पर मनुष्य का प्रभुत्व क़ायम हो जाये, तब यदि वह इस कथन के द्वारा सामान्य ढंग से केवल यह कहना चाहते हैं कि हमारी सम्पूर्ण वर्तमान आर्थिक व्यवस्था और खेती तथा उद्योग के विकास का वर्तमान स्तर उस सामाजिक इतिहास का फल है, जो वर्ग विरोधों के बीच और प्रभुत्व तथा पराधीनता के सम्बन्धों के बीच विकसित हुआ है, तो वह एक ऐसी बात कह रहे हैं, जो बहुत दिनों से, अर्थात् 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के प्रकाशन के समय से ही एक बहुत साधारण-सी और जानी-मानी हुई बात बन गयी है। परन्तु यहां पर प्रश्न यह है कि वर्गों और प्रभुत्व पर आधारित सम्बन्धों की उत्पत्ति का हम क्या कारण बतायें; और यदि इस प्रश्न के उत्तर में श्री ड्यूहरिंग के पास केवल एक शब्द "बल प्रयोग" ही है, तो हमने जहां से आरम्भ किया था, हम वहीं पर फिर पहुंच जाते हैं। केवल यह तथ्य कि शासित तथा शोषित लोगों की संख्या शासकों तथा शोषकों की संख्या से हमेशा बहुत अधिक रही है; और इसलिये वास्तविक बल सदा शासित तथा शोषित लोगों के हाथ में रहा है, सम्पूर्ण बल सिद्धान्त के बेतुकेपन को प्रमाणित करने के लिये काफ़ी है। अतः प्रभुत्व तथा पराधीनता पर आधारित सम्बन्धों के कारणों का पता लगाने का काम अब भी अधूरा है।

इस प्रकार के सम्बन्ध दो प्रकार से उत्पन्न हुए थे।

मनुष्य जिस रूप में पहले पहल पशु जगत् के बाहर निकले थे—यहां पर हम अधिक संकुचित अर्थ में "पशु जगत्" शब्द का प्रयोग कर रहे हैं—उसी दशा में वे इतिहास के मंच पर उतर पड़े थे। उस समय तक वे अर्ध-पशु, क्रूर, प्रकृति की शक्तियों के सम्मुख असहाय, ख़ुद अपने बल से अपरिचित और इस कारण पशुओं के समान ही दरिद्र थे और उनकी उत्पादन करने की क्षमता भी पशुओं से बहुत अधिक नहीं थी। उस समय जीवन की परिस्थितियों में एक प्रकार की समानता पायी जाती थी, और परिवारों के मुखियाओं की सामाजिक स्थिति में भी एक तरह

की समानता दिखाई देती थी, या कम से कम सामाजिक वर्गों का अभाव था। बाद के काल की सभ्य जातियों के आदिम ढंग के खेतिहर समुदायों में भी यह समानता बनी रही। ऐसे प्रत्येक समुदाय में शुरू से ही कुछ ऐसे सामूहिक हित थे, जिनकी रक्षा का काम कुछ व्यक्तियों को सौंप देना पड़ा था, हालांकि यह सच है कि ये व्यक्ति पूरे समुदाय की देख-रेख में काम करते थे। इस प्रकार के काम थे: झगड़ों का फ़ैसला करना; व्यक्तियों द्वारा प्राधिकार के दुरुपयोग को रोकना; विशेषकर गरम देशों में जल संभरण की व्यवस्था करना; और अन्त में, जिस समय तक समुदाय बिल्कुल आदिम अवस्था में थे, उस समय तक धार्मिक कृत्य करना-कराना। इस प्रकार के पद प्रत्येक काल के आदिवासी समुदायों में मिलते हैं—वे सबसे पुराने जर्मन मार्कों में भी मिलते थे और आजकल भारत में भी देखे जा सकते हैं। स्वभावतया इन पदों को एक ख़ास मात्रा में प्राधिकार प्राप्त होता है, और वे राज्य सत्ता का बीज रूप होते हैं। धीरे-धीरे उत्पादक शक्तियां बढ़ती जाती हैं। जनसंख्या का बढ़ता हुआ घनत्व एक बिन्दु पर अलग-अलग समुदायों के समान हित उत्पन्न कर देता है, तो दूसरे बिन्दु पर उनके परस्पर विरोधी हित पैदा कर देता है। जब इन समुदायों का अपेक्षाकृत बड़ी इकाइयों में समूहन हो जाता है, तो उससे एक नया श्रम विभाजन पैदा हो जाता है। समान हितों की रक्षा और विरोधी हितों का मुक़ाबला करने के लिये कुछ संस्थाएं बना दी जाती हैं। यदि और किसी कारण से नहीं तो केवल इस कारण से कि ये संस्थाएं पूरे समूह के समान हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनकी प्रत्येक अलग-अलग समुदाय के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की स्थिति होती है। कुछ ख़ास परिस्थितियों में तो उनकी स्थिति विरोध की स्थिति हो जाती है। शीघ्र ही ये संस्थाएं और भी स्वाधीन हो जाती हैं—आंशिक रूप में इसलिये कि ये विशेष प्रकार के कार्य पुश्तैनी धंधा बन जाते हैं, क्योंकि जिस दुनिया में हर चीज़ स्वयंस्फूर्त्त ढंग से होती है, वहां इस तरह के विशेष कार्य लगभग अपने आप ही पुश्तैनी काम बन जाते हैं। और आंशिक रूप में इसलिये कि अन्य दलों के साथ झगड़े बढ़ जाने के कारण इस प्रकार की संस्थाएं अधिकाधिक अपरिहार्य बनती जाती हैं। समाज के

सम्बन्ध में सामाजिक कार्यों की यह स्वतंत्रता समय के बीतने के साथ-साथ किस तरह बढ़ती गयी और अन्त में किस प्रकार समाज के ऊपर प्रभुत्व बन गयी; जो व्यक्ति शुरू में समाज का नौकर था, वह अनुकूल परिस्थितियां पाकर किस तरह धीरे-धीरे समाज का मालिक बन बैठा; यह मालिक किस तरह परिस्थितियों के अनुसार पूर्व का निरंकुश राजा या क्षत्रप, या किसी यूनानी क़बीले का शासक, या किसी केल्ट क़बीले का गणपति, इत्यादि , बन गया; उसे बाद में इस रूपान्तरण के दौरान किस हद तक बल का प्रयोग करना पड़ा; और अन्त में अलग-अलग शासक किस तरह एक शासक वर्ग में एकजुट हो गये – इस सब पर विचार करना हमारे लिये यहां आवश्यक नहीं है। यहां तो हम केवल इस तथ्य की स्थापना करना चाहते हैं कि किसी भी सामाजिक कार्य को करना हर जगह राजनीतिक प्रभुता का आधार बन गया था; और यह भी कि राजनीतिक प्रभुता केवल उसी हालत में कुछ समय क़ायम रहती रही है, जब वह अपने इस सामाजिक कार्य को अंजाम देती रही है। फ़ारस और भारत में चाहे जितनी निरंकुश सत्ताओं का उदय तथा पतन हुआ हो, उनमें से प्रत्येक सत्ता यह अच्छी तरह जानती थी कि सबसे पहले उसे उस उद्यमकर्त्ता की भूमिका अदा करनी है, जिसपर नदी घाटियों में सिंचाई की व्यवस्था का सामूहिक प्रबंध करने की ज़िम्मेदारी है, जिसके बिना वहां किसी भी तरह की खेती करना असम्भव है। भारत में जिन्होंने सबसे पहले इस कर्तव्य की ओर से आंखें मूंदीं, वे थे परम ज्ञानी अंग्रेज़। उन्होंने सिंचाई की नहरों और स्लूसों को टूट-फूट जाने दिया। और अब नियमित रूप से बारम्बार पड़नेवाले अकालों से आख़िर उनकी भी आंखें खुल रही हैं, और वे भी यह महसूस कर रहे हैं कि भारत में उनके सामने केवल एक ही काम था, जिसको करने पर शायद उनका शासन भी उतना ही न्यायोचित माना जाता, जितना न्यायोचित उनके पूर्वजों का शासन था, परन्तु उन्होंने ठीक इसी काम को नहीं किया और उसकी ओर से लापरवाही बरती।

परन्तु वर्गों के निर्माण की इस क्रिया के साथ-साथ एक और क्रिया भी चल रही थी। भूमि जोतनेवाले परिवार के भीतर जो प्राकृतिक श्रम

विभाजन हो गया था, उससे पारिवारिक समृद्धि के एक निश्चित स्तर पर पहुंच जाने के बाद एक या कई अजनबियों को अतिरिक्त श्रम करनेवालों के रूप में ले आना सम्भव हो गया। उन देशों में ख़ास तौर पर यह बात देखने में आयी, जहां भूमि का पुराना सामूहिक स्वामित्व पहले ही छिन्न-भिन्न हो गया था या जहां पहले की संयुक्त जुताई-बुवाई के स्थान पर अब अलग-अलग परिवार ज़मीन के अपने अलग-अलग टुकड़ों पर खेती करने लगे थे। उत्पादन इतना अधिक बढ़ गया था कि अब एक आदमी की श्रम शक्ति मात्र अपने जीवन निर्वाह के ख़र्च से अधिक पैदा कर सकती थी। अतिरिक्त आदमियों के जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध थे। इसी प्रकार उनको नौकर रखने के साधन भी मौजूद थे। श्रम शक्ति ने **एक मूल्य** प्राप्त कर लिया था। परन्तु स्वयं समुदाय के भीतर और उस संघ के भीतर, जिसका समुदाय सदस्य था, ऐसे श्रम करनेवाले कोई नहीं थे, जो अनावश्यक हों और जिनसे अतिरिक्त आदमियों के रूप में काम लिया जा सके। दूसरी ओर, युद्ध में ऐसे आदमी मिल जाते थे; और युद्ध तो उसी समय से होते आ रहे थे, जिस समय से समुदायों के अनेक दल एक दूसरे के साथ-साथ और पास-पास रहने लगे थे। पहले उनको इसका कोई ज्ञान नहीं था कि युद्ध के बन्दियों का क्या उपयोग किया जा सकता है; और इसलिये वे उनको केवल मार डालते थे, या और भी शुरू के काल में खा जाते थे। परन्तु अब वे "आर्थिक स्थिति" के विकास की जिस मंज़िल पर पहुंच गये थे, उसमें बन्दियों ने एक मूल्य प्राप्त कर लिया था। इसलिये अब वे उनको ज़िन्दा रहने देते थे और उनके श्रम का उपयोग करते थे। इस प्रकार बल आर्थिक परिस्थिति को नियंत्रित करने के बजाय उल्टे आर्थिक परिस्थिति का सेवक बन गया था। **दास प्रथा** का आविष्कार हो गया था। शीघ्र ही वह उन तमाम जातियों के यहां उत्पादन का मुख्य रूप बन गयी, जो पुरानी सामुदायिक अवस्था से आगे विकास कर गयी थीं। लेकिन अन्त में यह प्रथा इन जातियों के ह्रास का भी एक मुख्य कारण सिद्ध हुई। दास प्रथा के कारण ही पहली बार अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर उद्योग तथा खेती के बीच श्रम विभाजन सम्भव हुआ, और उसके साथ-साथ यूनान की सभ्यता का विकास हो

सका, जिसमें मानो प्राचीन संसार प्रस्फुटित हुआ था। दास प्रथा न होती, तो यूनानी राज्य भी न होता; यूनानी कला और विज्ञान भी न होते। दास प्रथा न होती, तो रोमन साम्राज्य कभी अस्तित्व में न आता। और यदि यूनानी कला तथा रोमन साम्राज्य उसकी नींव न डालते, तो आधुनिक यूरोप भी न होता। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि हमारा समस्त आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक विकास एक ऐसी अवस्था की नींव पर खड़ा हुआ है, जिसमें दास प्रथा उतनी ही आवश्यक थी, जितनी उसे सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त थी। और इस अर्थ में हमें यह कहने का भी अधिकार है कि प्राचीन काल में दास प्रथा न होती, तो आधुनिक काल में समाजवाद भी न होता।

दास प्रथा इस तरह की अन्य चीज़ों को सामान्य ढंग की शब्दावली में बुरा-भला कहना और इस प्रकार की गर्हणीय प्रथाओं पर अपने नैतिक क्रोध को व्यक्त करना बहुत सहज है। दुर्भाग्य से इससे कुल मिलाकर केवल वही बात प्रकट होती है, जिसको हर आदमी जानता है, अर्थात् यह कि प्राचीन काल की ये प्रथाएं अब हमारी वर्तमान परिस्थितियों से तथा इन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होनेवाली हमारी भावनाओं से मेल नहीं खातीं। परन्तु इस सबसे हमें यह ज़रा भी पता नहीं चलता कि इन प्रथाओं का कैसे जन्म हुआ था, वे क्यों प्रचलित थीं और उन्होंने इतिहास में क्या भूमिका अदा की है। और जब हम इन प्रश्नों पर विचार करते हैं, तो हमें यह कहने के लिये मजबूर हो जाना पड़ता है—भले ही यह बात हमें बहुत असंगत प्रतीत होती हो—उस काल में जैसी परिस्थितियां पायी जाती थीं, उनमें दास प्रथा की स्थापना एक महान प्रगतिशील क़दम थी। कारण कि यह एक तथ्य है कि मनुष्य पशुओं में से निकला है, और इसलिये अपने आपको बर्बरता से मुक्त करने के लिए उसे लगभग पाशविक साधनों का उपयोग करना पड़ा है। भारत से लेकर रूस तक, जहां कहीं प्राचीन समुदाय ज़िन्दा रहे हैं, वहां वे हज़ारों वर्षों से राज्य के क्रूरतम रूप पूर्वी निरंकुशता का आधार बने हुए हैं। जहां ये समुदाय भंग हो गये, केवल उन्हीं स्थानों में जातियां कुछ प्रगति कर पायीं। और उनकी आर्थिक प्रगति का अगला क़दम था दासों के श्रम के ज़रिये उत्पादन में

वृद्धि करना और उसका विकास करना। यह बात स्पष्ट है कि जब तक मानव श्रम की उत्पादन क्षमता इतनी कम थी कि वह जीवन निर्वाह के आवश्यक साधनों के अलावा केवल बहुत थोड़ी ही सी अतिरिक्त पैदावार तैयार कर पाता था, तब तक उत्पादक शक्तियों को बढ़ाना, व्यापार को फैलाना, राज्य का तथा क़ानून का विकास करना या कला और विज्ञान की नींव डालना केवल इसी तरह सम्भव हो सकता था कि श्रम का पहले से अधिक विभाजन किया जाये। और इसका आवश्यक आधार वह महान श्रम विभाजन था, जिसमें जनता साधारण ढंग का हाथ का श्रम करती थी और थोड़े-से लोग, जिनको विशेषाधिकार प्राप्त थे, श्रम का निर्देशन करते थे, व्यापार तथा सार्वजनिक कार्यों का संचालन करते थे और बाद को एक अवस्था में कला और विज्ञान में व्यस्त रहा करते थे। इस श्रम विभाजन का सबसे सरल और स्वाभाविक रूप असल में दास प्रथा थी। प्राचीन जगत् में और विशेषकर यूनान में, जिस प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियां पायी जाती थीं, उनमें केवल दास प्रथा के रूप में ही वर्ग विरोधों पर आधारित समाज व्यवस्था की ओर क़दम बढ़ाया जा सकता था। यहां तक कि दासों के लिये भी यह एक प्रगतिशील क़दम था। अधिकतर दास जिन युद्ध बन्दियों में से भर्ती किये जाते थे, अब कम से कम उनकी जान बच जाती थी; क्योंकि अब वे पहले की भांति जान से नहीं मार डाले जाते थे, और न ही उसके भी पहले के एक काल की भांति आग में भूने जाते थे।

इस स्थान पर हम यह बात और कह दें कि शोषक और शोषित, शासक और उत्पीड़ित वर्गों के बीच आज तक जो ऐतिहासिक विरोध अभिव्यक्त होते रहे हैं, उन सबका मूल कारण मानव श्रम की यह अपेक्षाकृत अविकसित उत्पादनशीलता ही है। जब तक सचमुच काम करनेवाली आबादी अपने आवश्यक श्रम में इतना अधिक व्यस्त थी कि उसे समाज के समान कार्यों की ओर–श्रम के संचालन, राजकाज, न्याय सम्बन्धी मामलों, कला, विज्ञान, आदि की ओर–ध्यान देने के लिये कोई समय ही नहीं मिलता था, तब तक यह आवश्यक था कि इन तमाम कामों का प्रबंध करने के लिये एक ऐसा विशेष वर्ग हमेशा मौजूद रहे,

जिसे वास्तविक श्रम से मुक्ति मिली हुई हो। और यह वर्ग स्वयं अपने स्वार्थ की ख़ातिर मेहनत करनेवाली जनता पर श्रम का अधिकाधिक बड़ा बोझा लादने में कभी नहीं चूकता था। आधुनिक उद्योग ने उत्पादक शक्तियों में जो भारी वृद्धि कर दी है, केवल उसी के फलस्वरूप अब यह सम्भव है कि बिना किसी अपवाद के समाज के सभी सदस्यों में श्रम का विभाजन कर दिया जाये, और इस तरह प्रत्येक अलग-अलग सदस्य का श्रम काल इतना सीमित कर दिया जाये कि समाज के सामान्य कार्यों में—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के सामान्य कार्यों में—भाग लेने के लिये हरेक को काफ़ी समय मिल सके। इसलिये केवल अब जाकर यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है कि प्रत्येक शासक एवं शोषक वर्ग अनावश्यक बन गया है और केवल अब जाकर वह समय आया है, जब ऐसा प्रत्येक वर्ग, उसके हाथ में चाहे जितना बड़ा "प्रत्यक्ष बल" क्यों न हो, निर्ममतापूर्वक मिटा दिया जायेगा।

इसलिए जब श्री ड्यूहरिंग यूनानी सभ्यता पर इस कारण नाक-भौं चढ़ाते हैं कि वह दास प्रथा पर आधारित थी, तो उतने ही औचित्य के साथ यूनानियों की यह आलोचना भी कर सकते हैं कि उनके पास भाप के इंजिन या बिजली की मदद से काम करनेवाली तार की प्रणाली नहीं थी। और जब वह यह कहते हैं कि आधुनिक काल के मजूरी पर काम करनेवाले मजदूरों के दासत्व को केवल दास प्रथा की किसी क़दर रूपान्तरित तथा शिथिल विरासत के रूप में ही समझा जा सकता है, और उसको स्वयं उसके स्वरूप के आधार पर (अर्थात् आधुनिक समाज के आर्थिक नियमों के आधार पर) नहीं समझा जा सकता—तब इसका या तो केवल यह अर्थ है कि मजूरी प्रथा और दास प्रथा दोनों दासत्व तथा वर्ग प्रभुत्व के रूप हैं—और यह बात प्रत्येक बच्चा जानता है—या यह बात झूठ है। क्योंकि तब तो हम उतने ही औचित्य के साथ यह भी कह सकते हैं कि मजूरी प्रथा को केवल आदमख़ोरी के एक शिथिल रूप की तरह ही समझा जा सकता है, क्योंकि अब यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि पराजित शत्रुओं के उपयोग का आदिम रूप सर्वत्र आदमख़ोरी था।

इसलिये आर्थिक विकास के मुक़ाबले में बल ने इतिहास में जो भूमिका अदा की है, वह स्पष्ट है। पहले तो यह बात है कि समस्त राजनीतिक शक्ति आरम्भ में एक आर्थिक ढंग के सामाजिक कार्य पर आधारित थी; और आदिम समुदाय के विसर्जन के फलस्वरूप समाज के सदस्य जिस अनुपात में निजी उत्पादक बनते जाते हैं, और इस प्रकार जिस अनुपात में उनका समाज के सामूहिक कार्यों के प्रबंधकर्त्ताओं से सम्बन्ध विच्छेद होता जाता है, उसी अनुपात में यह राजनीतिक शक्ति भी बढ़ती जाती है। दूसरे, जब राजनीतिक शक्ति समाज के सम्बन्ध में स्वतंत्र कही जाती है और अपने आपको समाज के सेवक से समाज के स्वामी में रूपान्तरित कर डालती है, तब उसके बाद वह दो दिशाओं में काम कर सकती है। या तो वह स्वाभाविक आर्थिक विकास के अर्थ में और उसकी दिशा में काम करती है। वैसी हालत में आर्थिक विकास और उसके बीच कोई टकराव पैदा नहीं होता और आर्थिक विकास की गति तेज़ हो जाती है। या वह आर्थिक विकास के विरुद्ध काम कर सकती है। वैसा होने पर सामान्यतया बल को आर्थिक विकास के सामने सिर झुका देना पड़ता है। इसके कुछ अपवाद हैं, पर बहुत कम। ये इने-गिने अपवाद विदेश विजय की उन घटनाओं से सम्बन्धित हैं, जिनमें किसी देश की आबादी को अपेक्षाकृत अधिक बर्बर विजेताओं ने नष्ट कर दिया या देश से खदेड़ दिया और मुल्क की उत्पादक शक्तियों को, जिनका वे उपयोग करना नहीं जानते थे, तबाह कर दिया या बरबाद हो जाने दिया। मूरों के स्पेन में ईसाइयों ने यही किया। वहां उन्होंने सिंचाई के उन अधिकतर साधनों को नष्ट हो जाने दिया, जिन पर मूरों की उन्नत कृषि तथा बाग़बानी निर्भर करती थीं। जब कभी कोई अपेक्षाकृत अधिक बर्बर जाति किसी देश को जीतती है, तब वह स्वाभाविक रूप से वहां के आर्थिक विकास को बीच में रोक देती है और बहुत-सी उत्पादक शक्तियों को नष्ट कर देती है। परन्तु जहां कहीं बर्बर जाति की विजय स्थायी होती है, वहां प्रायः विजेता को अपने आपको उस उच्चतर "आर्थिक परिस्थिति" के अनुकूल बनाना पड़ता है, जो उसकी विजय के बाद सामने आती है। पराजित जाति विजेता जाति को आत्मसात् कर लेती है और अधिकतर जगहों में तो विजेताओं को पराजित

जाति की भाषा को भी अंगीकार करना पड़ता है। परन्तु परदेशी जातियों द्वारा जीते गये देशों के अलावा, जहां कहीं भी किसी देश की अन्दरूनी राज्य सत्ता उसके आर्थिक विकास की शत्रु बन जाती है – और एक ख़ास अवस्था में प्रत्येक राज्य सत्ता के साथ यह घटना हो चुकी है – वहां संघर्ष का परिणाम सदा यही होता है कि राज्य सत्ता उखड़ जाती है। आर्थिक विकास को कोई शक्ति कभी नहीं रोक सकी है। बिना किसी अपवाद के वह हमेशा अपने लिये रास्ता बना लेता है। इस चीज़ के सबसे नये और सबसे अधिक उल्लेखनीय उदाहरण का हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं। हमारा मतलब फ़्रांस की महान क्रान्ति से है। यदि श्री ड्यूहरिंग के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी देश की आर्थिक परिस्थिति और उसके साथ वहां की आर्थिक संरचना सदा केवल राजनीतिक बल पर ही निर्भर होती है, तो फिर इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि १८४८ के बाद फ़्रेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ अपनी "शानदार फ़ौज"[95] के बावजूद उन रेलों पर, भाप के उन इंजिनों पर तथा बड़े पैमाने के उस उद्योग पर, जिसका उस समय उसके देश में विकास हो रहा था, मध्ययुगीन शिल्पी संघों और अन्य रोमांचकारी विचित्रताओं की क़लम क्यों नहीं लगा सका; या रूस का ज़ार*, जिसके पास बल प्रयोग के और भी ज़बर्दस्त साधन मौजूद हैं, न सिर्फ़ अपना क़र्ज़ा क्यों नहीं अदा कर पाता, बल्कि पश्चिमी यूरोप की "आर्थिक परिस्थिति" से निरन्तर ऋण लिये बिना अपने "बल" को बनाये रखने में भी क्यों असमर्थ है।

श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में बल चरम पाप है। बल प्रयोग का पहला कृत्य उनकी दृष्टि में मूल पाप था। उनके सम्पूर्ण विवेचन में केवल इस बात का विलाप किया गया है कि इस मूल पाप ने बाद के समस्त इतिहास को कलुषित कर दिया है। उसमें इस बात का रोना रोया गया है कि इस पैशाचिक शक्ति ने – बल ने – समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक नियमों को लज्जाजनक ढंग से विकृत कर दिया है। किन्तु श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं में इसके बारे में एक शब्द भी नहीं मिलता कि यही बल इतिहास में एक

---

* अलेक्सान्द्र द्वितीय। – सं०

श्रौर भूमिका, क्रान्तिकारी भूमिका भी श्रदा करता है; कि मार्क्स के शब्दों में प्रत्येक ऐसे पुराने समाज के लिये, जिसके गर्भ में नये समाज का श्रंकुर बढ़ रहा है, बल प्रयोग बच्चा जनवानेवाली दाई का काम करता है*, कि बल वह श्रौज़ार है, जिसकी मदद से सामाजिक गति पुराने, मृत, श्रश्मीभूत राजनीतिक रूपों को तोड़कर श्रपने लिये रास्ता बनाती है। श्री ड्यूहरिंग तो बहुत श्राह भरते हुए श्रौर कराहते हुए इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं कि शोषण की श्रार्थिक व्यवस्था को ख़त्म करने के लिये शायद बल की श्रावश्यकता होगी – वह उनके लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि उनके मतानुसार हर प्रकार का बल प्रयोग निश्चित रूप से उस व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट कर देता है, जो बल का प्रयोग करता है। प्रत्येक विजयी क्रान्ति से जो महान नैतिक तथा श्राध्यात्मिक प्रेरणा मिली है, उसके बावजूद श्री ड्यूहरिंग का यही मत है। श्रौर यह मत जर्मनी में प्रकट किया जा रहा है, जहां एक हिंसापूर्ण टक्कर से – श्रौर इसकी निश्चय ही सम्भावना है कि इस प्रकार की टक्कर जनता के लिये श्रनिवार्य बन जाये – कम से कम इतना लाभ तो श्रवश्य होगा कि दासत्व की वह भावना मिट जायेगी, जो तीसवर्षीय युद्ध के श्रपमान के फलस्वरूप राष्ट्र की चेतना में कूट-कूटकर भर गयी है। श्रौर बह पादरीतुल्य, निर्जीव, नीरस श्रौर नपुंसक चिन्तन प्रणाली दावा कर रही है कि इतिहास में श्रभी तक जो सबसे क्रान्तिकारी पार्टी हुई है, उसे इस चिन्तन प्रणाली को श्रपने मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करना चाहिये!

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खंड १, पृष्ठ ७५।–सं०

५

मूल्य का सिद्धान्त

लगभग सौ वर्ष हुए लाइपज़िग में एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसके उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते तीस से अधिक संस्करण बाज़ार में खप चुके थे। उसे अधिकारियों ने तथा हर प्रकार के उपदेशकों और परोपकारियों ने शहरों और गांवों में बंटवाया था; और उसकी सामान्य रूप से सभी प्राथमिक स्कूलों के लिये एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में सिफ़ारिश कर दी गयी थी। यह पुस्तक थी रोख़ोव कृत 'बच्चों का मित्र'।[96] उसका उद्देश्य किसानों और दस्तकारों की तरुण सन्तान को यह सिखाना था कि जीवन में उनकी वास्तविक वृत्ति क्या है और समाज तथा राज्य में अपने से बड़ों के प्रति उनका क्या कर्तव्य है। इसी प्रकार यह पुस्तक किसानों और दस्तकारों की सन्तान के मन में यह भाव भी भरना चाहती थी कि इस लोक में उनकी जो भी अवस्था है, उससे सन्तोष करने में ही उनका हित है, और इसलिये उनको चाहिये कि काली रोटी और आलू खाकर, भू-दासों की तरह श्रम करके बहुत ही कम वेतन लेकर, मां-बाप के हाथों ठुक-पिटकर और इसी प्रकार की अन्य आनन्ददायक वस्तुओं का रस लेकर संतोष करें। और यह सब उस शिक्षा प्रणाली के द्वारा सम्पन्न होनेवाला था, जो उस समय प्रचलित थी। इस उद्देश्य को सामने रखकर इस पुस्तक में शहर और देहात के युवकों को उपदेश दिया गया था कि यह तो प्रकृति ने एक बड़ी बुद्धिमानी का कार्य किया है कि उसके विधान के अनुसार मनुष्य को श्रम करके अपनी जीविका कमानी पड़ती है और सुख के साधनों को हासिल करना पड़ता है; और इसलिये यदि किसान अथवा दस्तकार को अपने भोजन में सख़्त मेहनत का पसीना मिलाने का अवसर मिला है और यदि उसे पेटू धनवानों की तरह अजीर्ण अथवा कोष्ठबद्धता की पीड़ा से नहीं तड़पना पड़ता और अच्छे से खाद्य-पदार्थों को भी घृणा के साथ गले के नीचे नहीं उतारना पड़ता, तो यह

उसको अपना परम सौभाग्य समझना चाहिये। इस तरह की जिन पिटी-पिटाई, निरर्थक बातों को बूढ़ा रोख़ोव अपने काल के सैक्सोनी प्रदेश के किसान लड़के-लड़कियों के लिये पर्याप्त समझता था, उन्हीं बातों को श्री ड्यूहरिंग ने अपने 'पाठ्यक्रम' के पृष्ठ १४ तथा उसके आगे के पृष्ठों पर आधुनिकतम राजनीतिक अर्थशास्त्र के "सर्वथा मूलभूत" आधार के रूप में पेश कर दिया है। उन्होंने लिखा है:

"मानव आवश्यकताओं के कुछ अपने प्राकृतिक नियम होते हैं और इन आवश्यकताओं का केवल कुछ ऐसी सीमाओं के भीतर ही विस्तार हो सकता है, जिनका केवल अस्वाभाविक कृत्यों के द्वारा ही अतिक्रमण किया जा सकता है, और वह भी केवल एक ख़ास समय के लिये ही सम्भव है। उसके बाद इस प्रकार के कृत्यों का फल होता है जुगुप्सा, जीवन से ऊब, जराजीर्णता, सामाजिक अंगच्छेदन और अन्त में हितकारी विनाश... यदि कोई आदमी जीवन का खेल केवल भोग-विलास द्वारा ही खेलता है, और इसके अतिरिक्त उसके सामने कोई गम्भीर ध्येय नहीं है, तो शीघ्र ही उसका जी भर जाता है, या जो एक ही बात है, उसकी सारी संवेदन शक्ति समाप्त हो जाती है। अतः किसी न किसी रूप में वास्तविक श्रम करना सभी स्वस्थ प्राणियों के लिये एक प्राकृतिक सामाजिक नियम है... यदि नैसर्गिक प्रवृत्तियों तथा आवश्यकताओं के कुछ प्रतिसंतुलनकारी प्रभाव न होते, तो उनके द्वारा बचकाना जीवन तक सम्भव न होता; जीवन का ऐतिहासिक दृष्टि से त्वरित विकास तो बहुत दूर की बात है। यदि आवश्यकताओं को बिना किसी सीमा के और बिना किसी प्रयत्न के तुष्ट करना सम्भव होता, तो शीघ्र ही वे अपने आप समाप्त हो जातीं और उसके बाद आदमी को सारहीन जीवन बिताना पड़ता; क्योंकि जब तक आवश्यकताओं का पुनः अनुभव नहीं होता, तब तक हर बार उसे एक नीरस अवकाश व्यतीत करना पड़ता... इसलिये यह तथ्य कि नैसर्गिक प्रवृत्तियों और आवेगों की तुष्टि आर्थिक बाधाओं को पराभूत करने पर निर्भर करती है—यह प्रत्येक दृष्टि से प्रकृति की बाह्य अवस्था तथा मनुष्य की आंतरिक संरचना दोनों का एक अत्यन्त हितकारी मूल नियम है"—इत्यादि, इत्यादि।

पाठक देख सकते हैं कि आदरणीय रोख़ोव की साधारणतम साधारण बातें श्री ड्यूहरिंग की रचना में अपनी शती मना रही हैं, और वह भी

संसार की एकमात्र वस्तुतः आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक "सोशलिटेरियन व्यवस्था" के "अधिक गूढ़ मूलाधार" के रूप में।

इस प्रकार नींव डाल चुकने के बाद श्री ड्यूहरिंग उसके ऊपर अपनी इमारत खड़ी कर सकते हैं। गणितीय पद्धति का प्रयोग करते हुए वह पहले प्राचीनकालीन यूकलिड का अनुकरण करते हैं और कुछ परिभाषाएं हमारे सामने पेश करते हैं।[97] यह इसलिये और भी सुविधाजनक है कि वह अपनी परिभाषाओं को इस तरह गढ़ते हैं कि जो कुछ प्रमाणित करना होता है, वह आंशिक रूप में पहले से ही परिभाषाओं में मौजूद होता है और इस प्रकार हमें आरम्भ में ही पता चलता है कि

अभी तक जितना राजनीतिक अर्थशास्त्र था, उसकी मूल धारणा धन की थी, और अभी तक सचमुच धन की जो समझ रही है और विश्व इतिहास में उसने जिस तरह अपने प्रभुत्व का विस्तार किया है, उसको देखते हुए धन वास्तव में "मनुष्यों पर तथा वस्तुओं पर आर्थिक प्रभुत्व" होता है।

यह बात दो तरह से ग़लत है। एक तो प्राचीन काल के क़बायली तथा ग्राम समुदायों का धन किसी भी अर्थ में मनुष्यों के ऊपर प्रभुत्व का सूचक नहीं था। और दूसरे, जिन समाज व्यवस्थाओं का जीवन क्रम वर्ग विरोधों में से होकर चलता है, उनमें भी जिस हद तक कि धन में मनुष्यों के ऊपर प्रभुत्व भी शामिल होता है, उस हद तक उसका यह प्रभुत्व मुख्यतया और लगभग विशुद्धतया वस्तुओं पर प्रभुत्व **के फलस्वरूप** संभव होता है तथा **उसके ज़रिये** कार्यान्वित होता है। बहुत शुरू के उस काल से ही, जबकि दासों को पकड़ना और दासों का शोषण करना व्यवसाय की दो अलग-अलग शाखाएं बन गयी थीं, दासों के श्रम का शोषण करनेवालों को दासों को ख़रीदना पड़ता था। उनका पहले से वस्तुओं के ऊपर जो अधिकार क़ायम था, उसका उपयोग करके ही, अर्थात् दासों के दाम, उसकी जीविका और श्रम करने के औज़ारों पर अधिकार प्राप्त करके ही वे मनुष्यों के ऊपर अपना अधिकार क़ायम कर पाते थे। मध्य युग में सदा बड़े पैमाने की भू-सम्पत्ति ने ही उस पूर्वापेक्षित साधन का काम किया, जिसके द्वारा

सामन्ती अभिजात वर्ग लगान तथा बेगार देनेवाले किसान पैदा करने में सफल हुआ था। और आजकल तो छः वर्ष का बच्चा भी यह देख सकता है कि धन केवल उन वस्तुओं के द्वारा ही मनुष्यों पर अपना अधिकार जमाता है, जो उसे उपलब्ध हैं।

परन्तु वह क्या बात है, जिसके कारण श्री ड्यूहरिंग को धन की यह झूठी परिभाषा गढ़नी पड़ी है? और तमाम भूतपूर्व वर्ग समाजों में जो वास्तविक सम्बन्ध हुआ करता था, उसे श्री ड्यूहरिंग ने क्यों भंग कर दिया है? धन को अर्थशास्त्र के क्षेत्र से निकालकर नैतिकता के क्षेत्र में घसीट लाने के लिये। वस्तुओं पर प्रभुत्व बिल्कुल ठीक है, किन्तु मनुष्यों पर प्रभुत्व पाप की बात है; और श्री ड्यूहरिंग चूंकि कभी यह नहीं कहेंगे कि मनुष्यों पर प्रभुत्व का आधार वस्तुओं पर प्रभुत्व होता है, इसलिये वह एक बार फिर एक साहसिक चाल चल सकते हैं और बिना कुछ सोचे अपने प्रिय बल प्रयोग को मनुष्यों पर प्रभुत्व का आधार बता सकते हैं। धन मनुष्य पर प्रभुत्व के रूप में "डाकाज़नी" है—और इस स्थापना के साथ हम पुनः प्रूदों के इस प्राचीन सूत्र के एक भ्रष्ट संस्करण पर पहुंच जाते हैं कि "सम्पत्ति चोरी है"।[98]

और इस तरह हम धन को निश्चित रूप से दो बुनियादी पहलुओं के रूप में स्पष्ट कर देते हैं: उत्पादन का पहलू और वितरण का पहलू। वस्तुओं पर प्रभुत्व के रूप में धन—उत्पादन धन है; यह उसका अच्छा पहलू है। मनुष्यों पर प्रभुत्व के रूप में धन—वर्तमान काल तक वितरण धन है; यह उसका बुरा पहलू है; इसका ख़ात्मा होना चाहिये! इस बात को आजकल की परिस्थितियों पर लागू कीजिये, तो उसका मतलब यह होता है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली काफ़ी अच्छी है और वह क़ायम रह सकती है, लेकिन पूंजीवादी वितरण प्रणाली अच्छी नहीं है और उसका अन्त कर देना चाहिये। जब कोई आदमी उत्पादन और वितरण के सम्बन्ध को भी नहीं समझता और फिर भी राजनीतिक अर्थशास्त्र की रचना करने बैठ जाता है, तो वह इसी तरह की बकवास लिखता है।

धन के बाद मूल्य की परिभाषा इस प्रकार की गयी है:

"आर्थिक वस्तुओं तथा सेवाओं की वाणिज्य में जो क़ीमत होती है, वही उनका मूल्य है"। यह क़ीमत "दाम के या किसी अन्य पर्यायवाची नाम के, जैसे मिसाल के लिये, वेतन के" समनुरूप होती है।

दूसरे शब्दों में मूल्य है दाम। या इस उद्देश्य से कि श्री ड्यूहरिंग के साथ कोई अन्याय न हो और उनकी मूर्खतापूर्ण परिभाषा यथासम्भव उन्हीं की शब्दावली में पाठक के सामने आये, शायद यह कहना बेहतर होगा कि मूल्य दाम हैं। कारण कि पृष्ठ १९ पर उन्होंने लिखा है:

"मूल्य और उसे मुद्रा में व्यक्त करनेवाले दाम।"

इस प्रकार ख़ुद उन्हीं का यह कहना है कि एक ही मूल्य के बहुत भिन्न-भिन्न दाम होते हैं और इसलिये उसके अलग-अलग क़िस्म के उतने ही मूल्य भी होते हैं। यदि हेगेल की बहुत दिन पहले मृत्यु न हो गयी होती, तो वह यह सुनकर गले में फांसी लगा लेते। अपनी सारी थियोलाजी के बावजूद वह किसी ऐसे मूल्य की कल्पना नहीं कर सके थे, जिसके जितने दाम होते हैं, उतने ही अलग-अलग मूल्य भी होते हैं। जिस व्यक्ति में श्री ड्यूहरिंग जैसा ठोस आत्मविश्वास हो, केवल वही इन घोषणा के द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र के नये तथा "अधिक गहरे मूलाधार" का सूत्रपात कर सकता था कि दाम और मूल्य में इसके सिवा और कोई अन्तर नहीं है कि एक मुद्रा में अभिव्यक्त होता है और दूसरा नहीं होता।

लेकिन इस सबसे भी हमें यह पता नहीं चलता कि मूल्य क्या है और इसपर तो और भी कम प्रकाश पड़ा है कि मूल्य किस चीज़ से निर्धारित होता है। इसलिये श्री ड्यूहरिंग को कुछ और व्याख्याएं पेश करनी पड़ती हैं।

"सर्वथा सामान्य दृष्टि से तुलना और मूल्यांकन का वह मूल नियम, जिसके ऊपर मूल्य और उसको मुद्रा में अभिव्यक्त करनेवाले दाम निर्भर करते हैं, प्रथमतः विशुद्ध उत्पादन के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है, जो वितरण से अलग है, और वितरण केवल बाद में मूल्य की धारणा में एक दूसरा तत्व डाल देता है। प्राकृतिक परिस्थितियों की विविधता वस्तुओं को प्राप्त

करने की कोशिशों के रास्ते में जो बड़ी या छोटी रुकावटें डालती है और जिनके कारण आर्थिक ऊर्जा का ज़्यादा या कम ख़र्च आवश्यक होता है, उन्हीं से... अधिक या कम मूल्य भी निर्धारित होता है।" और "वस्तुओं को प्राप्त करने की कोशिशों का प्रकृति अथवा परिस्थितियों की ओर से जो प्रतिरोध होता है, उसी से" मूल्य का हिसाब लगाया जाता है! "...उनमें" (वस्तुओं में) "हम जिस हद तक ख़ुद अपनी ऊर्जा डाल देते हैं, वही सामान्य मूल्य के और उसके किसी विशिष्ट परिमाण के अस्तित्व का तात्कालिक निर्धारक कारण होता है।"

इस सब का यदि कुछ अर्थ है, तो यह है कि श्रम की किसी भी पैदावार का मूल्य उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल से निर्धारित होता है। और यह बात हम बहुत पहले से जानते थे। उसके लिये श्री ड्यूहरिंग की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस तथ्य को सीधे और सरल ढंग से कह देने के बजाय वह उसे तोड़-मरोड़कर एक भविष्यवक्ता की उक्ति में बदल डालते हैं। यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि कोई आदमी जिन आयामों में अपनी ऊर्जा किसी वस्तु में डालता है (हम यहां श्री ड्यूहरिंग की आडम्बरपूर्ण शैली का ही प्रयोग कर रहे हैं), वे मूल्य का तथा मूल्य के परिमाण का तात्कालिक निर्धारक कारण होते हैं। कारण कि एक तो यह इसपर निर्भर करता है कि किस वस्तु में ऊर्जा डाली गयी है और दूसरे, इसपर कि ऊर्जा किस तरह उसमें डाली गयी है। यदि कोई आदमी ऐसी वस्तु बनाता है, जिसका अन्य लोगों के लिये कोई उपभोग मूल्य नहीं है, तो उसकी समस्त ऊर्जा से मूल्य का एक परमाणु भी नहीं पैदा होगा। और यदि वह इतना अकड़ू है कि जिस वस्तु को मशीन बीस गुना सस्ते में तैयार कर देती है, उसे वह अब भी हाथ से तैयार करता है, तो उसमें वह जितनी ऊर्जा डालता है, उसके बीस में से उन्नीस हिस्सों से न तो सामान्य मूल्य पैदा होगा और न ही मूल्य का कोई विशिष्ट परिमाण उत्पन्न होगा।

इसके अलावा उत्पादक श्रम को, जो ठोस पैदावार उत्पन्न करता है, प्रतिरोध के मात्र नकारात्मक तत्व में रूपान्तरित कर देना सचाई को एकदम तोड़-मरोड़कर पेश करना है। तब तो एक क़मीज़ हासिल करने के लिये हमें लगभग इतनी कारंवाइयां करनी पड़ेंगी: पहले, बोये जाने और उगने

का बिनौला जो प्रतिरोध करेगा, हमें उसपर क़ाबू पाना पड़ेगा। फिर जब कपास पककर तैयार हो जायेगी और वह चुने, बांधे जाने और लादकर ले जाये जाने का प्रतिरोध करेगी, तो उसे परास्त करना होगा। उसके बाद कपास गांठ में से निकाले जाने, धुने जाने और काते जाने का जो प्रतिरोध करेगी, उसे अभिभूत करना होगा। फिर बुने जाने का जो धागा प्रतिरोध करेगा, उसे नाकाम बनाना होगा। उसके बाद धुलाई और सिलाई का जो कपड़ा प्रतिरोध करेगा, उससे निबटना पड़ेगा। और अन्त में जब क़मीज़ सिलकर तैयार हो जायेगी, तो वह पहने जाने का जो प्रतिरोध करेगी, उसपर क़ाबू पाना पड़ेगा।

यह बच्चों जैसी विकृति और कुटिलता किस लिये? इसलिये कि "प्रतिरोध" के ज़रिये "उत्पादन मूल्य" से, इस एकमात्र सच्चे किन्तु अभी तक भावात्मक मूल्य से "वितरण मूल्य" पर, उस मूल्य पर पहुंचा जा सकता है, जिसे बल प्रयोग ने झूठा बना दिया है, पर जिसे भूतकालिक इतिहास में एकमात्र मान्यता प्राप्त थी। श्री ड्यूहरिंग ने आगे लिखा है:

"प्रकृति के प्रतिरोध के अतिरिक्त एक और विशुद्ध सामाजिक रुकावट भी होती है... मनुष्य और प्रकृति के बीच में एक अवरोधक शक्ति आकर खड़ी हो जाती है, और यह शक्ति भी मनुष्य ही होता है। मनुष्य की यदि एक एकाकी तथा पृथक् व्यक्ति के रूप में कल्पना की जाये, तो प्रकृति के प्रति उसका सम्बन्ध एक स्वतंत्र प्राणी के रूप में है... पर जैसे ही हम किसी दूसरे मनुष्य की कल्पना करते हैं, जो तलवार हाथ में लेकर प्रकृति और उसके संसाधनों तक पहुंचने के सारे रास्तों को रोककर खड़ा हो जाता है, और रास्ता देने के किसी न किसी शक्ल में दाम मांगने लगता है, वैसे ही परिस्थिति बदल जाती है। यह दूसरा आदमी ... मानो पहले आदमी के ऊपर एक कर लगा देता है, और इसी कारण जिस वस्तु को प्राप्त करने की कोशिश की जा रही है, उसका मूल्य बढ़ जाता है। यदि इस वस्तु को प्राप्त करने के रास्ते में या उसके उत्पादन के रास्ते में यह राजनीतिक या सामाजिक रुकावट न पड़ती, तो उसके मूल्य में यह वृद्धि हरगिज़ न होती ... वस्तुओं की कृत्रिम रूप से बढ़ी हुई इस क़ीमत के नाना रूप होते हैं, उसका आनुषंगिक प्रतिरूप स्वभावतया इस शक्ल में सामने आता है कि श्रम की क़ीमत जबर्दस्ती उतनी ही कम कर दी जाती है ... इसलिये मूल्य को पहले से ही इस शब्द के विशिष्ट अर्थ

में एक सममूल्य समझना, अर्थात् उसे एक ऐसी वस्तु समझना, जो बराबर क़ीमत की है, या उसे विनिमय का एक ऐसा सम्बन्ध समझना, जो इस सिद्धान्त से उत्पन्न हुआ है कि सेवा और प्रति-सेवा समान होती हैं—यह सरासर भ्रम है ... इसके विपरीत मूल्य के एक सही सिद्धान्त की कसौटी तो यह होगी कि इस सिद्धान्त में मूल्यांकन के जिस अत्यन्त सामान्य कारण की कल्पना की गयी है, वह मूल्यांकन का वही विशिष्ट रूप न हो, जो अनिवार्य वितरण पर आधारित है। यह रूप तो सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ बदलता रहता है, जबकि जिसे सचमुच आर्थिक मूल्य कहा जा सकता है, वह केवल उत्पादन मूल्य ही हो सकता है, जिसे प्रकृति के सम्बन्ध में मापा जाता है, और चुनांचे यह आर्थिक मूल्य केवल उसी समय बदलेगा, जब उत्पादन के रास्ते की विशुद्ध रूप से प्राकृतिक तथा प्राविधिक ढंग की बाधाओं में कोई परिवर्तन हो जायेगा।"

इसलिये श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार किसी वस्तु का व्यवहार में जो मूल्य होता है, उसके दो भाग होते हैं: एक तो वह श्रम, जो उस वस्तु में निहित है, और दूसरे, वह अतिरिक्त कर, जो "तलवार हाथ में लेकर" वसूल किया जाता है। दूसरे शब्दों में व्यवहार में मूल्य आजकल एक एकाधिकारी दाम होता है। अब यदि मूल्य के इस सिद्धान्त के अनुसार सब मालों का ऐसा ही एकाधिकारी दाम होता है, तो दो ही बातें सम्भव हैं। या तो प्रत्येक व्यक्ति बेचनेवाले के रूप में जो लाभ कमाता है, उसे ख़रीदार के रूप में फिर खो देता है। नाम मात्र दाम बदल जाते हैं, पर वास्तव में—उनके पारस्परिक सम्बन्ध के दृष्टिकोण से—वे ज्यों के त्यों रहते हैं। हर चीज़ पहले की ही तरह रहती है और वह दूर-दूर तक विख्यात वितरण मूल्य एक भ्रम मात्र सिद्ध होता है।

या दूसरी ओर वह तथाकथित अतिरिक्त कर मूल्यों की एक वास्तविक रक़म का प्रतिनिधित्व करता है; अर्थात् वह उस मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे श्रम करनेवाले तथा मूल्य पैदा करनेवाले वर्ग ने पैदा किया है, पर जिसे एकाधिकारी वर्ग ने हस्तगत कर लिया है। और उस हालत में मूल्यों की यह रक़म केवल अदत्त श्रम की बनी होती है। यदि ऐसा है, तो उस आदमी के बावजूद, जो तलवार हाथ में लेकर खड़ा है और उन तमाम तथाकथित अतिरिक्त करों तथा कल्पित वितरण मूल्य के बावजूद

हम एक बार फिर **बेशी मूल्य** के मार्क्सीय सिद्धान्त पर पहुंच जाते हैं।

मगर आइये, ज़रा इस प्रसिद्ध "वितरण मूल्य" के कुछ उदाहरणों को देखें। पृष्ठ १३५ और उसके आगे के पृष्ठों पर हमें पढ़ने को मिलता है:

"व्यक्तिगत होड़ के फलस्वरूप दामों के निर्धारण को भी हमें आर्थिक वितरण का और एक दूसरे के ऊपर शुल्क लगाने का ही एक रूप समझना चाहिये ... यदि किसी आवश्यक माल के स्टाक में सहसा काफ़ी कमी आ जाती है, तो इससे बेचनेवालों के हाथ में शोषण की एक विषम शक्ति आ जाती है ... इससे दामों में कितनी भारी वृद्धि हो सकती है, यह बात ख़ास तौर पर उन असामान्य परिस्थितियों में सामने आती है, जब आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति काफ़ी लम्बे समय के लिये बन्द हो जाती है", इत्यदि, इत्यादि। इसके अतिरिक्त सामान्य अवस्था में भी कुछ इस तरह के एकाधिकार होते हैं, जिनके कारण दामों को मनचाहे ढंग से बढ़ा देना सम्भव होता है। इसका उदाहरण हैं रेलवे कम्पनियां, शहरों को पानी और गैस देनेवाली कम्पनियां, इत्यादि।

बहुत दिनों से यह बात सुविदित है कि एकाधिकारी शोषण को इस प्रकार के अवसर मिलते रहते हैं। परन्तु यह बात बिल्कुल नयी है कि इससे जो एकाधिकारी दाम पैदा होते हैं, उनको अपवादों या कुछ विशिष्ट घटनाओं के रूप में नहीं लेना चाहिये, बल्कि उनको आजकल मूल्यों का जिस तरह निर्धारण होता है, उसका आदर्श उदाहरण समझना चाहिये। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के दाम कैसे निर्धारित होते हैं? श्री ड्यूहरिंग उत्तर देते हैं: किसी ऐसे नगर को जाकर देखिये, जिसके चारों ओर शत्रु की सेना का घेरा पड़ा हुआ हो और इसलिये जिसमें जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का पहुंचना बन्द हो गया हो: आपको मालूम हो जायेगा कि आवश्यक वस्तुओं के दाम कैसे निर्धारित होते हैं। बाज़ार भाव के निर्धारण पर होड़ का क्या प्रभाव पड़ता है? एकाधिकारियों से जाकर पूछिये, वे सब कुछ समझा देंगे!

और जहां तक इन एकाधिकारियों का ताल्लुक़ है, उनके पीछे जो आदमी तलवार हाथ में लेकर खड़ा हुआ होना चाहिये, वह हमें कहीं

नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत जो शहर शत्रु के घेरे में आ गया है, उसका वह आदमी, जिसके हाथ में तलवार है, अर्थात् ऐसे शहर का कमांडांट यदि अपना कर्तव्य पूरा करता है, तो सामान्यतया इन एकाधिकारियों का शीघ्र ही अन्त कर देता है और शहर के निवासियों में बराबर-बराबर बांट देने के लिये उनके स्टाकों को ज़ब्त कर लेता है। बहरहाल जिन लोगों ने तलवार हाथ में ले रखी है, उन्हें "वितरण मूल्य" गढ़ने की तमाम कोशिशें करने के बाद भी केवल डूबता धंधा और आर्थिक हानि ही हाथ लगती है। ईस्ट-इण्डीज़ व्यापार पर अपना एकाधिकार क़ायम करके डच लोगों ने अपने एकाधिकार तथा व्यापार दोनों का सत्यानाश कर दिया। दुनिया में अभी तक जो दो सबसे मज़बूत सरकारें देखी गयी हैं – उत्तरी अमरीका की क्रान्तिकारी सरकार और फ़्रांस की राष्ट्रीय परिषद् – उन्होंने अधिकतम दामों को निश्चित करने का दुस्साहस किया, और दोनों बुरी तरह असफल रहीं। अभी कुछ वर्षों से रूसी सरकार निरन्तर अप्रतिदेय बैंक-नोट जारी कर रही है, जिसके फलस्वरूप रूसी काग़ज़ी मुद्रा की विनिमय दर बराबर गिरती जा रही है, और लन्दन में रूस के नाम की देय हुण्डियों को लगातार ख़रीदकर इस दर को ऊपर उठाने की कोशिश कर रही है। परन्तु इसका कुल नतीजा यह हुआ है कि पिछले कुछ वर्षों में रूसी सरकार ने लगभग छः करोड़ रूबल ख़र्च कर दिये हैं और रूबल की क़ीमत, जो पहले तीन मार्क से अधिक थी, अब दो मार्क से भी कम रह गयी है। यदि तलवार में वह समस्त जादुई आर्थिक शक्ति होती है, जो श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार उसमें होनी चाहिये, तो फिर इसका क्या कारण है कि आज तक कोई सरकार स्थायी रूप से ख़राब मुद्रा में अच्छी मुद्रा का "वितरण मूल्य" पैदा करने में या काग़ज़ी मुद्रा में सोने का "वितरण मूल्य" पैदा करने में सफल नहीं हुई है? और वह तलवार कहां है, जिसका विश्व मण्डी हुक्म बजाती हो?

एक और प्रधान रूप है, जिसमें वितरण मूल्य बिना किन्हीं प्रति-सेवाओं के दूसरे लोगों की सेवाओं को हस्तगत करना संभव बना देता है। वह है स्वामित्व का लगान, अर्थात् किराया-ज़मीन और पूंजी का मुनाफ़ा। फ़िलहाल हम इस बात का ज़िक्र भर कर देते हैं, ताकि हम यह

कह सकें कि इस प्रसिद्ध "वितरण मूल्य" के बारे में हमें श्री ड्यूहरिंग से कुल मिलाकर बस इतना ही जानने को मिलता है। कुल इतना ही? नहीं; कुछ और भी है। सुनिये :

"इस दोहरे दृष्टिकोण के बावजूद, जो एक उत्पादन मूल्य तथा एक वितरण मूल्य की स्वीकृति में अभिव्यक्त होता है, इन दोनों की तह में **कोई साझी चीज़ भी होती है, जिसके सभी मूल्य बने होते हैं**, और इसलिये जिससे तमाम मूल्य मापे जाते हैं। तात्कालिक, प्राकृतिक माप यह है कि कितनी ऊर्जा ख़र्च हुई है, और उसकी सरलतम इकाई है सबसे अधिक अपरिष्कृत अर्थ में मानव ऊर्जा। यह मानव ऊर्जा अस्तित्व काल में परिणत की जा सकती है, जिसका **आत्म**-निर्वाह स्वयं पोषण और जीवन सम्बन्धी कठिनाइयों की एक निश्चित राशि के अभिभवन का प्रतिनिधित्व करता है। वितरण मूल्य अथवा हस्तगतकरण मूल्य शुद्ध तथा अनन्य रूप में केवल वहां पाया जाता है, जहां अनुत्पादित वस्तुओं का उपयोग करने के अधिकार का, या अगर अधिक प्रचलित शब्दावली का प्रयोग किया जाये, तो स्वयं इन वस्तुओं का वास्तविक उत्पादन मूल्य की वस्तुओं अथवा सेवाओं के साथ विनिमय हो जाता है। वह सजातीय तत्व, जिसका मूल्य की प्रत्येक अभिव्यंजना में और इसलिये मूल्य के उन संघटक भागों में भी निर्देश और प्रतिनिधान होता है, जो बिना किसी प्रति-सेवा के हस्तगत कर लिये जाते हैं, वह है मानव ऊर्जा का व्यय, जो ... प्रत्येक माल में ... मूर्त रूप धारण करता है।"

अब बोलिये, इसके बारे में हम क्या कहें? यदि सभी मालों के मूल्यों को इन मालों में निहित मानव ऊर्जा के व्यय के द्वारा मापा जाता है, तो फिर वितरण मूल्य का, अतिरिक्त दाम का, कर का क्या होता है? यह सच है कि श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार अनुत्पादित वस्तुओं को भी – अर्थात्, उन वस्तुओं को भी जिनका इस कारण कोई वास्तविक मूल्य नहीं हो सकता – एक वितरण मूल्य प्राप्त हो सकता है और उनका उन वस्तुओं से विनिमय किया जा सकता है, जिनका उत्पादन किया गया है और जिनमें मूल्य है। परन्तु साथ ही वह हमें यह भी बताते हैं कि **सभी मूल्य** – और इसलिये जो विशुद्ध तथा अनन्य रूप से वितरणीय मूल्य हैं, वे भी – उस ऊर्जा के व्यय में निहित होते हैं, जिसने इन मूल्यों में मूर्त रूप धारण

किया है। दुर्भाग्य से हमें यह नहीं बताया गया है कि ऊर्जा का व्यय अनुत्पादित वस्तु में कैसे मूर्त रूप धारण कर सकता है। बहरहाल मूल्यों के इस गड़बड़झाले में से एक बात स्पष्ट रूप में निकलती प्रतीत होती है। वह यह कि वितरण मूल्य, सामाजिक स्थिति के फलस्वरूप ऐंठ लिया गया मालों का अतिरिक्त दाम, और तलवार के बल से लगाया गया कर– इन सबका अन्त में कोई महत्व नहीं रह जाता है। मालों के मूल्य केवल मानव ऊर्जा के व्यय से, अर्थात् साधारण भाषा में श्रम से निर्धारित होते हैं, जो उनमें मूर्त रूप प्राप्त करता है। इसलिये यदि हम किराया-ज़मीन तथा कुछ इने-गिने एकाधिकारी दामों की ओर ध्यान न दें, तो श्री ड्यूहरिंग भी वही बात केवल अधिक फूहड़ और उलझी हुई शब्दावली में कह रहे हैं, जो रिकार्डो–मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त ने, जिसकी उन्होंने बड़ी निन्दा की थी, बहुत दिन पहले अधिक स्पष्ट तथा अधिक सम्यक् रूप में कह दी थी।

वह इसी बात को कहते हैं और फिर उसी सांस में उसकी उल्टी बात भी कह जाते हैं। रिकार्डो के अन्वेषण को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाकर मार्क्स ने कहा है: मालों का मूल्य उनमें निहित सामाजिक दृष्टि से आवश्यक सामान्य मानव श्रम के द्वारा निर्धारित होता है; और यह ख़ुद अपनी अवधि के द्वारा मापा जाता है। श्रम सब मूल्यों की माप है, परन्तु स्वयं श्रम का कोई मूल्य नहीं होता। श्री ड्यूहरिंग भी इसी तरह अपने भद्दे ढंग से श्रम को मूल्य की माप के रूप में पेश करने के बाद आगे फ़रमाते हैं:

"यह अस्तित्व काल में परिणत किया जा सकता है, जिसका आत्म-निर्वाह स्वयं पोषण और जीवन सम्बन्धी कठिनाइयों की एक निश्चित राशि के अभिभवन का प्रतिनिधित्व करता है।"

यहां पर श्री ड्यूहरिंग ने केवल अपनी मौलिकता का प्रदर्शन करने की इच्छा के कारण एकमात्र महत्वपूर्ण वस्तु श्रम काल को उस अस्तित्व काल के साथ, जिसने आज तक न तो कोई मूल्य पैदा किया है और न ही उसकी माप की है, जिस तरह गड्ड-मड्ड कर दिया है, उसकी ओर

कोई ध्यान न दीजिये। इस अस्तित्व काल के "**आत्म**-निर्वाह" के द्वारा जिस मिथ्या "सोशलिटेरियन" आडंबर को बीच में ले आने की चेष्टा की गयी है, उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं दीजिये। जब से यह दुनिया क़ायम है और जब तक यह दुनिया क़ायम रहेगी, प्रत्येक व्यक्ति को सदा इस अर्थ में अपना जीवन निर्वाह करना पड़ रहा है और आगे भी करना पड़ेगा कि वह अपने जीवन निर्वाह के साधनों का **ख़ुद** उपभोग करता है। मान लीजिये कि श्री ड्यूहरिंग ने अपनी बात सम्यक् आर्थिक शब्दावली में कही होती, तब उपर्युक्त वाक्य का या तो कोई अर्थ न होता या उसका यह अर्थ होता कि किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित श्रम काल के द्वारा निर्धारित होता है, और इस श्रम काल का मूल्य इतनी देर तक मज़दूर का भरण-पोषण करने के लिये आवश्यक जीवन निर्वाह के साधनों के द्वारा निर्धारित होता है। और यदि इस प्रस्थापना को आजकल के समाज पर लागू किया जाये, तो इसका अर्थ यह होता है कि किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित **मज़दूरी** से निर्धारित होता है।

और इससे आख़िर हम उस बात पर पहुंच जाते हैं, जिसको कहने की श्री ड्यूहरिंग सचमुच कोशिश कर रहे हैं। भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र की शब्दावली में किसी भी माल का मूल्य उत्पादन की लागत से निर्धारित होता है। इसके विपरीत

> कैरे ने "इस सत्य का उद्घाटन किया है कि मूल्य उत्पादन की लागत से नहीं, बल्कि पुनरुत्पादन की लागत से निर्धारित होता है" ('आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ४०१)।

हम बाद में देखेंगे कि उत्पादन या पुनरुत्पादन की लागत क्या चीज़ है। फ़िलहाल हम केवल इतना कह देना चाहते हैं कि जैसा कि सुविदित है, लागत में मज़दूरी और पूंजी का मुनाफ़ा शामिल होते हैं। मज़दूरी मालों में मूर्त रूप प्राप्त "ऊर्जा के व्यय" का, अर्थात् उत्पादन मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है। मुनाफ़ा उस कर का या उस अतिरिक्त दाम का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे पूंजीपति अपने एकाधिकार के बल से तलवार हाथ में लेकर ऐंठ लेता है; अर्थात् मुनाफ़ा वितरण मूल्य का प्रतिनिधित्व

करता है। और इस प्रकार मूल्य के ड्यूहरिंगीय सिद्धान्त का अंतर्विरोधों से भरा सारा संभ्रम अन्त में अत्यन्त सुन्दर तथा मधुर स्पष्टता में परिणत हो जाता है।

मज़दूरी के द्वारा मालों के मूल्य के निर्धारित होने की बात ऐडम स्मिथ की रचनाओं में तो अक्सर श्रम काल द्वारा निर्धारित होने की बात के साथ-साथ दिखाई पड़ जाती थी; परन्तु रिकार्डो के समय से उसे वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र से बहिष्कृत कर दिया गया है और आजकल वह केवल भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र में ही सुनाई पड़ती है। वर्तमान पूंजीवादी समाज व्यवस्था के सबसे अधिक अल्पज्ञ चाटुकार ही इस सिद्धान्त का प्रचार किया करते हैं कि मूल्य मज़दूरी से निर्धारित होता है, और इसके साथ-साथ वे ही यह भी कहते हैं कि पूंजीपति का मुनाफ़ा एक उच्चतर स्तर की मज़दूरी, अर्थात् उपभोग स्थगन की मज़दूरी होता है (जो पूंजीपति को इसके पुरस्कार के रूप में दी जाती है कि वह अपनी पूंजी लुटा नहीं देता), अथवा जोखिम उठाने का अधिमूल्य, या प्रबंध कार्य की मज़दूरी, इत्यादि होता है। इन लोगों में और श्री ड्यूहरिंग में केवल इतना अन्तर है कि श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार मुनाफ़ा डाकाज़नी है। दूसरे शब्दों में श्री ड्यूहरिंग ने अपने समाजवाद को प्रत्यक्ष रूप में भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र के निकृष्टतम सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा किया है। और उनका समाजवाद भी लगभग उतना ही मूल्यवान है, जितना यह भोंडा राजनीतिक अर्थशास्त्र है। वे साथ खड़े होते हैं और साथ गिर जाते हैं।

आख़िर यह बात स्पष्ट है कि कोई मज़दूर जो कुछ पैदा करता है और उस मज़दूर की जो लागत बैठती है, ये दोनों चीज़ें उतनी ही भिन्न होती हैं, जितनी भिन्न किसी मशीन की पैदावार और उसकी लागत होती हैं। कोई मज़दूर बारह घण्टे के काम के दिन में जो मूल्य पैदा कर देता है, वह और वह इस बारह घण्टे के काम के दिन में तथा उसके साथ जुड़े हुए विश्राम के अवकाश में जीवन निर्वाह के जिन साधनों का उपभोग करता है, उनका मूल्य—इन दोनों चीज़ों में लेशमात्र मेल नहीं है। श्रम उत्पादकता का विकास किस अवस्था तक पहुंच गया है, उसके

अनुसार जीवन निर्वाह के इन साधनों में तीन, चार या सात घण्टे का श्रम काल निहित हो सकता है। यदि हम यह मान लें कि उनके उत्पादन के लिये सात घण्टे का श्रम काल आवश्यक हुआ था, तो भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र के उस मूल्य के सिद्धान्त का, जिसे श्री ड्यूहरिंग ने स्वीकार कर लिया है, यह अर्थ होता है कि बारह घण्टे के श्रम की पैदावार का मूल्य सात घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है; अर्थात् बारह घण्टे का श्रम सात घण्टे के श्रम के बराबर होता है, या यूं कहिये कि १२ = ७। इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में इस तरह कहा जा सकता है कि भूमि पर काम करनेवाला मज़दूर, वह चाहे जिस प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत काम करता हो, एक वर्ष में अनाज की एक निश्चित मात्रा, मान लीजिये, साठ बुशेल गेहूं पैदा करता है। इसी अरसे में वह पैंतालीस बुशेल गेहूं के बराबर मूल्यों की राशि का उपभोग कर डालता है। तब इसका मतलब यह होता है कि साठ बुशेल गेहूं का वही मूल्य है, जो पैंतालीस बुशेल का है, और वह भी उसी मण्डी में तथा अन्य तमाम परिस्थितियों के ज्यों के त्यों रहते हुए। दूसरे शब्दों में साठ = पैंतालीस। और इस प्रकार के विवेचन को राजनीतिक अर्थशास्त्र का नाम दिया जाता है!

बर्बर वन्यावस्था के आगे का मानव समाज का सम्पूर्ण विकास उस दिन आरम्भ हुआ था, जिस दिन परिवार के जीवन निर्वाह के लिये जितनी पैदावार आवश्यक थी, उसके श्रम से अधिक पैदावार तैयार होने लगी थी, और इसलिये जिस दिन श्रम का एक भाग केवल जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन पर न ख़र्च होकर, उत्पादन के साधनों को तैयार करने में ख़र्च किया जा सका था। श्रम के भरण-पोषण की लागत की तुलना में श्रम की पैदावार की बेशी राशि और इस बेशी राशि में से एक सामाजिक उत्पादन कोष तथा प्रारक्षित कोष का निर्माण तथा विस्तार—यह समस्त सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रगति का आधार था और है। इतिहास में अभी तक यह कोष एक विशेषाधिकारी वर्ग के क़ब्ज़े में रहा है; और इस कोष के स्वामित्व के साथ-साथ राजनीतिक प्रभुत्व और बौद्धिक नेतृत्व भी इसी वर्ग के हाथों में पहुंच जाता रहा है। आसन्न

सामाजिक क्रान्ति इस सामाजिक उत्पादन कोष तथा प्रारक्षित कोष को—अर्थात् कच्चे माल, श्रम के औज़ारों और जीवन निर्वाह के साधनों की इस समूची राशि को—उस विशेषाधिकारी वर्ग के क़ब्ज़े से छीनकर तथा उसे पूरे समाज को उसकी सामूहिक सम्पत्ति के रूप में हस्तांतरित करके पहली बार उसे सचमुच एक सामाजिक कोष बना देगी।

दो में से एक ही बात सम्भव है। या तो मालों का मूल्य उनके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम के भरण-पोषण की लागत के द्वारा—अर्थात वर्तमान समाज में मज़दूरी के द्वारा—निर्धारित होता है। उस हालत में प्रत्येक मज़दूर को **अपनी मज़दूरी की शक्ल में अपने श्रम की पैदावार का मूल्य** मिल जाता है, और तब पूंजीपति वर्ग के द्वारा श्रमजीवी वर्ग का शोषण होना एक असम्भव बात बन जाता है। मान लीजिये कि एक निश्चित समाज व्यवस्था में एक मज़दूर के जीवन निर्वाह का ख़र्च तीन शिलिंग की रक़म के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। तब भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार एक दिन के श्रम की पैदावार का मूल्य तीन शिलिंग होगा। मान लीजिये कि जो पूंजीपति इस मज़दूर को नौकर रखता है, वह इस पैदावार में थोड़ा मुनाफ़ा, यानी एक शिलिंग का कर और जोड़ देता है और उसे चार शिलिंग में बेच देता है। दूसरे पूंजीपति भी यही करते हैं। परन्तु उसी क्षण मजदूर अपनी दैनिक आवश्यकताओं को तीन शिलिंग में नहीं पूरी कर सकता, बल्कि उसके लिये उसे चार शिलिंग चाहिये। चूंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि अन्य परिस्थितियां ज्यों की त्यों रहती हैं, इसलिये जीवन निर्वाह के साधनों के रूप में मज़दूरी ज्यों की त्यों रहनी चाहिये और मुद्रा के रूप में मज़दूरी को बढ़ जाना चाहिये; अर्थात् तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग रोज़ाना हो जाना चाहिये। पूंजीपतियों ने मुनाफ़े के रूप में मज़दूर वर्ग से जो कुछ लिया था, वह मज़दूरी के रूप में मजदूरों को वापस मिल जाना चाहिये। यानी पता चलता है कि जहां से हमने आरम्भ किया, अब भी हम वहीं खड़े हैं। यदि मजदूरी से मूल्य निर्धारित होता है, तो पूंजीपति मजदूर वर्ग का शोषण नहीं कर सकता। परन्तु तब पैदावार की बेशी राशि का निर्माण भी असम्भव हो जाता है; कारण कि हम जिस मान्यता के आधार पर

चल रहे हैं, उस मान्यता के अनुसार मज़दूर जितना मूल्य पैदा करते हैं, उतने ही मूल्य का उपभोग कर डालते हैं। और चूंकि पूंजीपति किसी प्रकार का मूल्य पैदा नहीं करते, इसलिये समझ में नहीं आता कि वे जीवित रहने की कैसे आशा करते हैं। और यदि इसके बावजूद उपभोग से उत्पादन अधिक होता है, यदि एक उत्पादन कोष एवं प्रारक्षित कोष मौजूद है और वह पूंजीपतियों के हाथों में है, तो फिर इसके सिवा इसकी और कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती कि मज़दूर अपने आत्म-निर्वाह के लिये मालों के **मूल्य** मात्र का ही उपभोग करते हैं, और ख़ुद मालों को उन्होंने पूंजीपतियों को सौंप दिया है, जिससे वे उनका आगे उपयोग कर सकें।

या दूसरी ओर, यदि यह उत्पादन कोष तथा प्रारक्षित कोष सचमुच पूंजीपति वर्ग के हाथ में मौजूद है और यदि वह सचमुच मुनाफ़े के संचय का फल है (फ़िलहाल हम किराया-ज़मीन को अपने हिसाब में शामिल नहीं करते), तो इसका लाज़िमी तौर पर यह मतलब होता है कि पूंजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को जो मज़दूरी की रक़म देता है, उसके ऊपर मज़दूर वर्ग पूंजीपति वर्ग को श्रम की जो बेशी पैदावार सौंपता जाता है, यह कोष उसके संचय से बना है। लेकिन इस स्थिति में मज़दूरी मूल्य को नहीं निर्धारित करती, बल्कि श्रम की मात्रा मूल्य को निर्धारित करती है। इस स्थिति में मज़दूर वर्ग को मज़दूरी की शक्ल में पूंजीपति वर्ग से जितना मूल्य मिलता है, वह उससे कहीं अधिक मूल्य श्रम की पैदावार की शक्ल में पूंजीपति वर्ग को सौंप देता है। और तब पता चलता है कि बिना उजरत दिये दूसरों के श्रम की पैदावार को हस्तगत करने के अन्य तमाम रूपों की भांति पूंजी का मुनाफ़ा भी केवल उस बेशी मूल्य का ही एक साधारण संघटक भाग है, जिसे मार्क्स ने खोज निकाला।

प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि ड्यूहरिंग के राजनीतिक अर्थशास्त्र के पूरे 'पाठ्यक्रम' में उस महान एवं युगान्तरकारी खोज का कोई ज़िक्र नहीं है, जिससे रिकार्डो ने अपनी सबसे महत्वपूर्ण रचना आरम्भ की है। वह यह कि

"किसी भी माल का मूल्य ... श्रम की उस सापेक्ष मात्रा पर निर्भर करता है, जो उस माल के उत्पादन के वास्ते आवश्यक होती है, और

वह उस कम या ज़्यादा मुग्रावज़े पर निर्भर नहीं करता, जो इस श्रम के एवज़ में दिया जाता है"।[११]

'ग्रालोचनात्मक इतिहास' में यह स्थापना भविष्यवक्ता के ढंग से केवल इतना कहकर रफ़ा-दफ़ा कर दी गयी है कि

"उसका" (रिकार्डो का) "यह मत नहीं है कि मज़दूरी के रूप में जिस न्यूनाधिक ग्रनुपात में जीवन के लिये ग्रावश्यक वस्तुग्रों का ग्रनुदान किया जा सकता है" (!) "... उसके साथ ग्रावश्यक रूप से मूल्य के सम्बन्धों के कुछ ग्रलग-ग्रलग रूप जुड़े हुए होते हैं!"

यह एक ऐसा वाक्य है, जिसका पाठक जो चाहें, ग्रर्थ लगा सकते हैं, ग्रौर यदि वे उसका कोई भी ग्रर्थ नहीं लगाते, तो वे सबसे ग्रधिक सुरक्षित रहेंगे।

ग्रौर ग्रब श्री ड्यूहरिंग ने जो पांच प्रकार के मूल्य हमारे सामने रखे हैं, उनमें से पाठक ख़ुद छांट सकता है कि उसे कौनसा मूल्य सबसे ज़्यादा पसन्द है: उत्पादन मूल्य, जो प्रकृति से उत्पन्न होता है; या वितरण मूल्य, जिसका मनुष्य की दुष्टता ने सृजन किया है ग्रौर जिसकी मुख्य विशेषता यह है कि उसे उस ऊर्जा के व्यय से मापा जाता है, जो इस मूल्य में निहित नहीं है; या तीसरे, वह मूल्य, जो श्रम काल से मापा जाता है; या चौथे, वह मूल्य, जो पुनरुत्पादन की लागत से मापा जाता है; या ग्रन्त में वह मूल्य, जो मज़दूरी से मापा जाता है। विकल्प बहुत सारे हैं; मत विभ्रम ग्रपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है; ग्रौर ग्रब केवल इतना ही बाक़ी है कि श्री ड्यूहरिंग की ग्रावाज में ग्रावाज़ मिलाकर हम भी यह चिल्ला पड़ें कि हां,

"मूल्य का सिद्धान्त ही वह कसौटी है, जिसपर ग्रार्थिक प्रणालियों को परखा जा सकता है!"

६

साधारण श्रम तथा संश्लिष्ट श्रम

श्री ड्यूहरिंग ने अर्थशास्त्र के मामले में मार्क्स की एक ऐसी भद्दी भूल का पता लगाया है, जिसपर एक स्कूली लड़के को भी शर्म आयेगी। साथ ही इस भूल में एक ऐसा समाजवादी धर्मद्रोह छिपा है, जो समाज के लिये बहुत ख़तरनाक है।

मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त "इस साधारण ... सिद्धान्त के सिवा और कुछ नहीं है कि श्रम ही सब मूल्यों का स्रोत होता है और श्रम काल मूल्यों की माप होता है। परन्तु इस प्रश्न को पूर्ण अंधकार में छोड़ दिया जाता है कि तथाकथित निपुण श्रम के विशिष्ट मूल्य को कैसे समझा जाये। यह सच है कि हमारे सिद्धान्त में भी आर्थिक वस्तुओं की प्राकृतिक लागत और इसलिये उनका निरपेक्ष मूल्य केवल उस श्रम काल के द्वारा ही मापा जा सकता है, जो उनपर ख़र्च हो चुका है; लेकिन यहां प्रत्येक व्यक्ति का श्रम काल बिल्कुल बराबर माना जाता है, और हमें केवल इतना ही देखना पड़ता है कि निपुण उत्पादन में इस व्यक्ति के अपने श्रम काल में अन्य व्यक्तियों का कितना श्रम काल जुड़ गया है ... जैसे मिसाल के लिये जो औज़ार इस्तेमाल किया गया है, उसकी शक्ल में अन्य व्यक्तियों का कितना श्रम काल जुड़ गया है। इसलिये श्री मार्क्स की धुंधली अवधारणा की तरह यहां यह नहीं मान लिया जाता कि एक व्यक्ति का श्रम काल अपने आप में किसी अन्य व्यक्ति के श्रम काल से अधिक मूल्यवान है, क्योंकि उसके भीतर मानो अधिक मात्रा में औसत श्रम काल संघनित हो गया है। बल्कि यहां तो समस्त श्रम काल, सिद्धान्ततः और बिना किसी अपवाद के, मूल्य में सर्वथा बराबर है, और इसलिये हमारे सिद्धान्त में पहले अलग-अलग श्रम कालों का औसत निकालने की भी कोई ज़रूरत नहीं है। किसी भी व्यक्ति द्वारा किये गये काम के बारे में, और साथ ही प्रत्येक तैयार पैदावार के बारे में भी केवल इतना ही पता लगाना पड़ता है कि जो ऊपर से इस व्यक्ति का अपना श्रम काल प्रतीत होता है, उसमें अन्य व्यक्तियों का कितना श्रम काल छिपा हुआ है। इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक प्रयोग में इसका कोई महत्व नहीं है कि उत्पादन में हाथ के किसी औज़ार की ज़रूरत पड़ी थी, या ख़ुद हाथ की, या यहां तक कि

दिमाग़ की, जो दूसरे व्यक्तियों के श्रम काल के बिना अपने विशेष गुणों तथा कार्य क्षमता को नहीं प्राप्त कर सकता था। किन्तु श्री मार्क्स ने मूल्य पर जो कुछ लिखा है, उसमें वह निपुण श्रम काल के भूत से कभी छुटकारा नहीं पा सके हैं। वह हमेशा पृष्ठभूमि में खड़ा रहता है। इस स्थल पर श्री मार्क्स एक मौलिक परिवर्तन नहीं कर सके, क्योंकि शिक्षित वर्गों की परम्परागत चिन्तन प्रणाली ने उनको यह नहीं करने दिया। शिक्षित वर्गों को यह बात लाज़िमी तौर पर बहुत ही बेतुकी मालूम होती है कि एक बोझा उठानेवाले कुली के श्रम काल और एक वास्तुकार के श्रम काल को अर्थशास्त्र की दृष्टि में सर्वथा समान मूल्य का माना जाये"।

मार्क्स के जिस अंश को पढ़कर श्री ड्यूहरिंग को उनपर इतना "प्रचंड क्रोध" आया है, वह बहुत संक्षिप्त है। इस स्थल पर मार्क्स इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि **मालों** का मूल्य किस चीज़ से निर्धारित होता है; और वह उत्तर देते हैं: इन मालों में निहित मानव श्रम से। वह आगे लिखते हैं कि इसमें वह "साधारण श्रम शक्ति को, अर्थात् उस श्रम शक्ति को ख़र्च करता है, जो औसत ढंग से और किसी विशेष विकास से अलग हर साधारण व्यक्ति के शरीर में मौजूद होती है... निपुण श्रम की गिनती केवल साधारण श्रम के गहन रूप में, या शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि साधारण श्रम के गुणित रूप में होती है, और निपुण श्रम की एक निश्चित मात्रा साधारण श्रम की उससे अधिक मात्रा के बराबर समझी जाती है। अनुभव बताता है कि हम इस तरह निपुण श्रम को लगातार साधारण श्रम में बदलते रहते हैं। कोई माल अत्यन्त निपुण श्रम की पैदावार हो सकता है, लेकिन उसका मूल्य चूंकि साधारण अनिपुण श्रम की पैदावार के साथ उसका समीकरण कर देता है, इसलिये वह केवल साधारण अनिपुण श्रम की किसी निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करता है। अलग-अलग ढंग का श्रम जिन भिन्न-भिन्न अनुपातों में उनके मापदण्ड के रूप में साधारण अनिपुण श्रम में बदला जाता है, वे एक ऐसी सामाजिक क्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं, जो उत्पादन करनेवालों के पीठ पीछे चलती रहती है, और इसलिये रीति-रिवाज के ज़रिये निश्चित हुए लगते हैं"*।

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ ५९। – **सं०**

पहली बात तो यह है कि मार्क्स यहां पर केवल **मालों** के मूल्य के निर्धारण की चर्चा कर रहे हैं। अर्थात् वह उन वस्तुओं के मूल्य के निर्धारण की चर्चा कर रहे हैं, जिनका वैयक्तिक उत्पादकों के किसी समाज में ये उत्पादक अपने निजी खाते में उत्पादन करते हैं तथा उनका परस्पर विनिमय करते हैं। इसलिये इस अंश में "निरपेक्ष मूल्य" का – वह जहां कहीं भी मिलता हो – क़तई कोई प्रश्न नहीं है। यहां तो उस मूल्य की चर्चा हो रही है, जो एक ख़ास तरह के समाज में पाया जाता है। यहां यह प्रमाणित किया गया है कि इस निश्चित ऐतिहासिक अर्थ में यह मूल्य अलग-अलग मालों में निहित मानव श्रम से उत्पन्न होता है और उसी से मापा जाता है; और साथ ही यहां यह भी बताया गया है कि इस मानव श्रम में साधारण श्रम शक्ति ख़र्च की जाती है। परन्तु सभी प्रकार के श्रम में मात्र साधारण मानव श्रम शक्ति ख़र्च नहीं होती। श्रम के बहुत-से प्रकार ऐसे भी हैं, जिनके लिये न्यूनाधिक प्रयत्न, समय और रुपया लगाकर प्राप्त की गयी क्षमताओं अथवा ज्ञान की आवश्यकता होती है। क्या इस प्रकार के संश्लिष्ट श्रम से समान कालावधि में मालों के रूप में उतना ही मूल्य पैदा होगा, जितना साधारण श्रम से, या केवल साधारण श्रम शक्ति ख़र्च करने से पैदा होता है? ज़ाहिर है, नहीं। एक घण्टे के साधारण श्रम की पैदावार की तुलना में एक घण्टे के संश्लिष्ट श्रम की पैदावार अधिक मूल्य का – सम्भवतः दुगुने या तिगुने मूल्य का – माल होती है। इस तुलना में संश्लिष्ट श्रम की पैदावार के मूल्यों को साधारण श्रम की कुछ निश्चित मात्राओं के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। परन्तु संश्लिष्ट श्रम को इस तरह साधारण श्रम में परिणत करने की प्रक्रिया वास्तव में एक ऐसी सामाजिक क्रिया के द्वारा सम्पन्न होती है, जो उत्पादकों के पीठ पीछे चलती रहती है और जिसका मूल्य के सिद्धान्त के विकास के इस बिन्दु पर केवल ज़िक्र ही किया जा सकता है; अभी तक उसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

मार्क्स ने यहां पर इस साधारण घटना का ज़िक्र किया है, जो वर्तमान पूंजीवादी समाज में हमारी आंखों के सामने रोज़ाना होती रहती है। यह एक ऐसा निर्विवाद तथ्य है कि श्री ड्यूहरिंग को भी अपने 'पाठ्यक्रम'

में या अपने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास' में उसका खण्डन करने का साहस नहीं हुआ है। और उसका मार्क्सीय विवेचन इतना सरल तथा स्पष्ट है कि उसको पढ़ने के बाद श्री ड्यूहरिंग के सिवा और कोई आदमी "पूर्ण अंधकार" में नहीं रह सकता। मार्क्स यहां पर केवल माल के मूल्य की ही छानबीन कर रहे थे। पर श्री ड्यूहरिंग अपने इस पूर्ण अंधकार के कारण उसे "प्राकृतिक लागत" समझ बैठते हैं, जो इस अंधकार को और भी सघन कर देता है; और यहां तक कि उसे "निरपेक्ष मूल्य" के साथ गड्ड-मड्ड कर देते हैं, जिसका, जहां तक हमारा ज्ञान है, राजनीतिक अर्थशास्त्र में पहले कभी चलन नहीं रहा है। लेकिन प्राकृतिक लागत का श्री ड्यूहरिंग जो भी मतलब लगाते हों और उनके पांच प्रकार के मूल्यों में से चाहे जिस मूल्य को निरपेक्ष मूल्य का प्रतिनिधित्व करने का सम्मान प्राप्त हुआ हो, कम से कम एक बात निश्चित है। वह यह कि मार्क्स इनमें से किसी की चर्चा नहीं कर रहे थे, बल्कि वह तो केवल मालों के मूल्य की चर्चा कर रहे थे; और यह भी कि मूल्य का विवेचन करनेवाले 'पूंजी' के इस पूरे अनुभाग में इसका तनिक भी कोई संकेत नहीं मिलता कि मालों के मूल्य के इस सिद्धान्त को मार्क्स समाज के अन्य रूपों के लिये भी सत्य समझते हैं या नहीं, और यदि समझते हैं, तो किस हद तक।

"इसलिये श्री मार्क्स की धुंधली अवधारणा की तरह", श्री ड्यूहरिंग आगे कहते हैं, "यहां यह नहीं मान लिया जाता कि एक व्यक्ति का श्रम काल अपने आप में किसी अन्य व्यक्ति के श्रम काल से अधिक मूल्यवान है, क्योंकि उसके भीतर मानो अधिक मात्रा में औसत श्रम काल संघनित हो गया है। बल्कि यहां तो समस्त श्रम काल, सिद्धान्ततः और बिना किसी अपवाद के, मूल्य में सर्वथा बराबर है, और इसलिये हमारे सिद्धान्त में पहले अलग-अलग श्रम कालों का औसत निकालने की कोई ज़रूरत नहीं है।"

यह श्री ड्यूहरिंग का सौभाग्य है कि क़िस्मत ने उन्हें कारख़ानेदार नहीं बनाया; वरना वह अपने मालों का मूल्य इस नये नियम के आधार पर निश्चित करते और उसके फलस्वरूप उनका निश्चित रूप से दिवाला निकल जाता। पर ठहरिये! ज़रा यह तो बताइये कि क्या हम अभी तक कारख़ानेदारों के समाज में ही हैं? जी नहीं, हरगिज नहीं। अपनी प्राकृतिक

लागत तथा निरपेक्ष मूल्य की सहायता से श्री ड्यूहरिंग ने हमसे एक छलांग लगवाकर, और सच पूछिये तो एक salto mortale लगवाकर हमें शोषकों के वर्तमान पापपूर्ण संसार से अपनी भावी आर्थिक कम्यून में, समानता और न्याय के शुद्ध तथा दिव्य वातावरण में पहुंचा दिया है। और इसलिये अब समय के पहले ही सही पर इस नये संसार पर एक नज़र डालना ज़रूरी है।

यह सच है कि श्री ड्यूहरिंग के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक कम्यून में भी आर्थिक वस्तुओं का मूल्य केवल उनपर ख़र्च किये गये श्रम काल के द्वारा ही मापा जा सकता है। लेकिन वहां यह ज़रूरी है कि शुरू से ही प्रत्येक व्यक्ति का श्रम काल सर्वथा बराबर माना जाये। वहां समस्त श्रम काल सिद्धान्ततः और बिना किसी अपवाद के मूल्य में सर्वथा समान होता है, और वहां पहले अलग-अलग श्रम कालों का औसत निकालने की कोई ज़रूरत नहीं होती। और अब इस उग्र समतावादी समाजवाद का मार्क्स की इस धुंधली अवधारणा से मुक़ाबला कीजिये कि एक व्यक्ति का श्रम काल अपने आप में किसी और व्यक्ति के श्रम काल से अधिक मूल्यवान हो सकता है, क्योंकि उसके भीतर मानो अधिक औसत श्रम काल संघनित है। इस अवधारणा ने मार्क्स के दिमाग़ को बन्दी बना रखा था, क्योंकि वह उन शिक्षित वर्गों की परम्परागत चिन्तन प्रणाली के शिकार थे, जिनको यह बात लाज़िमी तौर पर बहुत बेतुकी मालूम होती है कि एक बोझा उठानेवाले कुली के श्रम काल और एक वास्तुकार के श्रम काल को अर्थशास्त्र की दृष्टि में सर्वथा समान मूल्य का माना जाये!

दुर्भाग्य से 'पूंजी' का जो अंश हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसके साथ मार्क्स ने एक संक्षिप्त फ़ुटनोट भी जोड़ दिया है। वह इस प्रकार है: "पाठक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हम यहां **मज़दूरी** की, या मज़दूर को एक निश्चित श्रम काल का जो मूल्य **मिलता है**, उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, बल्कि हम यहां **माल के उस मूल्य** की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें उस श्रम काल ने **भौतिक रूप धारण किया है।**"* लगता

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ ५९। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है। – सं०

है जैसे मार्क्स को पहले ही से श्री ड्यूहरिंग के प्रादुर्भाव की आशंका थी और इसलिये यहां उन्होंने अपने को इस ख़तरे से बचा लिया है कि उनकी उपर्युक्त स्थापनाओं को कहीं उस मज़दूरी पर भी न लागू कर दिया जाये, जो मौजूदा समाज में संश्लिष्ट श्रम के लिये दी जाती है। और यदि इसके बावजूद श्री ड्यूहरिंग यही हरकत करते हैं, और इससे भी संतुष्ट नहीं होते, बल्कि इन स्थापनाओं को ऐसे सिद्धान्तों के रूप में पेश करते हैं, जिनके आधार पर मार्क्स समाजवादी ढंग से संगठित समाज में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के वितरण का नियमन कराना चाहते थे, तो हमें कहना पड़ेगा कि श्री ड्यूहरिंग ऐसी बेशर्मी के साथ पाठकों को धोखा दे रहे हैं, जिसकी मिसाल केवल खोटी वृत्तिवाले प्रेस में ही मिल सकती है।

लेकिन आइये, "मूल्यों की समानता" के इस सिद्धान्त पर थोड़ा और निकट से विचार करें। समस्त श्रम काल – बोझा उठानेवाले कुली का श्रम काल और वास्तुकार का श्रम काल – मूल्य में पूर्णतया समान होता है। इसका मतलब है कि श्रम काल का, और स्वयं श्रम का कोई मूल्य होता है। परन्तु श्रम तो सब मूल्यों का जनक है। प्रकृति में जो वस्तुएं मिलती हैं, उनको केवल श्रम ही आर्थिक अर्थ में मूल्य प्रदान करता है। मूल्य ख़ुद किसी वस्तु में मूर्त रूप प्राप्त करनेवाले सामाजिक दृष्टि से आवश्यक मानव श्रम की अभिव्यंजना के सिवा और कुछ नहीं होता। इसलिये श्रम का कोई मूल्य **नहीं हो सकता।** यदि हम श्रम के मूल्य की बात कर सकते हैं और उसे निर्धारित करने की कोशिश कर सकते हैं, तो हम मूल्य के मूल्य की भी बात कर सकते हैं, या किसी भारी वस्तु का नहीं, बल्कि ख़ुद भारीपन के भार को निर्धारित करने की कोशिश कर सकते हैं। श्री ड्यूहरिंग ने ओवेन, सेंट-साइमन और फ़ूरिये जैसे लोगों को सामाजिक कीमियागर कहकर चुटकियों में उड़ा दिया है। पर उन्होंने ख़ुद श्रम काल के मूल्य की, अर्थात् श्रम के मूल्य की चर्चा करते हुए जिस तरह बाल की खाल निकाली है, उससे लगता है कि उनका स्थान असली कीमियागरों से भी बहुत नीचे है। और अब पाठक श्री ड्यूहरिंग की इस बेशर्मी का अन्दाज़ लगायें कि उन्होंने मार्क्स के मुंह में यह कथन

रख दिया है कि व्यक्ति का श्रम काल अपने आप में किसी और व्यक्ति के श्रम काल से अधिक मूल्यवान हो सकता है, और श्रम काल का, तथा इसलिये श्रम का मूल्य होता है। उस मार्क्स के मुंह में उन्होंने यह कथन रख दिया है, जिसने पहले पहल यह प्रमाणित किया था कि श्रम का कोई मूल्य **नहीं हो सकता**, और यह भी बताया था कि क्यों नहीं हो सकता!

समाजवाद के लिये, जो मानव श्रम शक्ति को **एक माल** की हैसियत से आज़ाद करना चाहता है, इस बात को समझने का बहुत बड़ा महत्व है कि श्रम का कोई मूल्य नहीं होता और न हो सकता है। इस बात को समझते ही यह भी समझ में आ जाता है कि एक प्रकार की उच्चतर मज़दूरी के रूप में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के भावी वितरण का नियमन करने की तमाम कोशिशें – जिनका विचार श्री ड्यूहरिंग को मज़दूरों के आदिम ढंग के समाजवाद से विरासत में मिला है – बिल्कुल व्यर्थ हैं। और तब इससे यह बात भी समझ में आती है कि जिस हद तक विशुद्ध आर्थिक हित-अहित का विचार वितरण पर शासन करता है, उस हद तक उसका उत्पादन के हितों के द्वारा नियमन होगा, और उत्पादन को सबसे अधिक प्रोत्साहन उस वितरण प्रणाली से मिलता है, जो समाज के **सभी** सदस्यों को अपनी क्षमताओं का अधिक से अधिक बहुमुखी ढंग से विकास करने, उनको जीवित रखने तथा उनका प्रयोग करने का अवसर देती है। यह सच है कि श्री ड्यूहरिंग को शिक्षित वर्गों की जो चिन्तन प्रणाली विरासत में मिली है, उसे यह बात सचमुच बहुत बेतुकी मालूम होगी कि एक समय ऐसा भी आयेगा, जब पेशेवर कुली या पेशेवर वास्तुकार नहीं रह जायेंगे, और जो आदमी आधे घण्टे तक वास्तुकार के रूप में आदेश देगा, वही जब तक कि वास्तुकार के रूप में पुनः उसकी क्रियाशीलता की आवश्यकता नहीं होगी, एक अवधि तक कुली का भी काम किया करेगा। वह अच्छा समाजवाद होगा, जिसमें पेशेवर कुलियों को स्थायी रूप से कुली बनाकर रखा जायेगा!

यदि श्रम काल के मूल्य की समानता का यह अर्थ है कि प्रत्येक मज़दूर समय की समान अवधियों में समान मूल्यों को उत्पन्न करता है और उनका

ग्रौसत निकालने की कोई जरूरत नहीं है, तो ज़ाहिर है कि यह बात ग़लत है। यदि हम दो मज़दूरों को लें–भले ही वे उद्योग की एक ही शाखा में काम करते हों–तो भी वे एक घण्टे के श्रम काल में जो मूल्य पैदा करेंगे, वह सदा उनके श्रम की तीव्रता तथा उनकी निपुणता के ग्रनुसार भिन्न होगा–ग्रौर इस बुराई को कोई ग्रार्थिक कम्यून भी नहीं दूर कर सकेगा; कम से कम हमारी इस पृथ्वी पर तो नहीं दूर कर सकेगा। लेकिन इस चीज़ को केवल श्री ड्यूहरिंग जैसे लोग ही बुराई समझते हैं। तव फिर प्रत्येक प्रकार के श्रम के मूल्य की पूर्ण समानता में से क्या बाक़ी बचता है? उस डींगभरी शब्दावली के सिवा कुछ भी बाक़ी नहीं बचता, जिसका ग्रार्थिक ग्राधार इसके ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ नहीं है कि श्री ड्यूहरिंग श्रम के द्वारा मूल्य के निर्धारण ग्रौर मज़दूरी के द्वारा मूल्य के निर्धारण के ग्रन्तर को समझने में ग्रसमर्थ हैं। इस फ़रमान के ग्रलावा, नये ग्रार्थिक कम्यून के इस मूलभूत नियम के ग्रलावा ग्रौर कुछ भी बाक़ी नहीं बचता कि समान श्रम काल के लिये समान मज़दूरी मिलनी चाहिये! सचमुच जब फ़्रांस के पुराने कम्युनिस्ट मज़दूरों ने ग्रौर वीटलिंग ने मज़दूरी की समानता का नारा बुलन्द किया था, तब उन्होंने उसके पक्ष में ज़्यादा ज़ोरदार युक्तियां दी थीं।

तव फिर संश्लिष्ट श्रम के लिये दी जानेवाली ग्रधिक ऊंची मज़दूरी के इस पूरे महत्वपूर्ण प्रश्न को हम कैसे हल करेंगे? वैयक्तिक उत्पादकों के समाज में दक्षताप्राप्त मज़दूर के प्रशिक्षण का ख़र्चा ग्रलग-ग्रलग व्यक्ति या उनके कुटुम्बवाले उठाते हैं। इसलिये दक्षताप्राप्त श्रम शक्ति के लिये जो ग्रपेक्षाकृत ऊंचे दाम दिये जाते हैं, वे सबसे पहले ग्रलग-ग्रलग व्यक्तियों को मिलते हैं। निपुण दास ऊंचे दामों में बिकता है; ग्रौर निपुण मज़दूर को ऊंची मज़दूरी मिलती है। समाजवादी ढंग से संगठित समाज में यह ख़र्चा समाज उठाता है ग्रौर इसलिये इसके फल पर, संश्लिष्ट श्रम द्वारा उत्पादित ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक मूल्यों पर भी समाज का ही ग्रधिकार होता है। वहां मज़दूर ग्रतिरिक्त मज़दूरी पाने का हक़दार नहीं होता। ग्रौर प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि इससे यह सीख भी निकलती है कि मज़दूरों की यह लोकप्रिय मांग दोषपूर्ण होती है कि उन्हें "उनके श्रम का पूरा फल" मिलना चाहिये।[100]

७

पूंजी और बेशी मूल्य

"पहली बात तो यह है कि श्री मार्क्स पूंजी की स्वीकृत आर्थिक अवधारणा को नहीं मानते; अर्थात् वह यह नहीं मानते कि पूंजी उत्पादन का एक ऐसा साधन होती है, जिसका पहले ही उत्पादन हो चुका है। इसके विपरीत वह एक अधिक विशिष्ट प्रकार के ऐसे द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक विचार को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं, जो धारणाओं के रूपान्तरणों तथा इतिहास के साथ खेलता है। श्री मार्क्स के मतानुसार पूंजी मुद्रा से उत्पन्न होती है; पूंजी एक ऐतिहासिक अवस्था की द्योतक है, जो सोलहवीं शताब्दी में आरम्भ हुई थी, अर्थात् वह उस विश्व मण्डी की प्रथम स्थापना के साथ-साथ आरम्भ हो गयी थी, जो सम्भवत: पहली बार इस काल में दिखाई दी थी। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की धारणात्मक व्याख्या में राष्ट्रीय-आर्थिक विश्लेषण की तीक्ष्णता का लोप हो जाता है। ऐसी व्यर्थ अवधारणाओं में, जो आधे ऐतिहासिक तथा आधे तार्किक रूप में पेश की जाती हैं, परन्तु जो वास्तव में ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्तकल्पनाओं की जारज सन्तान होती हैं – इन धारणाओं के उपयोग में हर तरह की ईमानदारी के साथ-साथ विवेक शक्ति भी नष्ट हो जाती है"...

एक पृष्ठ तक श्री ड्यूहरिंग बस इसी तरह बकते-झकते चले जाते हैं...

"पूंजी की धारणा सम्बन्धी मार्क्स की परिभाषा से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सम्यक् सिद्धान्त के क्षेत्र में केवल मत विभ्रम ही पैदा हो सकता है... ये ओछी बातें, जिनको गूढ़ तार्किक सत्यों के रूप में पेश किया जाता है... मूल सिद्धान्तों की अस्थिरता", इत्यादि, इत्यादि।

चुनांचे हमें बताया जाता है कि मार्क्स के मतानुसार पूंजी सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुद्रा से उत्पन्न हुई थी। यह उसी तरह की बात है, जैसे कोई यह कहे कि पूरे तीन हज़ार वर्ष पहले धातु मुद्रा ढोरों से पैदा हुई थी, क्योंकि एक समय अन्य वस्तुओं के साथ-साथ ढोर भी मुद्रा का काम किया करते थे। अपनी बात इतने भद्दे तथा फूहड़ ढंग से कहने

की योग्यता केवल श्री ड्यूहरिंग में ही पायी जाती है। मालों के परिचलन की प्रक्रिया जिन आर्थिक रूपों के भीतर सम्पन्न होती है, मार्क्स ने उनका विश्लेषण किया हैं, और इस विश्लेषण में मुद्रा अन्तिम रूप की तरह सामने आती है। मार्क्स ने लिखा है: "मालों के परिचलन का यह अन्तिम फल वह **पहला रूप** है, जिसमें पूंजी **प्रकट होती है।** अपने ऐतिहासिक रूप में भू-सम्पत्ति के मुक़ाबले में पूंजी पहले अनिवार्य रूप से मुद्रा का रूप धारण करती है। पूंजी पहले पहल मुद्रागत धन के रूप में, सौदागर और सूदख़ोर की पूंजी के रूप में सामने आती है... यह हम रोज़ अपनी आंखों के सामने होते हुए देख सकते हैं। हमारे ज़माने में भी समस्त नयी पूंजी शुरू-शुरू में मुद्रा के रूप में रंगमंच पर उतरती है, यानी मण्डी में आती है, चाहे वह मण्डी मालों की हो, या श्रम की, अथवा मुद्रा की; और फिर इस मुद्रा को एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा पूंजी में रूपान्तरित होना पड़ता है।"*

यहां एक बार फिर मार्क्स एक तथ्य का ज़िक्र कर रहे हैं। श्री ड्यूहरिंग उसका प्रतिवाद नहीं कर पाते, तो उसे तोड़ने-मरोड़ने लगते हैं; और मार्क्स से कहलवा देते हैं कि पूंजी मुद्रा से उत्पन्न हुई है!

इसके बाद मार्क्स उन प्रक्रियाओं की छानबीन करते हैं, जिनके द्वारा मुद्रा पूंजी में रूपान्तरित कर दी जाती है, और पहले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जिस रूप में मुद्रा पूंजी की भूमिका में परिचलन में भाग लेती है, वह उस रूप का उल्टा होता है, जिसमें मुद्रा मालों के सामान्य सममूल्य की भूमिका में परिचलन में भाग लेती है। मालों का साधारण मालिक ख़रीदने के उद्देश्य से बेचता है। जिसकी उसे ज़रूरत नहीं होती, उसे वह बेच देता है और इस तरह जो रुपया मिलता है, उससे वह चीज़ ख़रीद लेता है, जिसकी उसे ज़रूरत है। प्रारम्भिक पूंजीपति उस चीज़ को ख़रीदकर शुरू करता है, जिसकी उसे ख़ुद कोई ज़रूरत **नहीं** है। वह बेचने के उद्देश्य से ख़रीदता है, ताकि शुरू में उसने जो मुद्रा इस

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ १६८। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

सौदे में डाली थी, उसका मूल्य उसे वापस मिल जाये और साथ ही उसमें कुछ वृद्धि भी हो जाये। और इस वृद्धि को मार्क्स **बेशी मूल्य** कहते हैं।

यह बेशी मूल्य कहां से आता है? यह न तो इस तरह मिल सकता है कि ख़रीदार मालों को उनके मूल्य से कम देकर ख़रीदे, और न ही इस तरह प्राप्त हो सकता है कि बेचनेवाला उनको उनके मूल्य से अधिक में बेच दे। कारण कि दोनों सूरतों में प्रत्येक व्यक्ति का लाभ और हानि एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देंगे, क्योंकि बारी-बारी से प्रत्येक व्यक्ति को ख़रीदना और बेचना पड़ता है। न ही यह बेशी मूल्य धोखा देकर कमाया जा सकता है, क्योंकि धोखा देकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की गांठ काटकर तो अपना धन बढ़ा सकता है, परन्तु उससे दोनों व्यक्तियों की कुल रक़म में कोई वृद्धि नहीं हो सकती और इसलिये उससे परिचलन में भाग लेनेवाले मूल्यों की कुल राशि में कोई इज़ाफ़ा नहीं हो सकता। "किसी भी देश में पूरे का पूरा पूंजीपति वर्ग ख़ुद अपने को धोखा देकर अधिक धनी नहीं बन सकता।"*

लेकिन फिर भी हम यह देखते हैं कि प्रत्येक देश में पूरा का पूरा पूंजीपति वर्ग जितने में ख़रीदता है, उससे ज़्यादा में बेचकर और बेशी मूल्य हस्तगत करके हमारी आंखों के सामने निरन्तर अपनी दौलत को बढ़ाता जा रहा है। इसलिये हम अब भी अपने को उसी स्थान पर पाते हैं, जहां से हमने आरम्भ किया था। वह प्रश्न अब भी हमारे सामने मौजूद है कि यह बेशी मूल्य कहां से आता है? इस समस्या को हल करना ज़रूरी है; और हमें उसे हर प्रकार की धोखेधड़ी तथा किसी भी तरह के बल के हस्तक्षेप को बाहर रखते हुए **विशुद्ध आर्थिक** ढंग से हल करना है। समस्या यह है कि इस परिकल्पना को मानते हुए भी कि समान मूल्यों का सदा समान मूल्यों के साथ विनिमय किया जाता है, यह कैसे सम्भव है कि आदमी जितने में चीज़ें ख़रीदता है, लगातार उनसे ज़्यादा में बेचता रहे?

---

*वही, पृष्ठ १८६।—सं०

इस समस्या का समाधान मार्क्स की सबसे युगान्तरकारी उपलब्धि थी। बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की तरह समाजवादी भी अर्थशास्त्र के जिन क्षेत्रों में पूर्ण अंधकार में राह टटोला करते थे, उनमें इस समस्या के हल होते ही दिन का प्रकाश फैल गया। वैज्ञानिक समाजवाद का इस समस्या के हल होने के साथ जन्म हुआ है और उसका इसी के चारों ओर विकास हुआ है।

समस्या का यह समाधान इस प्रकार है: जिस मुद्रा को पूंजी में बदला जाना है, उसके मूल्य में जो वृद्धि हो जाती है, वह स्वयं **मुद्रा** के भीतर नहीं हो सकती, और न ही वह **ख़रीद** के दौरान में हो सकती है, क्योंकि यह मुद्रा इससे अधिक कुछ नहीं करती कि वह माल के दाम को मूर्त रूप दे देती है। और चूंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि विनिमय केवल सममूल्यों का होता है, इसलिये यह दाम माल के मूल्य से भिन्न नहीं होता। इसी कारण मूल्य की यह वृद्धि माल की **बिक्री** के दौरान में भी नहीं हो सकती। इसलिये यह परिवर्तन ख़रीदे हुए **माल** में होना चाहिये। पर वह इस माल के **मूल्य** में नहीं हो सकता, क्योंकि माल तो अपने मूल्य पर ही ख़रीदा और बेचा जाता है। यह परिवर्तन स्वयं उसके **उपभोग मूल्य** में होना चाहिये। अर्थात् मूल्य में परिवर्तन माल के उपयोग के दौरान में होना चाहिये। "किसी माल के उपयोग से मूल्य निकालने के लिये ज़रूरी है कि हमारे मित्र, श्रीयुत धन्नासेठ इतने भाग्यवान हों कि उनको... मण्डी में ही, एक ऐसा माल मिल जाये, जिसके उपभोग मूल्य में मूल्य पैदा करने का विशेष गुण हो और जिसका वास्तविक उपभोग श्रम को साकार रूप देता और इस तरह **मूल्य का सृजन** करता हो। मुद्रा के मालिक को सचमुच मण्डी में श्रम करने के सामर्थ्य – अथवा **श्रम शक्ति** – के रूप में एक ऐसा विशेष माल मिल जाता है।"* यद्यपि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, स्वयं श्रम का कोई मूल्य नहीं हो सकता, तथापि **श्रम शक्ति** के लिये यह बात कदापि सत्य नहीं है। वह जिस क्षण

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ १९१। – सं०

माल बन जाती है, उसी क्षण से मूल्य भी प्राप्त कर लेती है; और आजकल वह वास्तव में माल बनी हुई है। और "अन्य प्रत्येक माल की तरह श्रम शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिये आवश्यक, और इसलिये उसके पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है।"* अर्थात् मज़दूर को काम करने योग्य अवस्था में ज़िन्दा रहने के लिये तथा अपनी नस्ल को क़ायम रखने के लिये जीवन निर्वाह के जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम काल से श्रम शक्ति का मूल्य निर्धारित होता है। मान लीजिये कि जीवन निर्वाह के ये साधन रोज़ाना छः घण्टे के श्रम काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारा प्रारम्भिक पूंजीपति, जो अपना व्यवसाय चलाने के लिये श्रम शक्ति ख़रीदता है, अर्थात् मज़दूर को नौकर रखता है, वह यदि मज़दूर को मुद्रा की कोई ऐसी रक़म दे देता है, जो छः घण्टे के श्रम का प्रतिनिधित्व करती हो, तो ज़ाहिर है कि वह उसकी दिन-भर की श्रम शक्ति का पूरा मूल्य अदा कर देता है। और इसलिये जब मज़दूर उस प्रारम्भिक पूंजीपति की नौकरी में छः घण्टे काम कर लेता है, तो पूंजीपति ने दिन-भर की श्रम शक्ति का मूल्य देने के लिये जितना पैसा ख़र्च किया था, उसकी भरपाई हो जाती है। परन्तु इतने से तो वह मुद्रा पूंजी में नहीं बदली जायेगी। इतने से तो वह तनिक भी बेशी मूल्य नहीं पैदा कर पायेगी। और इसलिये श्रम शक्ति के ख़रीदार के दिमाग़ में उसने जो सौदा किया है, उसकी एक बिल्कुल दूसरी तसवीर है। मज़दूर को चौबीस घण्टे तक ज़िन्दा रखने के लिये केवल छः घण्टे का श्रम आवश्यक है; परन्तु इस तथ्य से मज़दूर के चौबीस घण्टों में से बारह घण्टे तक काम करने में कोई रुकावट नहीं पड़ती। श्रम शक्ति का मूल्य और वह मूल्य, जिसे यह श्रम शक्ति श्रम प्रक्रिया के दौरान में पैदा कर देती है—ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग परिमाण होते हैं। मुद्रा के मालिक ने एक दिन की श्रम शक्ति का मूल्य दिया है, इसलिये उसको दिन-भर उसका उपभोग करने का अधिकार है; अर्थात् मज़दूर के पूरे दिन के श्रम पर उसका

* वही, पृष्ठ १६४।—**सं०**

अधिकार है। मज़दूर की श्रम शक्ति का उपभोग एक दिन में उसके अपने मूल्य का दुगना मूल्य **पैदा कर देता है**—यह उसके ख़रीदार का ख़ास सौभाग्य है, परन्तु मालों के विनिमय के नियम के अनुसार उसे बेचनेवाले के साथ कोई अन्याय नहीं होता। इसलिये हम जिन बातों को मानकर चल रहे हैं, उनके आधार पर मालिक के लिये मज़दूर की लागत प्रत्येक दिन उसके छः घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य **के बराबर बैठती है**, परन्तु मज़दूर हर रोज़ मालिक को बारह घण्टे के श्रम की पैदावार **सौंप देता है**। मुद्रा के मालिक को लाभ होता है छः घण्टे के अदत्त बेशी श्रम का, उस बेशी पैदावार का, जिसके एवज़ में वह कुछ नहीं देता और जिसमें छः घण्टे का श्रम निहित होता है। इस तरह चालाकी चल गयी। बेशी मूल्य पैदा हो जाता है। मुद्रा पूंजी में बदल दी जाती है।

इस प्रकार मार्क्स ने यह दिखाया कि बेशी मूल्य किस तरह पैदा होता है, और यह बताया कि वह कौनसा एकमात्र तरीक़ा है, जिससे मालों के विनिमय का नियमन करनेवाले नियमों के मातहत बेशी मूल्य पैदा हो सकता है। और यह काम करके मार्क्स ने वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का तथा उसपर आधारित हस्तगतकरण की प्रणाली का भण्डाफोड़ किया और उस मेरुदण्ड का पता लगाया, जिसके इर्द-गिर्द पूरी वर्तमान समाज व्यवस्था आविर्भूत हुई है।

किन्तु पूंजी का इस प्रकार सृजन होने के पहले एक ज़रूरी शर्त का पूरा होना आवश्यक है: "अतः इसलिये कि मुद्रा का मालिक अपनी मुद्रा को पूंजी में बदल सके यह ज़रूरी है कि मण्डी में उसकी **स्वतंत्र मज़दूर** से मुलाक़ात हो; और इस मज़दूर को दो मानों में स्वतंत्र होना चाहिये—एक तो इस माने में कि स्वतंत्र मनुष्य के रूप में वह अपनी श्रम शक्ति को ख़ुद अपने माल के रूप में बेच सकता हो, और दूसरे, इस माने में कि उसके पास बेचने के लिये और कोई माल न हो, अर्थात् अपनी श्रम शक्ति को मूर्त्त रूप देने के लिये उसे जिन चीज़ों की ज़रूरत होती है, उनका उसके पास पूर्ण अभाव हो।"* लेकिन एक ओर, मुद्रा या

---

* वही, पृष्ठ १९३। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—सं०

मालों के मालिकों और दूसरी ओर, उन लोगों के बीच, जिनके पास अपनी श्रम शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है, जो यह सम्बन्ध पाया जाता है, वह कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है। न ही यह कोई ऐसा सम्बन्ध है, जो सभी ऐतिहासिक कालों में समान रूप से पाया जाता रहा हो। मार्क्स ने लिखा है: "स्पष्ट ही, यह भूतकाल के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, सामाजिक उत्पादन के पुराने रूपों के एक पूरे क्रम के विनाश का नतीजा है।"* और सच पूछिये तो पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में सामन्ती उत्पादन प्रणाली के विसर्जन के फलस्वरूप पहली बार बड़े पैमाने पर इस स्वतंत्र मज़दूर से हमारी भेंट होती है। किन्तु ऐसा होने पर और उसी काल में विश्व व्यापार तथा विश्व मण्डी का जन्म हो जाने पर वह आधार तैयार हो गया, जिसके सहारे उस काल में विद्यमान चल धन अनिवार्य रूप से अधिकाधिक पूंजी में रूपान्तरित होता गया, और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली, ज़िसका उद्देश्य बेशी मूल्य का सृजन करना होता है, अनिवार्य रूप से और अधिकाधिक अनन्य रूप से संसार की प्रचलित प्रणाली बनती गयी।

इस बिन्दु तक हम मार्क्स की "बांझ अवधारणाओं" और "ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पनाओं की उस जारज सन्तान का" अनुसरण करते आये हैं, जिसमें "धारणाओं के प्रयोग में हर तरह की ईमानदारी के साथ-साथ विवेक शक्ति भी नष्ट हो जाती है"। आइये, अब इन "ओछी बातों" की हम उन "गूढ़ तार्किक सत्यों" और उस "तथ्य परिशीलन के अर्थ में निर्णायक तथा अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन" से तुलना करें, जिनको श्री ड्यूहरिंग ने हमारे सामने पेश किया है।

चुनांचे मार्क्स पूंजी की "स्वीकृत आर्थिक अवधारणा को नहीं मानते; अर्थात् वह यह नहीं मानते कि पूंजी उत्पादन का एक ऐसा साधन होती है, जिसका पहले ही उत्पादन हो चुका है"। इसके विपरीत मार्क्स का कहना है कि मूल्यों की कोई रक़म केवल उसी समय पूंजी में बदलती है,

---

* वही, पृष्ठ १६३। –सं०

जब वह ख़ुद **मूल्य का सृजन करती है**, जब वह बेशी मूल्य पैदा करती है। और श्री ड्यूहरिंग इसके बारे में क्या कहते हैं?

"पूंजी उत्पादन को जारी रखने के लिये और **सामान्य श्रम शक्ति के फलों की हिस्सा-बांट करने के लिये** आर्थिक शक्ति के साधनों का एक आधार होती है।"

यह बात भी चाहे जितने भविष्यवक्ताई और भद्दे ढंग से कही गयी हो, कम से कम इतना निश्चित है कि आर्थिक शक्ति के साधनों का आधार उत्पादन को अन्त काल तक जारी रख सकता है, पर श्री ड्यूहरिंग के अपने शब्दों के अनुसार वह उस समय तक पूंजी नहीं बन पायेगा, जब तक कि वह "सामान्य श्रम शक्ति के फलों की हिस्सा-बांट" नहीं करने लगेगा – अर्थात जब तक कि वह बेशी मूल्य को या कम से कम बेशी पैदावार को नहीं पैदा करने लगेगा। इसलिये श्री ड्यूहरिंग ने न केवल ख़ुद वह पाप कर डाला है, जिसका उन्होंने मार्क्स पर आरोप लगाया था – अर्थात् पूंजी की स्वीकृत आर्थिक धारणा को न मानने का अपराध – बल्कि इसके अलावा उन्होंने मार्क्स की रचनाओं में से भद्दे ढंग से चोरी भी की है, जो भारी-भरकम शब्दावली से भी "छिप नहीं पायी है"।

पृष्ठ २६२ पर इसी बात का और विकास किया गया है:

"सामाजिक अर्थ में पूंजी" (और श्री ड्यूहरिंग ने अभी किसी ऐसे अर्थ में पूंजी का आविष्कार नहीं किया है, जो सामाजिक न हो) "वास्तव में मात्र उत्पादन के साधनों से विशिष्टतया भिन्न होती है; क्योंकि जहां उत्पादन के साधनों का केवल एक प्राविधिक स्वरूप ही होता है और वे सभी परिस्थितियों में आवश्यक होते हैं, वहां पूंजी की विशेषता यह होती है कि उसमें हस्तगत करने और हिस्सा-बांट करने की सामाजिक शक्ति होती है। यह सच है कि सामाजिक पूंजी बहुत हद तक उत्पादन के उन प्राविधिक साधनों के सिवा और कुछ नहीं है, जो **अपना सामाजिक कार्य करने में** व्यस्त है। परन्तु यही कार्य है, जिसका... लोप हो जाना आवश्यक है।"

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि सबसे पहले मार्क्स ने ही

उस "सामाजिक कार्य" की ओर ध्यान आकर्षित किया था, जिसके प्रताप से ही मूल्यों की कोई रक़म पूंजी बनती है, तो निश्चय ही "प्रत्येक सतर्क अन्वेषक के सामने यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जायेगी कि पूंजी की अवधारणा की मार्क्स की परिभाषा से केवल विचार विभ्रम ही पैदा हो सकता है"; परन्तु ज़ाहिर है कि यह विचार विभ्रम, जैसा कि श्री ड्यूहरिंग सोचते हैं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सम्यक् सिद्धान्त में नहीं पैदा होता, बल्कि जैसा कि स्पष्ट है केवल और मात्र श्री ड्यूहरिंग के दिमाग़ में पैदा होता है, जो 'आलोचनात्मक इतिहास' लिखते-लिखते यह बिल्कुल भूल गये हैं कि पूंजी की उपर्युक्त अवधारणा का वह अपने 'पाठ्यक्रम' में ख़ुद कितना अधिक उपयोग कर चुके हैं।

किन्तु मार्क्स से पूंजी की उनकी परिभाषा को "कुछ शोधित रूप में" उधार लेकर ही श्री ड्यूहरिंग को सन्तोष नहीं हुआ है। वह "धारणाओं के रूपान्तरणों तथा इतिहास के साथ खेलने में" भी मार्क्स का अनुकरण करते हैं, हालांकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि इससे "बांझ अवधारणाओं", "तुच्छ बातों", और "मूल सिद्धान्तों की अस्थिरता" के सिवा और कुछ उनके हाथ नहीं लगेगा। पूंजी का यह "सामाजिक कार्य" कहां से आ गया है, जिसके प्रताप से वह दूसरे लोगों के श्रम के फलों को हस्तगत करने में सफल हो जाती है और जो अकेला एक ऐसा गुण है, जिसने पूंजी को मात्र उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया है?

श्री ड्यूहरिंग कहते हैं कि यह "उत्पादन के साधनों के स्वरूप पर तथा उनकी प्राविधिक अपरिहार्यता पर" नहीं निर्भर करता।

इसलिये उसका ऐतिहासिक ढंग से जन्म हुआ है: और जब पृष्ठ २६२ पर श्री ड्यूहरिंग इस सामाजिक कार्य के जन्म पर भी उन दो पुरुषों के हमारे पुराने परिचित क्रिया-कलाप के द्वारा ही प्रकाश डालते हैं, जिनमें से एक ने इतिहास के आरम्भ में दूसरे के विरुद्ध बल का प्रयोग करके अपने उत्पादन के साधनों को पूंजी में बदल दिया था, तब वह केवल एक ऐसी बात दुहराते हैं, जिसे हम दस बार पहले सुन चुके हैं। परन्तु श्री

ड्यूहरिंग ने केवल यह कहकर भी संतोष नहीं किया है कि जिस सामाजिक कार्य के द्वारा ही मूल्यों की कोई रक़म पूंजी बन पाती है, उसका जन्म ऐतिहासिक ढंग से हुआ था। उन्होंने यह भविष्यवाणी की है कि इस सामाजिक कार्य का अन्त भी ऐतिहासिक ढंग से होगा। यही है वह "जिसका लोप हो जाना अनिवार्य है"। जिस घटना का ऐतिहासिक ढंग से प्रादुर्भाव होता है और फिर ऐतिहासिक ढंग से ही लोप हो जाता है, उसे साधारण बोलचाल में "ऐतिहासिक अवस्था" कहते हैं। इसलिये पूंजी न केवल मार्क्स के मतानुसार, बल्कि श्री ड्यूहरिंग की राय में भी एक ऐतिहासिक अवस्था है, और चुनांचे हम मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि यहां हमारा जेसुइटों से पाला पड़ा है – जब दो आदमी एक ही बात करते हैं, तब वह एक बात नहीं होती।[101] जब मार्क्स कहते हैं कि पूंजी एक ऐतिहासिक अवस्था है, तब यह एक बांझ अवधारणा है, ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पना की जारज सन्तान है, जिसमें धारणाओं के प्रयोग में हर तरह की ईमानदारी के साथ-साथ विवेक शक्ति भी नष्ट हो जाती है। परन्तु जब उसी तरह श्री ड्यूहरिंग पूंजी को एक ऐतिहासिक अवस्था के रूप में पेश करते हैं, तब यह उनके राष्ट्रीय-आर्थिक विश्लेषण की तीक्ष्णता का और तथ्य परिशीलन के अर्थ में अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन का प्रमाण है।

तब फिर पूंजी की ड्यूहरिंगीय अवधारणा मार्क्सीय अवधारणा से किस बात में भिन्न है?

मार्क्स ने लिखा है: "बेशी श्रम का पूंजी ने आविष्कार नहीं किया है। जहां कहीं समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, वहां मज़दूर को, वह स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन निर्वाह के लिये जितने समय तक काम करना आवश्यक होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन निर्वाह के साधन तैयार करने के लिये कुछ अतिरिक्त समय तक काम करना पड़ता है।"* इसलिये बेशी श्रम, या मज़दूर को ख़ुद अपने जीवन निर्वाह के लिये जितने

*वही, पृष्ठ २६५। – सं०

समय तक काम करना पड़ता है, उसके आगे उसे जो श्रम करना पड़ता है वह, और इस बेशी श्रम की पैदावार का दूसरे लोगों द्वारा हस्तगत-करण, अर्थात् श्रम का शोषण अभी तक दुनिया में देखी गयी सभी समाज व्यवस्थाओं में – जिस हद तक कि वे वर्ग विरोधों में विचरण करती थीं – समान रूप से पाया जाता था। परन्तु मार्क्स के मतानुसार उत्पादन के साधन पूंजी का विशिष्ट स्वरूप केवल उसी समय प्राप्त करते हैं, जब बेशी श्रम की पैदावार बेशी मूल्य का रूप धारण कर लेती है; जब वह स्वतंत्र मज़दूर, जो सामाजिक बंधनों से स्वतंत्र होता है और साथ ही हर प्रकार की सम्पत्ति से भी स्वतंत्र होता है, उत्पादन के साधनों के स्वामी को शोषण के पात्र के रूप में उपलब्ध होता है; और जब उत्पादन के साधनों का स्वामी इस स्वतंत्र मज़दूर का **मालों** का उत्पादन करने के उद्देश्य से शोषण करने लगता है। और यह चीज़ बड़े पैमाने पर पहले पहल पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में तथा सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी।

श्री ड्यूहरिंग इसके विपरीत यह कहते हैं कि उत्पादन के साधनों की वह **प्रत्येक** राशि पूंजी होती है, जो "सामान्य श्रम शक्ति के फलों की हिस्सा-बांट करती है", अर्थात् जिससे किसी भी रूप में बेशी श्रम मिलने लगता है। दूसरे शब्दों में श्री ड्यूहरिंग मार्क्स द्वारा आविष्कृत बेशी मूल्य की, जो इस समय उनके उद्देश्य के अनुकूल नहीं है, हत्या कर डालने के उद्देश्य से मार्क्स द्वारा आविष्कृत बेशी श्रम पर अधिकार कर लेते हैं। अतः श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार न केवल कोरिंथ और एथेंस के नागरिकों का दास अर्थव्यवस्था पर आधारित चल और अचल धन, बल्कि रोमन साम्राज्य के काल के बड़े रोमन ज़मींदारों का धन और साथ ही मध्य युग के सामन्ती सरदारों का धन भी, जिस हद तक कि उससे किसी भी प्रकार उत्पादन में सहायता मिलती थी – यह समस्त धन बिना किसी भेद के पूंजी था।

कहने का मतलब यह कि श्री ड्यूहरिंग ख़ुद भी "पूंजी की स्वीकृत सर्वमान्य धारणा को" नहीं मानते; अर्थात्, वह यह नहीं मानते कि "पूंजी उत्पादन का एक ऐसा साधन होती है, जिसका पहले ही उत्पादन

हो चुका है"। बल्कि उनकी तो इसकी बिल्कुल उल्टी अवधारणा है, जिसके अनुसार पूंजी में उत्पादन के वे साधन भी शामिल हैं, जिनका पहले ही उत्पादन नहीं हुआ है, जैसे पृथ्वी और उसके प्राकृतिक संसाधन। किन्तु यह विचार कि पूंजी केवल "उत्पादन के उत्पादित साधनों" को कहते हैं–यह भी केवल भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र में ही माना जाता है। इस भोंडे राजनीतिक अर्थशास्त्र के बाहर, जो श्री ड्यूहरिंग को इतना प्रिय है, "उत्पादन का उत्पादित साधन" या मूल्यों की कोई भी राशि केवल मुनाफ़ा या सूद कमाकर, अर्थात् अदत्त श्रम की बेशी पैदावार को बेशी मूल्य के रूप में हस्तगत करके ही, और इसके अलावा उसे बेशी मूल्य के इन दो उप-रूपों में हस्तगत करके ही पूंजी बन पाती है। इसका तनिक भी महत्व नहीं है कि पूरा पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र आज भी इस भ्रम का शिकार बना हुआ है कि मुनाफ़ा या सूद कमाने का गुण मूल्यों की ऐसी प्रत्येक राशि में अन्तर्निहित होता है, जो सामान्य परिस्थितियों में उत्पादन अथवा विनिमय में इस्तेमाल की जाती है। क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र में पूंजी और मुनाफ़ा या पूंजी और सूद उतने ही अभेद्य होते हैं और उसी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध से जुड़े होते हैं, जैसे कारण और कार्य, पिता और पुत्र, कल और आज। परन्तु 'पूंजी' के आधुनिक आर्थिक अर्थ में इस शब्द से हमारी पहली भेंट उस समय होती है, जब यह वस्तु ख़ुद भी पहले पहल नजर आती है और जब चल धन मालों के उत्पादन के लिये स्वतंत्र मजदूरों के बेशी श्रम का शोषण करके न्यूनाधिक रूप में पूंजी की भूमिका अदा करने लगता है। और सच तो यह है कि इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले इतिहास में पूंजीपतियों के प्रथम राष्ट्र ने, अर्थात् पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के इटलीवालों ने किया था। और यदि आधुनिक पूंजी की चरित्रगत हस्तगतकरण प्रणाली का सबसे पहले मार्क्स ने मौलिक विश्लेषण किया था; यदि उन्होंने पूंजी की अवधारणा का उन ऐतिहासिक तथ्यों के साथ ताल-मेल बैठाया था, जिनसे अन्तिम विश्लेषण में यह अवधारणा निकाली गयी थी और जिनके ऊपर उसका अस्तित्व निर्भर करता था; और यदि मार्क्स ने इस प्रकार इस आर्थिक अवधारणा को उन दुर्बोध एवं ढुलमुल

विचारों से शुद्ध किया था, जो क्लासिकी पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र में और यहां तक कि पुराने समाजवादियों की रचनाओं में भी इस अवधारणा से चिपके हुए थे–तो हमें कहना पड़ेगा कि वह "निर्णायक तथा अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन", जिसकी श्री ड्यूहरिंग निरंतर चर्चा करते रहते हैं और जो उनकी रचनाओं में कभी देखने को नहीं मिलता, असल में मार्क्स ने किया है।

वास्तव में श्री ड्यूहरिंग का विवेचन बिल्कुल दूसरी तरह का है। वह पहले पूंजी को एक ऐतिहासिक अवस्था के रूप में पेश करनेवालों को गालियां देते हैं और कहते हैं कि यह अवधारणा तो "ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पना की जारज सन्तान है" और फिर ख़ुद ही पूंजी को एक ऐतिहासिक अवस्था के रूप में पेश करने लगते हैं। पर इससे भी उनको सन्तोष नहीं होता। इसके साथ-साथ वह सीधे-सीधे यह घोषणा भी कर देते हैं कि आर्थिक शक्ति के **समस्त** साधन, उत्पादन के वे **समस्त** साधन ,जो "सामान्य श्रम शक्ति के फलों की हिस्सा-बांट करते हैं"–और इसलिये सभी वर्ग समाजों में भू-सम्पत्ति भी–पूंजी होती है। परन्तु आगे चलकर वे बिल्कुल परम्परागत ढंग से भू-सम्पत्ति तथा किराया-ज़मीन को पूंजी तथा मुनाफ़े से अलग कर देते हैं और उत्पादन के केवल उन्हीं साधनों को पूंजी का नाम देते हैं, जो मुनाफ़ा या सूद कमाते हैं। अपने 'पाठ्यक्रम' के पृष्ठ १५६ और उसके आगे के पृष्ठों पर श्री ड्यूहरिंग ने काफ़ी विस्तार के साथ इस प्रकार का विवेचन किया है। और ऐसा करते हुए उनको अपने पहले विवेचन के कारण तनिक भी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ है। यदि उनका ऐसा करना सही है, तो उतने ही न्याय के साथ वह पहले घोड़ों, बैलों, गधों और कुत्तों को इस दलील की बिना पर "इंजिन" नाम की मद में शामिल कर सकते थे कि इन सब को भी परिवहन के साधनों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, और आधुनिक इंजीनियरों को इसके लिये गालियां दे सकते थे कि वे "इंजिन" नाम को केवल आधुनिक भाप के इंजिन तक ही सीमित कर देते हैं और इस प्रकार बांझ अवधारणाओं तथा ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पना की जारज सन्तान का प्रयोग करते हुए इंजिन को एक ऐतिहासिक अवस्था के रूप

में पेश करते हैं। और उसके बाद अन्त में श्री ड्यूहरिंग यह घोषणा भी कर सकते थे कि हां, यह सब ठीक है, पर फिर भी घोड़े, गधे, बैल और कुत्ते "इंजिन" नाम की मद में शामिल नहीं किये जा सकते और इस नाम का केवल भाप के इंजिन के लिये ही प्रयोग किया जा सकता है।

और इस प्रकार एक बार फिर हम यह कहने के लिये मजबूर हो जाते हैं कि वह वास्तव में पूंजी की ड्यूहरिंगीय अवधारणा ही है, जिसमें राष्ट्रीय-आर्थिक विश्लेषण की समस्त तीक्ष्णता का लोप हो जाता है और अवधारणाओं के प्रयोग में हर तरह की ईमानदारी के साथ-साथ विवेक शक्ति भी नष्ट हो जाती है; और वे तमाम बांझ अवधारणाएं, वह मत विभ्रम, वे तमाम तुच्छ बातें, जिनको गूढ़ तार्किक सत्यों के रूप में पेश किया जाता है और मूल सिद्धान्तों की अस्थिरता – ये सब अपने पूर्ण प्रस्फुटित रूप में श्री ड्यूहरिंग की रचना में ही मिलते हैं।

परन्तु इस सब का कोई महत्व नहीं है। क्योंकि इस सबके बावजूद उस धुरी का पता लगाने का श्रेय श्री ड्यूहरिंग को ही है, जिसपर समस्त अर्थशास्त्र, समस्त राजनीति एवं विधिशास्त्र, और एक शब्द में कहें, तो समस्त इतिहास अभी तक घूमता रहा है। सुनिये:

"सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होने पर जो दो प्रधान तत्व काम करने लगते हैं, वे हैं – बल और श्रम।"

इस एक वाक्य में आर्थिक जगत् के आज तक के सम्पूर्ण संविधान का निचोड़ पेश कर दिया गया है। यह संविधान बहुत ही संक्षिप्त है और इस प्रकार है:

धारा १: श्रम पैदा करता है।

धारा २: बल वितरण करता है।

और यदि हम "मनुष्यों की सीधी-सादी भाषा" का प्रयोग करें, तो इसी में श्री ड्यूहरिंग का सारा आर्थिक ज्ञान निहित है।

८

पूंजी और बेशी मूल्य

(समापन)

"श्री मार्क्स के मतानुसार मज़दूरी केवल उस श्रम काल की उजरत का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके दौरान में मज़दूर असल में ख़ुद अपना अस्तित्व सम्भव बनाने के लिये काम करता है। लेकिन इस उद्देश्य के लिये केवल थोड़े-से घण्टों की ही आवश्यकता होती है। काम का दिन अक्सर बहुत लम्बा कर दिया जाता है, और उसके बाक़ी भाग में एक बेशी पैदावार तैयार होती है, जिसमें वह तत्व निहित होता है, जिसे हमारा लेखक 'बेशी मूल्य' कहता है, या जो रोज़मर्रा की भाषा में पूंजी का मुनाफ़ा कहलाता है। यदि हम उस श्रम काल को अपने हिसाब में शामिल न करें, जो उत्पादन की हर मंज़िल पर श्रम के औज़ारों और आवश्यक कच्चे माल में पहले से निहित होता है, तो काम के दिन का यह बेशी भाग ही वह हिस्सा है, जो पूंजीवादी उद्यमकर्त्ता को मिलता है। चुनांचे काम के दिन को लम्बा कर देने से पूंजीपति के लाभार्थ विशुद्ध शोषण की आय होती है।"

इसलिये श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार मार्क्स का बेशी मूल्य उसके सिवा और कुछ नहीं है, जो रोज़मर्रा की भाषा में पूंजी की आय या मुनाफ़े के नाम से जाना जाता है। अब हम यह देखें कि ख़ुद मार्क्स क्या कहते हैं। 'पूंजी' में पृष्ठ १९५ पर बेशी मूल्य का स्पष्टीकरण करने के लिये कोष्ठकों के भीतर लिखा है: "सूद, मुनाफ़ा, लगान।"* पृष्ठ २१० पर मार्क्स ने एक उदाहरण दिया है, जिसमें ३ पौण्ड ११ शिलिंग का कुल बेशी मूल्य उन अलग-अलग रूपों में सामने आता है, जिनमें उसका बंटवारा हो जाता है: अर्थात् दशांश, शुल्क एवं कर के रूप में २१ शिलिंग, लगान के रूप में २८ शिलिंग; और किसान के मुनाफ़े तथा सूद के रूप में २२ शिलिंग, जो सब मिलाकर ३ पौण्ड ११ शिलिंग का कुल बेशी

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ २३१।—सं०

मूल्य होते हैं।* पृष्ठ ५४२ पर मार्क्स ने बताया है कि रिकार्डो की एक मुख्य त्रुटि यह थी कि "उन्होंने... बेशी मूल्य पर बेशी मूल्य के रूप में विचार नहीं किया है; अर्थात् मुनाफ़ा, लगान, आदि, जो बेशी मूल्य के कई विशिष्ट रूप होते हैं, उनसे उसे अलग करके कभी उन्होंने बेशी मूल्य पर विचार नहीं किया है"; और इसलिये उन्होंने बेशी मूल्य की दर के नियमों को और मुनाफ़े की दर के नियमों को आपस में गड्ड-मड्ड कर दिया है। इसके मुक़ाबले में मार्क्स ने कहा है कि "मैं तीसरी पुस्तक में स्पष्ट करूंगा कि बेशी मूल्य की एक दर निश्चित होते हुए भी मुनाफ़े की अनेक दरें हो सकती हैं और कुछ ख़ास परिस्थितियों में मुनाफ़े की एक दर में बेशी मूल्य की विभिन्न दरें व्यक्त हो सकती हैं।"** पृष्ठ ५८७ पर हम पाते हैं: "जो पूंजीपति बेशी मूल्य पैदा करता है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष रूप में मज़दूरों से अदत्त श्रम चूसता है और उसे मालों में जमा देता है, वह इसमें सन्देह नहीं कि इस बेशी मूल्य को सबसे पहले हस्तगत करता है, लेकिन इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि आख़िर तक बेशी मूल्य उसी के हाथ में रहता है। बेशी मूल्य में से इस पूंजीपति को अन्य पूंजीपतियों, ज़मींदारों, आदि को हिस्सा देना पड़ता है, जो सामाजिक उत्पादन के संश्लेषण में अन्य प्रकार के कार्यों को पूरा करते हैं। इसलिये बेशी मूल्य बहुत-से भागों में बंट जाता है। ये टुकड़े अलग-अलग कोटि के व्यक्तियों के हिस्से में पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं, जिनमें से प्रत्येक रूप दूसरे से स्वतंत्र होता है। ये रूप हैं—मुनाफ़ा, सूद, सौदागर का नफ़ा, लगान, इत्यादि। बेशी मूल्य के इन परिवर्तित रूपों पर विचार करना केवल तीसरी पुस्तक में ही सम्भव होगा।"*** और इसी प्रकार के अन्य बहुत-से उद्धरण हैं।

इससे अधिक स्पष्टता के साथ अपनी बात कहना असम्भव है। प्रत्येक अवसर पर मार्क्स पाठक का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करते हैं

---

* वही, पृष्ठ २४६।—सं०
** वही, पृष्ठ ५८८।—सं०
*** वही, पृष्ठ ६३४।—सं०

22—1331

कि उनके बेशी मूल्य को और पूंजी के मुनाफ़े को एक चीज़ नहीं समझना चाहिये। बार-बार उन्होंने यह बताया है कि मुनाफ़ा, या पूंजी का मुनाफ़ा तो बेशी मूल्य का एक उप-रूप होता है, और अक्सर तो वह महज़ उसका एक अंश होता है। और यदि इस सबके बावजूद श्री ड्यूहरिंग यह फ़रमाते हैं कि मार्क्सीय बेशी मूल्य "रोज़मर्रा की भाषा में पूंजी का मुनाफ़ा है"; और यदि यह सत्य है कि मार्क्स का पूरा ग्रंथ बेशी मूल्य की धुरी पर घूमता है, तो फिर दो ही बातें सम्भव हैं; या तो श्री ड्यूहरिंग कुछ भी नहीं जानते और उस हालत में एक ऐसी पुस्तक की निन्दा करना, जिसकी मुख्य विषय-वस्तु के बारे में उनको जानकारी नहीं है, धृष्टता की पराकाष्ठा है; या वह इसके बारे में सब कुछ जानते हैं, और उस हालत में उन्होंने जान-बूझकर झूठ बोला है।

आगे सुनिये कि श्री ड्यूहरिंग क्या कहते हैं:

"ज़बर्दस्ती ऐंठ लेने की क्रिया की इस अवधारणा को श्री मार्क्स जिस विषाक्त घृणा के साथ प्रस्तुत करते हैं, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु मार्क्स के बेशी मूल्य के सिद्धान्त में जो सैद्धान्तिक मत अभिव्यक्त हुआ है, उसे बग़ैर स्वीकार किये भी मजूरी पर आधारित आर्थिक रूप के शोषक चरित्र को और भी पूर्ण रूप में स्वीकार किया जा सकता है तथा उसपर और भी ज़ोरदार ग़ुस्सा ज़ाहिर किया जा सकता है।"

मतलब यह कि मार्क्स का उद्देश्य बुरा नहीं है; लेकिन उन्होंने जो ग़लत सैद्धान्तिक मत अपना लिया है, उससे उनके मन में ज़बर्दस्ती ऐंठ लेने की क्रिया के विरुद्ध विषाक्त घृणा पैदा हो जाती है; किन्तु उनके मिथ्या "सैद्धान्तिक मत" के कारण यह भाव, जो अपने में एक नीतिसंगत भाव है, एक नीतिविरुद्ध रूप में अभिव्यक्त होता है और निन्दनीय घृणा तथा निम्न स्तर के द्वेष के रूप में प्रकट होता है। उधर श्री ड्यूहरिंग ने जो "निर्णायक एवं अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन किया है," वह एक नीतिसंगत भाव में अभिव्यक्त होता है, जिसका स्वरूप भी उतना ही महान है। वह एक ऐसे क्रोध की तरह अभिव्यक्त होता है, जो यहां तक कि रूप में भी नैतिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है और जो विषाक्त

घृणा के मामले में परिमाणात्मक दृष्टि से भी श्रेष्ठ है, कहीं अधिक ज़ोरदार ग़ुस्सा है। जब तक श्री ड्यूहरिंग इस प्रकार अपनी आत्म-प्रशंसा करने में व्यस्त हैं, तब तक, आइये, हम यह देखें कि इस ज़ोरदार ग़ुस्से का स्रोत क्या है।

श्री ड्यूहरिंग ने आगे लिखा है: "जब यह प्रश्न उठता है कि एक दूसरे से होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता श्रम की पूरी पैदावार को, जिसमें बेशी पैदावार भी शामिल होती है, उत्पादन की प्राकृतिक लागत से इतने अधिक ऊंचे दामों पर, जिसका आभास बेशी श्रम के घण्टों के उपर्युक्त अनुपात से मिलता है, लगातार कैसे बेचते जाते हैं? मार्क्स के सिद्धान्त में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता और उसका कारण केवल यह है कि इस सिद्धान्त में तो इस प्रश्न को उठाने के लिये भी कोई स्थान नहीं है। उसमें मजूरी पर आधारित उत्पादन के विलासी चरित्र की गम्भीरतापूर्वक चर्चा तनिक भी नहीं की जाती और किसी भी तरह यह नहीं स्वीकार किया जाता कि यह सामाजिक संघटन और उसकी शोषण सम्बन्धी विशेषताएं अन्त में जाकर श्वेत लोगों की दासता का आधार बन जाती हैं। इसके विपरीत राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्नों के कारणों की सदा अर्थशास्त्र में खोज की जाती है।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मार्क्स का कहना यह हरगिज़ नहीं है कि अतिरिक्त पैदावार को पहले पहल हस्तगत करनेवाला औद्योगिक पूंजीपति उसे हर परिस्थिति में औसतन उसके पूरे मूल्य पर बेच देता है। श्री ड्यूहरिंग ने यहां पर यही बात मान ली है। मार्क्स ने तो साफ़-साफ़ कहा है कि सौदागर का मुनाफ़ा भी बेशी मूल्य का ही एक भाग होता है और जिन बातों को मानकर चला जा रहा है, उनके आधार पर यह केवल उसी समय सम्भव हो सकता है, जब कारख़ानेदार अपनी पैदावार मूल्य से **कम** पर सौदागर को सौंप दे, और इस प्रकार लूट का एक भाग उसके लिये छोड़ दे। यहां जिस रूप में यह प्रश्न रखा गया है, स्पष्ट है कि उसे उठाने तक के लिये सचमुच मार्क्स के यहां कोई स्थान नहीं है। यदि उसे बुद्धिसंगत ढंग से पेश किया जाये, तो प्रश्न यह है कि बेशी मूल्य अपने उप-रूपों में—मुनाफ़े, सूद, सौदागर के मुनाफ़े,

किराया-ज़मीन आदि में कैसे रूपान्तरित हो जाता है? और इस प्रश्न को मार्क्स ने तीसरी पुस्तक में हल कर देने का निश्चित वायदा किया है। परन्तु यदि श्री ड्यूहरिंग 'पूंजी' के दूसरे खण्ड* के प्रकाशन तक धैर्य नहीं रख सकते, तो उनको चाहिये कि इस बीच पहले खण्ड पर ही अधिक निकट से नज़र डालें। तब वह, मिसाल के लिये, पृष्ठ ३२३ पर** देखेंगे कि जिन अंशों को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, उनके अलावा मार्क्स ने कहा है कि पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियम पूंजी की अलग-अलग राशियों की बाह्य गतियों में होड़ के बलपूर्वक अमल में आनेवाले नियमों के रूप में प्रकट होते हैं, और इस तरह अलग-अलग पूंजीपतियों के मस्तिष्क एवं चेतना में उनके कार्यों के संचालक उद्देश्यों के रूप में प्रवेश करते हैं। और इसलिये जिस प्रकार आकाशीय पिण्डों की दृष्ट गति को केवल वही आदमी समझ सकता है, जो उनकी वास्तविक गति से परिचित है, अर्थात् जो उनकी उस गति से परिचित है, जिसका इन्द्रियों को प्रत्यक्ष बोध नहीं होता; उसी प्रकार होड़ का वैज्ञानिक विश्लेषण उस वक़्त तक सम्भव नहीं है, जब तक कि हमें पूंजी के आन्तरिक स्वभाव का ज्ञान न हो; और इसके बाद मार्क्स एक उदाहरण देते हैं और उसके द्वारा यह दिखाते हैं कि एक ख़ास सूरत में, एक निश्चित नियम, अर्थात् मूल्य का नियम होड़ में किस प्रकार प्रकट होता है और किस प्रकार अपनी प्रेरक शक्ति को अमल में लाता है। यदि और किसी बात से नहीं, तो केवल इस उदाहरण से ही श्री ड्यूहरिंग के दिमाग़ में यह बात साफ़ हो जानी चाहिये थी कि बेशी मूल्य के वितरण में होड़ एक प्रमुख भूमिका अदा करती है, और यदि थोड़े सोच-विचार से काम लिया जाये, तो असल में 'पूंजी'

---

* मार्क्स का इरादा खंड २ में 'पूंजी' की दूसरी और तीसरी पुस्तकों को प्रकाशित करने का था, लेकिन बाद में तीसरी पुस्तक अलग से खंड ३ के रूप में प्रकाशित हुई। – **सं०**

** 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ ३५९। – **सं०**

के पहले खण्ड में दिये गये संकेत ही कम से कम मोटे तौर पर यह बात स्पष्ट कर देते हैं कि बेशी मूल्य अपने उप-रूपों में किस प्रकार बदल जाता है।

परन्तु वास्तव में होड़ ही है, जो श्री ड्यूहरिंग को इस प्रक्रिया को बिल्कुल नहीं समझने देती। वह यह नहीं समझ सकते कि एक दूसरे से होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता श्रम की पूरी पैदावार को, जिसमें बेशी पैदावार भी शामिल होती है, उत्पादन की प्राकृतिक लागत से कहीं अधिक ऊंचे दामों पर लगातार कैसे बेचते जाते हैं। यहां हमें फिर श्री ड्यूहरिंग की "सम्यक्" शब्दावली के दर्शन होते हैं, जो वास्तव में फूहड़पन के सिवा और कुछ नहीं है। **मार्क्स के मतानुसार** स्वयं बेशी पैदावार की **उत्पादन की लागत कुछ भी नहीं होती।** यह तो पैदावार का वह भाग है, जिसपर पूंजीपति को **कुछ भी नहीं ख़र्च करना पड़ता है।** इसलिये यदि होड़ करने-वाले उद्यमकर्त्ता बेशी पैदावार को उसके उत्पादन की स्वाभाविक लागत पर बेचना चाहते हैं, तो उनको उसे **मुफ़्त में दे देना पड़ेगा।** लेकिन इस प्रकार की "ब्योरे की सूक्ष्म बातों" में व्यर्थ समय गंवाने से क्या लाभ है? होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता क्या श्रम की पैदावार को रोज़ ही उत्पादन की प्राकृतिक लागत से ऊंचे दामों पर नहीं बेचते? श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार

उत्पादन की प्राकृतिक लागत "श्रम या ऊर्जा के व्यय में निहित होती है, और यह व्यय अन्तिम विश्लेषण में भोजन के व्यय से मापा जा सकता है",

अर्थात् वर्तमान समाज में मुनाफ़े या उस "अतिरिक्त कर" से अलग, जो तलवार हाथ में लेकर वसूल किया जाता है, कच्चे मालों, श्रम के औज़ारों और मज़दूरी की सचमुच जो लागत बैठती है, वही उत्पादन की प्राकृतिक लागत होती है। अब हर आदमी यह जानता है कि जिस समाज में हम रहते हैं, उसमें होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता अपने मालों को उत्पादन की प्राकृतिक लागत पर नहीं बेचते, बल्कि उसके साथ-साथ एक तथाकथित अतिरिक्त कर, अर्थात् मुनाफ़ा जोड़ देते हैं, और नियमानुसार वह उनको

मिल भी जाता है। जिस प्रश्न के द्वारा श्री ड्यूहरिंग का ख़याल था कि वह एक हुंकार से मार्क्सवाद के पूरे भवन को उसी तरह गिरा देंगे, जिस तरह जोशुआ ने एक बार जेरिको की दीवारों को गिरा दिया था,[102] वही प्रश्न श्री ड्यूहरिंग के आर्थिक सिद्धान्त से भी किया जा सकता है। आइये देखें कि वह उसका क्या उत्तर देते हैं।

"पूंजी के स्वामित्व का", उन्होंने कहा है, "व्यावहारिक अर्थ कुछ नहीं है, और जब तक कि उसके साथ-साथ मानव सामग्री के विरुद्ध अप्रत्यक्ष बल प्रयोग का भी उसमें समावेश नहीं हो जाता, तब तक उसे मूर्त रूप देना सम्भव नहीं होता। इस बल का फल होता है पूंजी का मुनाफ़ा; और इसलिये इस मुनाफ़े का परिमाण इसपर निर्भर करता है कि किस विस्तार तथा तीव्रता के साथ इस बल का प्रयोग किया गया है... पूंजी का मुनाफ़ा एक राजनीतिक और सामाजिक परिघटना है, जो होड़ से अधिक शक्तिशाली प्रभाव डालती है। इस सिलसिले में पूंजीपति एक सामाजिक श्रेणी के रूप में कार्य करते हैं और उनमें से प्रत्येक अपनी स्थिति को बनाये रखता है। अर्थव्यवस्था की जो प्रणाली इस समय प्रचलित है, उसके अन्तर्गत एक ख़ास हद में पूंजी का मुनाफ़ा होना ज़रूरी होता है।"

दुर्भाग्य से इस प्रश्न का हमको अब भी कोई उत्तर नहीं मिला है कि होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता श्रम की पैदावार को उत्पादन की प्राकृतिक लागत से ऊंचे दामों में लगातार कैसे बेचते रहते हैं। हम यह विश्वास करने को तैयार नहीं हैं कि श्री ड्यूहरिंग अपने पाठकों को इतना मूर्ख समझते हैं कि वह उनको केवल यह कहकर चलता कर देने की आशा करते हैं कि पूंजी का मुनाफ़ा होड़ के ऊपर होता है, जैसे प्रशा का राजा क़ानून के ऊपर हुआ करता था। हम उन तिकड़मों से परिचित हैं, जिनके ज़रिये प्रशा के राजा ने अपनी स्थिति क़ानून के ऊपर कर ली थी। पूंजी का मुनाफ़ा किन तिकड़मों के द्वारा होड़ से अधिक शक्तिशाली बन जाता है, यही तो हम श्री ड्यूहरिंग से जानना चाहते हैं, परन्तु वह हैं कि हमें बताने को तैयार ही नहीं हैं। और इससे कोई लाभ नहीं है, यदि उनके कथनानुसार इस सिलसिले में पूंजीपति एक सामाजिक श्रेणी के रूप में

कार्य करते हैं और उनमें से प्रत्येक अपनी स्थिति को बनाये रखता है। हम यह कैसे विश्वास कर लें कि कुछ लोगों के एक सामाजिक श्रेणी के रूप में कार्य करने से ही उनमें से प्रत्येक अपनी स्थिति को बनाये रखने में सफल हो जाता है। श्री ड्यूहरिंग के कथन के अतिरिक्त इसका कोई और प्रमाण भी तो होना चाहिये: हर आदमी जानता है कि मध्य युग के शिल्पी संघों के सदस्यों और १७८९ में फ़ांसीसी अभिजात वर्ग के सदस्यों ने बहुत निश्चित रूप से सामाजिक श्रेणियों के रूप में कार्य किया था; मगर फिर भी उनका विनाश हो गया। येना में प्रशा की सेना ने भी एक सामाजिक श्रेणी के रूप में कार्य किया था, लेकिन अपनी स्थिति को बनाये रखना तो दर-किनार, उसे उल्टे पैरों भागना पड़ा और यहां तक कि बाद में हिस्सों के रूप में आत्मसमर्पण भी कर देना पड़ा। हम इस आश्वासन से भी संतोष नहीं कर सकते कि आजकल अर्थव्यवस्था की जो प्रणाली प्रचलित है, उसके अन्तर्गत एक ख़ास हद तक पूंजी का मुनाफ़ा होना आवश्यक है; कारण कि यही तो प्रमाणित करना है कि यह चीज़ **क्यों** आवश्यक है। और उस समय भी हम अपने लक्ष्य की ओर एक क़दम आगे नहीं बढ़ते, जब श्री ड्यूहरिंग हमें सूचित करते हैं कि

"पूंजी का प्रभुत्व भूमि के प्रभुत्व के घनिष्ठ सम्बन्ध में विकसित हुआ है। कृषि भूदासों का एक भाग शहरों में जाकर कारीगरों में रूपान्तरित हो गया, और अन्त में तो कारख़ानों की सामग्री में बदल गया। किराया-ज़मीन के बाद स्वामित्व के लगान के एक दूसरे रूप की भांति पूंजी के मुनाफ़े का विकास हुआ"।

इस कथन में जो ऐतिहासिक भ्रान्ति निहित है, उसको यदि हम अनदेखा कर दें, तो भी यह एक कथन मात्र ही है, और जिस बात को प्रमाणित करना था तथा जिसके कारणों का पता लगाना था, यह कथन उस बात की सचाई का हमें केवल बार-बार आश्वासन देने तक ही सीमित रह जाता है। इसलिये हम इसके सिवा और किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सकते कि श्री ड्यूहरिंग ख़ुद भी अपने इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं कि होड़ करनेवाले उद्यमकर्त्ता श्रम की पैदावार को उत्पादन की प्राकृतिक

लागत से ऊंचे दामों में लगातार कैसे बेचते रहते हैं। अर्थात् मुनाफ़े की उत्पत्ति पर प्रकाश डालना श्री ड्यूहरिंग के बूते के बाहर है। वह तो केवल यह दो-टूक फ़रमान जारी कर सकते हैं कि पूंजी का मुनाफ़ा **बल प्रयोग** का परिणाम है; और यह बात ज़ाहिर है समाज के ड्यूहरिंगीय विधान की धारा २ के सर्वथा अनुरूप है, जिसमें कहा गया है कि बल वितरण करता है। इसकी शब्दावली निश्चय ही बहुत सुन्दर है; परन्तु उसके बाद "प्रश्न उठता है" कि बल वितरण तो करता है, पर किस चीज़ का? निश्चय ही कोई न कोई चीज़ ज़रूर होगी, जिसका वितरण किया जाता है; वरना तो सर्वशक्तिमान बल भी अच्छे से अच्छे इरादों के बावजूद अवस्तुता का वितरण नहीं कर सकेगा। एक दूसरे से होड़ करने-वाले पूंजीपति जो मुनाफ़ा अपनी जेबों में डाल लेते हैं, वह एक बहुत ही मूर्त तथा ठोस वस्तु होती है। बल इस मुनाफ़े को **छीन** सकता है, पर वह उसको **पैदा** नहीं कर सकता। और जहां श्री ड्यूहरिंग हमें यह बताने को क़तई तैयार नहीं हैं कि बल पूंजीपतियों के मुनाफ़े को **किस प्रकार** छीन लेता है, वहां इस सवाल का कि बल इस मुनाफ़े को **कहां से** छीनता है, उनके पास केवल एक ही जवाब है और वह है ख़ामोशी, क़ब्रिस्तान की ख़ामोशी। जहां कुछ नहीं है, वहां तो अन्य प्रत्येक बल की तरह राजा के भी सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं। कुछ नहीं से कुछ नहीं निकलता, और मुनाफ़ा तो निश्चय ही नहीं निकलता। यदि पूंजी के स्वामित्व का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं है, और यदि उसे उस समय तक मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता, जब तक कि साथ ही उसमें मानव सामग्री के विरुद्ध अप्रत्यक्ष बल प्रयोग का भी समावेश नहीं कर दिया जाता—यदि बात ऐसी है, तो एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि एक तो पूंजी धन को यह बल कैसे प्राप्त हुआ—क्योंकि ऊपर जिन दो-एक ऐतिहासिक उदाहरणों को उद्धृत किया गया है, उनसे इस प्रश्न का कदापि हल नहीं होता; दूसरे, यह बल पूंजी मूल्य की अभिवृद्धि में, मुनाफ़े में कैसे रूपान्तरित हो जाता है; और तीसरे, यह मुनाफ़ा उसे कहां से मिलता है।

ड्यूहरिंगीय राजनीतिक अर्थशास्त्र को किसी भी दृष्टिकोण से समझने की कोशिश कीजिये, हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ते। मुनाफ़ा, किराया-

ज़मीन, भुखमरी की स्थिति में रखनेवाली मज़दूरी, मज़दूरों की ग़ुलामी – प्रत्येक अप्रिय घटना का श्री ड्यूहरिंग के पास केवल एक ही कारण है: बल और बारम्बार बल। और श्री ड्यूहरिंग का "प्रचंड क्रोध" अन्त में केवल बल का ग़ुस्सा बनकर रह जाता है। हम देख चुके हैं कि एक तो बल का यह आवाहन एक लंगड़ी युक्ति का सहारा लेने की चेष्टा है। उसके द्वारा समस्या को अर्थशास्त्र के क्षेत्र से निकालकर राजनीति के क्षेत्र में डाल दिया जाता है, जिससे किसी भी आर्थिक तथ्य पर प्रकाश नहीं पड़ता। दूसरे, उससे स्वयं बल की उत्पत्ति का रहस्य स्पष्ट नहीं होता। और यह अच्छा ही है, क्योंकि वरना उनको इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता कि समस्त सामाजिक शक्ति तथा समस्त राजनीतिक बल का स्रोत आर्थिक पूर्वाधार और उत्पादन तथा विनिमय की प्रणाली होती है, जो प्रत्येक समाज में और प्रत्येक काल में ऐतिहासिक विकास के द्वारा निश्चित होती है।

परन्तु आइये, अब हम यह देखें कि क्या राजनीतिक अर्थशास्त्र के "अधिक गूढ़ मूल सिद्धान्तों" के इस निर्मम निर्माता से हम मुनाफ़े के बारे में किन्हीं अन्य बातों का पता नहीं लगा सकते? हो सकता है कि अगर हम श्री ड्यूहरिंग की मज़दूरी के विवेचन का अध्ययन करें, तो हमें शायद कुछ अधिक सफलता मिले। पृष्ठ १५८ पर लिखा है:

"मज़दूरी वह भाड़ा है, जो श्रम शक्ति के भरण-पोषण के लिये दिया जाता है; और सबसे पहले उसपर केवल किराया-ज़मीन तथा पूंजी के मुनाफ़े के एक आधार के रूप में ही विचार किया जाता है। इस क्षेत्र में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनके बारे में सर्वथा स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें किराया-ज़मीन की और बाद में पूंजी के मुनाफ़े की भी पहले ऐतिहासिक दृष्टि से और बिना मज़दूरी के कल्पना करनी होगी। अर्थात् पहले हमें दास प्रथा या भू-दास प्रथा के आधार पर उनकी क़ल्पना करनी होगी... जिसका भरण-पोषण करना पड़ रहा है, वह दास है, या भू-दास, अथवा भाड़े का मज़दूर – इससे केवल उत्पादन की लागत को वसूल करने की प्रणाली में ही फ़र्क़ पड़ता है। **हर सूरत में श्रम शक्ति के उपयोग से जो निवल प्राप्ति होती है, वही मालिक की आय होती है...** अतएव यह स्पष्ट है कि... वह मुख्य विरोध, जिसके फलस्वरूप एक ओर

स्वामित्व के लगान का कोई न कोई रूप पाया जाता है और दूसरी ओर सम्पत्तिविहीन भाड़े के मज़दूर पाये जाते हैं, वह अपने सदस्यों में से केवल किसी एक में नहीं पाया जाता, बल्कि सदा दोनों में साथ-साथ पाया जाता है।"

किन्तु जैसा कि हमें पृष्ठ १८८ पर बताया गया है, स्वामित्व का लगान एक ऐसा नाम है, जिसकी मद में किराया-ज़मीन तथा पूंजी का मुनाफ़ा दोनों शामिल हैं। आगे चलकर पृष्ठ १७४ पर लिखा है:

"पूंजी के मुनाफ़े की चरित्रगत विशेषता यह होती है कि उसके रूप में **श्रम शक्ति से जो कुछ प्राप्त होता है, उसके सबसे महत्वपूर्ण भाग को हस्तगत कर लिया जाता है।** प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से पराधीन बना लिये गये श्रम के किसी न किसी रूप से अलग करके पूंजी के मुनाफ़े की कल्पना नहीं की जा सकती।"

और पृष्ठ १८३ पर हमें यह पढ़ने को मिलता है:

मज़दूरी "सभी परिस्थितियों में उस भाड़े के सिवा और कुछ नहीं होती, जिसके द्वारा आम तौर पर मज़दूर के जीवन निर्वाह या सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना की सुनिश्चित व्यवस्था कर देनी पड़ती है"।

और अन्त में पृष्ठ १९५ पर हम पढ़ते हैं:

"जो भाग स्वामित्व के लगान के हिस्से में पड़ता है, वह आवश्यक रूप से मज़दूरी को नहीं मिलता और विलोम क्रम से सामान्य उत्पादन क्षमता का" (!) "जो भाग श्रम को मिलता है, वह आवश्यक रूप से स्वामित्व की आय से निकाला जाता है।"

श्री ड्यूहरिंग एक के बाद दूसरी आश्चर्यजनक बात कहते चलते हैं। उनके मूल्य के सिद्धान्त में तथा होड़ के सिद्धान्त तक तथा उस समेत आगे के अध्यायों में, अर्थात् पृष्ठ १ से पृष्ठ १५५ तक मालों के दामों अथवा मूल्यों को एक तो उत्पादन की प्राकृतिक लागत, या "उत्पादन मूल्य",

अर्थात् कच्चे माल, श्रम के औज़ारों तथा मज़दूरी की लागत, और दूसरे, अतिरिक्त कर या "वितरण मूल्य", अथवा उस ख़िराज में बांट दिया गया था, जो एकाधिकारी वर्ग के हित में तलवार हाथ में लेकर वसूल किया जाता था। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस अतिरिक्त कर से धन के वितरण में वास्तव में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता था, क्योंकि वह एक हाथ से जो कुछ वसूल करता था, उसे दूसरे हाथ से वापस कर देता था। इसके अलावा जहां तक श्री ड्यूहरिंग ने इस अतिरिक्त कर की उत्पत्ति तथा स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला है, वहां तक हमें यह भी मालूम है कि यह अतिरिक्त कर अवस्तु में से उत्पन्न हुआ था और इसलिये वह भी कुछ नहीं होता। अगले दो अध्यायों में, जिनमें आय के प्रकारों की चर्चा की गयी है, अर्थात् पृष्ठ १५६ से २१७ तक इस अतिरिक्त कर का कोई ज़िक्र नहीं सुनायी पड़ता। उसके बदले अब श्रम की प्रत्येक पैदावार का मूल्य, अर्थात् प्रत्येक माल का मूल्य इन दो भागों में बांटा जाता है: एक तो उत्पादन की लागत, जिसमें मज़दूरों को दी गयी मज़दूरी भी शामिल होती है; और दूसरे, "श्रम शक्ति के उपयोग से मिलनेवाली निवल प्राप्ति", जो मालिक की आय होती है। और इस निवल प्राप्ति का बहुत जाना-पहचाना रंग-रूप होता है, जिसे गोदना कराके या क़लई कराके नहीं छिपाया जा सकता। "इस क्षेत्र में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनके बारे में सर्वथा स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये", पाठक को यह कल्पना करनी चाहिये कि हमने अभी-अभी श्री ड्यूहरिंग की रचना के जिन अंशों को उद्धृत किया है, वे मार्क्स की रचना के उन अंशों के बराबर में छाप दिये गये हैं, जिनको हमने पहले उद्धृत किया था और जिनमें बेशी श्रम, बेशी पैदावार तथा बेशी मूल्य की चर्चा की गयी है। तब पाठक को पता चलेगा कि श्री ड्यूहरिंग की शैली तो निश्चय ही उनकी अपनी है, पर उन्होंने 'पूंजी' की स्थापनाओं को **सीधे नक़ल उतारकर** अपनी पुस्तक में रख दिया है।

श्री ड्यूहरिंग यह बात मानते हैं कि अभी तक जितने शासक वर्ग हुए हैं, उनकी आय का स्रोत किसी न किसी प्रकार का बेशी श्रम रहा है, चाहे दास प्रथा का, या भू-दास प्रथा का, या मजूरी प्रथा का। यह

'पूंजी' के उस बहु-उद्धृत अंश की नक़ल है, जो पृष्ठ २२७ पर* इस तरह शुरू होता है : "बेशी श्रम का पूंजी ने आविष्कार नहीं किया है", इत्यादि, इत्यादि। और वह "निवल प्राप्ति", जो "मालिक की आय" होती है—यह श्रम की पैदावार के उस बेशी भाग के सिवा और क्या है, जो मज़दूरी देने के बाद बच रहता है और जिसके द्वारा, श्री ड्यूहरिंग की रचना में भी, और "भाड़ा" शब्द के सर्वथा अनावश्यक छद्मवेश के बावजूद आम तौर पर मज़दूर के जीवन निर्वाह तथा सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना की सुनिश्चित व्यवस्था करनी पड़ती है? "श्रम शक्ति से जो कुछ प्राप्त होता है, उसके सबसे महत्वपूर्ण भाग को हस्तगत कर लेने" का इसके सिवा और क्या तरीक़ा मुमकिन है कि, जैसा कि मार्क्स प्रमाणित कर चुके हैं, मज़दूर जीवन निर्वाह के जिन साधनों का उपयोग कर डालता है, उनके पुनरुत्पादन के लिये उसे जितना श्रम करना आवश्यक है, पूंजीपति उससे ज़्यादा श्रम मज़दूर से कराता है, या दूसरे शब्दों में मज़दूर को दी गयी मज़दूरी के मूल्य का स्थान भरने के लिये मज़दूर से जितने समय तक काम कराना आवश्यक होता है, पूंजीपति उससे अधिक समय तक काम कराता है? इस प्रकार श्री ड्यूहरिंग जिसे "श्रम शक्ति का उपयोग" तथा मालिक के हिस्से में पड़नेवाली "निवल प्राप्ति" कहते हैं, उसके पीछे भी केवल मज़दूर के जीवन निर्वाह के साधनों के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक समय से आगे काम के दिन को लम्बा कर देना, अर्थात् मार्क्स का बेशी श्रम ही छिपा है। और श्री ड्यूहरिंग की "निवल प्राप्ति" मार्क्सीय बेशी पैदावार तथा बेशी मूल्य के सिवा और किस चीज़ में अभिव्यक्त हो सकती है? और मार्क्सीय बेशी मूल्य से ड्यूहरिंगीय स्वामित्व का लगान सिवाय इसके और किस बात में भिन्न है कि उसे सम्यक् रूप में सूत्रबद्ध नहीं किया गया है? जहां तक बाक़ी बातों का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग ने यह नाम, "स्वामित्व का लगान" ["Besitzrente"] रोडबर्टस से उधार लिया है, जिन्होंने किराया-ज़मीन तथा पूंजी के लगान

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ २६५। —सं०

अथवा पूंजी के मुनाफ़े दोनों को एक नाम **लगान** में शामिल कर दिया था। चुनांचे श्री ड्यूहरिंग को उसमें केवल "स्वामित्व" और जोड़ देना पड़ा है*। और श्री ड्यूहरिंग की साहित्यिक चोरी के विषय में कोई सन्देह न रह जाये, इस उद्देश्य से हम यह भी बता दें कि मार्क्स ने 'पूंजी' के पन्द्रहवें अध्याय में पृष्ठ ५३९ ** और आगे के पृष्ठों पर श्रम शक्ति के दाम तथा बेशी मूल्य में होनेवाले परिमाणात्मक परिवर्तनों के जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, उनका श्री ड्यूहरिंग ने अपने ढंग से निचोड़ निकालकर पेश कर दिया है। और यह काम उन्होंने इस तरह किया है कि जो कुछ स्वामित्व के लगान के हिस्से में पड़ता है, वह लाज़िमी तौर पर मज़दूरी को नहीं मिलता, और जो कुछ मजूरी के हिस्से में पड़ता है, वह आवश्यक रूप से स्वामित्व के लगान को नहीं मिलता। इस तरह श्री ड्यूहरिंग ने कुछ अत्यन्त सारगर्भित मार्क्सीय नियमों को एक सारहीन पुनरुक्ति में बदल दिया है। कारण कि यह बात स्वतःस्पष्ट है कि दो हिस्सों वाले किसी भी ख़ास परिमाण का एक भाग उस वक़्त तक नहीं बढ़ सकता, जब तक कि दूसरा भाग घट नहीं जाता। और इस प्रकार श्री ड्यूहरिंग ने मार्क्स के विचारों को इस तरह हस्तगत कर लिया है कि वह "निर्णायक तथा तथ्य परिशीलनों के अर्थ में अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन", जो मार्क्स की रचना में निस्सन्देह उपलब्ध है, श्री ड्यूहरिंग के यहां एकदम खो जाता है।

इसलिये हम इस नतीजे पर पहुंचने के लिये मजबूर हो जाते हैं कि

---

* और सच पूछिये, तो उनको यह भी नहीं जोड़ना पड़ा है। रोडबर्टस ने ('सामाजिक पत्रावली', पत्र २, पृष्ठ ५९) कहा है: "इस" (रोडबर्टस के) "सिद्धान्त के अनुसार वह समस्त आय लगान है, जो बिना किसी व्यक्तिगत श्रम के, केवल **स्वामित्व की बिना पर** मिल जाती है।" **[एंगेल्स का नोट]**

** 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, खंड १, मास्को, १९६५, पृष्ठ ५८३ और उसके आगे के पृष्ठ। —**सं०**

अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में श्री ड्यूहरिंग ने 'पूंजी' को लेकर जो अजीबोग़रीब शोर मचाया है, और उस प्रसिद्ध प्रश्न के द्वारा, जो बेशी मूल्य के सम्बन्ध में सामने आता है (और जिस प्रश्न को बेहतर होता कि श्री ड्यूहरिंग न पूछते, क्योंकि वह ख़ुद उसका उत्तर नहीं दे सकते), जो उपद्रव खड़ा कर दिया है, वह केवल एक सैनिक चाल है, वह एक धूर्ततापूर्ण पैंतरा है, जिसके द्वारा श्री ड्यूहरिंग ने 'पाठ्यक्रम' में मार्क्स की स्थापनाओं को उठाकर जो भद्दी साहित्यिक चोरी की है, उसपर पर्दा डालने की कोशिश की गयी है। यदि श्री ड्यूहरिंग ने अपने पाठकों को यह चेतावनी दी है कि उनको "उस भूलभुलैया में नहीं पड़ना चाहिये, जिसका नाम श्री मार्क्स ने 'पूंजी' रख छोड़ा है", और ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पना की जारज सन्तान तथा उलझे हुए एवं अस्पष्ट हेगेलीय विचारों और बाज़ीगरी, आदि के भुलावे में नहीं आना चाहिये, तो इसके लिये श्री ड्यूहरिंग के पास काफ़ी ज़ोरदार सबब मौजूद हैं। इस वफ़ादार एकार्ट[103] ने जर्मन युवकों को जिस वीनस के मोह में न पड़ने की चेतावनी दी है, उसे वह स्वयं मार्क्सीय उपवन से चुपचाप निकाल लाया है और उसने ख़ुद अपने उपयोग के लिये उसे एक सुरक्षित स्थान में रख छोड़ा है। मार्क्स की श्रम शक्ति के उपयोग से श्री ड्यूहरिंग को जो यह "निवल प्राप्ति" हुई है, हम उसके लिये उनको बधाई देते हैं। और स्वामित्व के लगान के नाम से मार्क्सीय बेशी मूल्य पर क़ब्ज़ा करके उन्होंने अपने इस दुराग्रहपूर्ण (इसलिये कि यह कथन उनकी रचना के दो संस्करणों में दोहराया जा चुका है) एवं मिथ्या कथन के प्रेरक कारणों पर—कि मार्क्स ने केवलफ़े मुना या पूंजी के मुनाफ़े के लिये ही बेशी मूल्य नाम का उपयोग किया है—जो विचित्र प्रकाश डाला है, हम उसके लिये भी उनको बधाई देते हैं।

और इसलिये यदि हम श्री ड्यूहरिंग की अपनी शब्दावली का ही प्रयोग करें, तो उनकी उपलब्धियों को हम कुछ इस तरह पेश कर सकते हैं :

"श्री" ड्यूहरिंग के "मतानुसार मज़दूरी केवल उस श्रम काल की उजरत का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके दौरान में मज़दूर असल में ख़ुद

अपना अस्तित्व सम्भव बनाने के लिये काम करता है। लेकिन इस उद्देश्य के लिये केवल थोड़े-से घण्टों की ही आवश्यकता होती है। काम का दिन अक्सर बहुत लम्बा कर दिया जाता है, और उसके बाक़ी भाग में एक बेशी पैदावार तैयार होती है, जिसमें हमारे लेखक के शब्दों में" स्वामित्व का लगान "निहित होता है। यदि हम उस श्रम काल को अपने हिसाब में शामिल न करें, जो उत्पादन की हर मंज़िल पर श्रम के औज़ारों और आवश्यक कच्चे माल में पहले से निहित होता है, तो काम के दिन का यह बेशी भाग ही वह हिस्सा है, जो पूंजीवादी उद्यमकर्त्ता को मिलता है। चुनांचे काम के दिन को लम्बा कर देने से पूंजीपति के लाभार्थ विशुद्ध शोषण की आय होती है। शोषण के इस धंधे की अवधारणा को श्री" ड्यूहरिंग "जिस विषाक्त घृणा के साथ पेश करते हैं, वह अत्यधिक बोधगम्य है"...

परन्तु जो बात कम बोधगम्य है, वह यह है कि अब श्री ड्यूहरिंग में वह "प्रचंड क्रोध" कैसे पैदा होगा?

६

अर्थव्यवस्था के प्राकृतिक नियम।
किराया-ज़मीन

बहुत ईमानदारी के साथ कोशिश करने के बाद भी हम अभी तक यह पता नहीं लगा सके हैं कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में श्री ड्यूहरिंग के लिये यह दावा करना कैसे सम्भव हुआ कि उन्होंने

"एक ऐसी नयी प्रणाली को जन्म दिया है, जो न केवल अपने युग के लिये पर्याप्त है, बल्कि जो **युग की एकमात्र प्राधिकारपूर्ण** प्रणाली है"।

लेकिन मुमकिन है कि उनके बल के सिद्धान्त में तथा मूल्य और पूंजी सम्बन्धी मत में हम जिस चीज़ को नहीं पहचान सके, वही श्री ड्यूहरिंग द्वारा प्रतिपादित "राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्राकृतिक नियमों" पर विचार करते समय दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाये। कारण कि जैसा कि श्री ड्यूहरिंग ने अपनी अभ्यस्त मौलिकता के साथ तथा अपने तीखे ढंग से कहा है,

"उच्चतर वैज्ञानिक पद्धति की सफलता इस बात में निहित होती है कि वह दृश्य रूप में स्थिर पदार्थ का मात्र वर्णन तथा वर्गीकरण करने से आगे बढ़कर वह सजीव अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेती है, जिसके द्वारा वस्तुओं की उत्पत्ति पर ज्ञान का प्रकाश डालना सम्भव होता है। अतः नियमों का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान होता है, क्योंकि उससे हमें यह पता चलता है कि एक क्रिया दूसरी क्रिया को कैसे निर्धारित करती है"।

समस्त अर्थव्यवस्था के सर्वप्रथम प्राकृतिक नियम का श्री ड्यूहरिंग ने ही आविष्कार किया है। उनके शब्दों में

"यह एक विचित्र बात है कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व, समस्त आर्थिक विकास में जो प्रमुख भूमिका अदा करता है, उसपर" ऐडम स्मिथ ने "न केवल पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला है, बल्कि वह उसे विशिष्ट

ढंग से सूत्रबद्ध करने में भी सर्वथा असफल रहे हैं और इस प्रकार जिस शक्ति ने आधुनिक यूरोप के विकास पर अपनी छाप डाल दी है, उसको" ऐडम स्मिथ ने "बिना जाने-बूझे एक गौण भूमिका में रख दिया है"। यह "मूलभूत नियम, जिसको हमें नेतृत्वकारी भूमिका के स्थान में रखना होगा, मनुष्य की प्राकृतिक आर्थिक ऊर्जा की प्राविधिक सज्जा का, या हम यह भी कह सकते हैं कि उसके अस्त्र-शस्त्रों का नियम है"।

श्री ड्यूहरिंग द्वारा आविष्कृत यह "मूलभूत नियम" इस प्रकार है:

नियम नं० १—"आर्थिक औज़ारों, प्राकृतिक संसाधनों और मानव ऊर्जा की उत्पादकता में **आविष्कारों और खोजों से** वृद्धि हो जाती है।"

इसे पढ़कर तो हम आश्चर्य से स्तम्भित रह जाते हैं। श्री ड्यूहरिंग हमारे साथ बिल्कुल वैसा ही व्यवहार कर रहे हैं, जैसा व्यवहार मोलियर के नये नवाब के साथ उस मसख़रे ने किया था, जिसने उसे यह सूचना दी थी कि वह अनजाने में जीवन-भर गद्य में बोलता रहा है।[104] यह बात तो हमें बहुत पहले से मालूम थी कि आविष्कारों तथा खोजों से अक्सर श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है (लेकिन बहुत-से आविष्कारों तथा खोजों से वह नहीं भी बढ़ती, जिसका प्रमाण यह है कि संसार के प्रत्येक पेटेण्ट दफ़्तर के पुरालेख संग्रह में पुराने काग़ज़ों के ढेर के ढेर लगे हुए हैं, जो अब किसी काम के नहीं हैं)। किन्तु यह ज्ञानदायक सूचना हमें श्री ड्यूहरिंग से प्राप्त हुई है कि यह पिटी-पिटायी साधारण-सी बात—जिसे लोग बाबा आदम के ज़माने से जानते हैं—यह समस्त अर्थव्यवस्था का मूलभूत नियम है। यदि दर्शनशास्त्र की भांति राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी "उच्चतर वैज्ञानिक पद्धति की सफलता" केवल इसी बात में निहित होती है कि जो पहली पिटी-पिटायी बात आदमी के दिमाग़ में आती है, उसे एक भारी-भरकम नाम दे दिया जाता है, और फिर एक प्राकृतिक नियम तथा यहां तक कि मूलभूत नियम के रूप में उसका ढोल बजा-बजाकर विज्ञापन किया जाता है—यदि "उच्चतर वैज्ञानिक पद्धति" यही है, तब तो हर कोई और यहां तक कि बर्लिन के *Volks-Zeitung*[105] के सम्पादकगण भी "अधिक गूढ़ मूल सिद्धान्तों" का निर्माण कर सकते

हैं और विज्ञान में क्रान्ति पैदा कर सकते हैं। और तब तो श्री ड्यूहरिंग ने प्लेटो के बारे में जो निर्णय दिया है, वह हमें ख़ुद श्री ड्यूहरिंग पर ही "पूरी सख़्ती के साथ" लागू करना होगा, और हमें भी यह कहना पड़ेगा कि

"परन्तु यदि राजनीतिक-आर्थिक ज्ञान यही है, तब तो प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के साथ-साथ, जिसने किसी स्वतःस्पष्ट चीज़ के बारे में कभी किसी विचार को मन में स्थान दिया है" या कभी कुछ कहा भी है, आलोचनात्मक मूल सिद्धान्तों के "लेखक[106] को भी यह ज्ञान प्राप्त है।"

उदाहरण के लिये, यदि हम यह कहते हैं कि पशु भोजन करते हैं, तो अनजाने में हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कह डालते हैं; क्योंकि इसी बात को केवल इस रूप में कह दीजिये कि भोजन करना समस्त पशु जीवन का मूलभूत नियम है, और आप समस्त प्राणि विज्ञान में क्रान्ति पैदा कर देंगे।

नियम नं० २—श्रम का विभाजन: "धंधों में भेद करने से और गतिविधियों के विच्छेदन से श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है।"

जिस हद तक यह बात सच है, उस हद तक इसको भी ऐडम स्मिथ के समय से ही लोग एक अतिसाधारण पिटी-पिटायी बात के रूप में जानते हैं। वह **किस** हद तक सच है, यह भाग ३ में दिखाया जायेगा।

नियम नं० ३—"उत्पादक शक्तियों की सहकारिता में बाधा डालनेवाले या उसे सुगम बनानेवाले मुख्य कारण हैं **दूरी और परिवहन।**"

नियम नं० ४—"खेतिहर राज्य की अपेक्षा औद्योगिक राज्य का जनसंख्या-सामर्थ्य कहीं अधिक होता है।"

नियम नं० ५—"आर्थिक क्षेत्र में बिना भौतिक स्वार्थ के कुछ नहीं होता।"

ये ही हैं वे "प्राकृतिक नियम", जिनकी नींव पर श्री ड्यूहरिंग ने अपने नये राजनीतिक अर्थशास्त्र को खड़ा किया है। वह अपनी उस पद्धति

का निष्ठापूर्वक उपयोग करते हैं, जिसका हम उनके दर्शनशास्त्र में पहले ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी उन्होंने कुछ अत्यन्त साधारण ढंग की स्वतःस्पष्ट बातों को ऐसे स्वयंसिद्ध तथ्यों के रूप में, जिनके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, मूलभूत प्रमेयों के रूप में तथा प्राकृतिक नियमों के रूप में पेश किया है। और अक्सर इन बातों को उन्होंने बहुत ही फूहड़ ढंग से अभिव्यक्त किया है। इन सारहीन नियमों के सार का प्रतिपादन करने के बहाने वह उन विविध विषयों के बारे में, जिनके **नामों** का इन तथाकथित नियमों में ज़िक्र आ गया है, शब्दाडम्बरपूर्ण आर्थिक बकवास की एक पूरी धारा छोड़ देते हैं, जैसे आविष्कार, श्रम का विभाजन, परिवहन के साधन, जनसंख्या, स्वार्थ, होड़, इत्यादि, इत्यादि। शब्दों की इस अविराम धारा की नीरसता और तुच्छता में केवल भविष्यवक्ताओं की गर्वोक्तियों और कहीं-कहीं पर अनुपयुक्त स्थापनाओं या हर प्रकार की आध्यात्मिक सूक्ष्मताओं को लेकर बाल की खाल निकालनेवाली मिथ्याभिमानी युक्तियों की चाशनी मिली रहती है। और इस सबके बाद अन्त में हम किराया-ज़मीन, पूंजी के मुनाफ़े तथा मज़दूरी पर पहुंचते हैं, और चूंकि अभी तक हमने हस्तगतकरण के केवल बादवाले दो रूपों की ही चर्चा की है, इसलिये अब अन्त में हम किराया-ज़मीन की ड्यूहरिंगीय अवधारणा पर संक्षेप में विचार करना चाहते हैं।

ऐसा करते हुए हम उन बातों पर ग़ौर नहीं करेंगे, जिनको श्री ड्यूहरिंग ने महज़ अपने पूर्वज, कैरे की रचना से नक़ल कर लिया है। कैरे से हमें कुछ नहीं लेना-देना है, और न ही हम कैरे की मूर्खताओं तथा तोड़-मरोड़कर कही हुई बातों के मुक़ाबले में किराया-ज़मीन के विषय में रिकार्डो के विचारों का समर्थन करना चाहते हैं। हमारा सम्बन्ध तो श्री ड्यूहरिंग से है, और उन्होंने किराया-ज़मीन की परिभाषा करते हुए यह कहा है कि किराया-ज़मीन

"वह आय है, जो मालिक **मालिक के रूप में** भूमि से प्राप्त करता है"।

श्री ड्यूहरिंग चले थे किराया-ज़मीन की आर्थिक धारणा की व्याख्या करने; पर वह उसे क़ानूनी क्षेत्र में स्थानांतरित कर देते हैं, जिसका

परिणाम यह होता है कि हमारी तनिक भी ज्ञानवृद्धि नहीं होती। इसलिये अधिक गूढ़ मूल सिद्धान्तों का हमारा निर्माता चाहे इसे पसन्द करे या न करे, पर उसको मामले का थोड़ा और स्पष्टीकरण करने का कष्ट उठाना ही होगा। जो खेत किसी पट्टेदार को उठा दिया गया है, उसके पट्टे की श्री ड्यूहरिंग ने उद्यमकर्त्ता को दिये गये पूंजी के ऋण से तुलना की है। परन्तु शीघ्र ही उनको पता चलता है कि अन्य बहुत-सी तुलनाओं की भांति इस तुलना में भी एक अड़चन है।

"कारण कि" उनके कथनानुसार "यदि कोई इस सादृश्य को और आगे खींचना चाहता है, तो किराया-ज़मीन देने के बाद पट्टेदार के पास जो आय बचती है, वह पूंजी के मुनाफ़े के उस शेष भाग के समान होती है, जो सूद देने के बाद उस उद्यमकर्त्ता के पास बच जाता है, जिसने पूंजी का उपयोग किया है। **परन्तु** पट्टेदार के मुनाफ़े को मुख्य आय और किराया-ज़मीन को शेष भाग समझने का **चलन नहीं है**... अवधारणाओं के इस भेद का प्रमाण यह **तथ्य** है कि किराया-ज़मीन के सिद्धान्त पर उस सूरत में अलग से विचार नहीं किया जाता, जिसमें भूमि का स्वामी ख़ुद उसका प्रबंध करता है; और जहां पट्टे की सूरत में लगान देना पड़ता है तथा जहां भूमि का स्वामी ख़ुद लगान पैदा करता है, इन दोनों परिस्थितियों में लगान की राशि में जो अन्तर होता है, उसपर इस सिद्धान्त में कोई ज़ोर नहीं दिया जाता। **बहरसूरत किसी को यह ज़रूरत महसूस नहीं हुई है** कि इस प्रकार के आत्म-प्रबंध से उत्पन्न होनेवाले लगान के बारे में यह कल्पना की जाये कि वह इस तरह बंट जाता है, जैसे उसका एक भाग मानो भू-सम्पत्ति के सूद का, और दूसरा भाग उद्यमकर्त्ता की बेशी आय का प्रतिनिधित्व करता हो। पट्टेदार ख़ुद अपनी जो पूंजी व्यवसाय में लगाता है, उसके अलावा **ऐसा प्रतीत होता है**, जैसे उसके विशिष्ट **मुनाफ़े** को **प्रायः** एक प्रकार की मज़दूरी **समझा जाता है**। किन्तु इस विषय पर दृढ़ता से कुछ भी कहना **ख़तरनाक है**, क्योंकि इस निश्चित रूप में यह प्रश्न कभी नहीं उठाया गया है। जहां कहीं हमें काफ़ी बड़े फ़ार्मों पर विचार करना पड़ता है, वहां यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि पट्टेदार के विशिष्ट मुनाफ़े को मज़दूरी समझना सही नहीं होगा। कारण कि यह मुनाफ़ा ख़ुद उस विरोध पर आधारित है, जो देहाती श्रम शक्ति के सम्बन्ध में पाया जाता है। केवल इस श्रम शक्ति के शोषण के

द्वारा ही इस प्रकार की आय सम्भव होती है। यह स्पष्टतया **लगान का** वह **भाग** है, जो पट्टेदार के हाथ में रह जाता है और जिसके फलस्वरूप ख़ुद प्रबंध करनेवाले मालिक को जो **पूरा लगान** मिलता है, उसमें उतनी ही कमी हो जाती है।"

किराया-ज़मीन का सिद्धान्त उस राजनीतिक अर्थशास्त्र का भाग है, जो विशिष्ट रूप में अंग्रेज़ी अर्थशास्त्र है। यह अर्थशास्त्र आवश्यक रूप में अंग्रेज़ी अर्थशास्त्र है, क्योंकि केवल इंगलैंड में ही एक ऐसी उत्पादन प्रणाली पायी जाती थी, जिसके अन्तर्गत लगान सचमुच मुनाफ़े और सूद से अलग हो गया था। जैसा कि सुविदित है, इंगलैंड में बड़ी-बड़ी जागीरों और बड़े पैमाने की खेती का बोलबाला है। वहां ज़मींदार अपनी ज़मीन बड़े-बड़े और अक्सर तो बहुत ही बड़े टुकड़ों में काश्तकारों को पट्टे पर दे देते हैं। इन पट्टेदारों के पास ज़मीन जोतने के लिये काफ़ी पूंजी होती है और वे हमारे यहां के किसानों की तरह ख़ुद काम नहीं करते, बल्कि पूर्ण विकसित पूंजीवादी उद्यमकर्त्ताओं की तरह खेत मज़दूरों और दिहाड़ी मजूरों को नौकर रखकर उनसे काम कराते हैं। इसलिये इंगलैंड में हमें पूंजीवादी समाज के तीनों वर्ग और उनमें से प्रत्येक की विशिष्ट प्रकार की आय नज़र आती है: ज़मींदार, जिसे किराया-ज़मीन मिलता है; पूंजीपति, जिसे मुनाफ़ा मिलता है; और मज़दूर, जिसे मज़दूरी मिलती है। किसी अंग्रेज़ी अर्थशास्त्री के मन में यह विचार कभी नहीं आया कि पट्टेदार की आय को एक तरह की मजदूरी समझा जाये, जैसा कि श्री ड्यूहरिंग को **प्रतीत होता है।** और ऐसे किसी भी अर्थशास्त्री को यह कहने में तो कोई **ख़तरा** कभी नज़र आ ही नहीं सकता था कि पट्टेदार का मुनाफ़ा पूंजी पर मिलनेवाला मुनाफ़ा होता है, क्योंकि यह बात तो निर्विवाद, स्पष्ट और ठोस रूप में सत्य है। पट्टेदार की आय सचमुच क्या है, यह प्रश्न इस निश्चित रूप में कभी नहीं उठाया गया है—यह कहना बिल्कुल हास्यास्पद है। इंगलैंड में तो इस प्रश्न को उठाने तक की कभी कोई आवश्यकता नहीं हुई है, क्योंकि प्रश्न और उत्तर दोनों बहुत दिनों से ख़ुद तथ्यों के आधार पर उपलब्ध हैं; और ऐडम स्मिथ के समय से आज तक उनके विषय में किसी को कभी कोई सन्देह नहीं हुआ है।

श्री ड्यूहरिंग ने जिसे आत्म-प्रबंध कहा है—और जिसको शायद ज़मींदारों के लाभार्थ कारिंदों द्वारा फ़ार्मों का प्रबंध कहना ज़्यादा सही होगा, क्योंकि जर्मनी में अक्सर यही परिस्थिति पायी जाती है—उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। यदि ज़मींदार पूंजी भी ख़ुद लगाता है और फ़ार्म को अपने खाते में चलवाता है, तो लगान के अलावा पूंजी का मुनाफ़ा भी उसी की जेब में जाता है। यह एक स्वतःस्पष्ट बात है, और वर्तमान उत्पादन प्रणाली के आधार पर इसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकता। और यदि श्री ड्यूहरिंग यह फ़रमाते हैं कि अभी तक किसी को भूमि के स्वामी के आत्म-प्रबंध से उत्पन्न होनेवाले लगान की (कहना चाहिये था आय की) इस तरह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं हुई है, जैसे वह अलग-अलग भागों में बंटा हुआ हो, तो यह सरासर झूठ है, और इससे अधिक से अधिक केवल उनका अज्ञान ही एक बार फिर प्रमाणित हो जाता है। मिसाल के लिये :

"श्रम से व्युत्पन्न आय मज़दूरी कहलाती है। पूंजी से व्युत्पन्न आय, जो इस पूंजी का प्रबंध करनेवाले या उससे काम लेनेवाले व्यक्ति को मिलती है, मुनाफ़ा कहलाती है... जो आय केवल भूमि से प्राप्त होती है, वह लगान कहलाती है, और उसपर ज़मींदार का अधिकार होता है... जब इन अलग-अलग प्रकार की आयों पर अलग-अलग व्यक्तियों का अधिकार होता है, तब उनमें आसानी से भेद किया जा सकता है। परन्तु जब उनपर एक ही व्यक्ति का अधिकार होता है, तब कम से कम साधारण भाषा में उनको कभी-कभी आपस में गड्ड-मड्ड कर दिया जाता है। जो पुरुष अपनी जागीर के एक भाग को **ख़ुद जोतता है***, उसे खेती का ख़र्चा चुकाने के बाद **ज़मींदार का लगान और पट्टेदार का मुनाफ़ा****, दोनों मिलने चाहिये। परन्तु बहुत सम्भव है कि वह अपने पूरे लाभ को मुनाफ़ा कहे, और इस तरह कम से कम साधारण भाषा में लगान को मुनाफ़े के साथ गड्ड-मड्ड कर दे। उत्तरी अमरीका तथा वेस्ट-इण्डीज़ के बाग़ानों के ज़्यादातर मालिकों की यही स्थिति है। उनमें से अधिकतर ख़ुद अपनी जागीरों को

* शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

** शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

जोतते हैं, और इसीलिये वहां किसी बाग़ान के लगान की बात बहुत कम सुनायी देती है और उसके मुनाफ़े की बात अक्सर सुनायी देती रहती है... जो माली अपने बाग़ को ख़ुद अपने हाथों से जोतता-बोता है, वह अपने व्यक्तित्व में तीन अलग-अलग पात्रों को इकट्ठा कर देता है: ज़मींदार, पट्टेदार और मज़दूर। इसलिये उसकी पैदावार से उसे पहले पात्र का लगान, दूसरे का मुनाफ़ा और तीसरे की मज़दूरी मिलनी चाहिये। किन्तु आम तौर पर यह पूरी आमदनी उसके श्रम की आय समझी जाती है। यहां लगान और मुनाफ़ा, दोनों मज़दूरी के साथ गड्ड-मड्ड कर दिये जाते हैं।"

यह उद्धरण **ऐडम स्मिथ** की रचना* के प्रथम खण्ड के छठे अध्याय से लिया गया है। इसलिये आत्म-प्रबंध की परिस्थिति की एक सौ वर्ष पहले छानबीन की जा चुकी है, और इस सम्बन्ध में श्री ड्यूहरिंग को जिन सन्देहों और अनिश्चितताओं ने परेशान कर रखा है, उनका एकमात्र कारण उनका अपना अज्ञान है।

श्री ड्यूहरिंग जिस कठिनाई में फंस गये थे, उससे अन्त में वह एक दुस्साहसी तिकड़म के द्वारा छूट निकलते हैं।

वह फ़रमाते हैं कि पट्टेदार का मुनाफ़ा "देहाती श्रम शक्ति" के शोषण से प्राप्त होता है और इसलिये वह स्पष्ट ही "लगान का एक भाग" होता है, जिसके कारण ज़मींदार की जेब में जो "पूरा लगान" पहुंचना चाहिये था, वह उतना ही "कम हो जाता है"।

इससे हमें दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि पट्टेदार ज़मींदार के लगान को "कम कर देता है" और इसलिये श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार ऐसा नहीं है कि पट्टेदार ज़मींदार को लगान देता हो, हालांकि अभी तक यही समझा जाता था; बल्कि असल में **ज़मींदार पट्टेदार को लगान देता है** – जो निश्चय ही "भित्ति से लेकर शीर्ष तक सर्वथा मौलिक"

---

* Adam Smith, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations* ('राष्ट्रों के धन के स्वरूप और कारणों का विवेचन'), खंड १, लंदन, १७७६, पृष्ठ ६३-६५। – **सं०**

विचार है। दूसरे, आख़िर हमें यह भी मालूम हो जाता है कि श्री ड्यूहरिंग के विचार में किराया-ज़मीन क्या चीज़ है। उनके मतानुसार किराया-ज़मीन वह पूरी बेशी पैदावार है, जो खेती में देहाती श्रम के शोषण से प्राप्त होती है। परन्तु चूंकि यह बेशी पैदावार अभी तक सम्भवतः कुछ इने-गिने भोंडे अर्थशास्त्रियों की रचनाओं को छोड़कर बाक़ी समस्त राजनीतिक अर्थशास्त्र में किराया-ज़मीन तथा पूंजी के मुनाफ़े में विभाजित होती रही है, इसलिये हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि किराया-ज़मीन की श्री ड्यूहरिंग की धारणा भी "स्वीकृत धारणा" नहीं है।

इसलिये श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार किराया-ज़मीन तथा पूंजी के मुनाफ़े में एकमात्र अन्तर यह है कि किराया-ज़मीन खेती में मिलता है और पूंजी का मुनाफ़ा उद्योग या वाणिज्य में। और इस प्रकार के अविवेचनापूर्ण तथा उलझे हुए विचार पर श्री ड्यूहरिंग का पहुंचना अनिवार्य था। हम यह देख चुके हैं कि उनका प्रस्थान-बिन्दु यह "सचमुच ऐतिहासिक अवधारणा" थी कि भूमि पर प्रभुत्व केवल मनुष्य पर प्रभुत्व के आधार पर ही खड़ा हो सकता है। इसलिये जब भूमि को किसी भी प्रकार के पराधीन श्रम के द्वारा जोता जाता है, तो ज़मींदार के लिये एक बेशी अंश उत्पन्न हो जाता है, और यह बेशी अंश लगान होता है, जिस प्रकार उद्योग में मज़दूर ख़ुद जो कुछ कमाता है, उसके परे बेशी श्रम की पैदावार पूंजी का मुनाफ़ा होती है।

"इस प्रकार यह बात साफ़ है कि जहां कहीं और जब कभी श्रम को किसी भी रूप में पराधीन बनाकर खेती करायी जाती है, वहां और उस समय काफ़ी बड़े पैमाने पर किराया-ज़मीन पाया जाता है।"

लगान को इस तरह खेती से मिलनेवाली सम्पूर्ण बेशी पैदावार के रूप में पेश करते हुए श्री ड्यूहरिंग अंग्रेज़ी पट्टेदार के मुनाफ़े से और इस बेशी पैदावार को किराया-ज़मीन तथा पट्टेदार के मुनाफ़े में विभाजित कर देने की उस प्रथा से टकराते हैं, जो इंगलैंड की खेती पर आधारित है और

जिसे समस्त क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र में मान्यता मिली हुई है। और इस कारण श्री ड्यूहरिंग लगान की **शुद्ध** तथा सम्यक् अवधारणा से भी टकराते हैं। तब वह क्या करते हैं? वह यह ढोंग रचते हैं कि उनको इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है कि खेती की बेशी पैदावार का पट्टेदार के मुनाफ़े तथा किराया-ज़मीन में विभाजन कर दिया जाता है, और इसलिये वह क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र के लगान के पूरे सिद्धान्त से अपरिचित हैं। वह ढोंग रचते हैं कि पट्टेदार का मुनाफ़ा सचमुच क्या चीज़ है – यह प्रश्न "इस निश्चित रूप में" तो आज तक कभी उठाया ही नहीं गया है; और यहां एक ऐसे मामले पर विचार हो रहा है, जिसकी अभी तक जरा भी छानबीन नहीं हुई है और जिसके बारे में किसी को ज्ञान नहीं है, बल्कि केवल भ्रम तथा अनिश्चितताएं ही फैली हुई हैं। और प्राणलेवा इंगलैंड में तो वह एक मिनट भी नहीं ठहरते – जहां बिना किसी सैद्धान्तिक मत के हस्तक्षेप के खेती की बेशी पैदावार इतनी निर्ममतापूर्वक अपने तत्वों में, बेशी तथा पूंजी के मुनाफ़े में विभाजित कर दी जाती है; बल्कि इंगलैंड से भागकर वह सीधे अपने उस प्रिय देश में पहुंचते हैं, जहां प्रशा के Landrecht का राज है; जहां आत्म-प्रबंध अपने पूर्ण पितृसत्तात्मक रूप में प्रस्फुटित हो रहा है, जहां "ज़मींदार की नज़रों में लगान का मतलब है, उसके खेतों से होनेवाली आमदनी" और जहां लगान के बारे में ज़मींदारों के विचार अब भी विज्ञान के लिये मान्य होने का दावा करते हैं – और इसलिये जहां श्री ड्यूहरिंग को आशा है कि वह अब भी लगान और मुनाफ़े के अपने उलझे हुए विचारों को लेकर घुस जायेंगे और यहां तक कि लोगों को अपने इस नवीनतम आविष्कार की सचाई में विश्वास दिलाने में भी सफल हो जायेंगे कि किराया-ज़मीन पट्टेदार ज़मींदार को नहीं देता, बल्कि ज़मींदार पट्टेदार को देता है।

१०

'आलोचनात्मक इतिहास' से

अन्त में आइये, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के आलोचनात्मक इतिहास' पर भी नज़र डालें और श्री ड्यूहरिंग के "उस उद्यम" पर विचार करें, जो उनके शब्दों में "सर्वथा अभूतपूर्व" है। सम्भव है कि उस निर्णायक तथा अत्यन्त सम्यक् रूप में वैज्ञानिक विवेचन से हमारी आख़िर यहीं पर भेंट हो जाये, जिसके दर्शन कराने का श्री ड्यूहरिंग हमसे इतनी बार वायदा कर चुके हैं।

श्री ड्यूहरिंग ने अपने इस आविष्कार को लेकर बहुत शोर मचाया है कि

"आर्थिक विज्ञान" एक "अत्यन्त आधुनिक घटना" है (पृष्ठ १२)।

वस्तुतः मार्क्स ने 'पूंजी' में कहा है कि: "एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र ने पहले पहल मैनुफ़ेक्चर के काल में जन्म लिया था"*। और 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान' नामक रचना में पृष्ठ २९ पर उन्होंने लिखा है कि "क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र... इंगलैंड में विलियम पेटी के साथ तथा फ़्रांस में ब्वागिलेबेर्त के साथ आरम्भ होता है और इंगलैंड में रिकार्डो के साथ तथा फ़्रांस में सिस्मौंदी के साथ समाप्त हो जाता है"।[107] इस प्रकार जो पथ पहले से श्री ड्यूहरिंग के लिये बनाकर तैयार कर दिया गया था, वह उसी का अनुकरण कर रहे हैं। अन्तर केवल इतना है कि उनकी दृष्टि में **उच्चतर** राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल उस कूड़े-करकट के साथ आरम्भ होता है, जिसे पूंजीवादी विज्ञान ने अपना क्लासिकी युग समाप्त हो जाने के बाद जन्म दिया था।

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खंड १, पृष्ठ ४१२। — सं०

दूसरी ओर अपनी 'प्रस्तावना' के अन्त में विजयोल्लास के साथ यह घोषणा करने का उनको पूर्ण अधिकार है:

"किन्तु यदि यह उद्यम अपनी बाह्य रूप में ग्राह्य विशेषताओं के कारण तथा अपनी सार-वस्तु के अधिक नवीन अंश के कारण सर्वथा अभूतपूर्व है, तो अपनी आन्तरिक आलोचना पद्धति तथा अपने सामान्य दृष्टिकोण के कारण वह और भी विशिष्ट रूप में मेरा मौलिक प्रयास है" (पृष्ठ ६)।

वस्तुतः इस रचना की बाह्य तथा आन्तरिक, दोनों प्रकार की विशेषताओं के आधार पर श्री ड्यूहरिंग पूरे न्याय के साथ अपने "उद्यम" (यह औद्योगिक शब्द भी उन्होंने बुरा नहीं छांटा है) का यह नाम रख सकते थे: 'अहम् और उसका स्वत्व'[108]।

राजनीतिक अर्थशास्त्र, जिस रूप में वह इतिहास के रंगमंच पर उतरा था, उस रूप में पूंजीवादी उत्पादन के काल के अर्थशास्त्र की वैज्ञानिक समझ के सिवा और कुछ नहीं है, इसलिये उससे सम्बन्धित सिद्धान्त और प्रमेय मिसाल के लिये प्राचीन यूनानी समाज के लेखकों की रचनाओं में केवल उसी हद तक मिल सकते हैं, जिस हद तक कि कुछ चीज़ें – जैसे माल उत्पादन, व्यापार, मुद्रा, सूद देनेवाली पूंजी, आदि – दोनों समाज व्यवस्थाओं में मिलते थे। जिस हद तक कि यूनानियों ने समय-समय पर इस क्षेत्र में हाथ डाला है, उस हद तक उन्होंने यहां पर भी उसी प्रतिभा तथा मौलिकता का परिचय दिया है, जिनका वे अन्य तमाम क्षेत्रों में परिचय देते हैं। इसलिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनके विचार आधुनिक विज्ञान के सैद्धान्तिक प्रस्थान-बिन्दु का काम करते हैं। अब आइये, हम यह देखें कि विश्व ऐतिहासिक श्री ड्यूहरिंग क्या कहते हैं।

"सच पूछिये तो वैज्ञानिक आर्थिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्राचीन काल में ऐसी कोई भी सचमुच" (!) "ठोस बात नहीं दिखाई देती, जिसको पाठकों को बताना आवश्यक हो। और पूर्णतया अवैज्ञानिक मध्य युग तो इसका" (इसका – **कोई भी बात नहीं** बताने का!) "और भी कम

अवसर देता है। परन्तु चूंकि पाण्डित्य के आभास का दर्पपूर्ण प्रदर्शन करने की रीति बन गयी है और उसने... आधुनिक विज्ञान के सच्चे स्वरूप को विकृत कर दिया है, इसलिये कम से कम कुछ उदाहरणों पर तो विचार करना ही होगा।"

और उसके बाद श्री ड्यूहरिंग एक ऐसी आलोचना के कुछ उदाहरण पेश करते हैं, जिसमें सचमुच "पाण्डित्य का आभास" तक नहीं दिखाई देता।

अरस्तू की स्थापना है:

"प्रत्येक वस्तु का दोहरा उपयोग होता है... एक उपयोग उस वस्तु का उस ख़ास वस्तु के रूप में विशिष्ट उपयोग होता है; दूसरा उसका इस प्रकार का विशिष्ट उपयोग नहीं होता; जैसे कि चप्पल पहनी जा सकती है और साथ ही उसका विनिमय भी किया जा सकता है। ये दोनों चप्पल के उपयोग हैं, क्योंकि जो आदमी चप्पल का उस मुद्रा के साथ या उस भोजन के साथ विनिमय कर लेता है, जिसकी उसे आवश्यकता थी, वह आदमी भी चप्पल के रूप में ही चप्पल का उपयोग करता है। परन्तु वह उसके स्वाभाविक ढंग से उसका उपयोग नहीं करता। कारण कि चप्पल विनिमय करने के लिये नहीं बनायी गयी है।"[109]

श्री ड्यूहरिंग का कहना है कि इस स्थापना को "न केवल सचमुच पिटी-पिटायी, पंडिताऊ बातों के ढंग से अभिव्यक्त किया गया है", बल्कि जो लोग यह समझते हैं कि इस स्थापना में "उपभोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य में भेद किया गया है", वे एक "हास्यास्पद मनःस्थिति" का शिकार हो जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि "अतिआधुनिक काल में" और "अतिउन्नत प्रणाली के ढांचे के भीतर"—जो ज़ाहिर है श्री ड्यूहरिंग की अपनी प्रणाली है—उपभोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य का कुछ भी बाक़ी नहीं बचा है।

"कुछ लोगों का दावा है कि उनको प्लेटो की राज्य सम्बन्धी रचनाओं में... राष्ट्रीय-आर्थिक श्रम विभाजन की **आधुनिक** परिकलपना मिल गयी है।"

यहां सम्भवतया 'पूंजी' के बारहवें अध्याय के पैराग्राफ़ ५ (तीसरा संस्करण, पृष्ठ ३६९) में इसके विपरीत यह दिखाया गया है कि श्रम विभाजन के सम्बन्ध में प्राचीन काल के विचार आधुनिक विचारों के "बिल्कुल विपरीत" हैं।*

नगर के (जो यूनानियों के लिये राज्य के समान था) प्राकृतिक आधार के रूप में श्रम विभाजन का प्लेटो ने[110] जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, वह उनके काल के लिये एक अत्यन्त प्रतिभापूर्ण प्रतिपादन था, परन्तु श्री ड्यूहरिंग उसपर केवल नाक-भौं चढ़ाकर रह जाते हैं; और वह महज़ इस बिना पर कि प्लेटो ने उस "सीमा" का ज़िक्र नहीं किया है–हालांकि, श्री ड्यूहरिंग, यूनानी क्सेनोफ़ोन[111] उसका ज़िक्र कर चुका है–

जो "मण्डी के निश्चित आयाम धंधों के और अधिक विभेदीकरण तथा विशिष्ट प्रक्रियाओं के प्राविधिक उपविभाजन पर लगा देते हैं... केवल इस सीमा की अवधारणा ही में वह ज्ञान निहित है, जिसकी सहायता से यह विचार, जिसे अन्यथा वैज्ञानिक कहलाने का कोई अधिकार नहीं था, एक मुख्य आर्थिक सत्य बन जाता है।"

असल में "प्रोफ़ेसर" रौशेर ने, जिनके लिये श्री ड्यूहरिंग के मन में इतना तिरस्कार है, इस "सीमा" को स्थापित किया है, जिसपर पहुंचकर ही श्रम विभाजन का विचार पहली बार "वैज्ञानिक" विचार बन पाता है। और इसलिये प्रोफ़ेसर रौशेर ने ही स्पष्ट रूप में श्रम विभाजन के नियम के आविष्कारक के रूप में ऐडम स्मिथ की ओर संकेत किया था।[112] जिस समाज में माल उत्पादन उत्पादन का मुख्य रूप है, उसमें–एक बार श्री ड्यूहरिंग की शैली का उपयोग करते हुए हम कह सकते हैं–"मण्डी" सदा एक ऐसी "सीमा" थी, जिसको "व्यावसायिक लोग" बहुत अच्छी तरह जानते थे। परन्तु केवल "ज्ञान तथा दैनिक परिपाटी

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खंड १, पृष्ठ ४१३–४१६।–**सं०**

का सहजज्ञान" यह समझने के लिये काफ़ी नहीं है कि पूंजीवादी श्रम विभाजन को मण्डी ने जन्म नहीं दिया है, बल्कि इसके विपरीत पुराने सामाजिक सम्बन्धों के विसर्जन से और उसके फलस्वरूप पैदा हो जानेवाले श्रम विभाजन से मण्डी का जन्म हुआ है (देखिये 'पूंजी', खण्ड १, चौबीसवां अध्याय, पैराग्राफ़ ५: 'औद्योगिक पूंजी के लिये घरेलू मण्डी का जन्म')।*

"मुद्रा की भूमिका से प्रत्येक काल में आर्थिक" (!) "विचारों को प्रथम और मुख्य प्रेरणा मिलती रही है। परन्तु अरस्तू जैसे एक आदमी को इस भूमिका का क्या ज्ञान था? ज़ाहिर है कि मुद्रा की भूमिका का जितना ज्ञान इस विचार में निहित था कि मुद्रा के माध्यम से सम्पन्न होनेवाला विनिमय अदला-बदली के द्वारा सम्पन्न होनेवाले आदिम विनिमय के बाद दिखाई दिया था, उससे अधिक ज्ञान अरस्तू के पास नहीं था।"

परन्तु जब अरस्तू जैसा "एक आदमी" मुद्रा के **परिचलन के** दो भिन्न **रूपों का** आविष्कार करने की धृष्टता करता है – जिनमें से एक में मुद्रा केवल परिचलन के माध्यम का काम करती है और दूसरे में मुद्रा पूंजी का काम करती है[113] – तो श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार

वह "केवल एक नैतिक द्वेष को व्यक्त करता है"।

और जब "किसी" अरस्तू का दुस्साहस इस हद तक बढ़ जाता है कि वह **मूल्य की माप** की "भूमिका" में मुद्रा का विश्लेषण करने की चेष्टा करने बैठ जाता है और इस समस्या को, जिसने मुद्रा के सिद्धान्त के लिये इतना निर्णायक महत्व प्राप्त कर लिया है,[114] सचमुच सही ढंग से पेश कर देता है – तब "कोई" ड्यूहरिंग ऐसी घोर धृष्टता के बारे में चुप रह जाना ही पसन्द करता है (जिसके लिये उसके पास काफ़ी अच्छे निजी कारण मौजूद हैं)।

---

* वही, पृष्ठ ८३६–८५२। – सं०

अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि प्राचीन काल के यूनानी चिन्तन पर श्री ड्यूहरिंग ने जिस प्रकार "विचार किया" है, उससे पता चलता है कि उसमें असल में "केवल बहुत साधारण ढंग के विचार" ही पाये जाते हैं (पृष्ठ २५), और वह भी हम तभी कह सकते हैं, जब हम यह समझते हों कि इस तरह की "niaiserie"* (पृष्ठ २९) और साधारण अथवा असाधारण विचारों में किसी भी प्रकार की समानता होती है।

जहां तक श्री ड्यूहरिंग के व्यापारवाद से सम्बन्धित अध्याय का ताल्लुक़ है, उसे "मूल" में, अर्थात् फ़० लिस्ट के ग्रंथ 'राष्ट्रीय प्रणाली' के अध्याय २९ – 'औद्योगिक प्रणाली, जिसका इस विचारधारा ने ग़लत ढंग से व्यापारवादी प्रणाली नाम रख दिया है', में पढ़ना बेहतर होगा। यहां पर भी श्री ड्यूहरिंग ने इस बात का कितना ध्यान रखा है कि "पाण्डित्य के आभास" का कोई प्रदर्शन न होने पाये – यह अन्य अंशों के अतिरिक्त इस अंश से भी स्पष्ट हो जाता है:

लिस्ट ने ('इटली के राजनीतिक अर्थशास्त्री', अध्याय २८ में) लिखा है:

"राजनीतिक अर्थशास्त्र के व्यवहार तथा सिद्धान्त, दोनों क्षेत्रों में इटली समस्त आधुनिक राष्ट्रों से आगे बढ़ा हुआ था।"

उसके बाद लिस्ट ने लिखा है कि

"विशेष रूप से राजनीतिक अर्थशास्त्र की चर्चा करनेवाली जो पहली पुस्तक इटली में लिखी गयी, वह नेपल्स निवासी एन्तोनियो सेर्रा की पुस्तक थी, जिसमें राज्यों के लिये सोने और चांदी की बहुतायत प्राप्त करने का मार्ग बताया गया था (१६१३)"।[115]

श्री ड्यूहरिंग बिना किसी हिचकिचाहट के इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और इसलिये वह समझते हैं कि सेर्रा की पुस्तक, *Breve trattato*[116]

---

* बकवास। – सं०

"एक प्रकार का शिलालेख है, जो अर्थशास्त्र के अपेक्षाकृत आधुनिक पूर्व-इतिहास के द्वार पर अंकित है"।

वस्तुतः *Breve trattato* की उनकी आलोचना केवल इस "साहित्यिक भंड़ैती" तक ही सीमित है। दुर्भाग्य से इस मामले से सम्बन्धित तथ्य कुछ दूसरी ही कहानी बताते हैं। १६०६ में, अर्थात् *Breve trattato* के चार वर्ष पहले टॉमस मान की रचना 'व्यापार पर एक प्रवचन'[117] आदि प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का विशेष महत्व यह था कि उसके पहले संस्करण में भी उस मूल **मुद्रा प्रणाली** की आलोचना की गयी थी, जिसका इंगलैंड में उस समय भी राज्य की नीति के रूप में समर्थन हो रहा था। इसलिये यह पुस्तक व्यापारवादी प्रणाली के, जिस प्रणाली के गर्भ में से उसका जन्म हुआ था, उससे सचेतन **आत्म-वियोजन** का प्रतिनिधित्व करती थी। यहां तक कि जिस रूप में यह किताब पहले प्रकाशित हुई, उस रूप में भी उसके कई संस्करण निकले और उसने उन दिनों बनाये गये क़ानूनों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। १६६४ के संस्करण ('इंगलैंड को विदेशी व्यापार से मिलनेवाला धन') को लेखक ने शुरू से आख़िर तक दोबारा लिखा था, और वह लेखक की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था। इस रूप में यह पुस्तक अगले सौ वर्षों तक व्यापारवादियों का धर्मग्रंथ बनी रही। इसलिये व्यापारवाद की यदि कोई युगान्तरकारी रचना है, जो उसके "द्वार पर एक प्रकार के शिलालेख की तरह अंकित है", तो वह यह किताब है, और इसी कारण उसका श्री ड्यूहरिंग के उस "इतिहास" के लिये कोई अस्तित्व नहीं है, "जो पद के भेदों का बहुत ध्यानपूर्वक पालन करता है"।

आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र के संस्थापक **पेटी** के बारे में श्री ड्यूहरिंग ने हमें बताया है कि

"उनके सोचने के ढंग में छिछलापन काफ़ी मात्रा में था", और "धारणाओं के अन्तर्भूत तथा अधिक सूक्ष्म भेदों" की उनमें कोई समझ नहीं थी; परन्तु उनमें एक ऐसा "बुद्धिचापल्य था, जिसकी जानकारी

तो बहुत बड़ी थी, पर जो एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर फुदकता रहता था और अधिक गूढ़ चरित्र के किसी विचार में कभी जड़ नहीं पकड़ता था"। श्री ड्यूहरिंग के शब्दों में पेटी के "राष्ट्रीय-आर्थिक विचार अब भी बहुत अनगढ़ हैं" और वह "ऐसी भोली बातें करते हैं, जिनके व्यतिरेकों को देखकर यदि कोई अधिक गम्भीर विचारक कभी-कभी हंस पड़े, तो अस्वाभाविक न होगा"।

इसलिये जब हमारे "अधिक गम्भीर विचारक", श्री ड्यूहरिंग, पेटी जैसे "एक आदमी" की ओर थोड़ा भी ध्यान देने की तकलीफ़ गवारा करते हैं, तो हमें कहना पड़ता है कि वाह! कितने कृपालु हैं आप! और ज़रा यह देखिये कि वह किस तरह पेटी की ओर ध्यान देते हैं।

श्री ड्यूहरिंग फ़रमाते हैं कि

"मूल्य की माप के रूप में श्रम के, और यहां तक कि श्रम काल के भी **अपूर्ण चिह्न** उनकी रचनाओं में मिलते हैं";

परन्तु इस एक वाक्य के अलावा वह श्रम तथा श्रम काल पर पेटी की प्रस्थापनाओं का कहीं पर कोई ज़िक्र नहीं करते। अपूर्ण चिह्न! 'करों और अनुदानों पर निबंध' (पहला संस्करण, १६६२)[118] शीर्षक रचना में पेटी ने मालों के मूल्य के परिमाण का बिल्कुल स्पष्ट और सही विश्लेषण किया है। उसके शुरू में ही उन्होंने इस परिमाण के उदाहरण के रूप में कहा है कि जिन बहुमूल्य धातुओं और जिस अनाज पर श्रम की एक सी मात्रा ख़र्च हुई है, उनका मूल्य समान होता है, और इस तरह उन्होंने बहुमूल्य धातुओं के मूल्य के विषय में प्रथम तथा अन्तिम "सैद्धान्तिक" शब्द कह दिये हैं। परन्तु साथ ही उन्होंने निश्चित तथा सामान्य रूप में यह भी कह दिया है कि मालों का मूल्य **समान श्रम** से मापा जाना चाहिये। अपने इस आविष्कार का उन्होंने विविध प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिये उपयोग किया है, जिनमें से कुछ बहुत ही पेचीदा ढंग की समस्याएं हैं और विभिन्न अवसरों पर तथा विभिन्न रचनाओं में, वह जहां इस मूलभूत प्रस्थापना को दोहराते नहीं हैं, वहां भी उससे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं। परन्तु अपनी पहली रचना में ही उन्होंने कहा है:

"मैं कहता हूं, यह (समान श्रम के द्वारा मूल्यांकन) **मूल्यों के समानीकरण तथा संतुलन का मूलाधार** है। फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूं कि इस आधार पर जिन अनेक प्रकार के ऊपरी ढांचों तथा व्यवहार पद्धतियों का विकास हो गया, उनमें बड़ी विविधता तथा जटिलता पायी जाती है।"*

अतः पेटी अपने आविष्कार के महत्व को और ब्योरे की बातों में उसका प्रयोग करने की कठिनाइयों को समान रूप से समझते थे। इसलिये कुछ ठोस स्थितियों में उन्होंने एक और तरीक़ा निकालने की कोशिश की।

उन्होंने कहा कि भूमि तथा श्रम के बीच एक प्राकृतिक समानता का पता लगाना चाहिये, ताकि इच्छानुसार "भूमि के रूप में" या "श्रम के रूप में" मूल्य को अभिव्यक्त किया जा सके या "इससे भी बेहतर कि इन दोनों के रूप में वह अभिव्यक्त हो सके"।

स्वयं उनकी भूल भी प्रतिभापूर्ण है।

पेटी के मूल्य के सिद्धान्त पर श्री ड्यूहरिंग ने यह मर्मभेदी टिप्पणी की है:

"यदि उनका अपना चिन्तन अधिक मर्मभेदी होता, तो उनकी रचनाओं के अन्य अंशों में उस विपरीत मत के चिह्न कभी न मिलते, जिसका हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं";

अर्थात् जिसका पहले इसके सिवा और कोई ज़िक्र नहीं किया गया है कि ये "चिह्न" ... "अपूर्ण" हैं। यह घटना श्री ड्यूहरिंग की पद्धति के एक विशेष गुण पर प्रकाश डालती है—वह अक्सर किसी चीज़ का "पहले" एक निरर्थक वाक्य में ज़िक्र कर देते हैं, ताकि "बाद में" पाठक को यह

---

*'सर विलियम पेटी की आर्थिक रचनाएं', खण्ड १, पृष्ठ ४४ (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण, १८९९)। शब्दों पर ज़ोर मार्क्स का है।—**सं०**

विश्वास दिला सकें कि उसकी मुख्य बात "पहले" ही बता दी गयी है; हालांकि असल में इस मुख्य बात से लेखक पहले और बाद में, दोनों मौक़ों पर कतरा गया है।

किन्तु ऐडम स्मिथ की रचनाओं में हमें मूल्य की धारणा के सम्बन्ध में न केवल "परस्पर विपरीत विचारों के चिह्न" मिल सकते हैं; उनमें हमें मूल्य के विषय में न केवल दो भिन्न मत पढ़ने को मिल सकते हैं, बल्कि तीन और सच कहा जाये, तो चार एक दूसरे के बिल्कुल उल्टे मत पढ़ने को मिल सकते हैं; और ये चारों मत साथ-साथ और एक दूसरे से उलझे हुए बड़े मज़े के साथ उनकी रचनाओं में व्यक्त होते रहते हैं। लेकिन जो बात उस लेखक में बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होती है, जो राजनीतिक अर्थशास्त्र की नींव डाल रहा है और इसलिये जो आवश्यक रूप से राह टटोलता हुआ आगे बढ़ रहा है तथा ऐसे अनेक विचारों के गोरखधंधे से उलझ रहा है और ऐसे अनेक विचारों का प्रयोग कर रहा है, जिनका विकास अभी शुरू ही हुआ है, वही बात उस दूसरे लेखक में बहुत अजीब लगती है, जो एक अन्वेषण का सिंहावलोकन कर रहा है तथा एक ऐसे अन्वेषण का निचोड़ निकाल रहा है, जिसमें डेढ़ सौ से अधिक वर्ष बीत चुके हैं और जिसके परिणाम अभी से पुस्तकों से निकलकर आंशिक रूप में सर्वसाधारण की चेतना का अंग बन गये हैं। और बड़ी चीज़ों के बाद छोटी चीज़ों की चर्चा करते हुए हम यह भी कह दें कि जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, ख़ुद श्री ड्यूहरिंग ने भी पांच अलग-अलग प्रकार के मूल्य हमारे सामने रख दिये हैं, जिनमें से हम अपनी इच्छानुसार छांट सकते हैं, और उनके साथ-साथ विपरीत विचारों की भी एक उतनी ही बड़ी संख्या प्रस्तुत कर दी है। ज़ाहिर है, यदि श्री ड्यूहरिंग का "अपना चिन्तन अधिक मर्मभेदी होता", तो पेटी की मूल्य की पूर्णतया स्पष्ट धारणा से पाठकों का ध्यान हटाकर उनको हद से ज़्यादा उलझन में फंसा देने के लिये श्री ड्यूहरिंग को इतनी ज़्यादा कोशिश न करनी पड़ती।

पेटी की एक बहुत ही अच्छी लिखी हुई रचना 'मुद्रा के विषय में एक गुटका' है, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि वह एक ही सांचे में ढली हुई है। यह पुस्तिका १६८२ में, 'आयरलैण्ड की शरीररचना'

के प्रकाशन के दस वर्ष बाद प्रकाशित हुई थी। ('आयरलैण्ड की शरीर-रचना' नामक पुस्तक "पहली बार" १६७२ में प्रकाशित हुई थी, न कि १६६१ में, जैसा कि श्री ड्यूहरिंग का विचार है। उन्होंने इसे "चालू पाठ्य-पुस्तकों के लिये संकलित किये गये उद्धरणों" से उधार लिया है)।[119] इस पुस्तक में व्यापारवादी विचारों के वे अन्तिम अवशेष भी एकदम ग़ायब हो गये हैं, जो पेटी की अन्य रचनाओं में मिलते हैं। सार-वस्तु तथा रूप की दृष्टि से यह एक छोटी-सी उत्कृष्ट कृति है और यही कारण है कि श्री ड्यूहरिंग ने उसके नाम तक का कहीं जिक्र नहीं किया है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि आर्थिक अन्वेषणकर्त्ताओं में जो व्यक्ति सबसे अधिक तेजस्वी तथा मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न है, उसपर हमारा यह दम्भी एवं पण्डिताऊ प्रतिभाहीन लेखक महज़ ग़ुस्से से गुर्राता रहता है, और इस बात पर अपनी नाराज़गी प्रकट करता है कि पेटी की रचनाओं में सैद्धान्तिक चिन्तन की जो तरंगें उठती हैं, वे साधारण पाठकों के बीच बने-बनाये तैयार "स्वयंसिद्ध तथ्यों" के रूप में अपना प्रदर्शन करती नहीं घूमतीं, बल्कि वे "अनगढ़" व्यावहारिक सामग्री की गहराई में से, जैसे, मिसाल के लिये, करों की गहराई में से महज़ इक्के-दुक्के ढंग से ऊपर उठ उठकर तल पर इतराया करती हैं।

पेटी ने "राजनीतिक गणित" के, अर्थात् साधारण बोलचाल में सांख्यिकी के मूल सिद्धान्तों का जो प्रतिपादन किया है, उनके साथ भी श्री ड्यूहरिंग उसी तरह पेश आये हैं, जिस तरह वह उनकी विशिष्ट रूप से आर्थिक रचनाओं के साथ पेश आये हैं। पेटी ने जो अजीब तरीक़े इस्तेमाल किये हैं, उनपर वह कंधे बिचकाकर अपनी घृणा को व्यक्त करते हैं! एक शताब्दी बाद इसी क्षेत्र में लैवाजियेर[120] जैसे आदमी ने भी जो विचित्र तरीक़े इस्तेमाल किये थे, उनको ध्यान में रखते हुए और यह सोचते हुए कि पेटी ने सांख्यिकी के लिये जो लक्ष्य व्यापक रूप में निर्धारित किया था, उससे आधुनिक सांख्यिकी भी अभी कितनी दूर है, हमें यह कहना पड़ता है कि दो शताब्दी post festum* आज श्री ड्यूहरिंग ने

---

* शाब्दिक अर्थ है—समारोह के बाद; यहां—बाद में।—सं०

जिस प्रकार की ग्रात्म-संतुष्ट श्रेष्ठता की ग्रभिव्यक्ति दी है, उसकी ग्रनावृत मूर्खता मीलों दूर से दिखाई देती है।

पेटी के सबसे महत्वपूर्ण विचारों की ग्रोर श्री ड्यूहरिंग के "उद्यम" में बहुत कम ध्यान दिया गया है। श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में ये विचार ग्रसम्बद्ध कल्पनाग्रों, ग्राकस्मिक विचारों ग्रौर प्रासंगिक टिप्पणियों से ग्रधिक कुछ नहीं हैं; ग्रौर उनको केवल ग्राजकल – हमारे ज़माने में – संदर्भ से कटे हुए उद्धरणों का प्रयोग करके एक ऐसा महत्व प्रदान कर दिया गया है, जो स्वयं इन विचारों में नहीं है, ग्रौर इसलिये ये विचार राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र के **वास्तविक** इतिहास में कोई भूमिका ग्रदा नहीं करते; उनकी भूमिका तो केवल उन ग्राधुनिक पुस्तकों तक ही सीमित है, जिनका स्तर श्री ड्यूहरिंग की गहरी जड़ों वाली ग्रालोचना ग्रौर "भव्य शैली के ऐतिहासिक वर्णन" के बहुत नीचे है। लगता है, ग्रपना यह "उद्यम" बनाते समय श्री ड्यूहरिंग ने पाठकों के एक ऐसे समुदाय को ग्रपने सामने रखा था, जिसको उनमें ग्रनाशंकित श्रद्धा होगी ग्रौर जो उनकी कही हुई बातों का प्रमाण मांगने का कभी दुस्साहस नहीं करेगा। शीघ्र ही (लॉक ग्रौर नॉर्थ की चर्चा करते समय) हम पुनः इस विषय का ज़िक्र करेंगे। लेकिन पहले हमें ब्वागिलेबेर्त ग्रौर लॉ पर एक सरसरी नज़र डालनी चाहिये।

जहां तक ब्वागिलेबेर्त का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग ने केवल एक ही नयी खोज की है, जिसकी ग्रोर हमें पाठकों का ध्यान ग्राकर्षित करना चाहिये। उन्होंने ब्वागिलेबेर्त ग्रौर लॉ के बीच एक ऐसे सम्बन्ध का पता लगाया है, जिसकी ग्रोर ग्रभी तक किसी का ध्यान नहीं गया था। ब्वागिलेबेर्त का कहना है कि मालों के परिचलन* में बहुमूल्य धातुग्रों को मुद्रा के जिन सामान्य ढंग के कार्यों को पूरा करना पड़ता है, उनको उनके स्थान

---

* मूल में *Warenproduktion* है, जो यहां मार्क्स की पाण्डुलिपि 'ड्यूहरिंग की राष्ट्रीय ग्रर्थव्यवस्था के ग्रालोचनात्मक इतिहास पर पार्श्व-टिप्पणियां' के ग्राधार पर *Warenzirkulation* में बदल दिया गया है। – **सं०**

पर काग़ज़ी मुद्रा (un morceau de papier*) भी पूरा कर सकती है।[121] लॉ ने दूसरी ओर यह कल्पना की है कि "काग़ज़ के इन टुकड़ों" की संख्या में जब भी कोई वृद्धि होती है, तो उससे राष्ट्र के धन में वृद्धि हो जाती है। इससे श्री ड्यूहरिंग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि

"ब्वागिलेबेर्त के विचार में पहले से व्यापारवाद का एक नया विचार निहित था",

दूसरे शब्दों में उसमें पहले से श्री लॉ निहित थे। निम्नलिखित वाक्य में यह बात दिन के प्रकाश की भांति स्पष्ट हो जाती है:

"**बस केवल** इतना ही आवश्यक था कि "काग़ज़ के साधारण टुकड़ों से" वही भूमिका अदा करायी जाये, जो बहुमूल्य धातुओं को अदा **करनी चाहिये** थी और ऐसा करते ही तत्काल व्यापारवाद का रूपान्तरण हो गया।"

इसी प्रकार एक चाचा को तत्काल चाची में रूपान्तरित किया जा सकता है। यह सही है कि श्री ड्यूहरिंग ने मानो विरोधी पक्ष के क्रोध को थोड़ा शान्त करने की कोशिश करते हुए यह भी कह दिया है कि

"ज़ाहिर है ब्वागिलेबेर्त के दिमाग़ में कोई ऐसी इच्छा हो, यह बात नहीं थी"।

परन्तु भगवान के लिये कोई हमें यह तो बताये कि ब्वागिलेबेर्त के मन में यह विचार आ ही कैसे सकता था कि बहुमूल्य धातुओं के मुद्रा सम्बन्धी कार्यों की ख़ुद अपनी बुद्धिसंगत अवधारणा के स्थान पर व्यापारवादियों की अंधविश्वासी अवधारणा को आसीन कर देना चाहिये – और वह भी केवल इस कारण से कि ब्वागिलेबेर्त के विचार से, जहां

* काग़ज़ का एक टुकड़ा। – **सं०**

तक इस भूमिका का सम्बन्ध है, काग़ज़ी मुद्रा बहुमूल्य धातुओं का स्थान ले सकती है?

"फिर भी", श्री ड्यूहरिंग अपनी अर्ध-गम्भीर एवं अर्ध-व्यंग्यात्मक शैली में अपना वक्तव्य जारी रखते हैं, "तथापि यह बात स्वीकार की जा सकती है कि यदा-कदा हमारा लेखक कोई सचमुच उपयुक्त टिप्पणी करने में भी सफल हो जाता है" (पृष्ठ ८३)।

लॉ के विषय में श्री ड्यूहरिंग केवल एक ही "सचमुच उपयुक्त टिप्पणी" करने में सफल हुए हैं, और वह यह है:

"स्वभावतया लॉ भी उपर्युक्त आधार का (अर्थात् "बहुमूल्य धातुओं के आधार" का) **उन्मूलन** करने में कभी सफल नहीं होते; परन्तु उन्होंने नोटों के निर्गम को चरम सीमा तक, अर्थात् इस हद तक बढ़ा दिया कि अन्त में पूरी प्रणाली ध्वस्त हो गयी" (पृष्ठ ९४)।

किन्तु वास्तव में ये काग़ज़ की तितलियां, मुद्रा के ये प्रतीक मात्र इस उद्देश्य से जनता के बीच उड़ने के लिये नहीं छोड़े गये थे कि इस तरह बहुमूल्य धातुओं के आधार का "उन्मूलन" हो जायेगा; बल्कि उनका उद्देश्य यह था कि बहुमूल्य धातुएं सर्वसाधारण की जेबों से निकल-निकलकर राज्य के ख़ाली ख़ज़ानों में भर जायें।[122]

आइये अब हम फिर पेटी पर तथा उनके लिये राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास में श्री ड्यूहरिंग ने जो महत्वहीन भूमिका निश्चित की है, उसपर लौट आयें। पर उसके पहले ज़रा यह भी सुन लेना चाहिये कि पेटी के तात्कालिक उत्तराधिकारियों, लॉक और नॉर्थ के बारे में श्री ड्यूहरिंग ने क्या कहा है। लॉक की रचना 'सूद को कम करने और मुद्रा को बढ़ाने पर विचार' * और नॉर्थ की रचना 'व्यापार के सम्बन्ध में प्रवचन' एक ही वर्ष में, १६९१ में, प्रकाशित हुई थीं।

---

* *Some Considerations of the Consequences of the Lowering of Interest and Raising the Value of Money* ('सूद को कम करने और मुद्रा का मूल्य बढ़ाने के परिणामों पर कुछ विचार।') **–सं०**

"उन्होंने" (लॉक ने) "सूद तथा सिक्कों के बारे में जो कुछ लिखा है, वह उन विचारों की परिधि से आगे नहीं जाता, जो व्यापारवाद के प्रभुत्व के काल में राजनीतिक जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में प्रचलित थे" (पृष्ठ ६४)।

इस "सूचना" से पाठकों के सामने अब यह बात सुस्पष्ट हो जानी चाहिये कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ़्रांस और इटली में राजनीतिक अर्थशास्त्र पर लॉक की रचना 'सूद को कम करने' का एक से अधिक दिशाओं में इतना महत्वपूर्ण प्रभाव क्यों पड़ा था।

"सूद की दर को स्वतंत्रतापूर्वक चढ़ने-उतरने की छूट देने के विषय में बहुत-से व्यापारियों का भी वही विचार था" (जो लॉक का था); "और विकासमान परिस्थिति ने भी सूद पर लगे हुए प्रतिबंधों को प्रभावहीन समझने की प्रवृत्ति पैदा कर दी थी। जिस काल में डडले नॉर्थ जैसे एक आदमी के लिये स्वतंत्र व्यापार के समर्थन में अपनी रचना 'व्यापार के सम्बन्ध में प्रवचन' लिखना सम्भव हुआ था, उस काल में वातावरण ही कुछ ऐसा रहा होगा, जिससे सूद पर प्रतिबंध लगाने के सैद्धान्तिक विरोध में कोई असाधारण बात नहीं मालूम होती थी।" (पृष्ठ ६४)।

अतः लॉक को केवल अपने समकालीन किसी एकाध "व्यापारी" के विचारों का मनन करने, या "उस काल के वातावरण में, जैसा कि वे कहते हैं," सांस लेने की ही आवश्यकता थी – इतने ही से वह सूद की दर को स्वतंत्रतापूर्वक चढ़ने-उतरने की छूट देने के विषय में सिद्धान्त गढ़ सकते थे और फिर भी कोई "असाधारण" बात कहने से दूर रह सकते थे। लेकिन वास्तव में पेटी ने १६६२ में ही अपनी रचना 'करों और अनुदानों पर निबंध' में सूद को मुद्रा के उस लगान के रूप में, जिसे हम सूदख़ोरी कहते हैं, (rent of money which we call usury) किराया-ज़मीन तथा किराया-मकान (rent of land and houses) के मुक़ाबले में पेश किया था, और उन ज़मींदारों को जो क़ानून बनवाकर मुद्रा के लगान को बढ़ने से रोक देना चाहते थे, पर जो ज़ाहिर है किराया-

ज़मीन को यों ही छोड़ देना चाहते थे, "प्रकृति के क़ानून के विरुद्ध कोई निश्चित व्यवहार क़ानून बनाने की निरर्थकता तथा निष्फलता" ("the vanity and fruitlessness of making civil positive law against the law of nature") के विषय में उपदेश दिया था।[123] चुनांचे अपनी 'गुटका' (१६८२) में पेटी ने घोषणा की थी कि सूद की दर का क़ानून बनाकर नियमन करने की बात उतनी ही मूर्खतापूर्ण है, जितनी मूर्खतापूर्ण बहुमूल्य धातुओं के निर्यात का नियमन करने या विनिमय दरों का नियमन करने की बात है। इसी रचना में उन्होंने "मुद्रा के मूल्य को ऊपर उठाने की कोशिशों" ("raising of money") के (जैसे उदाहरण के लिये एक औंस चांदी से जितने शिलिंग बनाये जाते हैं, उनकी संख्या को दुगुनी करके छः पेन्स के सिक्के को एक शिलिंग का नाम दे देने की कोशिशों के) बारे में कुछ ऐसी बातें कही हैं, जिनके बारे में शक की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती।

जहां तक इस आख़िरी बात का ताल्लुक़ है, लॉक और नॉर्थ ने पेटी की नक़ल करने से अधिक कुछ नहीं किया है। लेकिन जहां तक सूद का सम्बन्ध है, लॉक ने मुद्रा के सूद और किराया-ज़मीन का सादृश्य दिखलाने में पेटी का अनुकरण किया है, जबकि नॉर्थ पेटी से आगे जाते हैं और "पूंजी के लगान" ("rent of stock") के रूप में सूद को किराया-ज़मीन के मुक़ाबले में और पूंजी के स्वामियों को (stocklords) भूस्वामियों (landlords) के मुक़ाबले में पेश करते हैं।[124] और लॉक जहां पेटी की राय पर चलते हुए सूद की दर को छूट देने की बात केवल कुछ शर्तों के साथ स्वीकार करते हैं, वहां नॉर्थ उसे बिना शर्त मंज़ूर करते हैं।

"अधिक सूक्ष्म" अर्थ में श्री ड्यूहरिंग ख़ुद भी एक दुःखी व्यापारवादी हैं। परन्तु जब वह नॉर्थ की रचना 'व्यापार के सम्बन्ध में प्रवचन' को यह कहकर रफ़ा-दफ़ा कर देते हैं कि वह "मुक्त व्यापार की दिशा में" लिखी गयी है, तब तो वह ख़ुद अपने कान काट लेते हैं। यह तो कुछ उस तरह की बात हुई, जैसे कोई कहे कि हार्वे ने अपनी रचना रक्त परिसंचरण की "दिशा में" लिखी थी। नॉर्थ की रचना में जो अन्य गुण

हैं, उनके अलावा वह विदेशी तथा अन्दरूनी, दोनों प्रकार के मुक्त व्यापार के सिद्धान्त का एक प्रामाणिक विवेचन है, जिसमें निर्मम तार्किकता के साथ एक विशेष मत का प्रतिपादन किया गया है; इस प्रकार की पुस्तक उन्होंने १६६१ में लिख डाली, और यह निश्चय ही एक "असाधारण" बात है!

प्रसंगवश श्री ड्यूहरिंग ने हमें यह भी बता दिया है कि

नॉर्थ "सौदागर" था और छटा हुआ बदमाश था, और उसकी रचना "पसन्द नहीं की गयी थी"।

सचमुच! संरक्षणवाद की अन्तिम विजय के दिनों में इंगलैंड में जिस भीड़ का बोलबाला था, उसे इस प्रकार की पुस्तक "पसन्द" आयेगी—ऐसी आशा कौन कर सकता था? परन्तु इससे इस पुस्तक को सिद्धान्त पर तुरन्त प्रभाव डालने में कोई कठिनाई नहीं हुई, जिसके प्रमाण में ऐसी आर्थिक रचनाओं के एक पूरे क्रम का हवाला दिया जा सकता है, जो इस पुस्तक के थोड़े समय बाद ही इंगलैंड में प्रकाशित हुई थीं और जिनमें से कुछ तो सत्रहवीं शताब्दी समाप्त होने के पहले ही छप गयी थीं।

लॉक और नॉर्थ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर देते हैं कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में पेटी ने जो पहले साहसी क़दम उठाये थे, उनके अंग्रेज़ी उत्तराधिकारियों ने इन क़दमों का एक-एक करके अनुकरण किया और पेटी के विचारों को आगे विकसित किया। १६६१ से १७५२ तक इस प्रक्रिया के पदचिह्नों को बहुत ही सतही ढंग का पर्यवेक्षक भी देख सकता है। इसके लिये केवल एक यही तथ्य पर्याप्त है कि उस काल की अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक रचनाएं सब की सब पेटी से आरम्भ होती हैं, और या तो उनके विचारों का समर्थन करती हुई या उनका विरोध करती हुई। इसलिये यह काल, जो मौलिक विचारकों से भरा पड़ा है, राजनीतिक अर्थशास्त्र की क्रमिक उत्पत्ति के अन्वेषण के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। "भव्य शैली का वह ऐतिहासिक वर्णन", जिसने

मार्क्स पर इस अक्षम्य पाप का आरोप लगाया है कि उन्होंने 'पूंजी' में पेटी तथा उस काल के लेखकों के विषय में बहुत अधिक शोर मचाया है, इन तमाम लेखकों का नाम ही इतिहास में से काट देता है। लॉक, नॉर्थ, ब्वागिलेबेर्त और लॉ से वह सीधे प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों पर कूद जाता है, और उसके बाद राजनीतिक अर्थशास्त्र के वास्तविक मन्दिर के प्रवेश द्वार पर उसकी डेविड ह्यूम से भेंट हो जाती है। परन्तु हम श्री ड्यूहरिंग की अनुमति से ह्यूम को प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के पहले रखकर काल क्रम को सही किये देते हैं।

ह्यूम की आर्थिक 'निबंधावली' १७५२ में प्रकाशित हुई थी।[125] इस संग्रह में संकलित निबंधों में, जैसे 'मुद्रा के विषय में', 'व्यापार संतुलन के विषय में', 'वाणिज्य के विषय में' शीर्षक निबंधों में ह्यूम ने प्रत्येक क़दम पर जैकब वैण्डरलिण्ट की रचना 'मुद्रा सब चीज़ों का जवाब है' का अनुकरण किया है, जो १७३४ में लन्दन से प्रकाशित हुई थी; और यहां तक कि ह्यूम ने जैकब वैण्डरलिण्ट की विचित्रताओं की भी नक़ल की है। श्री ड्यूहरिंग के लिये यह वैण्डरलिण्ट कितना भी अपरिचित क्यों न हो, अंग्रेज़ी आर्थिक रचनाओं में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में, अर्थात् ऐडम स्मिथ के बाद के काल में भी उसका ज़िक्र मिलता है।

वैण्डरलिण्ट की भांति ह्यूम भी मुद्रा को मूल्य का प्रतीक मात्र मानते थे। व्यापार संतुलन किसी भी देश के लिये स्थायी रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल क्यों नहीं हो सकता, इसके सम्बन्ध में वैण्डरलिण्ट की युक्तियों की ह्यूम ने लगभग शब्दशः नक़ल की है (और यह बात महत्वपूर्ण है, क्योंकि मूल्य के प्रतीक के रूप में मुद्रा के सिद्धान्त को तो वह अन्य बहुत-से लेखकों से उधार ले सकते थे)। वैण्डरलिण्ट की भांति ह्यूम का भी यही कहना है कि व्यापारान्तरों का संतुलन अलग-अलग देशों की अलग-अलग ढंग की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार स्वाभाविक ढंग से स्थापित हो जाता है। वैण्डरलिण्ट की भांति वह भी स्वतंत्र व्यापार का समर्थन करते हैं, किन्तु कम साहस के साथ और कम सुसंगत ढंग से। वैण्डरलिण्ट की ही तरह, पर उनकी अपेक्षा कम गूढ़ता के साथ ह्यूम भी उत्पादन की प्रेरक शक्तियों के रूप में आवश्यकताओं पर ज़ोर देते हैं। वैण्डरलिण्ट की भांति ही उन्होंने

भी यह ग़लत बात कही है कि बैंक मुद्रा का तथा सामान्य राजकीय प्रति-भूतियों का मालों के दामों पर प्रभाव पड़ता है। वैण्डरलिण्ट की ही भांति वह कागज़ी मुद्रा को अस्वीकार करते हैं। वैण्डरलिण्ट की ही तरह ह्यूम ने भी मालों के दामों को श्रम के दाम पर, अर्थात् मज़दूर पर निर्भर बना दिया है। और यहां तक कि उन्होंने वैण्डरलिण्ट के इस बेतुके विचार की भी नक़ल कर डाली है कि ख़ज़ाने जमा करके मालों के दामों को बढ़ने से रोका जा सकता है, इत्यादि, इत्यादि।

बहुत शुरू में श्री ड्यूहरिंग ने भविष्यवक्ताई ढंग से कुछ इस तरह का संकेत किया था कि ह्यूम के मुद्रा के सिद्धान्त को अन्य लोगों ने बहुत ग़लत ढंग से समझा है, और इस सिलसिले में उन्होंने मार्क्स को ख़ास तौर पर धमकाया था, जिन्होंने 'पूंजी' में इसके अलावा वैण्डरलिण्ट के साथ और जे० मैस्सी के साथ, जिसका हम बाद में ज़िक्र करेंगे, ह्यूम के गुप्त सम्बन्धों की ओर भी सरासर ध्वंसात्मक ढंग से संकेत कर दिया था।[126]

जहां तक इस ग़लतफ़हमी का ताल्लुक़ है, तथ्य इस प्रकार हैं। ह्यूम के मुद्रा के वास्तविक सिद्धान्त के सम्बन्ध में (वह सिद्धान्त यह है कि मुद्रा मूल्य का प्रतीक मात्र है, और इसलिये अन्य परिस्थितियों के ज्यों के त्यों रहते हुए जिस अनुपात में परिचलन में भाग लेनेवाली मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है, उसी अनुपात में मालों के दाम भी बढ़ जाते हैं, और जिस अनुपात में उसकी मात्रा घट जाती है, उसी अनुपात में मालों के दाम भी कम हो जाते हैं), श्री ड्यूहरिंग अपनी सर्वोत्तम इच्छाओं के बावजूद केवल अपने पूर्ववर्तियों की ग़लतियों को ही दोहरा सकते हैं, हालांकि यह काम भी वह अपने विशेष दीप्तिमान ढंग से करते हैं। लेकिन ह्यूम उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना करने के बाद ख़ुद ही यह आपत्ति उठाते हैं (जैसा कि मांतेस्क्यू[127] उन्हीं पूर्वाधारों से आरम्भ करते हुए कुछ समय पहले उठा चुके थे) कि इस सिद्धान्त के बावजूद

"इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं है", कि जब से अमरीका में सोने और चांदी की खानों का पता लगा है, तब से "यूरोप के सभी राष्ट्रों में उद्योग में वृद्धि हो गयी है; इसके अपवाद केवल इन खानों के स्वा-

मी हैं", और "अन्य कारणों के अलावा सोने और चांदी की वृद्धि भी उद्योग की इस वृद्धि का एक कारण समझी जा सकती है"।

इस परिघटना के स्पष्टीकरण में ह्यूम ने कहा है कि

"यद्यपि यह सम्भव है कि मालों के दामों का बढ़ जाना सोने और चांदी की वृद्धि का एक आवश्यक परिणाम हो, तथापि इस वृद्धि के होते ही तत्काल मालों के दाम नहीं बढ़ जाते; मुद्रा के पूरे राज्य में घूम जाने तथा जनता के सभी स्तरों पर अपना प्रभाव डालने में कुछ समय लगता है"। बीच के इस समय में उसका उद्योग तथा व्यापार पर हितकारी प्रभाव पड़ता है।

इस विश्लेषण के अन्त में ह्यूम ने हमें यह बताया है कि ऐसा क्यों होता है, हालांकि उन्होंने अपने बहुत-से पूर्ववर्तियों तथा समकालीन लेखकों की तुलना में कम व्यापक रूप में इस विषय का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है:

"पूरे राज्य में मुद्रा जिस तरह घूमती है, उसका अनुकरण करना आसान है; और उससे पता चलेगा कि मुद्रा को **श्रम का दाम बढ़ाने*** के पहले प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाशीलता को तेज़ कर देना पड़ता है।"[128]

दूसरे शब्दों में ह्यूम यहां उस क्रान्ति के प्रभाव का वर्णन कर रहे हैं, जो बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में हो गयी है। अर्थात् वह यहां बहुमूल्य धातुओं के मूल्य ह्रास के प्रभाव का वर्णन कर रहे हैं। या इसी बात को हम यूं भी कह सकते हैं कि बहुमूल्य धातुओं के **मूल्य की माप** में जो क्रान्ति हो गयी है, ह्यूम उसके प्रभाव का वर्णन कर रहे हैं। उन्होंने इस सही बात का पता लगाया है कि मालों के दामों को समतल बनाने की मन्द गति से चलनेवाली क्रिया के दौरान केवल अन्त में जाकर ही इस मूल्य

* शब्दों पर ज़ोर मार्क्स का है। – सं०

ह्रास से "श्रम के दाम में"–अर्थात् साधारण बोलचाल में, मज़दूरी में– "वृद्धि होती है"। कहने का मतलब यह है कि उससे सौदागर तथा उद्योगपति के उस मुनाफ़े में वृद्धि हो जाती है, जो वह मज़दूर की जेब काटकर कमाता है (किन्तु उसकी दृष्टि से ऐसा होना उचित ही है), और इस प्रकार उससे मज़दूरों की "क्रियाशीलता तेज़ हो जाती है"। परन्तु जो सचमुच वैज्ञानिक प्रश्न है, ह्यूम उसका उत्तर देने की कोई कोशिश नहीं करते। अर्थात् वह इस सवाल का जवाब पता लगाने का प्रयत्न नहीं करते कि यदि बहुमूल्य धातुओं का मूल्य ज्यों का त्यों बना रहे, तो क्या उनकी पूर्त्ति में वृद्धि का मालों के दामों पर कोई प्रभाव पड़ता है और यदि पड़ता है, तो किस रूप में पड़ता है। और वह "बहुमूल्य धातुओं की" **प्रत्येक** "वृद्धि" को उनके मूल्य ह्रास के साथ गड्ड-मड्ड कर देते हैं। इसलिये ह्यूम बिल्कुल वही हरकत करते हैं, जिसकी ओर मार्क्स ने हमारा ध्यान खींचा है ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान', पृष्ठ १४१)।[129] आगे हमें चलते-चलते फिर एक बार इस बात की चर्चा करनी पड़ेगी; परन्तु उसके पहले हमें 'सूद के विषय में' ह्यूम के निबंध पर विचार करना होगा।

स्पष्ट रूप में लॉक के मत का खण्डन करते हुए ह्यूम ने जो यह दलील दी है कि सूद की दर का नियमन इस बात से नहीं होता कि कितनी मुद्रा उपलब्ध है, बल्कि मुनाफ़े की दर उसका नियमन करती है; और सूद की दर के उतार-चढ़ाव को निर्धारित करनेवाले कारणों की उन्होंने जो अन्य व्याख्याएं दी हैं, वे सब की सब 'सूद की स्वाभाविक दर के निर्णायक कारणों पर एक निबंध, जिसमें इस विषय के सम्बन्ध में सर विलियम पेटी और मि० लॉक के विचारों पर विचार किया गया है' शीर्षक रचना में मिल जाती हैं; हालांकि वहां वे कहीं अधिक सम्यक् रूप में, किन्तु कम चतुराई के साथ प्रस्तुत की गयी हैं। यह रचना १७५० में, ह्यूम के निबंध के दो वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी। उसके लेखक जे० मैस्सी थे, जो अनेक विषयों पर लिखा करते थे और, जैसा कि समकालीन अंग्रेज़ी साहित्य से स्पष्ट है, उनके पाठकों की संख्या काफ़ी बड़ी थी। सूद की दर का ऐडम स्मिथ का विवेचन ह्यूम के विवेचन की अपेक्षा मैस्सी

के विवेचन से अधिक मिलता-जुलता है। पर "मुनाफ़े" के स्वरूप के विषय में न तो मैस्सी कुछ जानते हैं या कहते हैं और न ही ह्यूम, हालांकि वह दोनों के सिद्धान्तों में एक विशेष भूमिका अदा करता है।

"सामान्यतया", श्री ड्यूहरिंग ने हमें उपदेश दिया है, "ह्यूम के अधिकतर आलोचकों का रुख़ पूर्वाग्रहों से भरा हुआ रहा है, और ऐसे अनेक विचार उसपर थोप दिये गये हैं, जो उसके दिमाग़ में ज़रा भी नहीं आये थे।"

और श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद इस "रुख़" के कई ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने रख दिये हैं।

मिसाल के लिये सूद पर ह्यूम का निबंध निम्न शब्दों से आरम्भ होता है:

"किसी भी राष्ट्र की समृद्धिपूर्ण अवस्था का इससे अधिक निश्चित चिह्न कोई नहीं समझा जाता कि वहां सूद की दर कम हो; और यह बात अकारण नहीं है; हालांकि मेरी राय में इसका कारण वह नहीं है, जो आम तौर पर समझा जाता है।"[130]

इसलिये अपने पहले ही वाक्य में इस विचार को कि सूद की दर का कम होना किसी भी राष्ट्र की समृद्धिपूर्ण अवस्था का सबसे अधिक निश्चित चिह्न होता है, एक ऐसे मत के रूप में प्रकट करते हैं, जो उनके समय तक सर्वसामान्य से स्वीकृति पाकर एक जानी-मानी बात बन गया था। और सचमुच इस "विचार" को चाइल्ड के समय से ह्यूम के समय तक पूरे सौ वर्ष अपने प्रसार के लिये मिल चुके थे। परन्तु हमसे कहा जाता है कि

"सूद की दर से सम्बन्धित ह्यूम के विचारों में हमें **इस विचार की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिये** कि सूद की दर परिस्थितियों का" (किन परिस्थितियों का?) "**सच्चा बैरोमीटर**

होती है और उसका कम होना किसी भी राष्ट्र की समृद्धि का लगभग अचूक प्रमाण होता है" (पृष्ठ १३०)।

यहां कौन "पूर्वाग्रह" का शिकार हो गया है और यह बात जिस मुग्ध "आलोचक" ने कही है, उसका क्या नाम है? उसका नाम श्री ड्यूहरिंग के सिवा और कुछ नहीं है।

जिस बात को देखकर हमारा "आलोचक इतिहासकार" अपने भोलेपन में आश्चर्यचकित रह जाता है, वह यह है कि जब कभी ह्यूम को कोई सुन्दर विचार सूझता है, तब वह "उसका जनक होने का भी दावा नहीं करते"। ऐसी ग़लती श्री ड्यूहरिंग निश्चय ही कभी नहीं कर सकते थे।

हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार ह्यूम बहुमूल्य धातुओं की प्रत्येक वृद्धि को उस प्रकार की वृद्धि समझ बैठते हैं, जिसके साथ-साथ मूल्य ह्रास हो जाता है, और ख़ुद इन धातुओं के ही मूल्य में, और इसलिये मालों के मूल्य की माप में क्रान्ति हो जाती है। ह्यूम का इस भ्रम में पड़ जाना अनिवार्य था, क्योंकि **मूल्य की माप** के रूप में बहुमूल्य धातुओं को जो कार्य करना पड़ता है, उसकी उनको तनिक भी समझ नहीं थी। और उनको इसकी समझ नहीं हो सकती थी, क्योंकि उनको स्वयं मूल्य का क़तई कोई ज्ञान नहीं था। ख़ुद यह शब्द सम्भवतः केवल एक बार उनके निबंधों में इस्तेमाल हुआ है; और वह उस स्थान पर, जहां लॉक के इस ग़लत विचार को कि बहुमूल्य धातुओं का "केवल एक काल्पनिक मूल्य" होता है, "सही" करने की कोशिश में ह्यूम यह कहकर उसे और भी भयंकर बना देते हैं कि बहुमूल्य धातुओं में "महज़ एक मिथ्या मूल्य होता है"।[131]

इस दृष्टि से न केवल पेटी की तुलना में, बल्कि अपने समकालीन बहुत-से अंग्रेज़ी लेखकों की तुलना में भी ह्यूम का पलड़ा हल्का दिखाई देता है। इसी प्रकार के "पिछड़ेपन" का वह पुराने ढर्रे के इस विचार की घोषणा करके भी प्रदर्शन करते हैं कि **"सौदागर"** उत्पादन का मुख्याधार होता है—जबकि पेटी इस विचार से बहुत आगे निकल गये थे। जहां तक श्री ड्यूहरिंग ने यह आश्वासन दिया है कि ह्यूम ने अपने निबंधों में "मुख्य आर्थिक सम्बन्धों" की चर्चा की है, पाठक को ज़रा

इन निबंधों की कैंटिलों की इस रचना से तुलना करनी चाहिये, जिसे ऐडम स्मिथ ने उद्धृत किया है (और जो उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी, जिस वर्ष – १७५२ – ह्यूम के निबंध प्रकाशित हुए थे, परन्तु जिसके लेखक की उसके प्रकाशन के कई वर्ष पहले मृत्यु हो चुकी थी)[132]। तब पाठक को यह देखकर आश्चर्य होगा कि ह्यूम की आर्थिक रचनाएं कितने संकुचित क्षेत्र तक सीमित हैं। फिर भी जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, श्री ड्यूहरिंग ने ह्यूम को जो प्रमाण-पत्र दिया है, उसके बावजूद उनको राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में काफ़ी आदर का स्थान प्राप्त है; परन्तु इस क्षेत्र में वह मौलिक अन्वेषक नहीं रहे हैं, और उनको युगान्तरकारी अन्वेषक कहना तो और भी ग़लत होगा। उनके आर्थिक निबंधों का उस ज़माने के शिक्षित हल्क़ों पर जो प्रभाव था, उसका कारण केवल सामग्री को बढ़िया ढंग से प्रस्तुत करना ही न था, उसका मुख्य कारण यह था कि इन निबंधों में उद्योग तथा व्यापार का, जो उस काल में ख़ूब फल-फूल रहे थे, प्रगतिशील तथा आशावादी ढंग से गुणगान किया गया था। दूसरे शब्दों में इन निबंधों में उस पूंजीवादी समाज की प्रशंसा की गयी थी, जिसका उस समय इंगलैंड में तेज़ी से विकास हो रहा था और इसलिये जिसका "अनुमोदन" प्राप्त करना इन निबंधों के लिये आवश्यक था। यहां केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। हर आदमी यह जानता है कि ठीक ह्यूम के ज़माने में अंग्रेज़ी जनता अप्रत्यक्ष करों की उस प्रणाली के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त संघर्ष चला रही थी, जिसका कुख्यात सर रॉबर्ट वाल्पोल ज़मींदारों की तथा आम तौर पर धनी लोगों की सहायता करने के लिये दुरुपयोग कर रहे थे। ह्यूम ने 'करों के विषय में' (*Of Taxes*) शीर्षक अपने निबंध में अपने अपरिहार्य प्रतिष्ठाप्राप्त लेखक, वैण्डरलिण्ट के विचारों का बिना उनका नाम लिये खण्डन करने की चेष्टा की है। वैण्डरलिण्ट अप्रत्यक्ष करों के ज़बर्दस्त विरोधी और भूमि कर के दृढ़ समर्थक थे। ह्यूम ने अपने निबंध में लिखा है:

"ये" (उपभोग पर लगाये गये कर), "जिनको कारीगर **बिना अपने श्रम का दाम बढ़ाये हुए** केवल पहले से अधिक मेहनत करके तथा

मितव्ययिता बरतकर अदा नहीं कर पाता — ये कर सचमुच बहुत भारी कर होंगे और उनको बहुत विवेकहीन ढंग से लगाया जाता होगा।"[133]

यह तो बिल्कुल ऐसा लगता है जैसे रॉबर्ट वाल्पोल ख़ुद बोल रहे हों — और पाठक की यह भावना उस समय तो ख़ास तौर पर दृढ़ हो जाती है, जब वह 'सार्वजनिक उधार' सम्बन्धी निबंध के उस अंश को भी पढ़ता है, जिसमें राज्य के लेनदारों पर कर लगाने की कठिनाई की चर्चा करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि :

"इन लोगों की आय में जो कमी आयेगी, उसपर उत्पादन-कर अथवा सीमा शुल्क का किसी प्रकार का पर्दा डालकर उसे नहीं **छिपाया*** जा सकता।"[134]

पर जैसी कि किसी भी स्काट से आशा की जा सकती है, धनलोलुपता की पूंजीवादी प्रवृत्ति की ह्यूम ने केवल आध्यात्मिक कारणों से प्रशंसा नहीं की है। एक ग़रीब आदमी के रूप में जीवन आरम्भ करके उन्होंने अपने उद्योग से कई हज़ार पौण्ड की वार्षिक आय की स्थिति अपने लिये पैदा कर ली थी। श्री ड्यूहरिंग ने इस बात को बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से (क्योंकि यहां पर वह पेटी की चर्चा नहीं कर रहे हैं) इस रूप में कहा है :

"जब उन्होंने आरम्भ किया था, तब उनके पास बहुत थोड़े साधन थे, परन्तु उन्होंने एक अच्छी **घरेलू अर्थव्यवस्था के द्वारा** एक ऐसी स्थिति बना ली, जिसमें उनको किसी को ख़ुश करने के लिये नहीं लिखना पड़ता था।"

श्री ड्यूहरिंग ने आगे लिखा है :

---

*शब्द पर ज़ोर मार्क्स का है। — सं०

"पार्टियों, राजाग्रों या विश्वविद्यालयों के प्रभाव के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया।"

ग्रब इस बात का तो कोई प्रमाण नहीं है कि ह्यूम ने कभी "वैगेनेर"[135] जैसे किसी ग्रादमी के साथ साहित्यिक साझेदारी की थी, परन्तु यह बात सुविदित है कि वह उस व्हिग ग्रल्पतंत्र के ग्रथक समर्थक थे, जिसकी नज़रों में "**चर्च** तथा राज्य" का बहुत ऊंचा स्थान था; ग्रौर इन सेवाग्रों के बदले में उनको पहले पेरिस स्थित दूतावास में एक सचिव पद मिल गया था; ग्रौर बाद में तो उनको इससे कहीं ग्रधिक महत्वपूर्ण तथा मोटी तनख़ाहवाले पद पर–राज्य के उप-सचिव के पद पर–नियुक्त कर दिया गया था। बूढ़े श्लोस्सेर ने लिखा है:

"राजनीति में ह्यूम रूढ़िवादी था ग्रौर हमेशा बना रहा। विचारों में वह राजतंत्र का समर्थक था। इस कारण स्थापित चर्च के समर्थकों ने उसे धर्मद्रोही के रूप में कभी उस तरह नहीं कोसा, जिस तरह उन्होंने गिबन को कोसा था।"[136]

"ग्रविनीत" ग्रकुलीन कौबेट ने ह्यूम के बारे में यह लिखा है: "यह स्वार्थी ह्यूम, यह झूठा इतिहासकर" इंगलैंड के मठों के साधुग्रों की शिकायत करता है कि वे लोग मोटे होते हैं, उनके बाल-बच्चे नहीं होते ग्रौर वे भीख मांगकर जीवन व्यतीत करते हैं। "परन्तु ख़ुद इस ग्रादमी के पास न तो कभी कोई पत्नी थी ग्रौर न परिवार था ग्रौर वह बहुत मोटा भी था, ग्रौर ग्रधिकांश रूप में सार्वजनिक पैसा खा-खाकर मोटा हुग्रा था, जिसे पाने के लिये उसने कोई वास्तविक सार्वजनिक सेवा कभी नहीं की थी।"[137]

ग्रौर श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है कि

ह्यूम "जीवन का **व्यावहारिक** प्रबंध करने के मामले में मूलभूत बातों में काण्ट से बहुत श्रेष्ठ थे"।

परन्तु 'ग्रालोचनात्मक इतिहास' में ह्यूम को ज़बर्दस्ती इतना ऊंचा स्थान क्यों दिया गया है? केवल इसलिये कि इस "गम्भीर तथा सूक्ष्म

विचारक" को अठारहवीं शताब्दी के ड्यूहरिंग की भूमिका अदा करने का गौरव प्राप्त हुआ है। ह्यूम इस बात का प्रमाण है कि

"विज्ञान की इस शाखा" (राजनीतिक अर्थशास्त्र) "का सृजन करना एक अधिक विकसित दर्शनशास्त्र की उपलब्धि है"।

और इसी तरह ह्यूम को अपना पूर्ववर्ती मान लेने से इस बात की गारण्टी हो जाती है कि जहां तक निकट भविष्य का सम्बन्ध है, विज्ञान की इस पूरी शाखा को अपनी चरम परिणति उस अद्भुत मनुष्य में प्राप्त होगी, जिसने मात्र "अधिक विकसित" दर्शनशास्त्र को वास्तविकता के परम दीप्तिमान दर्शन में रूपान्तरित कर दिया है और जिसके रूप में ह्यूम की भांति

"संकुचित अर्थ में दर्शनशास्त्र का अध्ययन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के वैज्ञानिक प्रयत्नों के साथ जुड़ गया है, जो जर्मन भूमि पर एक अभूतपूर्व परिघटना है"।

चुनांचे हम पाते हैं कि ह्यूम को, जो अर्थशास्त्री के रूप में हर हालत में आदर के पात्र हैं, ज़बर्दस्ती बढ़ा-चढ़ाकर अर्थशास्त्र के एक प्रथम कोटि के सितारे में बदल दिया गया है, जिसके महत्व से अभी तक केवल वे ईर्ष्यालु लोग ही इनकार करते रहे हैं, जिन्होंने श्री ड्यूहरिंग की उन उपलब्धियों पर भी ख़ामोशी का पर्दा डाल रखा है, जिनका अपने "युग के लिये निर्णायक महत्व" है।

* * *

जैसा कि सर्वविदित है, **क्वेने की 'आर्थिक तालिका'**[138] के रूप में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों का मत हमारे लिये एक ऐसी गुत्थी छोड़ गया है, जिसको अर्थशास्त्र के तमाम भूतपूर्व आलोचक तथा इतिहासकार लाख कोशिश करने पर भी आज तक नहीं सुलझा पाये हैं। इस तालिका में

किसी भी देश के सम्पूर्ण धन के उत्पादन तथा परिचलन के विषय में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों की अवधारणा को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी थी। परन्तु उसके बाद अर्थशास्त्रियों की जितनी पीढियां गुज़री हैं, उनके लिये यह तालिका काफ़ी दुर्बोध बनी रही। इस विषय पर भी श्री ड्यूहरिंग ने निर्णायक ढंग से प्रकाश डालने की कोशिश की है। उन्होंने कहा है कि

"उत्पादन तथा वितरण के सम्बन्धों के इस आर्थिक चित्र का **स्वयं क्वेने में क्या अर्थ है,"** यह केवल उसी समय बताया जा सकता है, जब "**पहले** उन मुख्य विचारों का **ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जा चुका हो,** जो क्वेने की ख़ास विशेषता हैं"। यह इसलिये और भी आवश्यक है कि अभी तक इन विचारों को केवल "ढुलमुल अनिश्चितता" के साथ व्यक्त किया गया है, और यहां तक कि ऐडम स्मिथ की रचनाओं में भी इन विचारों की "मूलभूत विशेषताओं को नहीं पहचाना जा सकता"।

और इसलिये अब श्री ड्यूहरिंग इस "सतही ढंग के विवेचन" का एक बार सदा के लिये अन्त कर देंगे। और फिर वह पूरे पांच पृष्ठों तक पाठक को बेवक़ूफ़ बनाते हैं। इन पांच पृष्ठों में विभिन्न प्रकार के भारी-भरकम शब्दों को लगातार दोहरा-दोहराकर और पाठकों को जान-बूझकर भ्रम में डालकर इस कष्टप्रद सत्य को छिपाने की कोशिश की गयी है कि क्वेने के "मुख्य विचारों" के बारे में श्री ड्यूहरिंग हमें उतना भी नहीं बता सकते, जितना "पाठ्य-पुस्तकों के रूप में अत्यन्त प्रचलित वे संग्रह" बता सकते हैं, जिनसे हमें आगाह करने में श्री ड्यूहरिंग कभी नहीं थकते। इस प्रस्तावना का "एक सबसे अधिक संदिग्ध पहलू" यह है कि यहां पर भी तालिका को, जिसका इसके पहले केवल नाम ही लिया गया है, महज़ सूंघकर छोड़ दिया जाता है और फिर यह प्रस्तावना विभिन्न प्रकार के "विचारों" में खो जाती है–जैसे मिसाल के लिये, "प्रयत्न तथा परिणाम के भेद" का विचार। यद्यपि यह सच है कि "प्रयत्न और परिणाम का भेद" क्वेने के विचारों में सम्पूरित नहीं होता, तथापि जब श्री ड्यूहरिंग इस लम्बी प्रस्तावना के दीर्घ "प्रयत्न" के बाद अपने अत्यन्त

संक्षिप्त "परिणाम" पर पहुंचते हैं, अर्थात् ख़ुद तालिका की व्याख्या करना आरम्भ करते हैं, तब वह इसका एक ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने रख देते हैं। श्री ड्यूहरिंग ने क्वेने की तालिका के विषय में हमें जो कुछ बताना उचित समझा है, वह सब, **अक्षरशः सब का सब**, हम सब पाठकों के सामने रख देते हैं।

अपने "प्रयत्न" के दौरान में श्री ड्यूहरिंग ने कहा है :

"उनको" (क्वेने को) "यह बात स्वतःस्पष्ट लगती थी कि प्राप्ति" (इसके ज़रा देर पहले श्री ड्यूहरिंग ने निवल पैदावार का ज़िक्र किया था) "को एक **मुद्रा मूल्य** समझना चाहिये और इसी रूप में उसका विवेचन करना चाहिये... तत्काल ही उन्होंने अपने विमर्शों" (!) "को उन **मुद्रा मूल्यों** के साथ जोड़ दिया, जो उनकी मान्यता के अनुसार खेती की समस्त पैदावार की बिक्री के फलस्वरूप उस समय मिल गये थे, जब इस पैदावार का पहली बार विनिमय हुआ था। इस तरह" (!) "वह अपनी तालिका के स्तम्भों में कई अरब का हिसाब लगा डालते हैं" (अर्थात् मुद्रा मूल्यों का)।

इसलिये हम तीन बार यह बात सुन चुके हैं कि क्वेने ने अपनी तालिका में "खेती की पैदावार के मुद्रा मूल्यों" का प्रयोग किया है, जिनमें "निवल पैदावार", अथवा "निवल प्राप्ति" के मुद्रा मूल्य भी शामिल होते हैं। हमें आगे पढ़ने को मिलता है :

"यदि क्वेने ने सचमुच एक प्राकृतिक दृष्टिकोण से वस्तुओं पर विचार किया होता, और यदि वह न सिर्फ़ बहुमूल्य धातुओं तथा मुद्रा की राशि की फ़िक्र से, बल्कि **मुद्रा मूल्यों** की चिन्ता से भी अपने आपको मुक्त करने में सफल हो गये होते ... परन्तु वास्तव में वह केवल **मूल्यों की राशियों** में ही फंसे रहते हैं और उन्होंने निवल पैदावार की पहले से ही एक **मुद्रा मूल्य** के रूप में कल्पना" (!) "कर डाली है।"

अतः चौथी बार और पांचवीं बार भी सुन लीजिये कि तालिका में केवल मुद्रा मूल्य ही मिलते हैं!

श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है कि

"उन्होंने" (क्वेने ने) "ख़र्चे को काटकर और मुख्यतया उस मूल्य के बारे में **सोचकर**" (!) "जो लगान के रूप में ज़मींदार को मिलेगा, उसे" (निवल पैदावार को) "प्राप्त किया था" (यह परम्परागत ढंग का विवेचन नहीं है, और इसलिये वह और भी ज़्यादा सतही ढंग का विवेचन है)।

अब भी हम एक क़दम आगे नहीं बढ़ पाये हैं, परन्तु अब क़दम उठने ही वाले हैं:

"दूसरी ओर **किन्तु अब भी**" (यह "किन्तु अब भी" ख़ूब है!) "निवल पैदावार एक प्राकृतिक वस्तु के रूप में परिचलन में प्रवेश करती है और इस प्रकार एक ऐसा तत्व बन जाती है, जिसको... उस वर्ग को बनाये रखने का काम करना चाहिये, जिसको वंध्य वर्ग कहा जाता है। इसमें जो भ्रम निहित है, वह **तुरन्त**" (!) "देखा जा सकता है। यह भ्रम इस बात से पैदा होता है कि एक बार मुद्रा मूल्य चिन्तन के क्रम को निर्धारित करता है, और दूसरी बार वस्तु स्वयं यह काम करती है।"

सामान्यतया यह प्रतीत होता है कि मालों का **समस्त** परिचलन इस "भ्रम" से पीड़ित है कि माल एक ही समय में "प्राकृतिक वस्तुओं" के रूप में तथा "मुद्रा मूल्यों" के रूप में परिचलन में प्रवेश करते हैं। परन्तु "मुद्रा मूल्य" के बारे में हम अभी तक एक अंधकूप में चक्कर लगा रहे हैं, क्योंकि

"क्वेने को इसकी बड़ी चिन्ता रहती है कि राष्ट्रीय आर्थिक प्राप्ति हिसाब में दो-दो बार न लिख दी जाये"।

श्री ड्यूहरिंग की अनुमति से हम यह कहें कि क्वेने के 'आर्थिक तालिका का विश्लेषण'[139] में तालिका के नीचे विभिन्न प्रकार की पैदावार "प्राकृतिक वस्तुओं" के रूप में दिखाई गयी हैं और ऊपर स्वयं तालिका में उनके मुद्रा मूल्यों को दिया गया है। बाद में क्वेने ने अपने शिष्य एबे बोदो तक से भी प्राकृतिक वस्तुओं को स्वयं तालिका के भीतर उनके मुद्रा मूल्यों **के पार्श्व में** रखवा दिया।[140]

इस समस्त "प्रयत्न" के बाद अन्त में "परिणाम" हमारे सामने आता है। इन शब्दों को सुनिये और उनपर आश्चर्य कीजिये:

"फिर भी यह असंगतता" (क्वेने ने ज़मींदारों के लिये जो भूमिका निश्चित की है, उसका ज़िक्र करते हुए) "उस समय **तत्काल** स्पष्ट हो जाती है, जब हम यह पता लगाते हैं कि **उस निवल पैदावार का क्या होता है, जिसे राष्ट्रीय-आर्थिक परिचलन के दौरान लगान के रूप में हथिया लिया गया है?** इस सम्बन्ध में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री और **आर्थिक तालिका** कुछ उलझी हुई तथा मनमानी अवधारणाओं के सिवा, जो रहस्यवाद के स्तर पर पहुंच गयी हैं, और कुछ नहीं दे सकते।"

अन्त भला तो सब भला। सो श्री ड्यूहरिंग को इसका कोई ज्ञान नहीं है कि "उस निवल पैदावार का क्या होता है, जिसे" (तालिका में निरूपित) "राष्ट्रीय-आर्थिक परिचलन के दौरान लगान के रूप में हथिया लिया गया है"। श्री ड्यूहरिंग के लिये तो तालिका एक "वृत्त को वर्ग बना देने", अर्थात् एक असम्भव कृत्य के समान है। वह ख़ुद यह बात स्वीकार कर चुके हैं कि वह प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के मत का क-ख-ग भी नहीं समझते। इतना अगर-मगर करने के बाद, ख़ाली कुएं में डोल गिराने के बाद, इधर-उधर उछल-कूद मचाने के बाद, इतनी भंड़ैती करने के बाद, इतने सारे प्रसंगों, पैंतरों, पुनरावृत्तियों तथा हैरतअंगेज़ गड़बड़ियों के बाद, जिनका एकमात्र प्रयोजन हमें उस अत्यन्त प्रभावोत्पादक निष्कर्ष के लिये तैयार करना था कि "स्वयं क्वेने में तालिका का क्या अर्थ है"—इस सबके बाद श्री ड्यूहरिंग ख़ुद शरमाते-शरमाते यह तस्लीम कर लेते हैं कि **वह ख़ुद नहीं जानते।**

जब एक बार वह इस कष्टदायक रहस्य को अपने मन के भीतर से निकालकर बाहर फेंक देने में सफल हो जाते हैं; प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के देश में विचरण करते समय उनकी पीठ पर जिस होरेशिओ की "काली दुश्चिन्ता"[141] ने सवारी गांठ रखी थी, जब वह उसे झटककर नीचे गिरा देने में कामयाब हो जाते हैं, तब हमारा यह "गम्भीर तथा सूक्ष्म विचारक" एक बार फिर अपनी तुरही फूंककर कहता है:

"क्वेने की तालिका वैसे तो काफ़ी सरल" (!) "है, पर उन्होंने उसमें जहां-तहां जो रेखाएं खींच दी हैं" (ऐसी कुल ५ रेखाएं हैं!) "ग्रौर जिनके द्वारा निवल पैदावार के परिचलन का निरूपण करने की चेष्टा की गयी है", उनको देखकर पाठक यह सोचने लगता है कि कहीं "स्तम्भों के ये विचित्र योग" किसी गणितीय भ्रान्त कल्पना पर तो ग्राधारित नहीं हैं; उनको देखकर पाठक को क्वेने की वृत्त को वर्ग बनाने की कोशिश की याद ग्रा जाती है, इत्यादि, इत्यादि।

जैसा कि श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद स्वीकार किया है, वह चूंकि उन रेखाग्रों को उनकी सरलता के बावजूद नहीं समझ पाये थे, इसलिये उनको ग्रपनी प्रिय कार्यविधि का प्रयोग करते हुए उनके विषय में कुछ **सन्देह पैदा कर देना** पड़ा। ग्रौर ग्रब वह इस दुःखदायी तालिका पर पूर्ण ग्रात्मविश्वास के साथ ग्रन्तिम ग्राघात कर सकते हैं। वह फ़रमाते हैं:

"हमने निवल पैदावार पर उसके सबसे ग्रधिक **संदिग्ध पहलू को ध्यान में रखते हुए** विचार किया है", इत्यादि।

ग्रच्छा, तो उनको जो यह बात तसलीम करनी पड़ी थी कि वह 'ग्रार्थिक तालिका' का ग्रौर उसमें सामने ग्रानेवाली निवल पैदावार की "भूमिका" का क-ख-ग भी नहीं समझते – यही है जिसे श्री ड्यूहरिंग ने "निवल पैदावार के सबसे ग्रधिक संदिग्ध पहलू" का नाम दिया है! कैसा कटु व्यंग्य है!

परन्तु हम नहीं चाहते कि क्वेने की तालिका के विषय में हमारे पाठकों के मन में भी उसी प्रकार की निर्मम ग्रनिश्चितता बनी रहे, जिस प्रकार की ग्रनिश्चितता उन पाठकों के मन में ग्रावश्यक रूप से बनी हुई है, जिन्होंने ग्रपना ग्रार्थिक ज्ञान "प्रत्यक्ष रूप में" श्री ड्यूहरिंग से प्राप्त किया है। इसलिये हम नीचे संक्षेप में बताये देते हैं कि क्वेने की तालिका में क्या है।

जैसा कि सुविदित है, प्रकृतिवादी ग्रर्थशास्त्री समाज को तीन वर्गों में बांट देते हैं: (१) उत्पादक वर्ग – ग्रर्थात् वह वर्ग, जो सचमुच खेती

करता है—पट्टेदार किसान और खेतिहर मज़दूर; ये लोग उत्पादक कहलाते हैं, क्योंकि उनके श्रम से एक बेशी अंश, अर्थात् लगान मिल जाता है। (२) वह वर्ग, जो इस बेशी अंश को हथिया लेता है और जिसमें ज़मींदार तथा उनके नौकर-चाकर, राजा और राज्य से वेतन पानेवाले आम तौर पर सारे अफ़सर तथा दशांश को हथिया लेनेवाले के अपने विशेष रूप में चर्च भी शामिल होता है। संक्षिप्त नामों का उपयोग करने की दृष्टि से नीचे हमने पहले वर्ग को केवल "किसान" और दूसरे को "ज़मींदार" कहा है। (३) औद्योगिक अथवा वंध्य वर्ग। वंध्य इसलिये कि प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में उसे उत्पादक वर्ग से जो कच्चा माल मिलता है, उसमें वह केवल उतना ही मूल्य जोड़ता है, जितना मूल्य वह जीवन निर्वाह के उन साधनों के रूप में ख़र्च कर देता है, जो उसे इसी वर्ग से प्राप्त होते हैं। क्वेने की तालिका यह दिखाने के लिये तैयार की गयी थी कि किसी भी देश की (असल में फ़्रांस की) कुल वार्षिक पैदावार का इन तीन वर्गों के बीच किस प्रकार परिचलन होता है और उससे वार्षिक पुनरुत्पादन में किस प्रकार सहायता मिलती है।

तालिका का पहला पूर्वाधार यह था कि पट्टेदारी और उसके साथ-साथ क्वेने के काल में प्रचलित अर्थ में वह बड़े पैमाने की खेती आम तौर पर सभी जगह चालू हो गयी थी, जिसका मूलरूप नौरमैण्डी, पिकार्डी, इल-दे-फ़्रांस तथा दो-चार अन्य फ़्रांसीसी प्रान्तों में दिखाई देता था। इसलिये यहां किसान खेती का असली अगुआ मालूम होता है, तालिका में वह पूरे उत्पादक (खेतिहर) वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और ज़मींदार को मुद्रा के रूप में लगान देता है। तमाम किसानों को मिलाकर उनके नाम के आगे खेती में लगी हुई अचल पूंजी या साज़-सामान के रूप में दस अरब लिव्र की रक़म लिख दी गयी है, जिसका पांचवां हिस्सा, या दो अरब की रक़म चल पूंजी की है। उसका हर साल स्थान भरना पड़ता है। ऊपर फ़्रांस के जिन प्रान्तों का नाम लिया गया है, उनके सबसे अधिक सुव्यवस्थित फ़ार्मों के आधार पर ही इस संख्या का भी अनुमान लगाया गया था।

तालिका के अन्य पूर्वाधार निम्नलिखित हैं: (१) चित्र को सरल बनाने की दृष्टि से मान लिया गया है कि दाम स्थिर रहते हैं और

पुनरुत्पादन साधारण होता है; (२) जो परिचलन एक ही वर्ग के भीतर होता है, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, और केवल वर्ग और वर्ग के बीच होनेवाले परिचलन की ओर ही ध्यान दिया जाता है; (३) एक औद्योगिक वर्ष में वर्ग और वर्ग के बीच जितनी ख़रीदारियां तथा बिक्रियां होती हैं, उन सबको जोड़कर एक रक़म में बदल दिया जाता है। अन्त में हमें याद रखना चाहिये कि क्वेने के काल में फ़्रांस में भोजन के सिवा किसानों की अन्य आवश्यकताओं का अधिकांश किसान परिवारों के घरेलू उद्योग से पूरा हो जाता था, और न्यूनाधिक रूप में पूरे यूरोप में यही हालत थी। इसलिये तालिका में किसानों के घरेलू उद्योग को खेती का अनुपूरक मान लिया गया है।

तालिका का प्रस्थान-बिन्दु है कुल फ़सल, भूमि की वार्षिक उपज से मिलनेवाली कुल पैदावार, जिसे इसलिये पहली मद की जगह पर–या देश के–यहां फ़्रांस के–"सम्पूर्ण पुनरुत्पादन" के रूप में रखा गया है। इस कुल पैदावार के मूल्य के परिमाण का व्यापारी राष्ट्रों में प्रचलित खेती की पैदावार के औसत दामों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है। यह पांच अरब लिव्र के बराबर बैठता है। यह रक़म फ़्रांस के खेती के कुल उत्पादन के मुद्रा मूल्य को मोटे तौर पर अभिव्यक्त करती है। फ़्रांस में उन दिनों जिस प्रकार के भी सांख्यिकीय अनुमान तैयार किये जाते थे, उन्हीं के आधार पर यह रक़म तैयार की गयी है। यही और केवल यही कारण है कि क्वेने अपनी तालिका में "कई अरब का", और बिल्कुल ठीक-ठीक कहिये, तो टुअर्स लिव्र के पांच अरब का क्यों हिसाब लगाते हैं और पांच टुअर्स लिव्र[142] से उनका काम क्यों नहीं चल जाता।

इसलिये पांच अरब की कुल पैदावार उत्पादक वर्ग के हाथ में, अर्थात् सबसे पहले किसानों के हाथ में है, जिन्होंने उसे दो अरब की वार्षिक चल पूंजी लगाकर पैदा किया है, जो दस अरब की लगी हुई अचल पूंजी के समनुरूप होती है। चल पूंजी का स्थान भरने के लिये–जिसमें खेती में प्रत्यक्ष रूप से लगे हुए व्यक्तियों का भरण-पोषण भी आ जाता है–खेती की जिस पैदावार की–जिन खाद्य-पदार्थों, कच्चे मालों, आदि

की – आवश्यकता होती है, उसे कुल पैदावार से in natura* लिया जा सकता है तथा उसका नये कृषि उत्पादन के लिये उपयोग किया जा सकता है। चूंकि हम दामों को स्थिर तथा साधारण पुनरुत्पादन का एक निश्चित माप मानकर चल रहे हैं, इसलिये कुल पैदावार से जो हिस्सा इस तरह ले लिया जाता है, वह दो अरब लिव्र के बराबर होता है। इसलिये यह हिस्सा सामान्य परिचलन में दाख़िल नहीं होता। क्योंकि जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, जो परिचलन एक वर्ग और वर्ग के बीच में नहीं होता, बल्कि एक ही वर्ग **के भीतर** होता है, उसे तालिका के बाहर रखा गया है।

कुल पैदावार में से चल पूंजी का स्थान भरने के बाद तीन अरब का बेशी अंश बाक़ी बचता है, जिसमें से दो अरब खाद्य-पदार्थों के रूप में हैं और एक अरब कच्चे मालों के रूप में। लेकिन किसानों को जो लगान ज़मींदारों को देना पड़ता है, वह इस रक़म का केवल दो-तिहाई, अर्थात् दो अरब के बराबर है। शीघ्र ही मालूम हो जायेगा कि "निवल पैदावार" या "निवल प्राप्ति" की मद में केवल ये दो अरब ही क्यों शामिल किये जाते हैं।

लेकिन खेती के "सम्पूर्ण पुनरुत्पादन" के अतिरिक्त, जिसका मूल्य पांच अरब है और जिसमें से तीन अरब सामान्य परिचलन में प्रवेश कर जाते हैं, किसानों के हाथ में, तालिका में वर्णित प्रक्रिया के आरम्भ होने **के पहले से** ही, राष्ट्र का पूरा "pécule" (अपसंचित धन), अर्थात् दो अरब नक़द होते हैं। यह बात निम्न ढंग से होती है।

चूंकि कुल फ़सल तालिका का प्रस्थान-बिन्दु है, इसलिये यह प्रस्थान-बिन्दु एक आर्थिक वर्ष का जैसे उदाहरण के लिये १७५८ का अन्तिम बिन्दु भी होता है। इसी बिन्दु से एक नया आर्थिक वर्ष आरम्भ हो जाता है। इस नये वर्ष, १७५९ के दौरान में, कुल पैदावार का वह भाग, जिसे परिचलन में प्रवेश करना है, अलग-अलग भुगतानों, ख़रीदारियों और बिक्रियों के माध्यम से दो अन्य वर्गों के बीच बंट जाता है। ये विभिन्न प्रक्रियाएं, जो एक दूसरे के बाद क्रमानुसार होती हैं और पूरे वर्ष जारी

---

* जिन्स की शक्ल में। – **सं०**

रहती हैं, उनको कुछ थोड़े-से प्रतिनिधि सौदों में जोड़ दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक सौदा पूरे वर्ष की प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करता है। बहरहाल तालिका में तो उनका इस तरह जोड़ दिया जाना अनिवार्य था। इस प्रकार किसान वर्ग ने १७५७ के लगान के रूप में ज़मींदारों को जो दो अरब की रक़म दी थी, वह १७५८ के समाप्त होने तक उसके पास लौट आती है (तालिका ख़ुद बतायेगी कि यह चीज़ किस तरह होती है); और इस कारण काश्तकार वर्ग १७५९ में इस रक़म को एक बार फिर परिचलन में डाल सकता है। लेकिन जैसा कि क्वेने ने कहा है, चूंकि अलग-अलग भुगतानों का निरन्तर एक क्रम बंधा रहता है, और चूंकि इस कारण देश के (फ़्रांस के) सम्पूर्ण परिचलन के लिये सचमुच जितनी बड़ी रक़म की आवश्यकता है, यह रक़म उससे कहीं अधिक बड़ी होती है, इसलिये किसानों के हाथ में जो दो अरब लिव्र हैं, वे राष्ट्र के भीतर परिचलन में भाग लेनेवाली कुल मुद्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लगान वसूल करनेवाले ज़मींदारों का वर्ग पहले पहल भुगतानों को पानेवालों के रूप में सामने आता है। यह बात आजकल भी देखी जा सकती है। क्वेने ने जो कुछ मान रखा है, उसके अनुसार जिनको सचमुच ज़मींदार कहा जा सकता है, उनको लगान की दो अरब की रक़म के सात में से केवल चार हिस्से मिलते हैं। दो हिस्से सरकार को चले जाते हैं और एक हिस्सा उन लोगों को, जिनको दशांश मिलता है। क्वेने के समय में चर्च फ़्रांस का सबसे बड़ा ज़मींदार था और साथ ही वह समस्त भू-सम्पत्ति पर दशांश भी वसूल करता था।

"वंध्य" वर्ग पूरे एक वर्ष में जो चल पूंजी (avances annuelles) लगाता है, उसमें एक अरब के मूल्य का कच्चा माल होता है – उसमें केवल कच्चा माल होता है, क्योंकि औज़ार, मशीनें, आदि स्वयं इस वर्ग की पैदावार में शामिल होती हैं। किन्तु इस प्रकार की पैदावार इस वर्ग के औद्योगिक उद्यमों में जो बहुत-सी अलग-अलग प्रकार की भूमिकाएं अदा करती है, उनसे तालिका का उसी प्रकार कोई संबंध नहीं है, जिस प्रकार उसका मालों तथा मुद्रा के उस परिचलन से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो विशिष्ट रूप से केवल उस वर्ग के भीतर होता है। वंध्य वर्ग जिस श्रम

के द्वारा कच्चे मालों को तैयार मालों में रूपान्तरित करता है, उसकी मजूरी जीवन निर्वाह के उन साधनों के मूल्य के बराबर होती है, जो उसको आंशिक रूप में सीधे और आंशिक रूप में ज़मींदारों के ज़रिये उत्पादक वर्ग से मिल जाते हैं। यद्यपि यह वंध्य वर्ग स्वयं पूंजीपतियों तथा मज़दूरों में बंटा हुआ है, तथापि क्वेने की मुख्य अवधारणा के अनुसार यह एक अभिन्न वर्ग है, जिसे उत्पादक वर्ग से और ज़मींदारों से वेतन मिलता है। कुल औद्योगिक पैदावार को और इसलिये उसके सम्पूर्ण परिचलन को भी, जो फ़सल के बाद शुरू होनेवाले पूरे एक वर्ष भर फैला रहता है, इसी तरह एक क्रिया में जोड़ दिया जाता है। चुनांचे यह मान लिया जाता है कि तालिका में निरूपित प्रक्रिया के आरम्भ में वंध्य वर्ग की मालों की वार्षिक पैदावार पूरी की पूरी उसी के हाथों में होती है और इसलिये उसकी पूरी चल पूंजी, जिसमें एक अरब के मूल्य का कच्चा माल होता है, दो अरब के मूल्य के माल में बदल दी गयी है, जिसका आधा मूल्य इस रूपान्तरण के दौरान ख़र्च कर दिये गये जीवन निर्वाह के साधनों के दाम का प्रतिनिधित्व करता है। यहां एक आपत्ति उठायी जा सकती है। वह यह कि आख़िर वंध्य वर्ग औद्योगिक पैदावार का अपनी घरेलू आवश्यकताओं के लिये भी तो उपयोग करता होगा। यदि उसकी कुल पैदावार परिचलन के द्वारा दूसरे वर्गों के पास पहुंच जाती है, तो यह हिस्सा कहां दिखाया जाता है? इस प्रश्न का हमें यह उत्तर दिया गया है कि वंध्य वर्ग न केवल अपने मालों के एक भाग का ख़ुद उपयोग कर डालता है, बल्कि वह बाक़ी में से भी अधिक से अधिक को अपने पास रोक रखने की कोशिश करता है। इसलिये वह जिन मालों को परिचलन में डालता है, उनको वह उनके वास्तविक मूल्य से अधिक में बेचता है, और चूंकि हमने इन मालों का मूल्य उनके उत्पादन के सम्पूर्ण मूल्य के बराबर लगाया है, इसलिये उसका यह करना ज़रूरी है। लेकिन इसका तालिका की संख्याओं पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि अन्य दो वर्गों को केवल उनके कुल उत्पादन मूल्य के बराबर मूल्य का तैयार माल मिलता है।

इस प्रकार अब हम यह जानते हैं कि तालिका में निरूपित प्रक्रिया के आरम्भ में तीनों अलग-अलग वर्गों की आर्थिक स्थिति क्या थी।

जब उत्पादक वर्ग की चल पूंजी का स्थान जिन्स से भर दिया जाता है, उसके बाद भी उसके पास तीन ग्ररब की खेती की कुल पैदावार ग्रौर दो ग्ररब मुद्रा के रूप में होते हैं। ग्रब जाकर ज़मींदार वर्ग उत्पादक वर्ग से दो ग्ररब का लगान वसूल करने के लिये ग्राता है। वंध्य वर्ग के पास दो ग्ररब तैयार माल के रूप में होते हैं। इन तीन वर्गों में से केवल दो वर्गों के बीच जो परिचलन होता है, उसे प्रकृतिवादी ग्रर्थशास्त्री ग्रपूर्ण परिचलन कहते हैं। जो परिचलन तीनों वर्गों के बीच होता है, उसे वे पूर्ण परिचलन कहते हैं।

ग्रब स्वयं ग्रार्थिक तालिका को लीजिये।

प्रथम (ग्रपूर्ण) **परिचलन:** किसानों को जो लगान ज़मींदारों को देना है, वह वे दो ग्ररब मुद्रा के रूप में ग्रदा कर देते हैं। उसके एवज़ में उन्हें कुछ नहीं मिलता। इन दो ग्ररबों में से एक ग्ररब देकर ज़मींदार जीवन निर्वाह के साधन किसानों से ख़रीद लेते हैं। इस तरह किसानों ने लगान देने के लिये जो मुद्रा ख़र्च कर दी थी, उसका ग्राधा भाग उनके पास लौट ग्राता है।

ग्रपने *Analyse du Tableau économique** में क्वेने ने इसके ग्रागे राज्य का, जिसको किराया-ज़मीन के सात में से दो हिस्से मिल जाते हैं, या चर्च का जिसको किराया-ज़मीन का सात में से एक हिस्सा मिल जाता है, ज़िक्र नहीं किया है, क्योंकि उनकी सामाजिक भूमिका को सब लोग ग्रच्छी तरह जानते हैं। परन्तु जहां तक उस वर्ग का सम्बन्ध है, जिसे सचमुच ज़मींदार वर्ग कहा जा सकता है, क्वेने का कहना है कि उसका ख़र्चा (जिसमें उसके नौकरों-चाकरों का ख़र्चा भी शामिल है) – कम से कम उसका ग्रधिकांश – ग्रनुत्पादक ख़र्चा होता है। उसके ख़र्चे का केवल वह छोटा भाग ही इसका ग्रपवाद है, जो "ज़मींदारों की ज़मीनों के सुधार के लिये ग्रौर उनकी खेती के स्तर को ऊपर उठाने के लिये" इस्तेमाल होता है। लेकिन "प्राकृतिक क़ानून" के ग्रनुसार उसका सही काम ही यह है कि वह "ग्रपनी पैतृक सम्पत्ति को ग्रच्छी हालत में बनाये

* 'ग्रार्थिक तालिका का विश्लेषण'। – **सं०**

रखने के लिये उसके अच्छे प्रबंध तथा आवश्यक ख़र्च की व्यवस्था करे";[143] या जैसा कि आगे बताया गया है, ज़मीन को तैयार करने के लिये तथा खेतों के लिये जो सारा सामान चाहिये, उसकी व्यवस्था करने के लिये avances foncières, अर्थात् पेशगी पैसा ख़र्च करे। इसके फलस्वरूप किसान अपनी पूरी पूंजी अनन्य रूप से वास्तविक खेती के धंधे में लगा सकता है।

द्वितीय (पूर्ण) परिचलन : ज़मींदारों के हाथ में जो मुद्रा है, उसके बाक़ी एक अरब से वे वंध्य वर्ग से तैयार माल ख़रीद लेते हैं; और वंध्य वर्ग को इस तरह जो मुद्रा मिल जाती है, उससे वह किसानों से इतनी ही रक़म के जीवन निर्वाह के साधन ख़रीद लेता है।

तृतीय (अपूर्ण) परिचलन : किसान एक अरब मुद्रा ख़र्च करके वंध्य वर्ग से तैयार माल की उतनी ही बड़ी राशि ख़रीद लेते हैं। इस राशि का एक बड़ा भाग खेती के औज़ारों और उत्पादन के अन्य ऐसे साधनों का होता है, जिनकी खेती में आवश्यकता होती है। वंध्य वर्ग इतनी ही बड़ी रक़म किसानों को लौटा देता है, क्योंकि उसे अपनी चल पूंजी का स्थान भरने के लिये एक अरब के मूल्य का कच्चा माल उनसे ख़रीदना पड़ता है। इस प्रकार किसानों ने लगान अदा करने के लिये जो दो अरब ख़र्च किये थे, वे उनके पास फिर लौट आते हैं और प्रक्रिया बन्द हो जाती है। और उसके साथ-साथ यह पहेली भी हल हो जाती है कि

"जिस निवल पैदावार को लगान के रूप में हथिया लिया गया है, उसका आर्थिक परिचलन के दौरान में क्या होता है?"

हमने ऊपर देखा था कि इस प्रक्रिया के आरम्भ में तीन अरब का बेशी अंश उत्पादक वर्ग के हाथ में था। इनमें से केवल दो अरब लगान रूपी निवल पैदावार के रूप में ज़मींदारों को दिये गये। बेशी अंश का बाक़ी भाग, तीसरा अरब, किसानों की लगायी हुई कुल अचल पूंजी का सूद होता है। कुल पूंजी दस अरब की थी। दस प्रतिशत का सूद एक अरब हुआ। उनको यह सूद – इस बात को ध्यान देकर सुनिये – परिचलन

से नहीं मिलता। वह तो in natura* उनके पास है, ग्रौर वे उसे समान मूल्य के तैयार माल में बदलकर केवल परिचलन में ही मूर्त रूप दे पाते हैं।

यदि यह सूद न मिलता, तो किसान, जो खेती का मुख्य ग्रभिकर्त्ता है, खेती में कभी पूंजी न लगाता। इस दृष्टिकोण से प्रकृतिवादी ग्रर्थशास्त्रियों के मतानुसार खेती की **बेशी ग्राय** के उस भाग का, जो सूद का प्रतिनिधित्व करता है, किसान द्वारा हस्तगतकरण पुनरुत्पादन की उतनी ही ग्रावश्यक शर्त है, जितनी ग्रावश्यक शर्त स्वयं किसान वर्ग का ग्रस्तित्व है। ग्रौर इसलिये इस तत्व को राष्ट्रीय "निवल पैदावार" या "निवल ग्राय" की कोटि में नहीं रखा जा सकता। कारण कि राष्ट्रीय "निवल पैदावार" या "निवल ग्राय" की तो मुख्य विशेषता ही यह है कि उसका राष्ट्रीय पुनरुत्पादन की तात्कालिक ग्रावश्यकताग्रों की ग्रोर कोई ध्यान दिये बिना उपयोग किया जा सकता है। किन्तु एक ग्ररब का यह कोष क्वेने के मतानुसार ग्रधिकांशतः उस मरम्मत में, जो वर्ष के दौरान में ज़रूरी हो जाती है, ग्रौर लगी हुई ग्रचल पूंजी के ग्रांशिक नवीकरण में काम ग्राता है। इसके ग्रलावा वह दुर्घटनाग्रों के समय सुरक्षित कोष के रूप में काम ग्राता है ग्रौर ग्रंत में वह जहां कहीं यह सम्भव हो, वहां लगी हुई ग्रचल पूंजी तथा चल पूंजी का परिवर्धन करने के लिये तथा भूमि में सुधार ग्रौर खेती का प्रसार करने के लिये इस्तेमाल होता है।

पूरी प्रक्रिया निश्चय ही "काफ़ी सरल" है। परिचलन में प्रवेश करते हैं: किसानों के दो ग्ररब मुद्रा की शक्ल में लगान की ग्रदायगी के लिये; ग्रौर तीन ग्ररब पैदावार की शक्ल में, जिसमें से दो तिहाई जीवन निर्वाह के साधन होते हैं ग्रौर एक तिहाई कच्चा माल; वंध्य वर्ग के दो ग्ररब, कारख़ानों में तैयार माल की शक्ल में। दो ग्ररब के जीवन निर्वाह के साधनों में से ग्राधे का ज़मींदार लोग तथा उनके नौकर-चाकर उपयोग कर डालते हैं ग्रौर ग्राधे का वंध्य वर्ग ग्रपने श्रम के एवज़ में उपयोग करता है। एक ग्ररब के मूल्य का कच्चा माल वंध्य वर्ग की चल पूंजी का स्थान भर देता है। कारख़ानों का जो तैयार माल परिचलन में भाग

* जिन्स की शक्ल में। – सं०

ले रहा है, उसका मूल्य दो अरब है। उसका आधा भाग ज़मींदारों के पास चला जाता है और आधा किसानों के पास, जिनके लिये वह केवल उस सूद का ही एक बदला हुआ रूप होता है, जो उनको सीधे खेती के पुनरुत्पादन से उनकी लगायी हुई अचल पूंजी के हिसाब से प्राप्त होता है। किन्तु किसान लगान अदा करने के लिये जो मुद्रा परिचलन में डालता है, वह उसकी पैदावार की बिक्री के ज़रिये उसके पास लौट आती है और इसीलिये अगले आर्थिक वर्ष में यही क्रिया नये सिरे से सम्पन्न हो सकती है।

और अब हमें श्री ड्यूहरिंग के "सचमुच आलोचनात्मक" विवेचन की प्रशंसा करनी चाहिये। वह "परम्परागत ढंग के सतही विवेचन" से इतना अधिक श्रेष्ठ है कि दोनों की तुलना करना असम्भव है। लगातार पांच बार बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से हमें यह बताने के बाद कि तालिका में केवल मुद्रा मूल्यों का प्रयोग करना क्वेने के लिये कितना ख़तरनाक सिद्ध हो सकता है—हालांकि बाद में हमें पता चला कि यह बात भी सच नहीं थी—वह अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि

"जिस निवल पैदावार को लगान के रूप में हथिया लिया गया है, उसका राष्ट्रीय-आर्थिक परिचलन के दौरान में क्या होता है?", आर्थिक तालिका "कुछ उलझी हुई तथा मनमानी अवधारणाओं के सिवा, जो रहस्यवाद के स्तर पर पहुंच जाती हैं, और कुछ नहीं दे सकती"।

हम देख चुके हैं कि इस तालिका ने—जो सरल भी है और साथ ही जिसमें परिचलन के माध्यम से सम्पन्न होनेवाली पुनरुत्पादन की वार्षिक क्रिया का एक ऐसा निरूपण किया गया है, जो उस काल की दृष्टि से बहुत योग्यतापूर्ण है—इस प्रश्न का बहुत सम्यक् उत्तर दिया है कि राष्ट्रीय-आर्थिक परिचलन के दौरान में इस निवल पैदावार का क्या होता है। इस प्रकार एक बार फिर हम यह देखते हैं कि "रहस्यवाद" तथा "उलझी हुई और मनमानी अवधारणाएं" केवल श्री ड्यूहरिंग के पास ही बचती हैं। उन्होंने प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों का जो अध्ययन किया है, यह उसका

"सबसे अधिक संदिग्ध पहलू" और उसकी एकमात्र "निवल पैदावार" है।

श्री ड्यूहरिंग को जितना ज्ञान प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों का है, ठीक उतनी ही जानकारी उनके ऐतिहासिक प्रभाव की है। उन्होंने हमें बताया है कि

"तुर्गो के साथ फ़्रांस में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों का सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से अन्त हो गया"।

इन तथ्यों का "किसी" ड्यूहरिंग के लिये कोई अस्तित्व नहीं है कि मिराबो अपने आर्थिक विचारों में मूलतया एक प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री थे; वह १७८९ की संविधान सभा के अर्थशास्त्र के सबसे प्रमुख विद्वान थे; इस सभा ने अपने आर्थिक सुधारों में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों के एक काफ़ी बड़े भाग को व्यवहार का रूप दे दिया था, और ख़ास तौर पर किराया-ज़मीन पर, अर्थात् भू-स्वामी लोग जिस निवल पैदावार को उसके एवज़ में "बिना कुछ दिये" हथिया लेते थे, उसपर भारी कर लगाया था।

जिस प्रकार श्री ड्यूहरिंग ने १६९१ से १७५२ तक एक लम्बी रेखा खींचकर ह्यूम के समस्त पूर्ववर्तियों का नाम इतिहास से काट दिया था, उसी प्रकार एक और रेखा खींचकर उन्होंने सर जेम्स स्टीवर्ट का नाम भी काट दिया है, जो ह्यूम और ऐडम स्मिथ के बीच में आता है। श्री ड्यूहरिंग के "उद्यम" में स्टीवर्ट की उस महान रचना के बारे में एक भी शब्द नहीं है, जिसने अपने ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र को स्थायी रूप से समृद्ध बनाया।[144] श्री ड्यूहरिंग ने स्टीवर्ट के लिये उस विशेषण का प्रयोग किया है, जो उनकी शब्दावली की सबसे बुरी गाली है। उन्होंने कहा है कि ऐडम स्मिथ के काल में स्टीवर्ट **"एक प्रोफ़ेसर"** था। दुर्भाग्य से यह कटाक्ष सर्वथा निराधार है। वास्तव में स्टीवर्ट स्काटलैण्ड का एक बड़ा भू-स्वामी था, जिसपर यह दोष लगाकर कि उसने स्टीवर्ट षड्यंत्र में भाग लिया था, ग्रेट ब्रिटेन से निर्वासित कर दिया गया था और जिसने यूरोपीय महाद्वीप में वर्षों तक

रहकर तथा यात्राएं करके विभिन्न देशों की आर्थिक परिस्थितियों की जानकारी हासिल की थी।

संक्षेप में : 'आलोचनात्मक इतिहास' के अनुसार पुराने तमाम अर्थशास्त्रियों का मूल्य केवल यह था कि उन्होंने या तो श्री ड्यूहरिंग के "प्राधिकारपूर्ण" तथा अधिक गूढ़ मूल सिद्धान्तों के "प्राथमिक तत्वों" का काम किया है, और या वे अपने दोषपूर्ण सिद्धान्तों के कारण श्री ड्यूहरिंग के लिये व्यतिरेक माध्यम का काम करते हैं। किन्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे वीर भी हैं, जो न केवल "अधिक गूढ़ मूल सिद्धान्तों" के "प्राथमिक तत्वों" का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि जो ऐसे "सिद्धान्तों" का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, जिनसे इन मूल सिद्धान्तों का, श्री ड्यूहरिंग के प्राकृतिक दर्शन के आदेशानुसार, "विकास" नहीं, बल्कि वास्तविक "संरचना" हुई है – जैसे उदाहरण के लिये "अतिमहान एवं विख्यात" **लिस्ट**, जिसने जर्मन कारख़ानेदारों के हितार्थ फ़ेरियेर तथा अन्य लोगों की "अधिक सूक्ष्म" व्यापारवादी शिक्षाओं को हवा से फुलाकर "अधिक शक्तिशाली" शब्दों का रूप दे दिया था; और **कैरे**, जिसने अपने ज्ञान का वास्तविक सार इस वाक्य में प्रकट कर दिया था कि

> "रिकार्डो की विचार प्रणाली विसंवादों की प्रणाली है... उसका पूरा उद्देश्य वर्गों के बीच शत्रुता पैदा कर देना है ... उसकी किताब जनता को भड़कानेवाले उस नेता की सच्ची गुटका है, जो कृषि सुधार, युद्ध और लूट-मार के ज़रिये सत्ता हथियाना चाहता है"; [145]

और अन्त में लन्दन सिटी के कनफ़्यूशियस*, **मैक्लिग्रोड।**

जो लोग वर्तमान काल में तथा निकट भविष्य में राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करना चाहते हैं, वे यदि श्री ड्यूहरिंग

---

* मार्क्स द्वारा लिखित दसवें अध्याय की पाण्डुलिपि में "Confucius" शब्द इस्तेमाल किया गया है, परन्तु 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के छपे हुए जर्मन संस्करणों में इसी ध्वनि के भिन्न शब्द, "Confusius" (अर्थात् मतिभ्रम पैदा कर देनेवाला) का प्रयोग किया गया है। – **सं०**

के "अतिभव्य शैली के ऐतिहासिक वर्णन" पर भरोसा न करके "अत्यन्त प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों के रूप में संकलित संग्रहों" की "थोथी सामग्रियों", "अति साधारण बातों" तथा "भिखारी के शोरबे" का कुछ परिचय प्राप्त कर लेंगे, तो निश्चय ही अपने को अधिक दृढ़ स्थिति में पायेंगे।

* * *

अतः राजनीतिक अर्थशास्त्र की श्री ड्यूहरिंग की "अपनी ख़ास प्रणाली" का हमने जो विश्लेषण किया है, अन्त में उसका क्या परिणाम निकलता है? सिवाय इसके और कुछ भी नहीं कि श्री ड्यूहरिंग चाहे जितने भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग करते हों और उन्होंने हमें चाहे जितने बड़े आश्वासन दिये हों, यहां भी हमें उतना ही बड़ा धोखा दिया गया है, जितना बड़ा धोखा "दर्शनशास्त्र" में दिया गया था। उनका मूल्य का सिद्धान्त, "आर्थिक प्रणालियों की क़ीमत की कसौटी", केवल यह है कि श्री ड्यूहरिंग के लिये मूल्य के पांच बिल्कुल अलग-अलग और एक दूसरे के सर्वथा विरोधी अर्थ हैं और इसलिये यदि हम शब्दों का बहुत संभालकर प्रयोग करें, तो भी यही कहना पड़ेगा कि श्री ड्यूहरिंग ख़ुद नहीं जानते कि वह क्या चाहते हैं। "समस्त अर्थशास्त्र के वे प्राकृतिक नियम", जिनकी इतने बाजे-गाजे के साथ घोषणा की गयी थी, निकृष्टतम कोटि की अतिसाधारण, पिटी-पिटायी ऐसी तुच्छ बातें सिद्ध करते हैं, जिनको हर आदमी जानता है और जिनको अक्सर श्री ड्यूहरिंग पूरी तरह समझते तक नहीं हैं। उनकी "अपनी ख़ास प्रणाली" आर्थिक तथ्यों का केवल एक यही कारण बता सकती है कि वे "बल प्रयोग" का पमिरणा हैं। यह एक ऐसा शब्द है, जिससे दुनिया-भर के कूपमण्डूक हज़ारों वर्षों से हर प्रकार के कष्ट के समय अपने मन को दिलासा देते आ रहे हैं और जो हर बार हमको जहां हम पहले खड़े थे, वहीं छोड़ देता है। परन्तु इस बल की उत्पत्ति तथा प्रभावों की छानबीन करने के बजाय श्री ड्यूहरिंग हमसे यह आशा करते हैं कि हम समस्त आर्थिक परिघटनाओं के अन्तिम एवं परम कारण तथा चरम व्याख्या के रूप में मात्र "बल" शब्द से संतुष्ट हो जायेंगे और श्री ड्यूहरिंग को धन्यवाद देंगे। इसके आगे

जब वह श्रम के पूंजीवादी शोषण की थोड़ी और व्याख्या करने को मजबूर हो जाते हैं, तो पहले वह मोटे तौर पर यह कहते हैं कि श्रम का पूंजीवादी शोषण करों तथा बेशी दामों पर आधारित है, और यह कहकर प्रूदों की "कटौती" (prélèvement) को पूर्णतया हस्तगत कर लेते हैं; और फिर वह मार्क्स के बेशी श्रम, बेशी पैदावार तथा बेशी मूल्य के सिद्धान्त की सहायता से उसकी तफ़सील के साथ व्याख्या करना आरम्भ करते हैं। इस प्रकार वह दो पूर्णतया विरोधी दृष्टिकोणों को एक ही सांस में काग़ज़ पर उतारकर दोनों के बीच एक सुखद समाधान करा देते हैं। और जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में जिस हेगेल का वह अपनी किताब में बराबर इस्तेमाल कर रहे थे और जिसकी सीखों को वह साथ ही लगातार तोड़-मरोड़कर नपुंसक बनाते जा रहे थे, उसको कोसने के लिये श्री ड्यूहरिंग को उपयुक्त गालियां नहीं मिलती थीं, उसी प्रकार 'आलोचनात्मक इतिहास' में मार्क्स पर जो निराधार आरोप लगाये गये हैं, उनसे केवल इस तथ्य पर पर्दा डाला गया है कि पूंजी और श्रम के बारे में 'पाठ्यक्रम' की जितनी बातें सर्वथा निरर्थक नहीं हैं, वे सब मार्क्स से चुरायी गयी हैं, जो चुराने के साथ-साथ विकृत भी कर दी गयी हैं। उनके अज्ञान की यह स्थिति है कि 'पाठ्यक्रम' में उन्होंने "बड़े भू-स्वामी" को सभ्य जातियों के इतिहास के आरंभ में ला खड़ा किया है। और जो समस्त इतिहास का प्रस्थान-बिन्दु है, क़बायली समुदायों तथा ग्राम समुदायों के भूमि के उस सामूहिक स्वामित्व के बारे में उनको एक शब्द भी मालूम नहीं है। वर्तमान काल में ऐसा घोर अज्ञान भी सम्भव है, यह एक ऐसी बात है, जो लगभग अबोधगम्य है। परन्तु यह अज्ञान भी उस अज्ञान के सामने फीका पड़ जाता है, जिसने 'आलोचनात्मक इतिहास' में, "अपने ऐतिहासिक सिंहावलोकन की सार्विक व्यापकता" के कारण ख़ुद अपनी इतनी प्रशंसा की है और जिसके हमने यहां पर केवल कुछ भयानक उदाहरण ही पाठकों के सामने रखे हैं। एक शब्द में कहें, तो यहां पहले आत्मश्लाघा का भगीरथ "प्रयत्न" होता है; कठबैदी ख़ुद अपनी तुरही बजाती है, एक से बढ़कर एक वायदे किये जाते हैं, और फिर इस सब का "परिणाम" निकलता है – शून्य।

भाग ३

समाजवाद

१

ऐतिहासिक

हमने 'प्रस्तावना'* में देखा था कि अठारहवीं शताब्दी के उन फ़्रांसीसी दार्शनिकों ने, जो क्रान्ति के अग्रदूत थे, किस प्रकार संसार में जो कुछ भी है, उसे बुद्धि की कसौटी पर परखने को कहा था। वे एक बुद्धिसंगत राज्य तथा बुद्धिसंगत समाज की स्थापना करना चाहते थे। वे ऐसी प्रत्येक वस्तु को निर्ममतापूर्वक हटा देना चाहते थे, जो शाश्वत बुद्धि के ख़िलाफ़ जाती थी। हमने यह भी देखा था कि यह शाश्वत बुद्धि वास्तव में अठारहवीं शताब्दी के उस नागरिक की समझ के आदर्श रूप के सिवा और कुछ नहीं थी, जिसका ठीक उसी समय पूंजीपति के रूप में विकास हो रहा था। इस बुद्धिसंगत समाज तथा बुद्धिसंगत राज्य को फ़्रांसीसी क्रान्ति ने मूर्त रूप दिया था। नयी व्यवस्था पुरानी परिस्थितियों की तुलना में तो काफ़ी बुद्धिसंगत थी, परन्तु पता चला कि वह सर्वथा बुद्धिसंगत कदापि नहीं है। बुद्धि पर आधारित राज्य पूर्णतया ध्वस्त हो गया। रूसो के सामाजिक संविदा ने आतंक के शासन में मूर्त रूप प्राप्त किया था, जिससे घबराकर पूंजीपति वर्ग ने, जिसका स्वयं अपनी राजनीतिक क्षमता में विश्वास समाप्त हो गया था, पहले डायरेक्टरेट की भ्रष्टता की शरण ली, और अन्त में वह नेपोलियन की निरंकुशता की गोद में जाकर बैठ गया।[147] वायदा किया गया था कि अब सदा शान्ति रहेगी। पर वह शाश्वत शान्ति दूसरे देशों को जीतने के एक अन्तहीन युद्ध में बदल गयी। बुद्धि पर आधारित समाज का हाल इससे बेहतर नहीं था। धनी और ग़रीब का विरोध मिटकर सामान्य समृद्धि नहीं आयी, बल्कि शिल्पी संघों के तथा अन्य प्रकार के उन विशेषाधिकारों के समाप्त कर दिये जाने के फलस्वरूप, जिनसे कुछ हद तक यह विरोध कम हो जाता था, और

---

* देखिये भाग १, 'दर्शनशास्त्र'।[146] **[एंगेल्स का नोट]**

चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़तम कर दिये जाने के फलस्वरूप यह विरोध और तीव्र हो गया है। पूंजीवादी आधार पर उद्योग का जो विकास हुआ, उसने श्रमिक जनता की दरिद्रता और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया। अपराधों की संख्या वर्ष प्रति वर्ष बढ़ती गयी। पहले, सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था; अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर पूंजीवादी अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखेबाज़ी बनता गया। क्रान्तिकारी आदर्श सूत्र के "बंधुत्व"[148] ने होड़ के रण की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बल के उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। समाज में ऊपर उठने के प्रथम साधन के रूप में तलवार का स्थान सोने ने ग्रहण कर लिया। लड़कियों के साथ पहली रात को सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं के बजाय पूंजीवादी कारख़ानेदारों को मिल गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी, जो पहले कभी सुनी नहीं गयी थी। विवाह प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यता प्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी रामनामी बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था। संक्षेप में दार्शनिकों ने जो सुन्दर वायदे किये थे, उनकी तुलना में "बुद्धि की विजय" से उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएं घोर निराशाजनक व्यंग्यचित्र प्रतीत होती थीं। बस केवल उन मनुष्यों का अभाव था, जो इस निराशा को अभिव्यक्त कर सकते। और नयी शताब्दी के आरम्भ होते होते वे लोग भी आ गये। १८०२ में सेंट-साइमन की 'जेनेवा की पत्नावली' प्रकाशित हुई। फ़ूरिये की पहली रचना १८०८ में निकली, हालांकि उनके सिद्धान्त का मूलाधार १७९९ में ही तैयार हो गया था। १ जनवरी, १८०० को रॉबर्ट ओवेन ने न्यू-लैनार्क की बागडोर अपने हाथ में ले ली।[149]

किन्तु इस समय तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का, और उसके साथ-साथ पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा के विरोध का बहुत कम विकास हुआ था। आधुनिक उद्योग का इंगलैण्ड में अभी हाल में जन्म हुआ था,

पर फ़्रांस में उसका किसी को पता न था। परन्तु आधुनिक उद्योग ही एक ओर उन टकरावों को विकसित करता है, जिनसे उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति करना नितान्त आवश्यक हो जाता है; और न केवल आधुनिक उद्योग से उत्पन्न वर्गों के बीच, बल्कि वह जिन उत्पादक शक्तियों तथा विनिमय के रूपों को जन्म देता है, उनके बीच भी संघर्ष बढ़ता जाता है। दूसरी ओर, आधुनिक उद्योग इन अतिवृहत् उत्पादक शक्तियों में ही इन संघर्षों का अन्त कर देने के साधन को भी तैयार कर देता है। इसलिये यदि १८०० के लगभग नयी समाज व्यवस्था से पैदा होनेवाले संघर्षों का विकास केवल आरम्भ ही हुआ था, तो उनका समाधान करने के साधन पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। आतंक के शासन के दिनों में पेरिस के सम्पत्तिविहीन जनसाधारण क्षण-भर के लिए अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो गये थे। परन्तु ऐसा करके वे केवल इतना ही सिद्ध कर पाये कि उस समय की परिस्थितियों में उनका प्रभुत्व क़ायम रखना कितना असम्भव था। इस सम्पत्तिविहीन जनसाधारण में से उस समय पहली बार एक नये वर्ग के बीज रूप में सर्वहारा का जन्म हुआ था। उस समय सर्वहारा में स्वतंत्र राजनीतिक कार्य का सामर्थ्य नहीं था। उन दिनों तो वह एक ऐसी उत्पीड़ित, दुःखी सामाजिक श्रेणी प्रतीत होता था, जो स्वयं अपनी सहायता करने में पूर्णतया असमर्थ था और जिसे अधिक से अधिक केवल बाहर से, ऊपर से सहायता पहुंचायी जा सकती थी।

यह ऐतिहासिक परिस्थिति समाजवाद के संस्थापकों पर भी छायी हुई थी। पूंजीवादी उत्पादन की अपरिपक्व परिस्थितियों तथा अपरिपक्व वर्ग सम्बन्धों के समनुरूप सिद्धान्त भी अपरिपक्व थे। सामाजिक समस्याओं का जो समाधान अभी अविकसित आर्थिक परिस्थितियों के गर्भ में छिपा हुआ था, उसे कल्पनावादियों ने मस्तिष्क में से निकालने की कोशिश की। समाज में बुराइयों के सिवा और कुछ नज़र नहीं आता था। इन बुराइयों को दूर करना बुद्धि का काम था। अतः यह आवश्यक था कि एक नयी तथा अधिक निर्दोष समाज व्यवस्था का आविष्कार करके उसे प्रचार के द्वारा तथा जहां कहीं सम्भव हो, वहां आदर्श प्रयोगों के उदाहरण के द्वारा

बाहर से समाज पर थोप दिया जाये। इन नयी समाज व्यवस्थाओं के बारे में यह पहले से ही निश्चित था कि वे केवल कल्पना लोक बनकर रह जायेंगी। जितनी अधिक पूर्णता के साथ उनकी ब्योरे की बातों को अमल में लाने की कोशिश की गयी, उतनी ही अधिक अनिवार्यता के साथ वे विशुद्ध भ्रान्त कल्पनाओं में बदलती गयीं।

इन तथ्यों को एक बार स्थापित करने के बाद प्रश्न के इस पहलू पर जो पूरी तरह एक बीते हुए ज़माने से ताल्लुक़ रखता है, और विचार करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती। अब हम उसे ड्यूहरिंग जैसे साहित्यिक छुटभइयों के लिये छोड़ सकते हैं, जो इन भ्रान्त कल्पनाओं* को लेकर, जिनको देखकर हम आजकल केवल मुस्कराकर रह जाते हैं, अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बाल की खाल निकाला करेंगे और इस प्रकार के "पागलपन" की तुलना में अपनी नीरस तर्क पद्धति की श्रेष्ठता की घोषणा किया करेंगे। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, हम उन अतिमहान विचारों और विचारों के बीजों को देखकर हर्षित होते हैं, जो क़दम क़दम पर भ्रान्त कल्पनाओं के खोल को फाड़कर बाहर निकल आते हैं और जिनको देखने में ये कूपमण्डूक लोग बिल्कुल असमर्थ हैं।

सेंट-साइमन ने अपनी 'जेनेवा की पत्रावली' में ही यह प्रस्थापना कर दी थी कि

"सभी लोगों को काम करना चाहिये"।

इसी रचना में उन्होंने यह बात भी स्वीकार की थी कि आतंक का शासन सम्पत्तिविहीन जनसाधारण का शासन था।

वह जनता से कहते हैं: "देखो, जब फ़्रांस में तुम्हारे साथियों ने सत्ता अपने हाथों में ले ली, तब वहां क्या हुआ? उन्होंने देश में अकाल की स्थिति पैदा कर दी।"[150]

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्यांश इस प्रकार है – "हम इसे साहित्यिक छुटभइयों के लिये छोड़ सकते हैं, जो इन भ्रांत कल्पनाओं को लेकर अत्यंत गंभीरतापूर्वक बाल की खाल निकालते रहते हैं। – सं०

परन्तु फ़्रांसीसी क्रान्ति को अभिजात वर्ग, पूंजीपति वर्ग तथा सम्पत्तिविहीन वर्गों के बीच चलनेवाला वर्ग संघर्ष समझना – यह १८०२ में निश्चय ही एक अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न खोज थी। १८१६ में सेंट-साइमन ने कहा कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है और भविष्यवाणी की कि कुछ समय के बाद अर्थशास्त्र राजनीति को पूरी तरह हज़म कर लेगा।[151] यहां पर यह ज्ञान केवल बीज रूप में सामने आता है कि राजनीतिक संस्थाओं का आधार आर्थिक परिस्थितियां होती हैं। परन्तु एक विचार यहां पर बहुत स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हो जाता है, वह यह कि मनुष्यों के ऊपर स्थापित राजनीतिक शासन भविष्य में वस्तुओं के प्रबंध तथा उत्पादन प्रक्रियाओं के संचालन में बदल जायेगा; अर्थात् "राज्य को रद्द" कर दिया जायेगा, जिसके बारे में हमने हाल में इतना शोर सुना था। सेंट-साइमन ने अपने समकालीनों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता उस समय पुनः एक बार प्रमाणित कर दी, जब उन्होंने १८१४ में पेरिस में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के दाख़िल होने के तुरन्त ही बाद, और फिर १८१५ में सौ दिन के युद्ध के दौरान में यह घोषणा की कि यूरोप के समृद्धिपूर्ण विकास तथा शान्ति की एकमात्र गारण्टी यह है कि फ़्रांस का इंगलैण्ड के साथ और फिर इन दोनों देशों का जर्मनी के साथ मैत्री संघ क़ायम हो जाये।[152] बहरहाल जर्मन प्रोफ़ेसरों के विरुद्ध वाक्-युद्ध छेड़ने की अपेक्षा १८१५ में फ़्रांसीसियों को वाटरलू के विजेताओं के साथ मैत्री संघ क़ायम करने के लिये कहने के वास्ते थोड़े अधिक साहस की आवश्यकता थी।*

यदि सेंट-साइमन में हमें दृष्टिकोण की एक ऐसी व्यापकता मिलती है, जिसके कारण बाद के समाजवादियों के लगभग सभी ऐसे विचार,

---

*स्पष्टतया यहां इशारा बर्लिन विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफ़ेसरों के साथ ड्यूहरिंग के झगड़ों की ओर है। 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का पाठ इस प्रकार है: "१८१५ में फ़्रांसीसियों को वाटरलू के विजेताओं के साथ एक गंठजोड़ बनाने का उपदेश देने के लिये जितनी साहस की आवश्यकता थी उतनी ही ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि की भी।"[153] – **सं०**

जो विशुद्ध रूप में आर्थिक नहीं हैं, बीज रूप में उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं, तो फ़ूरिये की रचनाओं में हमें समाज की मौजूदा परिस्थितियों की एक ऐसी आलोचना मिलती है, जो सचमुच फ़्रांसीसी ढंग की व्यंग्य भरी आलोचना है, पर जिसकी सूक्ष्म दृष्टि में इस कारण कोई कमी नहीं आयी है। फ़ूरिये पूंजीपति वर्ग को, क्रान्ति के पहले के उसके प्रेरणावान भविष्यवक्ताओं को, और क्रान्ति के बाद के उसके स्वार्थी चारणों को ख़ुद उन्हीं के शब्दों की कसौटी पर परखते हैं। वह पूंजीवादी संसार की भौतिक तथा नैतिक दरिद्रता को निर्ममतापूर्वक अनावृत कर देते हैं। वह इस संसार का दार्शनिकों के उन जाज्वल्यमान् आश्वासनों से मुक़ाबला करते हैं, जिनमें एक ऐसे समाज का जहां केवल बुद्धि राज करेगी, एक ऐसी सभ्यता का जिसमें सर्वत्र सुख का साम्राज्य होगा, और मनुष्य की सीमाहीन विकासशीलता का चित्र खींचा गया था और वह इस संसार का अपने काल के पूंजीवादी विचारकों की गुलाबी शब्दावली से मुक़ाबला करते हैं। वह बताते हैं कि किस प्रकार अत्यन्त भारी-भरकम शब्दावली के पीछे हर जगह अत्यन्त घृणित वास्तविकता छिपी हुई है। वह शब्दों तथा वाक्यांशों के इस गोरखधंधे को अपने तीक्ष्ण व्यंग्य से काटकर रख देते हैं।

फ़ूरिये केवल आलोचक नहीं हैं। उनका निर्विकार और शान्त स्वभाव उनको व्यंगकार बना देता है, और निश्चित रूप से उनका स्थान सम्पूर्ण मानव इतिहास के सबसे बड़े व्यंगकारों में है। क्रान्ति का पतन हो जाने पर जो धोखे से भरी सट्टेबाज़ी शुरू हुई थी और ख़ूब फली-फूली थी, और उस काल में फ़्रांसीसी वाणिज्य के क्षेत्र में, उसकी एक ख़ास विशेषता के रूप में, जो दूकानदारी की भावना फैली हुई थी, उनका भी फ़ूरिये ने समान शक्ति के साथ तथा उतने ही आकर्षक ढंग से वर्णन किया है। और उन्होंने स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के पूंजीवादी रूप की, तथा पूंजीवादी समाज में नारी की स्थिति की जो आलोचना की है, वह तो और भी अधिक उत्कृष्ट स्तर की चीज़ है। फ़ूरिये ने सबसे पहले यह बात कही थी कि प्रत्येक समाज व्यवस्था में नारी की मुक्ति का स्तर सामान्य मुक्ति के स्तर की स्वाभाविक माप का काम करता है।[154]

परन्तु फ़ूरिये की महानता सबसे अधिक स्पष्ट रूप में उनकी समाज

के इतिहास की अवधारणा में प्रकट हुई है। वह समाज के पूरे इतिहास को विकास की चार अवस्थाओं में विभाजित कर देते हैं: वन्यावस्था, पितृसत्तात्मक अवस्था, बर्बरता तथा सभ्यता। यह अन्तिम अवस्था और आजकल की तथाकथित बुर्जुआ समाज व्यवस्था एक ही चीज़ हैं।* फ़ूरिये ने प्रमाणित कर दिया है कि

"बर्बरता जिन अनाचारों को सरल ढंग से करती थी, सभ्य अवस्था उनमें से प्रत्येक अनाचार को एक संश्लिष्ट, अस्पष्ट, संदिग्ध एवं पाखण्डपूर्ण जीवन प्रणाली में परिणत कर देती है"।

फ़ूरिये ने सिद्ध कर दिया है कि सभ्यता एक "दुष्चक्र" में चक्कर लगाती रहती है और ऐसे विरोधों में फंसी हुई है, जिनका वह पुनरुत्पादन तो निरन्तर करती जाती है, पर जिनको वह हल नहीं कर पाती। और इसलिये वह जो कुछ प्राप्त करना चाहती है, या प्राप्त करने की इच्छा का ढोंग करती है, उसकी सदा बिल्कुल उल्टी चीज़ उसके हाथ लगती है।[155] उदाहरण के लिये इसी का यह परिणाम है कि

"सभ्यता में **दरिद्रता स्वयं अतिप्रचुरता से उत्पन्न होती है**"।[156]

जैसा कि स्पष्ट है, फ़ूरिये ने द्वन्द्ववादी पद्धति का उसी सुदक्षता के साथ प्रयोग किया है, जिस सुदक्षता के साथ उनके समकालीन हेगेल ने उसका प्रयोग किया था। इसी द्वन्द्ववाद का आगे प्रयोग करते हुए फ़ूरिये ने सीमाहीन मानव विकासशीलता की बातों के मुक़ाबले में यह युक्ति पेश की है कि इतिहास की प्रत्येक अवस्था का अपना उत्कर्ष का काल होता है और साथ ही उसका अपना पतन का काल भी होता है,[157] और इस बात को उन्होंने सम्पूर्ण मानवजाति के भविष्य पर लागू किया है। जिस प्रकार काण्ट ने पृथ्वी के अन्ततः नष्ट हो जाने के विचार को प्राकृतिक विज्ञान का एक अंग बना दिया था, उसी प्रकार फ़ूरिये ने मानवजाति का

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्यांश इस प्रकार है: "आजकल की तथाकथित नागरिक या बुर्जुआ समाज व्यवस्था"। –**सं०**

अन्ततः विनाश हो जाने के विचार को ऐतिहासिक विज्ञान का अंग बना दिया है।

जिस समय फ़्रांस में क्रान्ति की आंधी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चल रही थी, उसी समय इंगलैण्ड में एक अपेक्षाकृत अधिक शान्त क्रान्ति सम्पन्न हो रही थी, पर इस कारण उसका महत्व कम नहीं था। वहां भाप और औज़ार बनानेवाली नयी मशीनें मैनुफ़ेक्चर को आधुनिक उद्योग में रूपान्तरित किये डाल रही थीं, और इस प्रकार पूंजीवादी समाज के पूरे मूलाधार में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर रही थीं। इसके फलस्वरूप मैनुफ़ेक्चर के काल का अतिमन्द गति से होनेवाला विकास उत्पादन की तूफ़ानी प्रगति में बदल गया। अधिकाधिक बढ़ती हुई तेज़ी के साथ समाज बड़े पूंजीपतियों तथा सम्पत्तिविहीन सर्वहारा में विभाजित होने लगा। इन दो के बीच में अब पहले जैसी एक स्थिर मध्य सामाजिक श्रेणी नहीं थी, बल्कि दस्तकारों तथा छोटे दूकानदारों का एक अस्थिर समूह था, जो आबादी का सबसे अधिक घटते-बढ़ते रहनेवाला हिस्सा था और बहुत ही संकटापन्न जीवन व्यतीत करता था।

इस नयी उत्पादन प्रणाली ने अभी अपने उत्कर्ष काल में प्रवेश ही किया था; अभी वह समाज की सामान्य उत्पादन प्रणाली थी—और उस समय जैसी परिस्थितियां थीं, उनमें केवल इसी प्रकार की उत्पादन प्रणाली सम्भव थी। फिर भी उस समय भी इस उत्पादन प्रणाली से भयानक सामाजिक बुराइयां पैदा हो रही थीं—बड़े शहरों के सबसे गंदे मुहल्लों में एक बेघरबार आबादी भेड़ों-बकरियों की तरह भर गयी थी; सभी परम्परागत नैतिक बन्धन, पितृसत्तात्मक अधीनता तथा पारिवारिक नाते-रिश्ते ढीले पड़ गये थे; मज़दूरों से ख़ास तौर पर स्त्रियों और बच्चों से ख़ौफ़नाक हद तक अत्यधिक श्रम कराया जाता था; सहसा बिल्कुल नयी परिस्थितियों में लाकर पटक दिये जाने के फलस्वरूप मज़दूर वर्ग का नैतिक मनोबल एकदम टूट गया था।

ऐसे समय एक उनतीसवर्षीय कारख़ानेदार सुधारक के रूप में आगे आया। यह बच्चों जैसे सरल, लगभग उत्कृष्ट स्वभाव का आदमी था, पर साथ ही उसमें जन्म से ही दूसरे मनुष्यों का नेतृत्व करने की ऐसी

विलक्षण क्षमता थी, जैसी बहुत कम लोगों में देखने में आती है। रॉबर्ट ओवेन ने भौतिकवादी दार्शनिकों की इस शिक्षा को अपनाया था कि मनुष्य का चरित्र एक ओर आनुवंशिकता का और दूसरी ओर उस वातावरण का फल होता है, जिसमें व्यक्ति ने अपना जीवन और ख़ास तौर पर अपने विकास का काल व्यतीत किया है। उनके वर्ग के अधिकतर लोगों को औद्योगिक क्रान्ति में केवल अव्यवस्था और गड़बड़ी नज़र आती थी और वे उसे इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाने और आनन-फ़ानन दौलत बटोर लेने का सुअवसर समझते थे। परन्तु रॉबर्ट ओवेन की दृष्टि में औद्योगिक क्रान्ति उनके प्रिय सिद्धान्त को अमल में लाने और इस प्रकार अव्यवस्था को व्यवस्था का रूप देने का अवसर थी। मैंचेस्टर की एक फ़ैक्टरी में पांच सौ से अधिक मज़दूरों के अधीक्षक के रूप में वह इसका एक सफल प्रयोग पहले ही कर चुके थे। १८०० से १८२९ तक उन्होंने प्रबंधकर्त्ता हिस्सेदार के रूप में स्काटलैण्ड में न्यू-लैनार्क की बड़ी सूती मिल का इसी रीति के अनुसार, किन्तु पहले से अधिक स्वतंत्रता के साथ संचालन किया, और इसमें उनको इतनी बड़ी सफलता मिली कि वह सारे यूरोप में विख्यात हो गये। मज़दूरों की एक ऐसी आबादी को, जहां तरह-तरह के और प्रायः नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट लोग आकर रहने लगे थे, और जिसकी संख्या धीरे-धीरे २,५०० तक पहुंच गयी थी, रॉबर्ट ओवेन ने एक आदर्श बस्ती में बदल दिया, जिसमें शराबख़ोरी, पुलिस, मैजिस्ट्रेट, मुक़दमेबाज़ी, ग़रीबों की सहायता के क़ानून, दान जैसी चीज़ों को कोई जानता तक नहीं था। और यह सब उन्होंने केवल मनुष्यों को मनुष्योचित परिस्थितियों में रखकर और विशेषकर नयी पीढ़ी का ध्यानपूर्वक लालन-पालन करके किया था। वह शिशु-पाठशालाओं के संस्थापक थे, और उन्होंने उनको पहले पहल न्यू-लैनार्क में स्थापित किया था। बच्चे दो वर्ष की आयु में इस पाठशाला में आते थे और वहां उनको इतना आनन्द मिलता था कि वे आसानी से घर लौटने को राज़ी नहीं होते थे। जबकि ओवेन के प्रतिद्वन्द्वी कारख़ानेदार अपने मज़दूरों से रोज़ाना तेरह या चौदह घण्टे काम ले रहे थे, तब न्यू-लैनार्क में काम का दिन केवल साढ़े दस घण्टे का था। जब कपास के संकट के कारण न्यू-लैनार्क की मिल चार महीने के लिये बन्द हो गयी तो मज़दूरों

को बराबर पूरा वेतन मिलता रहा। और इस सब के बाद भी व्यवसाय का मूल्य दुगने से ज़्यादा हो गया, और वह आख़िर तक अपने मालिकों को काफ़ी बड़ा मुनाफ़ा देता रहा।

परन्तु इतना सब करने के बाद भी ओवेन को संतोष नहीं हुआ। वह अपने मज़दूरों के लिये जिस प्रकार के जीवन स्तर की व्यवस्था करने में सफल हुए थे, वह उनकी दृष्टि में मनुष्योचित जीवन स्तर से बहुत नीचे था।

"लोग दासों की भांति मेरी इच्छा के अधीन थे",

वह कहा करते थे। ओवेन अपने मज़दूरों को जिस प्रकार की अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल परिस्थितियों में रखने में सफल हुए थे, उनसे भी मज़दूरों के लिये यह सम्भव नहीं था कि वे अपने चरित्र तथा अपने मस्तिष्क का बहुमुखी बुद्धिसंगत विकास कर सकें और अपनी समस्त क्षमताओं का स्वतंत्र उपयोग करने के मामले में तो वे और भी कम प्रगति कर पाये थे।

"और फिर भी २,५०० व्यक्तियों की इस आबादी का काम करनेवाला भाग रोज़ाना समाज के लिये उतना वास्तविक धन पैदा कर देता था, जितना धन पैदा करने के लिये आधी शताब्दी से भी कम समय पहले ६,००,००० की आबादी के काम करनेवाले भाग की आवश्यकता होती। मैंने अपने आपसे प्रश्न किया कि २,५०० व्यक्ति जितना धन ख़र्च करते हैं, और ६,००,००० व्यक्ति जितना धन ख़र्च करते, उनका अन्तर कहां चला गया?"

प्रश्न का उत्तर स्पष्ट था। वह कारख़ाने के मालिकों को ३,००,००० पौण्ड से अधिक असल मुनाफ़े के अलावा उनकी लगायी हुई पूंजी पर ५ प्रतिशत का सूद देने के लिये इस्तेमाल होता था। जो बात न्यू-लैनार्क के लिये सच थी, वह इंगलैण्ड की तमाम फ़ैक्टरियों के लिये तो और भी अधिक सच थी।

"यदि मशीनों से यह नया धन न पैदा किया जाता, हालांकि उनका सही ढंग से उपयोग नहीं किया गया था, तो नेपोलियन के विरुद्ध तथा समाज के अभिजात वर्गीय सिद्धान्तों के समर्थन में यूरोप की लड़ाइयों को

लड़ना असम्भव होता। और फिर भी यह नयी शक्ति असल में मज़दूर वर्ग की सृष्टि थी।"*

इसलिये इस नयी शक्ति के फलों पर मज़दूरों का अधिकार था। इन नव-जनित विराट उत्पादक शक्तियों में, जिनका अभी तक केवल कुछ व्यक्तियों को दौलतमन्द बनाने और जनता को ग़ुलाम बनाने के लिये इस्तेमाल किया गया था, ओवेन को समाज के पुनर्निर्माण का आधार मिल गया। उनका कहना था कि भविष्य में इन शक्तियों से सब की सामूहिक सम्पत्ति के रूप में सब की भलाई के लिये काम लिया जायेगा।

ओवेन का कम्युनिज़्म विशुद्ध रूप से इस कामकाजी हिसाब-किताब पर आधारित था। वह मानो इस व्यावसायिक गणना का निष्कर्ष था। आख़िर तक उसका यह व्यावहारिक स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा। चुनांचे १८२३ में ओवेन ने आयरलैण्ड की पीड़ित जनता की सहायता करने के लिये कम्युनिस्ट बस्तियां स्थापित करने का सुझाव दिया; और उनकी स्थापना के ख़र्च, वार्षिक ख़र्च और सम्भावित आय का पूरा हिसाब बनाकर तैयार कर दिया।[158] और भविष्य के लिये उन्होंने जो निश्चित योजना बनायी थी, उसमें ब्योरे की बातों का प्राविधिक विवेचन ऐसी व्यावहारिक दक्षता के साथ किया गया है कि यदि एक बार ओवेन की समाज सुधार की पद्धति को स्वीकार कर लिया जाये, तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से ब्योरे की बातों की व्यवस्था के ख़िलाफ़ बहुत कम कहा जा सकता था।

जब ओवेन कम्युनिज़्म की दिशा में बढ़े, तो उनके पूरे जीवन में एक मोड़ आ गया। जब तक वह केवल एक परोपकारी दानवीर थे, तब तक उनको धन, प्रशंसा, सम्मान और गौरव सब कुछ उपलब्ध था। उस समय वह यूरोप के सबसे अधिक लोकप्रिय व्यक्ति थे। न केवल उनके अपने वर्ग

---

*यह अंश सभी "यूरोप के लाल लोकतंत्रवादियों, कम्युनिस्टों और समाजवादियों" को संबोधित एक स्मरण-पत्र 'विचारों और व्यवहार में क्रांति', पृष्ठ २१ से उद्धृत किया गया है, जिसे फ़्रांस की अस्थायी सरकार (१८४८) और "महारानी विक्टोरिया तथा उनके ज़िम्मेदार सलाहकारों को" भी भेजा गया था। **[एंगेल्स का नोट]**

के लोग, बल्कि राजनयिक और राजा-महाराजा भी उनकी बातें सुनते थे और उनको पसन्द करते थे। परन्तु जब उन्होंने अपने कम्युनिस्ट सिद्धान्त लोगों के सामने रखे, तो कुछ और ही हालत नज़र आयी। उनके विचार से तीन बड़ी रुकावटें समाज सुधार का रास्ता रोके हुए थीं: निजी सम्पत्ति, धर्म तथा विवाह का वर्तमान रूप। वह जानते थे कि यदि उन्होंने इन तीन चीज़ों पर चोट की, तो उनका क्या हाल होगा। वह जानते थे कि ऐसा करने पर उनको अधिकृत समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा, और समाज में उनको जो स्थान प्राप्त है, वह उनसे एकदम छिन जायेगा। परन्तु ये सारी बातें उन्हें नहीं रोक सकीं और उन्होंने नतीजों से डरे बिना उनपर चोट की। और उनको जिसकी आशंका थी, वही हुआ। उनको अधिकृत समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। अख़बारों ने उनके ख़िलाफ़ ख़ामोशी की साज़िश की। अमरीका में उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर जो असफल कम्युनिस्ट प्रयोग किये, उनमें वे आर्थिक रूप से तबाह हो गये। अन्त में उन्होंने सीधे मज़दूर वर्ग से सम्पर्क स्थापित किया और अगले तीस वर्ष तक वह मज़दूरों के बीच में काम करते रहे। इंगलैण्ड में जितने सामाजिक आन्दोलन हुए हैं और मज़दूरों के हित में जितने वास्तविक प्रगति के क़दम उठाये गये हैं, उनमें से प्रत्येक रॉबर्ट ओवेन के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। पांच साल तक लड़ने के बाद १८१९ में वह फ़ैक्टरियों में काम करनेवाली स्त्रियों और बच्चों के काम के घण्टों पर सीमा लगानेवाला पहला क़ानून पास कराने में सफल हुए।[159] इंगलैण्ड की तमाम ट्रेड-यूनियनों ने जिस पहली कांग्रेस में अपना एक महान संयुक्त संघ बनाया था, ओवेन उस कांग्रेस के अध्यक्ष थे।[160] समाज के पूर्णतया कम्युनिस्ट संगठन की ओर बढ़ने के लिये कुछ संक्रमणकालीन क़दमों के रूप में उन्होंने एक ओर फुटकर व्यापार तथा उत्पादन का कार्य करनेवाली सहकारी समितियां बनायीं, जिन्होंने इस बात का व्यावहारिक प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है कि सामाजिक दृष्टि से सौदागर और कारख़ानेदार बिल्कुल अनावश्यक हैं। दूसरी ओर, उन्होंने श्रम नोटों के माध्यम के द्वारा श्रम की पैदावार का विनिमय करने के लिये श्रम के बाज़ार खोले। इन श्रम नोटों की इकाई थी एक घण्टे का काम।[161] इन संस्थाओं का असफल हो जाना पहले से

निश्चित था, परन्तु उनमें प्रूदों के उस विनिमय बैंक की कल्पना को पहले से ही साकार रूप दे दिया गया था, जो बहुत बाद में दुनिया के सामने आयी।[162] दोनों में कोई अन्तर था तो केवल इतना ही कि ओवेन के ये श्रम के बाज़ार समाज की सभी बुराइयों के लिये रामबाण होने का दावा नहीं करते थे, बल्कि एक कहीं अधिक मौलिक सामाजिक क्रान्ति की ओर बढ़ने के लिये महज़ एक पहले क़दम का दावा करते थे।

परम सत्ता सम्पन्न श्री ड्यूहरिंग अपने "अन्तिम एवं चरम सत्य" की चोटी पर खड़े होकर इन्हीं व्यक्तियों को उस अवज्ञा के साथ देखते हैं, जिसके कुछ उदाहरण हम 'प्रस्तावना' में दे चुके हैं। और एक दृष्टि से इस अवज्ञा का एक पर्याप्त कारण भी मौजूद है: वास्तव में इन तीन कल्पनावादियों की रचनाओं के विषय में श्री ड्यूहरिंग का सचमुच भयानक अज्ञान ही इस अवज्ञा का मूल आधार है। चुनांचे सेंट-साइमन के बारे में श्री ड्यूहरिंग ने लिखा है कि

"उसका मूल विचार बुनियादी बातों की दृष्टि से सही था, और यदि उसके कुछ एकांगी पहलुओं की ओर ध्यान न दिया जाये, तो इस विचार से आज भी वास्तविक सृजन के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है"।

परन्तु यद्यपि लगता है कि सेंट-साइमन की कुछेक रचनाएं सचमुच श्री ड्यूहरिंग के हाथ में भी पहुंची हैं, तथापि सम्बन्धित सत्ताईस छपे हुए पृष्ठों में लाख खोजने पर भी कहीं यह पता नहीं चलता कि सेंट-साइमन का यह "मूल विचार" था क्या। उसकी खोज भी उतनी ही निष्फल सिद्ध होती है, जितनी कुछ समय पहले हमारी वह खोज सिद्ध हुई थी, जब हम यह पता लगाने की कोशिश कर रहे थे कि क्वेने की तालिका का "स्वयं क्वेने में क्या अर्थ है"। और इस बार भी अन्त में हमें केवल इस वाक्यांश से ही संतोष कर लेना पड़ता है कि

"सेंट-साइमन के पूरे चिन्तन संश्लेष पर कल्पना तथा परोपकार का उत्साह ... और उसके साथ जुड़ी हुई अत्यन्त उग्र भ्रान्त कल्पना हावी है"!

जहां तक फ़ूरिये का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग का समस्त ज्ञान अथवा विवेचन भविष्य के विषय में फ़ूरिये की उन कल्पनाओं तक ही सीमित है,

जिनको फ़ूरिये ने बड़े मनोरम विस्तार के साथ चित्रित किया है। फ़ूरिये की तुलना में श्री ड्यूहरिंग की असीम श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिये ज़ाहिर है, इस चीज़ का "कहीं अधिक महत्व" है, और उसके मुक़ाबले में इस बात का कोई महत्व नहीं है कि फ़ूरिये **"राह चलते** वास्तविक परिस्थितियों की आलोचना करने की किस तरह कोशिश करते हैं"। राह चलते! असल में फ़ूरिये की रचनाओं का प्रत्येक पृष्ठ हमारी इस बहुप्रशंसित सभ्यता की तुच्छता का भण्डाफोड़ करनेवाले तीखे व्यंग्य तथा आलोचना से भरा हुआ है। यह तो उसी तरह की बात हुई जैसे कोई यह कहे कि श्री ड्यूहरिंग केवल "राह चलते" ही श्री ड्यूहरिंग को भूत, भविष्य और वर्तमान का महानतम विचारक घोषित करते हैं। और जिन बारह पृष्ठों में रॉबर्ट ओवेन की चर्चा की गयी है, उनको श्री ड्यूहरिंग ने केवल एक ही पुस्तक के आधार पर लिखा है, और वह है कूपमण्डूक सारजण्ट द्वारा लिखित ओवेन की गर्हित जीवनी। पर सारजण्ट को भी ओवेन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचनाओं का—विवाह तथा कम्युनिज़्म व्यवस्था से सम्बन्धित रचनाओं का—कोई ज्ञान नहीं था।[163] इसी लिये श्री ड्यूहरिंग यह तक कह डालते हैं कि हमें यह मानकर नहीं चलना चाहिये कि ओवेन की रचनाओं में हमें "कोई सुस्पष्ट कम्युनिज़्म" मिलेगा। यदि श्री ड्यूह-रिंग ने ओवेन की रचना 'नये नैतिक जगत् की पुस्तक' के पन्नों को एकाध बार उल्टा भी होता, तो निश्चय ही उनको यह मालूम होता कि इस पुस्तक में जितने स्पष्ट रूप में कम्युनिज़्म अभिव्यक्त हुआ है, उससे अधिक स्पष्ट रूप में उसका अभिव्यक्त होना असम्भव है। इस कम्युनिज़्म में हरेक आदमी पर श्रम करने की बराबर ज़िम्मेदारी है और पैदावार पर हरेक का बराबर अधिकार है—पर जैसा कि ओवेन हर बार जोड़ देते हैं, यह समानता आयु पर निर्भर करती है। यही नहीं, श्री ड्यूहरिंग को इस पुस्तक में भावी कम्युनिस्ट समाज की अत्यन्त सम्यक् निर्माण परियोजना भी मिल जाती, जिसमें उसका नक़्शा, अगवाड़े का और विहंगम दृश्य भी शामिल हैं। परन्तु यदि कोई आदमी श्री ड्यूहरिंग की तरह "समाजवादी विचार संश्लेषों के प्रतिनिधियों की रचनाओं का प्रत्यक्ष अध्ययन" करने चलता है और फिर इनमें से कुछ थोड़ी-सी रचनाओं के शीर्षक मात्र और बहुत हुआ तो **आदर्श वाक्य** भर पढ़कर रह जाता है, तो वह इस प्रकार

की मूर्खतापूर्ण तथा सर्वथा निराधार बातें कहने के अलावा और क्या कर सकता है? ओवेन ने "सुस्पष्ट कम्युनिज़्म" का केवल प्रचार ही नहीं किया। पांच वर्ष तक (चौथे दशक के अन्त में और पांचवें दशक के आरम्भ में) उन्होंने हैम्पशायर के हार्मोनी हॉल बस्ती में उसको कार्यान्वित भी किया।[164] इस बस्ती के कम्युनिज़्म की सुस्पष्टता में कोई कमी नहीं थी। इस कम्युनिस्ट आदर्श प्रयोग के कुछ भूतपूर्व सदस्यों से ख़ुद मेरा भी परिचय था। पर सारजण्ट को इस सब की, या ओवेन की १८३६ और १८५० के बीच की गतिविधियों की ज़रा भी जानकारी नहीं थी; और इसलिये श्री ड्यूहरिंग की "अधिक गूढ़ ऐतिहासिक कृति" भी अज्ञान के घोर अंधकार में भटकती रह जाती है। श्री ड्यूहरिंग ने कहा है कि ओवेन "प्रत्येक दृष्टि से दुराग्रहपूर्ण परोपकार के राक्षसी अवतार हैं"। परन्तु जब यही श्री ड्यूहरिंग हमें उन पुस्तकों की सार-वस्तु बताना शुरू करते हैं, जिनके शीर्षकों और आदर्श वाक्यों को भी वह अच्छी तरह नहीं जानते, तब हमें हरगिज़ यह नहीं कहना चाहिये कि श्री ड्यूहरिंग "प्रत्येक दृष्टि से दुराग्रहपूर्ण अज्ञान के राक्षसी अवतार हैं", क्योंकि यदि **हमारे होंठों से** ये शब्द निकलेंगे, तो वे निश्चय ही "गाली" समझे जायेंगे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, कल्पनावादी इसलिये कल्पनावादी थे कि वे उस समय, जब पूंजीवादी उत्पादन का बहुत कम विकास हुआ था, और कुछ हो ही नहीं सकते थे। उनके लिये लाज़िमी था कि नये समाज के तत्वों को ख़ुद अपने दिमाग़ों में से निकालें, क्योंकि उस समय तक पुराने समाज के भीतर नये समाज के तत्व सामान्यतया दृष्टिगोचर नहीं हुए थे। नयी इमारत की मूल परियोजना तैयार करने के लिये वे केवल बुद्धि का ही सहारा ले सकते थे, और वह केवल इसलिये कि उस समय तक वे इस काम के लिये समकालीन इतिहास का सहारा नहीं ले सकते थे। परन्तु आज, जब कल्पनावादियों के लगभग अस्सी वर्ष बाद श्री ड्यूहरिंग इस दावे के साथ रंगमंच पर उतरते हैं कि उन्होंने एक नयी समाज व्यवस्था की "प्राधिकारपूर्ण" परियोजना तैयार कर डाली है–और उसका आधार वह ऐतिहासिक रूप में विकसित सामग्री नहीं है, जो आज श्री ड्यूहरिंग को उपलब्ध है, तथा यह परियोजना इस सामग्री का अनिवार्य परिणाम नहीं है–नहीं, नहीं!–बल्कि उसका तो श्री ड्यूहरिंग के परम सत्ता

सम्पन्न मस्तिष्क के भीतर निर्माण हुआ है, और वह तो चरम सत्यों से भरे हुए उनके दिमाग़ से निकली है—जब वह यह दावा करते हैं, तो पता चलता है कि हर जगह प्रतिभाहीन उत्तराधिकारियों को देखनेवाले श्री ड्यूहरिंग ख़ुद कल्पनावादियों के प्रतिभाहीन उत्तराधिकारी हैं, वह ख़ुद नवीनतम कल्पनावादी हैं। उन्होंने महान कल्पनावादियों को "सामाजिक कीमियागर" कहा है। हो सकता है, उनकी बात सही हो। अपने युग में कीमियागरी की भी आवश्यकता थी। परन्तु तब से आज तक आधुनिक उद्योग ने पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के गर्भ में सुषुप्तावस्था में पड़े हुए विरोधों को जगाकर ऐसे तीव्र विरोधों में परिणत कर दिया है कि इस उत्पादन प्रणाली का आसन्न ध्वंस मानो स्पर्शगोचर बन गया है। ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि ख़ुद इन नयी उत्पादक शक्तियों को भी केवल उनके विकास की वर्तमान अवस्था के अनुरूप एक नयी उत्पादन प्रणाली क़ायम करके ही जीवित रखा जा सकता है तथा उनका आगे विकास किया जा सकता है। दुनिया में अभी तक जो उत्पादन प्रणाली क़ायम है, उससे पैदा होनेवाला दो वर्गों का संघर्ष, जिसका निरन्तर पहले से अधिक तीव्र विरोध के रूप में पुनरुत्पादन होता रहता है, अब सभी सभ्य देशों में फैल गया है और दिन प्रति दिन अधिक हिंसापूर्ण रूप धारण करता जा रहा है। और अब इन ऐतिहासिक अन्तर्सम्बन्धों को, उनके कारण जो परिस्थितियां सामाजिक रूपान्तरण के लिये आवश्यक हो जाती हैं उनको, और इन अन्तर्सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होनेवाली इस रूपान्तरण की मुख्य विशेषताओं को भी समझा जा चुका है। ऐसे समय में भी यदि श्री ड्यूहरिंग उपलब्ध आर्थिक सामग्री का उपयोग न करके, केवल अपने परम सत्ता सम्पन्न मस्तिष्क में से निकालकर एक नयी काल्पनिक समाज व्यवस्था की रूपरेखा तैयार कर देते हैं, तो वह केवल "सामाजिक कीमियागरी" नहीं करते। बल्कि वह तो उस व्यक्ति के समान व्यवहार करते हैं, जो आधुनिक रसायन विज्ञान के नियमों का आविष्कार तथा स्थापना हो जाने के बाद भी पुरानी कीमियागरी को बहाल करने की कोशिश करता है और जो परमाणविक भार, आणविक सूत्रों, परमाणुओं की संयोजकता, स्फटिक विज्ञान तथा वर्णक्रम विश्लेषण का केवल ... **पारस पत्थर** का पता लगाने के लिये उपयोग करता है।

२

सैद्धान्तिक

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा का मूलाधार है कि उत्पादन और उत्पादन के बाद उत्पादित वस्तुओं का विनिमय समस्त सामाजिक संरचना का आधार होता है; और अभी तक इतिहास में जितनी समाज व्यवस्थाएं देखी गयी हैं, उनमें वस्तुओं के वितरण का ढंग तथा वर्गों अथवा सामाजिक श्रेणियों में समाज के विभाजन का ढंग इसपर निर्भर होता है कि उस समाज में किन चीज़ों का उत्पादन होता है, किस तरह होता है और उत्पादित वस्तुओं का विनिमय कैसे होता है। इस दृष्टिकोण से समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रान्तियों के मूल कारणों को हमें मनुष्यों के दिमाग़ों में या शाश्वत सत्य एवं न्याय की मनुष्यों की बेहतर समझ में न खोजकर उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियों में होनेवाली तब्दीलियों में खोजना चाहिये। इन कारणों को हमें प्रत्येक विशिष्ट युग के **दर्शनशास्त्र** में नहीं, बल्कि उसके **अर्थव्यवस्था** में खोजना चाहिये। यह बढ़ती हुई समझ कि मौजूदा सामाजिक प्रथाएं अबुद्धिसंगत तथा अन्यायपूर्ण हैं, और "विवेक अविवेक बन गया है तथा न्याय अन्याय में रूपान्तरित हो गया है*—यह तो केवल इस बात का प्रमाण है कि उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियों में चुपचाप कुछ ऐसे परिवर्तन हो गये हैं, जिनसे यह समाज व्यवस्था, जो पुरानी आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप है, मेल नहीं खाती। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि हमें जिन विषमताओं का पता चलता है, उनको दूर करने के साधन भी न्यूनाधिक विकसित रूप में स्वयं उत्पादन की बदली हुई परिस्थितियों में मौजूद होंगे। इन साधनों को अपने मस्तिष्क से निकालकर उनका **आविष्कार** नहीं **करना** है, बल्कि मस्तिष्क की सहायता

---

* गेटे, 'फ़ॉस्ट', खंड १, दृश्य ४ में मेफ़िस्तोफ़ेलीस के शब्द।—सं०

से उनको उत्पादन के वर्तमान भौतिक तथ्यों में से खोजकर **निकालना** है।*

तब फिर इस दृष्टि से आधुनिक समाजवाद की क्या स्थिति है?

अब यह बात सामान्यतया सर्वमान्य है कि समाज की वर्तमान संरचना आजकल के शासक वर्ग की, पूंजीपति वर्ग की सृष्टि है। पूंजीपति वर्ग के लिये विशिष्ट रूप से लाक्षणिक उत्पादन प्रणाली जो मार्क्स के समय से ही पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है, सामन्ती व्यवस्था के स्थानीय विशेषाधिकारों, सामाजिक श्रेणी सम्बन्धी विशेषाधिकारों तथा सामन्ती व्यवस्था के पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्धों से मेल नहीं खाती थी।** पूंजीपति वर्ग ने सामन्ती व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और उसके ध्वंसावशेषों पर पूंजीवादी समाज व्यवस्था का, स्वतंत्र होड़, व्यक्तिगत स्वाधीनता, क़ानून की दृष्टि में मालों के सभी मालिकों की समानता तथा अन्य समस्त पूंजीवादी वरदानों का निर्माण किया। उसके बाद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली स्वतंत्रतापूर्वक विकास कर सकती थी। जब भाप, मशीनरी और मशीनरी द्वारा मशीनों के निर्माण ने पुराने मैनुफ़ेक्चर को आधुनिक उद्योग में रूपान्तरित कर दिया, तो पूंजीपति वर्ग की रहनुमाई में जिन उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ था, वे इतनी तेज़ी के साथ और इस हद तक बढ़ गयीं, जिसके बारे में पहले कभी सुना तक नहीं गया था। परन्तु जिस प्रकार अपने ज़माने में पुराना

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का मूल पाठ इस प्रकार है: "इन साधनों को मूलभूत सिद्धांतों से निगमित करके उनका आविष्कार नहीं करना है, बल्कि उनको उत्पादन की मौजूदा प्रणाली के वास्तविक तथ्यों में से खोजकर निकलना है।" — **सं०**

'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का मूल पाठ इस प्रकार है: "पूंजीपति वर्ग के लिये विशिष्ट रूप से लाक्षणिक उत्पादन प्रणाली जो मार्क्स के समय से ही पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है, सामंती व्यवस्था, इससे अलग-अलग व्यक्तियों को प्राप्त विशेषाधिकारों, समस्त सामाजिक श्रेणियों और स्थानीय निगमों तथा अधीनीकरण के उन आनुवंशिक संबंधों से मेल नहीं खाती थी, जो इसके सामाजिक संगठन का ढांचा बनाते थे। — **सं०

मैनुफ़ेक्चर और उसके प्रभाव में पहले से अधिक विकासमान दस्तकारी, शिल्पी संघों के सामन्ती बंधनों से टकरायी थीं, उसी प्रकार अब आधुनिक उद्योग, जिसका और भी पूर्ण विकास हो चुका है, उन सीमाओं से टकरा रहा है, जिनके भीतर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने उसे जकड़ रखा है। नयी उत्पादक शक्तियां अभी से उनके उपयोग की पूंजीवादी प्रणाली से आगे निकल गयी हैं। और उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन प्रणालियों के बीच चलनेवाला यह संघर्ष मूल पाप तथा ईश्वरीय न्याय के संघर्ष की भांति मनुष्य के मन के भीतर उत्पन्न नहीं हुआ है। यह संघर्ष वास्तव में चल रहा है। उसका हमारे मन के बाहर, वस्तुगत अस्तित्व है, और यहां तक कि वह उन मनुष्यों की इच्छा तथा कार्यों से भी स्वतंत्र है, जिन्होंने इस संघर्ष को आरम्भ किया है। आधुनिक समाजवाद इस वास्तविक संघर्ष के मानसिक प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं है। वह मनुष्यों के मन में, और सबसे पहले इस संघर्ष से प्रत्यक्ष रूप में उत्पीड़ित वर्ग के, मज़दूर वर्ग के मन में इस संघर्ष की भावगत प्रतिच्छाया मात्र है।

अच्छा तो यह संघर्ष किस बात को लेकर है?

पूंजीवादी उत्पादन के पहले, अर्थात् मध्य युग में आम तौर पर छोटे पैमाने का उत्पादन पाया जाता था, जो इस बात पर आधारित था कि उत्पादन के साधन कारीगरों की निजी सम्पत्ति थे। देहात में छोटे किसानों, स्वतंत्र किसानों या भू-दासों की खेती पायी जाती थी; शहरों में दस्तकारियां थीं। श्रम के साधन – भूमि, खेती के उपकरण, वर्कशाप, औज़ार – ये सब श्रम के ऐसे साधन थे, जिनसे हर व्यक्ति अलग-अलग काम लेता था, जो एक व्यक्ति के उपयोग के अनुकूल बनाये गये थे, और इसलिये जो लाज़िमी तौर पर छोटे, बौने और अत्यन्त परिमित ढंग के साधन थे। परन्तु इसी कारण वे आम तौर पर ख़ुद उत्पादक की सम्पत्ति होते थे। उत्पादन के इन बिखरे हुए, सीमित साधनों को संकेन्द्रित करना, उनका परिवर्धन करना, उनको वर्तमान काल के उत्पादन के शक्तिशाली उत्तोलकों में बदल देना – यही पूंजीवादी उत्पादन तथा उसके ध्वजारोहक, पूंजीपति वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका थी। 'पूंजी' के चौथे भाग में मार्क्स ने विस्तार के साथ बताया है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से आज तक सरल सह-

कारिता, मैनुफ़ेक्चर तथा आधुनिक उद्योग, इन तीन अवस्थाओं में से गुज़रते हुए यह कार्य किस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न हुआ है। परन्तु वहीं पर यह भी प्रमाणित कर दिया गया है कि पूंजीपति वर्ग उत्पादन के इन अल्प साधनों को शक्तिशाली उत्पादक शक्तियों में तब तक नहीं बदल सकता था, जब तक कि वह साथ ही उन्हें व्यक्तिगत उत्पादन साधनों से **सामाजिक** उत्पादन साधनों में न बदल दे, जिनसे केवल **मनुष्यों का एक समूह** ही काम कर सकता है। चर्खे, हथकरघे और लोहार के हथौड़े का स्थान कताई की मशीन, बिजली से चलनेवाले करघे और भाप से चलनेवाले हथौड़े ने ग्रहण कर लिया। अलग-अलग व्यक्तियों की वर्कशापों का स्थान फ़ैक्टरियों ने ले लिया, जिनमें सैकड़ों और हज़ारों मज़दूरों को सहकारिता करनी पड़ती थी। इसी प्रकार उत्पादन स्वयं बहुत-से व्यक्तिगत कार्यों का क्रम नहीं रहा, बल्कि इसके बजाय सामाजिक कार्यों का क्रम बन गया, और व्यक्तिगत पैदावार की जगह पर सामाजिक पैदावार होने लगी। अब ज़ो सूत, जो कपड़ा, या जो धातु की बनी वस्तुएं फ़ैक्टरी से तैयार होकर निकलती थीं, वे बहुत-से मज़दूरों की संयुक्त पैदावार होती थीं और तैयार होने के पहले इन वस्तुओं को बारी-बारी से इन तमाम मज़दूरों के हाथों में से गुज़रना पड़ता था। उनके बारे में कोई एक व्यक्ति यह नहीं कह सकता था कि "इस वस्तु को **मैंने** बनाया है; यह **मेरी** पैदावार है"।

परन्तु जहां कहीं समाज में उत्पादन का मूल रूप वह स्वयंस्फूर्त्त श्रम विभाजन है, वहां उत्पादित वस्तुएं **मालों** का रूप धारण कर लेती हैं, जिनका पारस्परिक विनिमय करके, जिनको बेचकर और ख़रीदकर अलग-अलग उत्पादक अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। और मध्य युग में यही हालत थी। उन दिनों मिसाल के लिये किसान खेती की पैदावार कारीगर के हाथ बेच देता था और उससे दस्तकारी की पैदावार ख़रीद लेता था। अलग-अलग उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों, या मालों के उत्पादकों के इस समाज में नयी उत्पादन प्रणाली घुस आयी। पहले पूरे समाज पर पुराने ढंग के श्रम विभाजन का राज था, जो स्वयंस्फूर्त्त ढंग से और **बिना किसी निश्चित योजना के** पैदा हो गया था। अब उसके बीच में एक नया श्रम विभाजन दिखाई देने लगा,

जिसका फ़ैक्टरी में **एक निश्चित योजना** के अनुसार संगठन किया जाता था। **व्यक्तिगत उत्पादन** के साथ-साथ **सामाजिक** उत्पादन भी दिखाई देने लगा। दोनों की पैदावार एक ही मण्डी में बिकती थी, और इसलिये दोनों की पैदावार यदि एकदम बराबर दामों पर नहीं, तो कम से कम लगभग बराबर दामों पर बिकती थी। परन्तु जो संगठन एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता था, वह स्वयंस्फूर्त्त श्रम विभाजन से अधिक शक्तिशाली होता था। बहुत-से व्यक्तियों के मिलकर काम करनेवाले समूह की संयुक्त सामाजिक शक्तियों से काम लेनेवाली फ़ैक्टरियां अपना माल छोटे पैमाने पर अलग-अलग उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों के मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा सस्ते में तैयार कर लेती थीं। चुनांचे एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में व्यक्तिगत उत्पादन पराजित होता गया। समाजीकृत उत्पादन ने उत्पादन की तमाम पुरानी पद्धतियों में क्रान्ति पैदा कर दी। परन्तु इसके साथ-साथ उत्पादन के इस क्रान्तिकारी स्वरूप को इतना कम पहचाना गया था कि उसका उल्टे मालों के उत्पादन को बढ़ाने तथा उसका विकास करने के लिये प्रयोग किया गया था। अपने जन्म के समय उसे मालों के उत्पादन तथा विनिमय की कुछ मशीनरी बनी-बनायी तैयार मिल गयी थी, जैसे सौदागरी पूंजी, दस्तकारी और उजरती श्रम। चूंकि समाजीकृत उत्पादन मालों के उत्पादन के एक नये रूप की तरह सामने आया था, इसलिये स्वभावतया उसके अन्तर्गत भी हस्तगतकरण के पुराने रूप ही क़ायम रहे, और समाजीकृत उत्पादन की पैदावार पर भी वे ही रूप लागू होते रहे।

मालों के उत्पादन के विकास की मध्ययुगीन अवस्था में इस तरह का कोई सवाल नहीं उठ सकता था कि श्रम की पैदावार का मालिक कौन हो। उस समय अलग-अलग उत्पादन करनेवाला व्यक्ति आम तौर पर ख़ुद अपने कच्चे माल से, जो प्रायः उसकी अपनी मेहनत का फल होता था, ख़ुद अपने औज़ारों का इस्तेमाल करते हुए और महज़ अपने हाथों या अपने परिवार के हाथों के श्रम से पैदावार तैयार करता था। इस तरह जो नयी पैदावार तैयार होती थी, उसे उसको हस्तगत नहीं करना पड़ता था। वह तो स्वभावतया और पूर्णतया उसकी सम्पत्ति होती थी। इसलिये

पैदावार पर उसका स्वामित्व उसके **अपने श्रम पर** आधारित था। जहां कहीं बाहरी सहायता इस्तेमाल की जाती थी, वहां पर भी आम तौर पर इसका बहुत कम महत्व होता था, और बहुत-सी जगहों में, तो उसके लिये मज़दूरी के अलावा अन्य प्रकार का मुआवज़ा दिया जाता था। शिल्पी संघों के शागिर्दों को जो भोजन और नक़द मज़दूरी मिलती थी, उसका उनके लिये उतना महत्व नहीं होता था, जितना काम सीखने का, क्योंकि काम सीखकर वे ख़ुद उस्ताद कारीगर बन सकते थे।

उसके बाद उत्पादन के साधनों को बड़ी-बड़ी वर्कशापों और मैनुफ़ेक्चरियों में संकेंद्रित कर दिया गया; उनको सचमुच उत्पादन के समाजीकृत साधनों में रूपान्तरित कर दिया गया। लेकिन उत्पादन के इन साधनों और उनकी पैदावार के साथ इस परिवर्तन के बाद भी पहले जैसा ही व्यवहार किया जाता था, अर्थात् उनको अब भी अलग-अलग व्यक्तियों के उत्पादन के साधन तथा अलग-अलग व्यक्तियों की पैदावार समझा जाता था। अभी तक श्रम के साधनों का मालिक ख़ुद पैदावार को हस्तगत कर लिया करता था, क्योंकि आम तौर पर वह उसकी अपनी पैदावार होती थी, और दूसरों का सहायतार्थ श्रम केवल अपवाद के रूप में लिया जाता था। अब श्रम के साधनों का मालिक पैदावार को हस्तगत करता गया, हालांकि अब वह **उसकी** पैदावार नहीं होती थी, बल्कि अनन्य रूप से **दूसरे लोगों के श्रम की** पैदावार होती थी। इस प्रकार अब जो पैदावार सामाजिक ढंग से पैदा की जाती थी, उसे वे लोग हस्तगत नहीं करते थे, जिन्होंने सचमुच उत्पादन के साधनों को गतिमान बनाया था और जिन्होंने सचमुच मालों को पैदा किया था, बल्कि उसे **पूंजीपति** हस्तगत कर लेते थे। उत्पादन के साधनों का और स्वयं उत्पादन का मूलतः समाजीकरण हो गया था। परन्तु वे हस्तगतकरण के एक ऐसे रूप के अधीन थे, जो व्यक्तियों के निजी उत्पादन को मानकर चलता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति ख़ुद अपनी पैदावार का मालिक होता है और उसे मण्डी में लेकर आता है। उत्पादन प्रणाली हस्तगतकरण के इस रूप के अधीन रहती है, हालांकि वह उन परिस्थितियों को मिटा देती है, जिनपर हस्तगतकरण का यह रूप आधारित

है*। इस विरोध में, जिससे नयी उत्पादन प्रणाली को उसका पूंजीवादी चरित्र प्राप्त होता है, **आजकल के समस्त सामाजिक विरोधों का बीज निहित है।** नयी उत्पादन प्रणाली उत्पादन के सभी निर्णायक क्षेत्रों पर और आर्थिक दृष्टि से निर्णायक महत्व के सभी देशों पर** जितना ज़्यादा हावी होती जाती है और वह जितना ही वैयक्तिक उत्पादन को एक महत्वहीन अवशेष में परिणत करती जाती है, **उतना ही पूंजीवादी हस्तगतकरण के साथ समाजीकृत उत्पादन की विसंगति स्पष्ट रूप में सामने आती जाती है।**

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, शुरू में पूंजीपतियों को उजरती श्रम पहले से बना-बनाया तैयार मिल गया था। परन्तु यह उजरती श्रम अपवादिक, अनुपूरक, सहायक और अस्थायी ढंग का था। यह सही है कि खेतिहर किसान कभी-कभी रोज़नदारी के आधार पर नौकरी कर लेता था, पर उसके पास उसकी अपनी चन्द एकड़ ज़मीन होती थी, जिसके सहारे वह सख़्त से सख़्त मुसीबत के दिन भी काट सकता था। शिल्पी संघों का संगठन इस प्रकार का था कि जो आदमी आज शागिर्द है, वही कल को उस्ताद कारीगर हो जाता था। परन्तु जब उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो गया और वे पूंजीपतियों के हाथों में संकेंद्रित हो

---

*इस सम्बन्ध में यह बताने की शायद कोई आवश्यकता नहीं है कि हस्तगतकरण का **रूप** ज्यों का त्यों रहते हुए भी, ऊपर जिन प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है, उनसे हस्तगतकरण के **चरित्र** में उतनी ही बड़ी क्रान्ति हो जाती है, जितनी बड़ी क्रान्ति उत्पादन में हो जाती है। इससे ज़ाहिर है, काफ़ी बड़ा फ़र्क़ हो जाता है कि मैं अपनी पैदावार को हस्तगत कर रहा हूं, या किसी और की पैदावार को। यहां प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि उजरती श्रम, जिसमें पूरी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली बीज रूप में निहित होती है, बहुत प्राचीन चीज़ है। इक्के-दुक्के, बिखरे हुए रूप में वह सदियों तक दासों के श्रम के साथ-साथ पायी जाती थी। परन्तु यह बीज रूप विकसित होकर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली केवल उसी समय बन सका, जब उसके लिये आवश्यक तमाम ऐतिहासिक परिस्थितियां पहले तैयार हो गयीं। **[एंगेल्स का नोट]**

**'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में लिखा है: "सभी कल-कारख़ानों वाले देशों में।" – सं०

गये, तो तत्काल ही यह पूरी हालत बदल गयी। अलग-अलग उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों के उत्पादन के साधनों, और साथ ही उनकी पैदावार का मूल्य अधिकाधिक कम होता गया, और अन्त में इन लोगों के सामने इसके सिवा और कोई चारा नहीं रह गया कि पूंजीपति के मातहत मज़दूर बनकर काम करने लगें। इसके पहले अपवाद के रूप में और सहायक श्रम के रूप में उजरती श्रम कराया जाता था, अब उसका नियम बन गया और इस प्रकार का श्रम समस्त उत्पादन का आधार हो गया। इसके पहले उत्पादक कभी-कभी अपने एक गौण धंधे के रूप में मजूरी कर लिया करता था; अब मजूरी करना उसका एकमात्र धंधा बन गया। जो पहले केवल एक निश्चित समय के लिये यदा-कदा मजूरी कर लिया करता था, वही अब जीवन-भर के लिये उजरती मज़दूर बन गया। इसी काल में सामन्ती व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी, सामन्ती प्रभुओं के नौकरों-चाकरों को जवाब मिलता जा रहा था और किसानों को उनके खेतों से बेदख़ल किया जा रहा था, इत्यादि। इससे इन स्थायी उजरती मज़दूरों की संख्या में बहुत बड़ी वृद्धि हो गयी। एक ओर पूंजीपतियों के हाथों में संकेंद्रित उत्पादन के साधनों और दूसरी ओर उन उत्पादकों का, जिनके पास अपनी श्रम शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं था, सम्बन्ध विच्छेद सम्पूर्ण हो गया। **समाजीकृत उत्पादन और पूंजीवादी हस्तगतकरण का विरोध सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के विरोध के रूप में अभिव्यक्त हुआ।**

हम यह देख चुके हैं कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली मालों के उत्पादकों के, या अलग-अलग उत्पादन करनेवाले उन व्यक्तियों के समाज में घुस गयी थी, जिनका सामाजिक सम्बन्ध उनकी पैदावार के विनिमय के द्वारा क़ायम होता था। परन्तु मालों के उत्पादन पर आधारित प्रत्येक समाज में यह विशेषता होती है कि उत्पादकों का स्वयं अपने सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। हर आदमी के पास जैसे उत्पादन के साधन होते हैं, वह उनसे अपने उपयोग के लिये तथा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के वास्ते उसे जो विनिमय करना पड़ता है, उसके लिये उत्पादन करता है। कोई नहीं जानता कि उसने जो ख़ास वस्तु तैयार की है, वह कुल कितने परिमाण में मण्डी में आ रही है और उसका कितना हिस्सा

वहां खप पायेगा। कोई नहीं जानता कि मण्डी में उसकी व्यक्तिगत पैदावार की वास्तविक मांग से भेंट होगी या नहीं, और वह अपनी उत्पादन की लागत निकाल पायेगा या नहीं। यहां तक कि कोई यह भी नहीं जानता कि वह अपने माल को बेच भी पायेगा या नहीं। समाजीकृत उत्पादन में अराजकता का राज होता है। परन्तु अन्य हर प्रकार के उत्पादन की तरह मालों के उत्पादन के भी कुछ विशिष्ट अन्तर्भूत नियम होते हैं, जिनको उससे अलग नहीं किया जा सकता; और ये नियम अराजकता के बावजूद अराजकता में और अराजकता के ज़रिये अमल में आते हैं। वे सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों के एकमात्र स्थायी रूप से क़ायम रूप में, अर्थात् विनिमय में अभिव्यक्त होते हैं, और यहां वे होड़ के अनिवार्य नियमों के रूप में अलग-अलग उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों पर प्रभाव डालते हैं। शुरू में इन उत्पादकों को ख़ुद इन नियमों का कोई ज्ञान नहीं होता, और उनको धीरे-धीरे तथा अनुभव के फलस्वरूप उनका ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसलिये ये नियम उत्पादकों से स्वतंत्र ढंग से तथा उनके विरोध में, उत्पादन के उनके विशिष्ट रूप के अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियमों की तरह अमल में आते हैं। पैदावार उत्पादकों पर शासन करती है।

मध्ययुगीन समाज में विशेषकर प्रारम्भिक शताब्दियों में उत्पादन का उद्देश्य मूलतया व्यक्ति की आवश्यकताओं को संतुष्ट करना था। मुख्यतया उत्पादन केवल उत्पादक तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करता था। जहां कहीं व्यक्तिगत पराधीनता के सम्बन्ध पाये जाते थे, जैसे कि देहात में, वहां उत्पादन सामन्ती प्रभु की आवश्यकताओं को पूरा करने में भी मदद देता था। इसलिये विनिमय का कोई स्थान नहीं था। चुनांचे उत्पादित वस्तुओं ने मालों का रूप नहीं धारण किया था। किसान परिवार अपनी ज़रूरत की लगभग हर चीज़ ख़ुद तैयार कर लेता था, जैसे कपड़े और फ़र्नीचर तथा जीवन निर्वाह के साधन। उसकी अपनी आवश्यकताओं के लिये तथा सामन्ती प्रभु को जिन्स की शक्ल में जो कुछ देना पड़ता था, उसके लिये जितना उत्पादन पर्याप्त होता था, जब वह उससे अधिक पैदा करने लगता था, केवल तभी वह कुछ मालों को भी पैदा करता था। यह बेशी पैदावार समाजीकृत विनिमय में डाल दी जाती थी और

बिक्री के लिये पेश कर दी जाती थी, और इस तरह वह मालों का रूप धारण कर लेती थी। यह सच है कि शहरों के दस्तकार शुरू से ही विनिमय के लिये उत्पादन करते थे। परन्तु अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अधिकांश को वे ख़ुद पूरा कर लेते थे। उनके पास बगीचे और खेत होते थे। अपने पशुओं को वे सामुदायिक जंगल में चरने के लिये छोड़ देते थे, जहां से उन्हें इमारती लकड़ी और जलाने की लकड़ी भी मिल जाती थी। औरतें सन, ऊन आदि कात डालती थीं। उस ज़माने में विनिमय के प्रयोजन के लिये होनेवाला उत्पादन, मालों का उत्पादन, महज़ अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। अतः विनिमय संकीर्ण सीमाओं के भीतर होता था, मण्डी संकुचित थी, उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन नहीं होते थे, बाहरी दुनिया के सम्बन्ध में स्थानीय अलगाव था, भीतर स्थानीय एकता थी – देहात में मार्क[165] का दौर-दौरा था, शहरों में शिल्पी संघों का।

परन्तु जब मालों के उत्पादन का विस्तार हुआ, और ख़ासकर जब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का श्रीगणेश हो गया, तो मालों के उत्पादन के नियम, जो अभी तक गुप्त थे, ज़्यादा खुलकर और ज़्यादा ज़ोर के साथ अमल में आने लगे। पुराने नाते ढीले पड़ गये। पुरानी दीवारें तोड़ डाली गयीं। उत्पादक अधिकाधिक मालों के स्वतंत्र तथा पृथक् उत्पादकों में बदल गये। सामाजिक उत्पादन की अराजकता स्पष्ट दिखाई देने लगी और अधिकाधिक उग्र रूप धारण करती गयी।* परन्तु पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने जिस मुख्य साधन की सहायता से सामाजिक उत्पादन की इस अराजकता को बढ़ाया था, वह अराजकता का बिल्कुल उल्टा था। वह साधन यह था कि हर अलग-अलग उत्पादक प्रतिष्ठान में अधिकाधिक सामाजिक आधार पर उत्पादन का संगठन हो रहा था। इससे पुरानी

---

*'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में इस अंश का मूल पाठ इस प्रकार है: "यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी कि समाज के उत्पादन पर योजना अनुपस्थिति, संयोग और अराजकता हावी हो गयी थी और यह अराजकता अधिकाधिक उग्र रूप ग्रहण करती गयी।" – सं०

शान्तिपूर्ण स्थिर परिस्थितियां समाप्त हो गयीं। जहां कहीं उद्योग की किसी शाखा में उत्पादन का इस प्रकार का संगठन आरम्भ किया गया, वहां उसने उत्पादन की किसी और पद्धति को अपने साथ नहीं टिकने दिया। जहां कहीं उसने किसी दस्तकारी पर क़ब्ज़ा कर लिया, वहां पुरानी दस्तकारी का सफ़ाया हो गया। श्रम का क्षेत्र रण भूमि बन गया। महान भौगोलिक खोजों ने और उनके बाद जो औपनिवेशीकरण हुआ, उसने मण्डियों को पहले से कई गुना बढ़ा दिया और दस्तकारी के मैनुफ़ेक्चर में रूपान्तरण की क्रिया को तेज़ कर दिया। केवल विशिष्ट स्थानों के अलग-अलग उत्पादकों के बीच ही संघर्ष नहीं आरम्भ हो गया। स्थानीय संघर्षों से राष्ट्रीय संघर्षों का, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के व्यापारिक युद्धों का जन्म हुआ।[166] अन्त में आधुनिक उद्योग और विश्व मण्डी के खुल जाने के फलस्वरूप यह संघर्ष विश्वव्यापी बन गया, और साथ ही उसमें अभूतपूर्व उग्रता आ गयी। अब अलग-अलग पूंजीपतियों तथा पूरे उद्योगों और देशों का अस्तित्व या अनस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि उनको उत्पादन की प्राकृतिक अथवा कृत्रिम परिस्थितियों के मामले में दूसरों की अपेक्षा कितनी अधिक सुविधाएं प्राप्त हैं। इस संघर्ष में जो गिर जाते हैं, उनको निर्ममतापूर्वक हटाकर एक तरफ़ फेंक दिया जाता है। डार्विन द्वारा प्रतिपादित अलग-अलग प्राणियों का अस्तित्व के लिए संघर्ष और भी उग्र रूप से प्रकृति से समाज के क्षेत्र में स्थानान्तरित हो गया है। पशुओं के अस्तित्व के लिये जो परिस्थितियां स्वाभाविक होती हैं, वे अब मानव विकास की अन्तिम परिणति के रूप में सामने आती हैं। सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी हस्तगतकरण का विरोध अब **अलग-अलग फ़ैक्टरियों के भीतर उत्पादन के संगठन और समाज के भीतर सामान्यतया उत्पादन की अराजकता के विरोध** की तरह सामने आता है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के जन्म से ही उसके भीतर जो विरोध निहित है, उसके इन दो रूपों में ही वह चक्कर काटती रहती है। वह इस "दुष्चक्र" से, जिसका फ़ूरिये बहुत पहले आविष्कार कर चुके थे, बाहर नहीं निकल पाती। लेकिन फ़ूरिये अपने ज़माने में निश्चय ही यह नहीं जान सके थे कि यह दुष्चक्र धीरे-धीरे अधिकाधिक संकीर्ण होता जा

रहा है, और गति अधिकाधिक कुंडलाकार होती जा रही है और उसका एक दिन, ग्रहों की गति की भांति, केन्द्र से टकराकर समाप्त हो जाना अनिवार्य है। समाज में सामान्यतया फैली हुई उत्पादन की अराजकता की प्रेरक शक्ति ही है, जो अनिवार्य रूप से अधिकांश मनुष्यों को अधिकाधिक सर्वहारा बनाती जाती है; और यह सर्वहारा जन-समुदाय ही है, जो अन्त में एक दिन उत्पादन की इस अराजकता का अन्त कर देगा। सामाजिक उत्पादन की अराजकता की यह प्रेरक शक्ति ही है, जो आधुनिक उद्योग के अन्तर्गत मशीनों की सीमाहीन विकासशीलता को एक ऐसे अनिवार्य नियम में परिणत कर देती है, जिसके अनुसार हर अलग-अलग औद्योगिक पूंजीपति को अपनी मशीनों को अधिकाधिक विकसित करना पड़ता है, और यदि वह यह नहीं करता, तो बरबाद हो जाता है। परन्तु मशीनों का विकास करने का अर्थ है मानव श्रम को अनावश्यक बना देना। यदि मशीनों के उपयोग तथा उनकी वृद्धि का अर्थ यह है कि लाखों हाथों से काम करनेवाले मज़दूरों का स्थान चन्द मशीन से काम करनेवाले मज़दूर ले लेते हैं, तो मशीनों में सुधार करने का अर्थ यह होता है कि ख़ुद मशीन से काम करनेवाले मज़दूरों को भी अधिकाधिक बड़ी संख्या में काम से जवाब मिल जाता है। अन्त में इसका यह अर्थ होता है कि पूंजी की औसत ज़रूरतों को देखते हुए मज़दूरों की एक अतिरिक्त संख्या पैदा हो जाती है, और जैसा कि मैंने १८४५ में कहा था, एक वास्तविक औद्योगिक रिज़र्व सेना बन जाती है*। जब उद्योग बहुत तेज़ी के साथ काम करता है, तब यह सेना उपलब्ध होती है; जब अवश्यम्भावी संकट आता है, तब यह सेना उठाकर सड़कों पर फेंक दी जाती है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये मज़दूर वर्ग को पूंजी के साथ जो संघर्ष करना पड़ता है, उसमें यह औद्योगिक रिज़र्व सेना सदा मज़दूर वर्ग के गले का पत्थर बनी रहती है। वह वेतन को सदा उस निम्न स्तर पर रखने के लिये,

---

* *The Condition of the Working Class in England* ('इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की स्थिति') (सोन्नेन्शइन ऐंड कं०), पृष्ठ ८४ **[एंगेल्स का नोट]**। K. Marx and F. Engels, *On Britain* ('ब्रिटेन के बारे में'), मास्को, १९६२, पृष्ठ ११६।–**सं०**

जिसमें पूंजी का हितसाधन होता है, नियामक का काम करती है। चुनांचे मार्क्स के शब्दों में मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ पूंजी के संघर्ष में मशीनें उसका सबसे शक्तिशाली ग्रस्त्र बन जाती हैं। श्रम के साधन निरन्तर मज़दूर के हाथों से उसके जीवन निर्वाह के साधनों को छीनते रहते हैं; ख़ुद मज़दूर की पैदावार उसको पराधीनता में रखने का साधन वन जाती है।[167] चुनांचे उत्पादन साधनों के मामले में मितव्ययिता शुरू से ही श्रम शक्ति का ग्रंधाधुंध ग्रपव्यय ग्रौर उन सामान्य परिस्थितियों की लूट-मार वन जाती है, जो श्रम के लिये ग्रावश्यक होती हैं।[168] मशीनें, जो श्रम काल को कम करने का सबसे शक्तिशाली साधन हैं, मज़दूर के ग्रौर उसके परिवार के प्रत्येक क्षण को पूंजीपति की पूंजी का मूल्य वढ़ाने के उद्देश्य से उसके चरणों में समर्पित कर देने का ग्रचूक साधन बन जाती हैं। चुनांचे कुछ लोगों का ग्रत्यधिक श्रम करना दूसरों की बेकारी की पूर्वशर्त बन जाती है। ग्रौर वही ग्राधुनिक उद्योग जो नये उपभोक्ताग्रों की तलाश में सारी दुनिया को छानता फिरता है, ग्रपने देश की जनता के उपभोग को कम करता-करता भुखमरी के स्तर पर ले ग्राता है, ग्रौर इस प्रकार ख़ुद ग्रपनी घरेलू मण्डी को चौपट कर देता है। "वह नियम, जो सापेक्ष ग्रतिरिक्त जनसंख्या या ग्रौद्योगिक रिज़र्व सेना का सदा पूंजी के संचय के विस्तार ग्रौर तेज़ी के साथ संतुलन स्थापित किया करता है, वह मज़दूर को पूंजी के साथ इतनी मज़बूती के साथ जड़ देता है, जितनी मज़बूती के साथ वलकन की कीलें भी प्रोमीथियस को चट्टान के साथ नहीं जड़ सकी थीं। इस नियम के फलस्वरूप पूंजी के संचय के साथ-साथ ग़रीबी का भी संचय होता जाता है। इसलिये यदि एक छोर पर धन का संचय होता है, तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर, यानी उस वर्ग के छोर पर, जो **ख़ुद ग्रपने श्रम की पैदावार को पूंजी के रूप में पैदा करता है**, ग़रीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, ग्रज्ञान, पाशविकता ग्रौर मानसिक पतन का संचय होता जाता है।" (मार्क्स, 'पूंजी', पृष्ठ ६७१)* ग्रौर पूंजीवादी

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ६२२। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है।—**सं०**

उत्पादन प्रणाली से पैदावार के किसी और प्रकार के वितरण की आशा करना किसी बैटरी के इलेक्ट्रोडों से जब तक वे बैटरी से जुड़े रहते हैं, यह आशा करने के समान है कि वे अम्लीकृत जल का विच्छेदन नहीं करेंगे और धनात्मक ध्रुव पर आक्सीजन को और ऋणात्मक ध्रुव पर हाइड्रोजन को विमुक्त नहीं करते जायेंगे।

हम यह देख चुके हैं कि सामाजिक उत्पादन की अराजकता आधुनिक मशीनों की निरन्तर बढ़ती हुई विकासशीलता को एक ऐसे अनिवार्य नियम में रूपान्तरित कर देती है, जिसके मातहत हर अलग-अलग औद्योगिक पूंजीपति के लिये अपनी मशीनों में निरन्तर सुधार करना और उनकी उत्पादक शक्ति बढ़ाते जाना अपरिहार्य हो जाता है। उत्पादन क्षेत्र का विस्तार करने की सम्भावना मात्र भी उसके लिये इसी प्रकार का एक अनिवार्य नियम बन जाती है। आधुनिक उद्योग की प्रचण्ड प्रसार शक्ति, जिसके मुक़ाबले में गैसों की प्रसार शक्ति बच्चों का खेल जैसी लगती है, अब गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों प्रकार के प्रसार की ऐसी **आवश्यकता** प्रतीत होने लगती है, जो किसी प्रकार के प्रतिरोध को कुछ नहीं समझती। यह प्रतिरोध उपभोग की ओर से, बिक्री की ओर से और आधुनिक उद्योग की पैदावार के लिये जिन मण्डियों की आवश्यकता होती है, उनकी ओर से होता है। परन्तु मण्डियों की विस्तार में तथा गहराई में फैलने की क्षमता बिल्कुल भिन्न प्रकार के नियमों के अधीन होती है, जो बहुत कम मुस्तैदी के साथ काम करते हैं। मण्डियों का विस्तार उतनी तेज़ी के साथ नहीं हो सकता जितनी तेज़ी के साथ उत्पादन का विस्तार होता है। दोनों की टक्कर अनिवार्य हो जाती है, और चूंकि जब तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाती, तब तक इस तरह की टक्कर से समस्या का कोई वास्तविक समाधान नहीं निकलता, इसलिये ये टक्करें नियतकालिक बन जाती हैं। पूंजीवादी उत्पादन एक और "दुष्चक्र" पैदा कर देता है।

सच पूछिये तो १८२५ से, जब कि पहला आम संकट आया था, पूरा औद्योगिक तथा व्यापारिक जगत्, सभी सभ्य जातियों तथा उनके न्यूनाधिक बर्बर उपांगों का उत्पादन तथा विनिमय लगभग हर दस वर्ष के बाद एक बार एकदम गड़बड़ा जाता है। तब वाणिज्य ठप हो जाता

है। मण्डियां अंट जाती हैं। उत्पादित वस्तुओं के अम्बार लग जाते हैं। उनकी बिक्री जितनी घटती जाती है, संख्या उतनी ही बढ़ती जाती है। नक़द मुद्रा ग़ायब हो जाती है। उधार नहीं मिलता। फ़ैक्टरियों पर ताले पड़ जाते हैं। मज़दूरों को इसलिये जीवन निर्वाह के साधन नहीं मिलते कि उन्होंने जीवन निर्वाह के बहुत अधिक साधन पैदा कर दिये हैं। एक के बाद दूसरे पूंजीपति का दिवाला निकलने लगता है; एक के बाद दूसरा नीलाम पर चढ़ने लगता है। ठहराव बरसों तक जारी रहता है। उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादित वस्तुओं का घोर अपव्यय होता है; उनको बड़े पैमाने पर नष्ट कर दिया जाता है, और यह क्रिया उस समय तक जारी रहती है, जब तक कि मालों का संचित भण्डार न्यूनाधिक कम मूल्य पर आख़िर चुक नहीं जाता, और जब तक कि उत्पादन और विनिमय में धीरे-धीरे फिर से जान नहीं पड़ जाती। धीरे-धीरे गति तेज़ होती है। वह दुलकी में बदल जाती है। औद्योगिक दुलकी क़दम चाल बन जाती है। और क़दम चाल अंधाधुंध सरपट दौड़ का रूप धारण कर लेती है। उद्योग, व्यापार, उधार और सट्टेबाज़ी की मानो रुकावटों को पार करने-वाली एक मुकम्मल घुड़दौड़ होने लगती है, जो कई गरदनतोड़ छलांगें लगाने के बाद अन्त में फिर उसी स्थान पर पहुंचकर समाप्त हो जाती है, जहां से वह आरम्भ हुई थी; अर्थात् वह पुनः आर्थिक संकट के गढ़े में पहुंचकर समाप्त हो जाती है। और बार-बार यही क्रम देखने में आता है। १८२५ से आज तक हम पांच बार इस चक्र में से गुज़र चुके हैं, और इस समय (१८७७ में) हम छठी बार उसमें से गुज़र रहे हैं। इन संकटों का स्वरूप इतना स्पष्ट है कि जब फ़ूरिये ने पहले संकट को crise pléthorique, अर्थात् अतिप्रचुरता का संकट कहा था, तब उन्होंने वास्तव में सभी संकटों की सही व्याख्या कर डाली थी।[169]

इन संकटों में सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी हस्तगतकरण का विरोध एक ज़बर्दस्त विस्फोट में फट पड़ता है। मालों का परिचलन कुछ समय के लिये रुक जाता है। परिचलन का माध्यम, मुद्रा, परिचलन के रास्ते में रुकावट बन जाती है। मालों के उत्पादन तथा परिचलन के सारे नियम उलट जाते हैं। आर्थिक टक्कर अपने चरम बिन्दु पर पहुंच जाती

है। उत्पादन प्रणाली विनिमय प्रणाली के ख़िलाफ़ विद्रोह कर देती है; उत्पादक शक्तियां उत्पादन प्रणाली के ख़िलाफ़, जिसको वे पीछे छोड़कर आगे बढ़ गयी हैं, विद्रोह कर देती हैं।

यह तथ्य कि फ़ैक्टरी के भीतर उत्पादन का सामाजिक संगठन इतना अधिक विकास कर गया है कि अब वह समाज में फैली हुई उत्पादन की उस अराजकता के साथ मेल नहीं खाता, जो इस सामाजिक संगठन के साथ-साथ पायी जाती है और उसपर हावी रहती है—यह तथ्य पूंजीपतियों के लिये इस तरह मूर्त रूप धारण करता है कि संकट के समय बहुत-से बड़े-बड़े पूंजीपति, और उससे भी बड़ी संख्या में छोटे पूंजीपति एकदम बरबाद हो जाते हैं और उसके फलस्वरूप पूंजी का ज़बर्दस्ती संकेंद्रण हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का पूरा यंत्र स्वयं अपनी पैदा की हुई उत्पादक शक्तियों के दबाव के नीचे टूट जाता है। अब वह उत्पादन के साधनों की इस विशाल राशि को पूंजी में नहीं बदल पाता। ये साधन बेकार पड़े रहते हैं और इस कारण औद्योगिक रिज़र्व सेना भी बेकार पड़ी रहती है। उत्पादन साधन, जीवन निर्वाह साधन, काम करने के लिये उपलब्ध मज़दूर, उत्पादन और आम समृद्धि के सारे तत्व प्रचुर मात्रा में मौजूद होते हैं। लेकिन "प्रचुरता, दरिद्रता और अभाव का कारण बन जाती है" (फ़ूरिये), क्योंकि वही उत्पादन साधनों तथा जीवन निर्वाह साधनों को पूंजी में रूपान्तरित नहीं होने देती। कारण कि पूंजीवादी समाज में उत्पादन साधन केवल उसी समय काम कर सकते हैं, जब वे पहले पूंजी में, मानव श्रम शक्ति का शोषण करने के साधनों में रूपान्तरित हो जाते हैं। उत्पादन साधनों तथा जीवन निर्वाह साधनों को पूंजी में रूपान्तरित करने की आवश्यकता एक भूत प्रेत की तरह मज़दूर और इन साधनों के बीच में खड़ी हो जाती है। वही उत्पादन के भौतिक तथा वैयक्तिक उत्तोलकों को एकत्रित नहीं होने देती। वही है, जो उत्पादन साधनों को अपनी भूमिका पूरी करने से और मज़दूरों को काम करके ज़िन्दा रहने से रोक देती है। इसलिये एक ओर यह प्रमाणित हो जाता है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में अब इन उत्पादक शक्तियों का और संचालन करने की शक्ति नहीं रह गयी है। दूसरी ओर स्वयं ये उत्पादक शक्तियां इस विरोध

और पूंजी के रूप में अपनी विशिष्टता को दूर करने तथा **सामाजिक उत्पादक शक्तियों के अपने स्वरूप को व्यवहारतः मनवाने के लिये** अधिकाधिक ज़ोर के साथ आगे बढ़ती हैं।

जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियां अधिक शक्तिशाली होती जाती हैं, वैसे-वैसे अपने पूंजी के स्वरूप के विरुद्ध उनका यह विद्रोह, और उनका यह अधिकाधिक ज़ोर पकड़ता हुआ आदेश कि उनके सामाजिक स्वरूप को स्वीकार किया जाये—यह ख़ुद पूंजीपति वर्ग को मजबूर कर देता है कि वह उनके साथ, जहां तक पूंजीवादी परिस्थितियों में सम्भव हो, अधिकाधिक सामाजिक उत्पादन शक्तियों जैसा व्यवहार करे। संकट का समय, जबकि बड़े-बड़े पूंजीवादी प्रतिष्ठान ध्वस्त हो जाते हैं और औद्योगिक तेज़ी का काल भी जबकि उधार का असीम प्रसार हो जाता है, उत्पादन साधनों की विशाल राशियों का इस प्रकार का समाजीकरण कर देते हैं, जिसे हम विभिन्न प्रकार की ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों के रूप में देखते हैं। उत्पादन तथा वितरण के इन साधनों में से बहुत-से रेलों की तरह शुरू से ही इतने दैत्याकार होते हैं कि उनके साथ पूंजीवादी शोषण का और कोई रूप सम्भव नहीं होता। विकास की एक अगली अवस्था में यह रूप भी अपर्याप्त हो जाता है: पूंजीवादी समाज के अधिकृत प्रतिनिधि—राज्य—को उत्पादन के साधनों तथा संचार का संचालन अपने हाथ में ले लेना पड़ेगा*। उत्पादन

---

*मैं कहता हूं **"ले लेना पड़ेगा"**। कारण कि जब उत्पादन और वितरण के साधन **सचमुच** इतना अधिक विकास कर जाते हैं कि ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियां उनका ठीक-ठीक प्रबंध नहीं कर पातीं, और जब इस कारण उनका राज्य के हाथ में चले जाना **आर्थिक दृष्टि से** अनिवार्य हो जाता है, केवल उसी समय यह क़दम उस स्थिति में भी एक प्रगतिशील क़दम होता है, जब वह मौजूदा राज्य द्वारा उठाया जाता है; और उसके बाद समाज स्वयं समस्त उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है। लेकिन पिछले कुछ दिनों में, जब से बिस्मार्क ने औद्योगिक प्रतिष्ठानों को राज्य के स्वामित्व में ले लिया है, तब से एक प्रकार के नक़ली समाजवाद का जन्म हो गया है, जो कभी-कभी बिगड़कर एक ऐसी चाटुकारिता में बदल जाता है, जो बिना कुछ सोचे-समझे **हर प्रकार के** राजकीय

साधनों को इस तरह राज्य की सम्पत्ति बना देने की ग्रावश्यकता सबसे पहले संचार ग्रौर परिवहन के महान साधनों में – डाक, तार ग्रौर रेलों के क्षेत्र में महसूस होती है।

यदि संकटों से यह बात प्रमाणित हो गयी है कि ग्रब पूंजीपति वर्ग में ग्राधुनिक उत्पादक शक्तियों का प्रबंध करने की क्षमता नहीं रह गयी है, तो उत्पादन तथा वितरण के विराट संस्थापनों का ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों ग्रौर राजकीय सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाना यह साबित कर देता है कि इस काम के लिये पूंजीपति वर्ग की कोई ग्रावश्यकता नहीं रह गयी है। ग्रब पूंजीपति के तमाम सामाजिक कार्यों को वेतन पानेवाले कर्मचारी पूरा कर देते हैं। पूंजीपति का इसके सिवाय ग्रौर कोई सामाजिक कार्य नहीं रह गया है कि वह मुनाफ़े को ग्रपनी जेब में डाले, कूपन फाड़ा करे, ग्रौर शेयर बाज़ार में सट्टा खेला करे, जहां ग्रलग-ग्रलग पूंजीपति एक दूसरे की पूंजी हथियाने में व्यस्त रहते हैं। शुरू में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली मज़दूरों को बेकार बनाती थी। ग्रब वह पूंजीपतियों को बेकार

स्वामित्व को, ग्रौर यहां तक कि बिस्मार्क के ढंग के राजकीय स्वामित्व को भी समाजवादी स्वामित्व घोषित कर देती है। निश्चय ही, यदि तम्बाकू उद्योग का राज्य के हाथ में चला जाना समाजवाद है, तो नेपोलियन ग्रौर मेटरनिख़ की भी समाजवाद के संस्थापकों में गिनती होनी चाहिये। यदि बेल्जियन राज्य ने, बहुत साधारण ढंग के राजनीतिक तथा वित्तीय कारणों को ध्यान में रखते हुए ग्रपने देश की मुख्य रेलवे लाइनों का ख़ुद निर्माण किया है; यदि बिस्मार्क ने किन्हीं ग्रार्थिक कारणों के दबाव से नहीं, बल्कि केवल यह सोचकर प्रशा की मुख्य रेलवे लाइनों को राज्य के स्वामित्व में ले लिया है कि इस तरह वह युद्ध के समय उनपर बेहतर नियंत्रण रख सकेगा, रेलवे कर्मचारियों से सरकार के पक्ष में वोट दिला सकेगा, ग्रौर ख़ास तौर पर ग्रपने लिये ग्राय के एक ऐसे स्रोत का सृजन कर सकेगा, जो संसदीय वोटों से स्वतंत्र होगा – तो यह किसी भी ग्रर्थ में प्रत्यक्ष रूप में या ग्रप्रत्यक्ष रूप में, सचेतन ढंग का या ग्रचेतन ढंग का, समाजवादी क़दम नहीं है। वरना तो शाही Seehandlung[170] को, चीनी मिट्टी के शाही उद्योग को ग्रौर यहां तक कि सेना के पलटनिया दर्ज़ी को भी समाजवादी संस्था समझना पड़ेगा। **[एंगेल्स का नोट]**

बनाने लगती है; और जिस प्रकार उसने मज़दूरों को अतिरिक्त जनसंख्या की पांतों में धकेल दिया था, उसी प्रकार अब वह पूंजीपतियों को भी उन्हीं पांतों में धकेलने लगती है, हालांकि यह उनको तुरन्त ही औद्योगिक रिज़र्व सेना की पांतों में नहीं धकेल देती।

परन्तु ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों, या राजकीय स्वामित्व में रूपान्तरित हो जाने से उत्पादक शक्तियों का पूंजीवादी स्वरूप समाप्त नहीं हो जाता। जहां तक ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों का सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट है। और ख़ुद आधुनिक राज्य भी एक ऐसा संगठन मात्र है, जिसपर पूंजीवादी समाज मज़दूरों के और साथ ही अलग-अलग पूंजीपतियों के अतिक्रमणों से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की सामान्य बाह्य परिस्थितियों की रक्षा करने के लिये अधिकार कर लेता है। आधुनिक राज्य, उसका रूप जैसा भी हो, मूलतया एक पूंजीवादी यंत्र है, पूंजीपतियों का राज्य है, राष्ट्र की कुल पूंजी का भावगत मूर्त रूप है। वह जितनी अधिक उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में लेता जाता है, वह उतना ही अधिक सचमुच राष्ट्रीय पूंजीपति बनता जाता है, और उतने ही अधिक नागरिकों का शोषण करने लगता है। उजरती मज़दूर सर्वहारा ही बने रहते हैं। पूंजीवादी सम्बन्ध समाप्त नहीं होता। बल्कि कहना चाहिये कि वह अपनी तीव्रतम अवस्था में पहुंच जाता है। परन्तु इस बिन्दु पर पहुंचकर वह ध्वस्त हो जाता है। उत्पादक शक्तियों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर देना इस संघर्ष का समाधान नहीं है; लेकिन उसके भीतर वे प्राविधिक साधन छिपे होते हैं, जो इस समाधान के तत्वों का काम कर सकते हैं।

यह समाधान केवल इसी तरह हो सकता है कि उत्पादन की आधुनिक शक्तियों के सामाजिक स्वरूप को व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया जाये, और इसलिये उत्पादन, हस्तगतकरण तथा विनिमय की प्रणालियों का उत्पादन साधनों के सामाजिक स्वरूप के साथ तालमेल बैठाया जाये। और यह केवल इसी प्रकार सम्भव है कि उत्पादक शक्तियों को जो अब इतना अधिक विकास कर गयी हैं कि समाज के अतिरिक्त और कोई उनको अपने नियंत्रण में नहीं रख सकता, समाज खुलेआम और प्रत्यक्ष रूप में अपने स्वामित्व में ले ले। आजकल उत्पादन साधनों तथा उत्पादित

वस्तुओं का सामाजिक स्वरूप उत्पादकों के विरुद्ध कार्य करता है, समय-समय पर समस्त उत्पादन तथा विनिमय को छिन्न-भिन्न कर देता है और केवल बलपूर्वक तथा विनाशकारी ढंग से अमल में आनेवाले एक अंधे प्राकृतिक नियम की भांति व्यवहार करता है। परन्तु जब समाज उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में ले लेता है, तब उत्पादन साधनों तथा उत्पादित वस्तुओं के सामाजिक स्वरूप को उत्पादक काम में लायेंगे, उसके चरित्र को भली भांति समझकर उसका उपयोग करेंगे, और यह सामाजिक स्वरूप उपद्रवों तथा नियतकालिक संकटों का स्रोत नहीं रहेगा, बल्कि स्वयं उत्पादन का सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तोलक बन जायेगा।

सक्रिय सामाजिक शक्तियां हूबहू प्राकृतिक शक्तियों की तरह काम करती हैं। जब तक हम उनको समझते नहीं और उनका पूरा ध्यान नहीं रखते, तब तक वे सदा अंधी शक्तियों की तरह बलपूर्वक और विनाशकारी ढंग से कार्य करती हैं। परन्तु जब एक बार हम उनको समझ लेते हैं, जब एक बार हम उनकी कार्य विधि, दिशा तथा प्रभावों को जान जाते हैं, तब उनको अधिकाधिक अपनी इच्छा के अधीन बनाते जाना और उनके द्वारा अपने अभीष्ट तक पहुंचना स्वयं हमपर निर्भर करता है। यह बात आजकल की अत्यन्त बलवान उत्पादक शक्तियों के लिये विशेष रूप से सच है। जब तक हम इन उत्पादक शक्तियों के स्वरूप तथा चरित्र को समझने से हठपूर्वक इनकार करते हैं—और यह समझ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तथा उसके समर्थकों के स्वभाव के विरुद्ध है—तब तक ये शक्तियां हमारे बावजूद, हमारे विरुद्ध काम करती रहती हैं; तब तक वे, जैसा कि हम ऊपर विस्तार के साथ बता चुके हैं, हमारे ऊपर प्रभुत्व जमाये रहती हैं।

परन्तु जब एक बार उनके स्वरूप को समझ लिया जाता है, तो वे साथ मिलकर काम करनेवाले उत्पादकों के हाथों में मनुष्यों के ऊपर शासन करनेवाली राक्षसी शक्तियों से मनुष्यों के तत्पर सेवकों में रूपान्तरित हो सकती हैं। यह उसी प्रकार का अन्तर है, जो तूफ़ान के समय आकाश में कड़कनेवाली बिजली और तार प्रणाली तथा वोल्टीय आर्क में मनुष्य के आदेश के मातहत काम करनेवाली बिजली में होता है। यह वही अन्तर है, जो मकानों में लगी हुई आग और मनुष्य की सेवा करनेवाली आग

में होता है। जब वर्तमानकालीन उत्पादक शक्तियों के वास्तविक स्वरूप को अन्ततोगत्वा स्वीकार कर लिया जाता है, तो उत्पादन की सामाजिक अराजकता समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर समाज की तथा प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार एक निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन का सामाजिक नियमन होने लगता है। तब हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली नहीं रहती, जिसमें पैदावार पहले पैदा करनेवाले को और फिर हस्तगत करनेवाले को भी अपना दास बना लेती है; बल्कि उसके स्थान पर पैदावार के हस्तगतकरण की वह प्रणाली क़ायम हो जाती है, जो उत्पादन के आधुनिक साधनों के स्वरूप पर आधारित होती है: एक ओर उत्पादन को जारी रखने तथा उसका विस्तार करने के लिये प्रत्यक्ष सामाजिक हस्तगतकरण होता है, और दूसरी ओर जीवन निर्वाह तथा आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत हस्तगतकरण होता है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जहां आबादी के अधिकतर भाग को अधिकाधिक पूर्ण रूप में सर्वहारा बनाती जाती है, वहां वह उस शक्ति को भी पैदा कर देती है, जिसको स्वयं विनाश से बचने के लिये इस क्रान्ति को पूरा करना पड़ता है। वह जहां उत्पादन के उन विशाल साधनों को, जिनका समाजीकरण पहले ही हो चुका है, उत्तरोत्तर राजकीय सम्पत्ति में रूपान्तरित करती जाती है, वहां वह ख़ुद ही इस क्रान्ति को पूरा करने का मार्ग दिखाती जाती है। **सर्वहारा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है और सबसे पहले उत्पादन साधनों को राजकीय सम्पत्ति में बदल देता है।***

परन्तु ऐसा करके वह सर्वहारा के रूप में स्वयं अपने आपको समाप्त कर देता है, तमाम वर्ग भेदों और वर्ग विरोधों को मिटा देता है, और राज्य के रूप में राज्य का भी अन्त कर देता है। अभी तक वर्ग विरोधों पर आधारित समाज को राज्य की आवश्यकता होती थी, अर्थात् उसे

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्यांश इस प्रकार है– "सर्वहारा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है और उत्पादन के साधनों को राजकीय संपत्ति में बदल देता है।" –सं०

उसकी उत्पादन की बाह्य परिस्थितियों को बनाये रखने के लिये* उस विशिष्ट वर्ग के संगठन की आवश्यकता होती थी, जो pro tempore** शोषक वर्ग होता था, और इसलिये ख़ास तौर पर शोषित वर्गों को उस काल की विशिष्ट उत्पादन प्रणाली (दास प्रथा, भूदास प्रथा, उजरती श्रम) के अनुरूप उत्पीड़न की परिस्थिति में ज़बर्दस्ती बनाये रखने के लिये आवश्यकता होती थी। राज्य पूरे समाज का अधिकृत प्रतिनिधि था; इस दृश्य एवं मूर्त रूप में मानो पूरा समाज संयुक्त रूप से साकार हो जाता था। परन्तु यह बात केवल उसी हद तक सच होती थी, जिस हद तक कि राज्य उस वर्ग का राज्य होता था जो ख़ुद अस्थायी तौर पर पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करता था। प्राचीन काल में दासों के स्वामी नागरिकों का राज्य था; मध्य युग में सामन्ती प्रभुओं का राज्य था और हमारे अपने जमाने में पूंजीपति वर्ग का राज्य है। जब राज्य अन्ततोगत्वा पूरे समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है, तब वह अपने आपको अनावश्यक बना देता है। जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता, जिसे पराधीन बनाकर रखने की आवश्यकता हो, जब वर्ग शासन और उत्पादन की वर्तमान अराजकता पर आधारित व्यक्तिगत जीवन संग्राम, और उनसे पैदा होनेवाली टक्करें और ज़्यादतियां समाप्त हो जाती हैं, तब ऐसी कोई चीज़ नहीं बचती, जिसको दबाकर रखना ज़रूरी हो, और तब एक विशेष दमनकारी शक्ति की, या राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह पहला कार्य, जिसके द्वारा राज्य अपने आपको सचमुच पूरे समाज का प्रतिनिधि बना देता है– अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन साधनों को अपने अधिकार में ले लेना– यह साथ ही राज्य के रूप में उसका आख़िरी स्वतंत्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में, सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक बनता जाता है, और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन का स्थान वस्तुओं का प्रबंध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का

---

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्यांश इस प्रकार है– "उत्पादन की मौजूदा परिस्थितियों में बाहर से किसी प्रकार की दख़लन्दाज़ी को रोकने के उद्देश्य से।"– **सं०**

** हर अलग काल में।– **सं०**

संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य को "रद्द नहीं किया जाता", **वह अपने आप समाप्त हो जाता है।** इससे हम समझ सकते हैं कि "स्वतंत्र जन राज्य"[171] की बात कितना मूल्य रखती है—प्रचारकों द्वारा उसका उपयोग कितना औचित्यपूर्ण है, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह कितनी अपर्याप्त सिद्ध होती है। और साथ ही हम यह भी देख सकते हैं कि तथाकथित अराजकतावादियों की इस मांग का क्या मूल्य है कि राज्य को आनन-फ़ानन मिटा देना चाहिये।

जब से इतिहास में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली प्रकट हुई है, तब से अक्सर अनेक व्यक्ति तथा पूरे के पूरे समुदाय न्यूनाधिक अस्पष्टता के साथ भावी आदर्श के रूप में यह स्वप्न देखते आ रहे हैं कि समाज उत्पादन के समस्त साधनों पर अधिकार कर लेगा। परन्तु यह चीज़ केवल उसी समय सम्भव हो सकती थी, केवल उसी समय ऐतिहासिक आवश्यकता बन सकती थी, जब इस स्वप्न के साकार बनने के लिये आवश्यक वास्तविक परिस्थितियां उत्पन्न हो जातीं। अन्य प्रत्येक सामाजिक प्रगति की तरह यह चीज़ भी इस तरह व्यावहारिक नहीं बनी कि मनुष्यों में यह समझ पैदा हो गयी कि वर्गों का अस्तित्व न्याय, समानता, आदि के विरुद्ध है, वर्गों को ख़त्म करने की इच्छा मात्र से नहीं, बल्कि वह कुछ ख़ास तरह की नयी आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप व्यावहारिक बनने में सफल हुई। समाज का शोषक वर्ग और शोषित वर्ग में बंट जाना, शासक वर्ग और उत्पीड़ित वर्ग में विभाजित हो जाना इस बात का अनिवार्य परिणाम था कि पुराने ज़माने में उत्पादन का अपर्याप्त तथा सीमित विकास हुआ था। जब तक कि समाज का कुल श्रम केवल इतनी पैदावार पैदा कर पाता है, जो सबके जीवन निर्वाह मात्र के लिये आवश्यक पैदावार से थोड़ी ही अधिक होती है, और इसलिये जब तक कि समाज के अधिकतर सदस्यों को अपना सारा समय या लगभग सारा समय श्रम करने में ख़र्च कर देना पड़ता है,—तब तक समाज आवश्यक रूप से वर्गों में बंटा रहता है। ऐसे समाज का प्रबल बहुमत अनन्य रूप से श्रम का क्रीतदास बना रहता है, और उसके साथ-साथ एक ऐसा वर्ग होता है, जिसको प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक श्रम से मुक्ति मिल जाती है, और जो समाज के सामान्य

कार्यों की देखभाल करता है, जैसे श्रम का संचालन, राजकाज, क़ानून, विज्ञान, कला, ग्रादि। इसलिये वर्ग विभाजन की तह में ग्रसल में श्रम विभाजन का नियम होता है। परन्तु इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई ग्रड़चन नहीं पैदा होती कि यह वर्ग विभाजन बल तथा डाकाज़नी, धोखाधड़ी ग्रौर जालसाज़ी के द्वारा कार्यान्वित होता है। इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई कठिनाई नहीं पैदा होती कि शासक वर्ग एक बार सवारी गांठ लेने के बाद मज़दूर वर्ग का गला काटकर ग्रपनी सत्ता को मज़बूत करता है ग्रौर ग्रपने सामाजिक नेतृत्व को जनता के शोषण में रूपान्तरित कर देता है।

परन्तु यदि इस ग्राधार पर वर्ग विभाजन का कुछ ऐतिहासिक ग्रौचित्य भी है, तो वह केवल एक विशेष काल के लिये, ग्रौर कुछ ख़ास तरह की सामाजिक परिस्थितियों के लिये ही होता है। वर्ग विभाजन उत्पादन की ग्रपर्याप्तता पर ग्राधारित था। ग्राधुनिक उत्पादक शक्तियों का पूर्ण विकास उसे समाप्त कर देगा। ग्रौर सचमुच समाज में वर्गों का उन्मूलन होने के पहले उस ग्रवस्था तक ऐतिहासिक विकास हो जाना ज़रूरी है, जिसमें न केवल किसी ख़ास शासक वर्ग का, बल्कि किसी भी तरह के शासक वर्ग का, ग्रौर स्वयं वर्ग भेदों का ग्रस्तित्व एक व्यवहारातीत कालदोष बन गया हो। इसलिये समाज में वर्गों का उन्मूलन होने के पहले उत्पादन का इतना ग्रधिक विकास हो जाना ग्रावश्यक है कि समाज के किसी एक विशेष वर्ग का उत्पादन साधनों तथा उत्पादित वस्तुग्रों को हस्तगत कर लेना, ग्रौर उसके साथ-साथ ग्रपना राजनीतिक प्रभुत्व जमा लेना तथा संस्कृति एवं बौद्धिक नेतृत्व पर ग्रपना एकाधिकार क़ायम कर लेना न केवल ग्रनावश्यक हो जाये, बल्कि ग्रार्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक विकास के मार्ग में बाधा बन जाये। यह ग्रवस्था ग्रब ग्रा गयी है। पूंजीपति वर्ग का राजनीतिक तथा बौद्धिक दिवालियापन स्वयं उसके लिये भी ग्रब कोई छिपी हुई बात नहीं रह गयी है। नियमित रूप से हर दस साल बाद पूंजीपति वर्ग का ग्रार्थिक दिवाला निकल जाता है। संकट के समय हर बार समाज का ख़ुद ग्रपनी उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादित वस्तुग्रों के भार के नीचे दम घुटने लगता है; वह उनका उपयोग नहीं कर पाता, ग्रौर इस बेतुकी

असंगति के सामने बिल्कुल लाचार हो जाता है कि उत्पादकों के पास उपभोग करने के लिये इस कारण कुछ नहीं है कि समाज में उपभोक्ताओं की कमी है। उत्पादन साधनों की विस्तारक शक्ति उन बंधनों को तोड़ डालती है, जिनमें पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने उसे जकड़ रखा था। इन बंधनों से उत्पादन साधनों की मुक्ति उत्पादक शक्तियों के अविराम तथा अधिकाधिक द्रुत विकास की, और उसके साथ-साथ स्वयं उत्पादन के लगभग असीम विकास की एकमात्र शर्त है। यही नहीं। उत्पादन साधनों का समाजीकृत हस्तगतकरण न केवल उत्पादन पर लगे हुए मौजूदा कृत्रिम प्रतिबंधों को दूर कर देता है, बल्कि उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादित वस्तुओं के उस सरासर अपव्यय तथा विनाश को भी समाप्त कर देता है, जो आजकल उत्पादन के अपरिहार्य सहगामी बने हुए हैं और जो संकट के समय अपनी चरमावस्था में पहुंच जाते हैं। इसके अलावा उत्पादन साधनों का समाजीकृत हस्तगतकरण आजकल के शासक वर्गों तथा उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों की विवेकहीन फ़िज़ूलख़र्ची को रोक देता है, और इस तरह उत्पादन साधनों तथा उत्पादित वस्तुओं की एक बहुत बड़ी राशि को पूरे समाज के लिये उपलब्ध कर देता है। सामाजिक उत्पादन के द्वारा समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये एक ऐसे जीवन की गारण्टी कर देना, जो न केवल भौतिक दृष्टि से पूर्णतया पर्याप्त होगा तथा दिन प्रति दिन अधिक समृद्ध होता जायेगा, बल्कि जिससे सब स्वतंत्र विकास कर सकेंगे तथा अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं का स्वतंत्र उपयोग कर सकेंगे – इसकी आज पहली बार सम्भावना पैदा हुई है, पर इसमें शक नहीं, आज इसकी सम्भावना **मौजूद है।***

---

*पूंजीवादी दबाव के नीचे भी उत्पादन के आधुनिक साधनों में विस्तार करने की कितनी ज़बर्दस्त ताक़त पायी जाती है, इसका कुछ अनुमान नीचे दिये गये आंकड़ों से लग सकता है। श्री गिफ़ेन के कथनानुसार[172] ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड का कुल धन मोटे आंकड़ों में :

१८१४ में २२० करोड़ पौण्ड,
१८६५ में ६१० करोड़ पौण्ड,
१८७५ में ८५० करोड़ पौण्ड था।

जब समाज उत्पादन साधनों पर अधिकार कर लेता है, तो मालों का उत्पादन समाप्त हो जाता है, और उसके साथ-साथ पैदा करनेवाले के ऊपर पैदावार का प्रभुत्व भी समाप्त हो जाता है। सामाजिक उत्पादन में अराजकता का स्थान योजनाबद्ध, सचेतन संगठन ग्रहण कर लेता है। तब व्यक्तियों को अपने-अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष नहीं करना पड़ता। तब एक ख़ास अर्थ में आदमी पहली बार बाक़ी पशु जगत् से अपने को अन्तिम रूप में अलग करता है, और महज़ पाशविक अस्तित्व की परिस्थितियों को छोड़कर सचमुच मानव अस्तित्व की परिस्थितियों में प्रवेश कर जाता है। जीवन की वे समस्त परिस्थितियां जिनसे मनुष्य का पर्या-वरण तैयार होता है, और जो अभी तक मनुष्य पर शासन करती आयी थीं, वे अब मनुष्य के प्रभुत्व तथा नियंत्रण के नीचे आ जाती हैं, और आदमी अपने सामाजिक संगठन का ख़ुद मालिक बन जाने के कारण पहली बार प्रकृति का वास्तविक तथा सचेतन स्वामी बन जाता है। अभी तक उसके अपने सामाजिक कार्यों के नियम बाह्य प्राकृतिक नियमों के रूप में उसके ऊपर शासन किया करते थे। अब वह ख़ुद उनका पूर्ण समझ-दारी के साथ उपयोग करेगा और उनको अपने क़ाबू में ले आयेगा। अभी तक मनुष्य का अपना सामाजिक संगठन प्रकृति और इतिहास द्वारा थोप दी गयी एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में मनुष्य का मुक़ाबला करता था। अब वह स्वयं मनुष्य के स्वतंत्र कार्य का परिणाम बन जाता है। अभी तक जो बाह्य वस्तुगत शक्तियां इतिहास पर शासन करती आयी थीं, वे अब ख़ुद मनुष्य के नियंत्रण में आ जाती हैं। यही वह बिन्दु है, जिसके आगे मनुष्य पूर्ण चेतना के साथ* अपने इतिहास का ख़ुद निर्माण

संकट के समय उत्पादन साधनों और उत्पादित वस्तुओं को जिस तरह लुटाया जाता है, इसका एक उदाहरण यह है कि जर्मन उद्योगपतियों की द्वितीय कांग्रेस में (बर्लिन, २१ फ़रवरी, १८७८)[173] बताये गये आंकड़ों के अनुसार पिछले संकट में अकेले **जर्मनी के लोहा उद्योग** को २,२७,५०,००० पौण्ड का कुल नुक़सान हुआ था। **[एंगेल्स का नोट]**

* 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यहां लिखा है: "अधिका-धिक चेतन ढंग से।" — **सं०**

करेगा। यही वह बिन्दु है, जिसके आगे मनुष्य जब कभी कुछ सामाजिक कारणों को गतिमान बनायेगा, तो उनके मुख्यतः और निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा में अभिप्रेत परिणाम होंगे। यह मनुष्य की आवश्यकता के जगत् से स्वतन्त्रता के जगत् में छलांग होगी।*

सार्विक मुक्ति के इस कार्य को सम्पन्न करना आधुनिक सर्वहारा का ऐतिहासिक मिशन है। ऐतिहासिक परिस्थितियों को, और इस प्रकार इस कार्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझना, और वर्तमान काल के उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग को इतिहास ने जो महान कार्य सौंपा है, उसकी परिस्थितियों तथा उसके अर्थ का पूर्ण ज्ञान इस वर्ग को कराना – यही सर्वहारा आन्दोलन की सैद्धान्तिक अभिव्यंजना, वैज्ञानिक समाजवाद का कार्य है।

---

*'समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में यह वाक्यांश इस प्रकार है – "यह मनुष्य का आवश्यकता के जगत् से स्वतंत्रता के जगत् में आरोहण होगा। – **सं०**

३

उत्पादन

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसके बाद पाठक को यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होगा कि पिछले भाग में समाजवाद की जिन मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया गया है, वे श्री ड्यूहरिंग के विचारों के तनिक भी अनुरूप नहीं हैं। इसके विपरीत वे तो इस तरह की विशेषताएं हैं, जिनको श्री ड्यूहरिंग को उसी गढ़े में धकेल देना पड़ेगा, जिसमें "ऐतिहासिक तथा तार्किक भ्रान्त कल्पना" की अन्य समस्त अस्वीकृत "जारज सन्तान", "वंध्य अवधारणाएं" और "उलझे हुए तथा अस्पष्ट विचार" आदि, पड़े हुए हैं। श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में समाजवाद असल में ऐतिहासिक विकास का एक आवश्यक परिणाम कदापि नहीं है; और यह मानने के लिये तो वह और भी कम तैयार हैं कि समाजवाद आजकल की घोर भौतिक आर्थिक परिस्थितियों का फल है, जिनका अनन्य उद्देश्य लोगों का पेट भरना है। उनका समाजवाद इससे कहीं बेहतर है। उनका समाजवाद अन्तिम एवं परम सत्य है।

वह "समाज की प्राकृतिक व्यवस्था" है, जिसकी जड़ें "न्याय के सार्वत्रिक सिद्धान्त" में मिलती हैं;

और यदि श्री ड्यूहरिंग भूतकाल के पापों से भरे इतिहास द्वारा जनित वर्तमान परिस्थिति की ओर उसमें सुधार करने के उद्देश्य से थोड़ा ध्यान दिये बिना नहीं रह सकते, तो इसे न्याय के विशुद्ध सिद्धान्त के लिये दुर्भाग्य की बात समझना चाहिये। अन्य प्रत्येक वस्तु की भांति अपने समाजवाद का भी श्री ड्यूहरिंग अपने उन प्रसिद्ध दो पुरुषों के माध्यम से सृजन करते हैं। इस बार उनकी ये दो कठपुतलियां मालिक नौकर की भूमिका नहीं अदा करतीं, जो कि वे पहले कर रही थीं, बल्कि इस बार थोड़ा ज़ायक़ा बदलने के लिये वे अधिकारों की समानता का अभिनय

करती हैं—और उनके ऐसा करते ही ड्यूहरिंगीय समाजवाद की नींव पड़ जाती है।

इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में उद्योग में आनेवाले नियतकालिक संकटों का वह ऐतिहासिक महत्व हरगिज़ नहीं है, जो हम उनको देने के लिये विवश हो गये थे। उनके विचार से

संकटों के रूप में कभी-कभी समाज "प्रकृतावस्था" से भटक जाता है, और उनसे अधिक से अधिक महज़ "एक अधिक विनियमित व्यवस्था के विकास" में ही सहायता मिलती है। संकटों की अतिउत्पादन के द्वारा व्याख्या करने की "सामान्य पद्धति" उनकी "वस्तुओं की अधिक सम्यक् अवधारणा" के लिये कदापि पर्याप्त नहीं है। हां, ज़ाहिर है, "किन्हीं ख़ास क्षेत्रों के कुछ विशिष्ट संकटों की इस प्रकार की व्याख्या करने की अनुमति दी जा सकती है"। जैसे उदाहरण के लिये कभी-कभी "किताबों की मण्डी में ऐसी रचनाओं की बाढ़ आ जाती है, जो पुनर्प्रकाशन के लिये सहसा मुक्त कर दी जाती हैं और जो बड़े पैमाने पर बेचने के उपयुक्त होती हैं"।

बहरहाल श्री ड्यूहरिंग इस संतोषजनक विचार को मन में लिये हुए निश्चिंत होकर सो सकते हैं कि उनकी अमर रचनाएं कभी संसार पर ऐसी घोर विपत्ति का पहाड़ नहीं तोड़ेंगी।

परन्तु गम्भीर संकटों के समय अतिउत्पादन नहीं, बल्कि "जनता के उपभोग का पिछड़ जाना ... कृत्रिम ढंग से पैदा कर दी गयी न्यून उपभोग की स्थिति... **जनता की आवश्यकताओं** के स्वाभाविक विकास में हस्तक्षेप ही (!) अन्त में पूर्ति और मांग के बीच की खाई को इतनी ख़तरनाक हद तक चौड़ी कर देता है"।

और यहां तक कि संकट के अपने इस सिद्धान्त के लिये श्री ड्यूहरिंग को सौभाग्य से एक शिष्य भी मिल गया है।

परन्तु दुर्भाग्य से जनता का कम उपभोग करना, जनता के उपभोग को उस सीमा से आगे न बढ़ने देना जो उनके जीवन निर्वाह और पुनरुत्पा-

दन के लिये आवश्यक होती है–यह कोई नयी घटना नहीं है। जब से दुनिया में शोषक और शोषित वर्ग क़ायम हैं, तभी से यह चीज़ भी होती आयी है। यहां तक कि इतिहास के उन कालों में भी, जबकि जनता की हालत विशेष रूप से अच्छी थी, जैसे कि इंगलैण्ड में पन्द्रहवीं शताब्दी का काल–तब भी जनता कम उपभोग करती थी। यह कभी नहीं होता था कि उनकी अपनी वर्ष-भर की कुल पैदावार उनके हाथ में रहे और वे उसका इच्छानुसार उपभोग कर सकें। इसलिये जहां कम उपभोग हज़ारों वर्षों से इतिहास की एक सतत विशेषता बना हुआ है, वहां मण्डी की वह आम सिकुड़न जो उत्पादन के अतिरेक के कारण संकटों में फूट पड़ती है, केवल पिछले पचास वर्षों की ही चीज़ है। और इसलिये इस नयी टक्कर की, अतिउत्पादन की **नयी** घटना के आधार पर नहीं, बल्कि कम उपभोग की हज़ारों वर्ष पुरानी घटना के आधार पर व्याख्या करने के लिये श्री ड्यूहरिंग के सम्पूर्ण सतही एवं भोंडे अर्थशास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। यह तो उस तरह की बात है, जैसे कोई गणितज्ञ एक स्थिर और दूसरी अस्थिर दो मात्राओं के अनुपात में होनेवाले परिवर्तनों की व्याख्या अस्थिर मात्रा के परिवर्तनों के आधार पर नहीं, बल्कि इस तथ्य के आधार पर करे कि स्थिर मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। जनता कम उपभोग करे, यह समाज के उन सभी रूपों की आवश्यक शर्त है, जो शोषण पर आधारित हैं, और इसलिये यह समाज के पूंजीवादी रूप की भी आवश्यक शर्त है। परन्तु संकटों को उत्पादन के केवल पूंजीवादी रूप ने ही पहली बार जन्म दिया है। इसलिये जनता कम उपभोग करे, यह संकटों की भी एक पूर्वापेक्षित शर्त है, और यह चीज संकटों में एक ऐसी भूमिका अदा करती है, जिसे लोग बहुत दिनों से स्वीकार करते आये हैं। परन्तु उससे जिस तरह इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि संकट पहले क्यों नहीं होते थे, उसी तरह इस बात पर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि आजकल संकट क्यों होते हैं।

विश्व मण्डी के बारे में भी श्री ड्यूहरिंग के विचार बहुत विचित्र हैं। हम यह देख चुके हैं कि वह एक सच्चे जर्मन साहित्यिक की तरह वास्तविक एवं विशिष्ट औद्योगिक संकटों की व्याख्या लाइपज़िग की किताबों

की मण्डी के एक काल्पनिक संकट के आधार पर करने की चेष्टा करते हैं, अर्थात् वह महासागर के तूफ़ान की व्याख्या चाय की प्याली के तूफ़ान के आधार पर करने की कोशिश करते हैं। साथ ही वह यह कल्पना भी करते हैं कि

वर्तमान काल के पूंजीवादी उत्पादन को "अपनी मण्डी के लिये मुख्यतया **स्वयं सम्पत्तिवान वर्गों के हलक़ों पर** निर्भर करना पड़ता है";

पर इसके केवल सोलह पृष्ठ बाद ही वह सामान्यतया स्वीकृत पद्धति का अनुसरण करते हुए लोहा और सूती उद्योगों को निर्णायक महत्व के आधुनिक उद्योगों के रूप में पेश कर देते हैं, अर्थात् वह उत्पादन की उन दो शाखाओं को निर्णायक महत्व की बताते हैं, जिनकी पैदावार का सम्पत्तिवान वर्गों के हलक़ों में अत्यन्त अल्प मात्रा में उपयोग होता है और अन्य किसी भी पैदावार की अपेक्षा सार्वजनिक उपयोग पर अधिक निर्भर करती है। श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं के किसी भी अंश को उठाकर देखिये, उसमें निरर्थक तथा विरोधी बातों से भरी बकवास के सिवा और कुछ नहीं मिलता। लेकिन आइये, सूती उद्योग के एक उदाहरण पर विचार करें। ओल्डहम एक अपेक्षाकृत छोटा नगर है। मैंचेस्टर के इर्द-गिर्द पचास हज़ार से लेकर एक लाख तक की आबादी के कोई एक दर्जन नगर हैं, जो सूती उद्योग में लगे हुए हैं। उन्हीं में से एक यह ओल्डहम है। अकेले इस नगर में चार वर्षों के दौरान १८७२ और १८७५ के बीच केवल ३२ नम्बर का सूत कातनेवाले तकुओं की संख्या पचीस लाख से बढ़कर पचास लाख हो गयी। कहने का मतलब यह है कि मय एलज़ास के, पूरी जर्मनी के सूती उद्योग में जितने तकुए इस्तेमाल होते हैं, उतने तकुओं से इंगलैण्ड के एक मझोले आकार के नगर में केवल एक सूत्रांक का सूत काता जाता है। और इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड के सूती उद्योग की अन्य शाखाओं तथा क्षेत्रों में भी लगभग इसी अनुपात में विस्तार हुआ है। इन तथ्यों की पृष्ठभूमि में यह कहने के लिये काफ़ी बड़ी मात्रा में "गहरी जड़ों वाली धृष्टता" की आवश्यकता होगी कि सूत और कपड़े की मण्डियों

में ग्राजकल जो ग्राम ठहराव ग्राया हुग्रा है, उसका कारण यह नहीं है कि ग्रंग्रेज़ी सूती मिलों के मालिक ग्रतिउत्पादन कर रहे हैं, बल्कि उसका कारण यह है कि इंगलैण्ड की जनता सूत ग्रौर कपड़े का कम उपभोग करती है*।

लेकिन बहुत हो चुका। जिन लोगों को राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र का इतना घोर ग्रज्ञान है कि वे लाइपज़िग की किताबों की मण्डी को ग्राधुनिक ग्रौद्योगिक ग्रर्थ में मण्डी समझते हैं, उनके साथ बहस करने से क्या लाभ है? इसलिये यहां हम महज़ इतना ही कह देते हैं कि संकटों के विषय के सम्बन्ध में श्री ड्यूहरिंग के पास हमारे लिये केवल एक सूचना ग्रौर है। वह यह कि

संकटों में "ग्रतिश्रांति ग्रौर विश्रांति की साधारण क्रिया-प्रतिक्रिया" के सिवा ग्रौर कोई चीज़ नहीं प्रकट होती; ग्रतिसट्टेबाज़ी का "कारण केवल यही नहीं है कि निजी उद्यमों की संख्या योजनाहीन ढंग से ग्रंधाधुंध बढ़ गयी है", बल्कि "वैयक्तिक उद्यमकर्त्ताग्रों के ग्रविवेक ग्रौर व्यक्तिगत सावधानी के ग्रभाव को भी उन कारणों में गिनना चाहिये, जिनसे ग्रतिपूर्ति की स्थिति पैदा हो जाती है"।

ग्रौर वह कारण क्या है, जिससे ग्रविवेक ग्रौर व्यक्तिगत सावधानी का ग्रभाव पैदा हो जाते हैं? वह पूंजीवादी उत्पादन की इस योजनाहीनता के सिवा ग्रौर कुछ नहीं है, जो निजी उद्यमों को संख्या के योजनाहीन ढंग से ग्रंधाधुंध बढ़ते जाने के रूप में ग्रभिव्यक्त होती है। ग्रौर पहले एक ग्रार्थिक तथ्य को नैतिक भर्त्सना में बदल देना ग्रौर फिर यह समझना कि इस तरह हमने एक नये कारण का ग्राविष्कार किया है—यह भी तो "ग्रविवेक" की पराकाष्ठा है।

---

*संकटों की "कम उपभोग" वाली व्याख्या का जन्म सिस्मौंदी के साथ हुग्रा है, ग्रौर सिस्मौंदी ने उसका जैसा प्रतिपादन किया है, उसमें कुछ ग्रर्थ भी है। सिस्मौंदी से उसे रोडबर्टस ने लिया, ग्रौर रोडबर्टस की रचना से उसे श्री ड्यूहरिंग ने ग्रपनी ग्रभ्यस्त पद्धति के ग्रनुसार तोड़-मरोड़कर ग्रपनी पुस्तक में उतार लिया है। **[एंगेल्स का नोट]**

इतना कहकर हम संकटों के प्रश्न से विदा ले सकते हैं। इसके पहले वाले अनुभाग में हमने यह प्रमाणित किया था कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली लाज़िमी तौर पर संकटों को पैदा करती रहती है, और बताया था कि संकटों का महत्व इस बात में होता है कि वे स्वयं इस उत्पादन प्रणाली का संकट होते हैं, और सामाजिक क्रान्ति को लाने में साधन का काम करते हैं। और इस विषय के सम्बन्ध में श्री ड्यूहरिंग ने जिस तरह की सतही ढंग की बातें कही हैं, उनके जवाब में एक भी और शब्द कहने की ज़रूरत नहीं है। आइये, अब उनकी सकारात्मक सृष्टि पर, उनकी "समाज की प्राकृतिक व्यवस्था" पर विचार करें।

यह व्यवस्था "न्याय के एक सार्विक सिद्धान्त" के आधार पर खड़ी है, और इसलिये वह कष्टदायक भौतिक तथ्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता से सर्वथा मुक्त है। यह व्यवस्था कुछ ऐसे आर्थिक कम्यूनों का संघ है, जिनके बीच

"आने-जाने की स्वतंत्रता होती है, और जिनके लिये कुछ निश्चित क़ानूनों तथा प्रशासकीय नियमों के आधार पर नये सदस्यों को स्वीकार करना अनिवार्य होता है"।

यह आर्थिक कम्यून स्वयं, सबसे पहले

"मानव इतिहास में महान महत्व रखनेवाला सम्यक् रेखांकन है", जो उदाहरण के लिये किसी मार्क्स के "दोषपूर्ण अर्ध-उपायों" से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उससे श्री ड्यूहरिंग का मतलब "व्यक्तियों के एक ऐसे समुदाय से है, जिनके बीच यह सम्बन्ध होता है कि उनको भूमि के एक ख़ास क्षेत्र का और कुछ उत्पादक संस्थानों का इच्छानुसार सामूहिक उपयोग करने का सार्वजनिक अधिकार प्राप्त होता है, और वे उनकी आय में संयुक्त रूप से हिस्सा बंटाते हैं"। यह सार्वजनिक अधिकार **"प्रकृति के साथ** तथा उत्पादक संस्थानों के साथ **एक विशुद्धतया सार्वजनिक ढंग के सम्बन्ध के** अर्थ में... वस्तु पर अधिकार होता है"।

इसका क्या अर्थ है, यह पता लगाने का काम हम आर्थिक कम्यून के भावी विधिवेत्ताओं के ज़िम्मे छोड़ देते हैं – वे अपना दिमाग़ ठोक-ठोककर

इसका पता लगायेंगे। हमारे बस का यह काम नहीं है। हम तो इससे केवल इतना ही समझ पाये हैं कि

वह "मज़दूरों के संघों के उस निगमित स्वामित्व" जैसा कदापि नहीं है, जिसमें पारस्परिक होड़ और यहां तक कि मज़दूरों के शोषण का भी अपवर्जन नहीं होता।

इस सम्बन्ध में वह यह भी कह देते हैं कि

मार्क्स की रचनाओं में "सामूहिक स्वामित्व" की अवधारणा मिलती है, वह "यदि हम बहुत संभालकर कहें तो भी अस्पष्ट और संशयास्पद है, क्योंकि भविष्य की यह अवधारणा सदा यह आभास देती है कि मज़दूरों के समूहों के निगमित स्वामित्व से अधिक इसका और कुछ अर्थ नहीं है"।

यह दृष्टांत भी उन बहुत-सी "दूषित आदतों" का ही एक और उदाहरण है, जिनका श्री ड्यूहरिंग को इतना अभ्यास है। सचमुच यदि हम श्री ड्यूहरिंग की शब्दावली का ही प्रयोग करें, तो हमें कहना पड़ेगा कि उनका स्वभाव इतना अशिष्ट है कि उसके लिये केवल अशिष्ट शब्द "नाक-बहता" ही उपयुक्त होगा। यह भी बिल्कुल उतना ही निराधार झूठ है, जितना निराधार झूठ श्री ड्यूहरिंग का वह आविष्कार था कि सामूहिक स्वामित्व से मार्क्स का मतलब "एक ऐसे स्वामित्व" से था, "जो एक ही समय में व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी"।

बहरहाल इतनी बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि अपने श्रम के औज़ारों पर आर्थिक कम्यून का "सार्वजनिक ढंग का अधिकार" कम से कम अन्य प्रत्येक आर्थिक कम्यून के मुक़ाबले में और साथ ही समाज तथा राज्य के मुक़ाबले में भी स्वामित्व का अनन्य अधिकार होता है।

परन्तु इस अधिकार से कम्यून को यह हक़ नहीं मिल जाता कि वह "अपने आप को... बाहरी दुनिया से अलग कर ले, क्योंकि अलग-अलग आर्थिक कम्यूनों के बीच आने-जाने की स्वतंत्रता होती है और कुछ निश्चित क़ानूनों तथा प्रशासकीय नियमों के आधार पर नये सदस्यों को स्वीकार

करना अनिवार्य होता है... जैसे... वर्तमान काल में किसी राजनीतिक संगठन का सदस्य होना, या कम्यून के आर्थिक मामलों में भाग लेना"।

इसलिये धनी आर्थिक कम्यून भी होंगे और ग़रीब कम्यून भी, और उनका स्तर इस तरह समतल हो जायेगा कि लोग ग़रीब कम्यूनों को छोड़-छोड़कर धनी कम्यूनों में भर जायेंगे। इस तरह यद्यपि श्री ड्यूहरिंग व्यापार का राष्ट्रीय संगठन करके अलग-अलग कम्यूनों के बीच पैदावार के मामले में होड़ को रोक देना चाहते हैं, तथापि उनको उत्पादकों के मामले में होड़ को चलने देने में कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुओं को होड़ के क्षेत्र के बाहर निकाल लिया जाता है, लेकिन मनुष्य उसी के अधीन रहते हैं।

लेकिन "सार्वजनिक ढंग के अधिकार" के बारे में अब भी हमारा दिमाग़ साफ़ नहीं हुआ है। दो पृष्ठ आगे श्री ड्यूहरिंग हमें समझाते हैं:

व्यापार कम्यून "शुरू में उस राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में काम करेगा, जिसके निवासियों को एक एकल क़ानूनी सत्ता की हैसियत प्राप्त है और इस रूप में वे समस्त भूमि, घरों और उत्पादक संस्थानों के स्वामी हैं"।

सो आख़िर पता चला कि इन तमाम वस्तुओं के मालिक अलग-अलग कम्यून नहीं हैं, बल्कि पूरा राष्ट्र उनका मालिक है। इसलिये वह "सार्वजनिक अधिकार", वह "वस्तु पर अधिकार", वह "प्रकृति के साथ सार्वजनिक ढंग का सम्बन्ध", इत्यादि, न केवल "अस्पष्ट तथा संशयास्पद" है, बल्कि वह सीधे-सीधे स्वयं अपना खण्डन कर देता है। कम से कम, जिस हद तक कि हर अलग-अलग आर्थिक कम्यून को भी इसी प्रकार की एक क़ानूनी सत्ता की हैसियत प्राप्त है, उस हद तक यह सचमुच "एक ऐसा स्वामित्व है, जो एक ही समय में व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी"; और यह "नीहारिकावत् प्रसंकर" भी हमें केवल श्री ड्यूहरिंग की रचनाओं में ही मिलता है।

बहरसूरत आर्थिक कम्यून के पास उत्पादन करने के लिये श्रम के

औज़ार तो होते ही हैं, जिनका वह इच्छानुसार उपयोग कर सकता है। यह उत्पादन किस तरह होता है? श्री ड्यूहरिंग ने हमें जो कुछ बताया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि उत्पादन अब भी ठीक उसी तरह होता है, जिस तरह पहले होता था; बस पूंजीपतियों का स्थान कम्यून ले लेता है। अधिक से अधिक हमें केवल इतना ही बताया गया है कि अब हर आदमी अपनी इच्छानुसार अपना धंधा चुन सकेगा और काम करने का सब का समान उत्तरदायित्व होगा।

अभी तक हर प्रकार के उत्पादन का बुनियादी रूप श्रम विभाजन रहा है—एक ओर, पूरे समाज के भीतर होनेवाला श्रम विभाजन, और दूसरी ओर, हर अलग-अलग उत्पादक संस्थान के भीतर होनेवाला श्रम विभाजन। ड्यूहरिंगीय "सोशलिटेरियन व्यवस्था" को इस प्रश्न पर क्या कहना है?

समाज में पहला बड़ा श्रम विभाजन यह होता है कि देहात और शहर अलग-अलग हो जाते हैं।

श्री ड्यूहरिंग के मतानुसार यह विरोध, "वस्तुस्थिति को देखते हुए अनिवार्य है"। लेकिन "खेती और उद्योग के बीच की खाई के बारे में यह समझना कि... उसे कभी भरा नहीं जा सकता... यह काफ़ी संदिग्ध बात है। सच पूछिये, तो एक हद तक आज भी अन्तर्सम्बन्ध की स्थिरता पायी जाती है, जिसके भविष्य में काफ़ी बढ़ जाने की आशा है"। और हमें मालूम हुआ है कि दो उद्योग खेती तथा ग्रामीण उत्पादन में घुस भी गये हैं—"एक तो शराब खींचना और दूसरे, चुकन्दर की चीनी बनाना... स्पिरिट के उत्पादन ने अभी से इतना अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है कि उसका मूल्य बढ़ा-चढ़ाकर आंकने की अपेक्षा उसे कम करके आंकने की अधिक सम्भावना है।" और "यदि किन्हीं आविष्कारों के फलस्वरूप इतने अधिक उद्योगों का विकास हो जाता कि वे अपने उत्पादन का देहात में केन्द्रीयकरण कर देने और कच्चे माल के उत्पादन के प्रत्यक्ष संसर्ग में उत्पादन करने के लिये बाध्य हो जाते", तो इससे शहर और देहात का विरोध मन्द पड़ जाता और "सभ्यता के विकास के लिये व्यापकतम आधार उपलब्ध हो जाता"। इसके अतिरिक्त "एक और तरह भी यही बात हो सकती थी। प्राविधिक आवश्यकताओं के अलावा सामाजिक आवश्य-

कताएं अधिकाधिक महत्व प्राप्त करती जा रही हैं; और यदि मानव का कार्यकलाप का समूहन करते समय सबसे अधिक इन सामाजिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया जाने लगे, तो फिर देहात के धंधों और कच्चे माल से तैयार माल बनाने की प्राविधिक प्रक्रियाओं के बीच घनिष्ठ तथा सुनियोजित सम्बन्ध बनाये रखने से जो अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, उनको अनदेखा कर देना सम्भव न होगा"।

अब आर्थिक कम्यून में तो सामाजिक आवश्यकताएं अधिकाधिक महत्व प्राप्त करती जाती हैं। तब क्या वह तुरन्त खेती और उद्योग के उपर्युक्त गठबंधन से पूरा लाभ उठाने की चेष्टा करेगा? क्या यहां श्री ड्यूहरिंग फिर अपनी आदत के अनुसार ख़ूब लम्बी-लम्बी बातें करने के बावजूद इस प्रश्न पर चुप्पी नहीं साध जायेंगे कि आर्थिक कम्यून के रुख़ के बारे में उनकी "अधिक सम्यक् अवधारणाएं" क्या हैं? जो पाठक यह आशा करता है कि वह इस बार चुप्पी नहीं साधेंगे, उसे घोर निराशा होगी। शहर और देहात के विरोध की आज क्या हालत है और भविष्य में क्या होगी, इसके बारे में श्री ड्यूहरिंग उपर्युक्त अत्यल्प, संशयपूर्ण और उन अत्यन्त घिसी-पिटी बातों से अधिक हमें कुछ नहीं कहते, जो एक बार फिर प्रशियाई Landrecht के शराब खींचनेवाले और चुकन्दर की चीनी बनानेवाले क्षेत्र से आगे नहीं जातीं।

आइये, अब हम श्रम विभाजन पर विस्तार से विचार करें। यहां श्री ड्यूहरिंग ने कुछ "अधिक सम्यक्" बातें कही हैं। उन्होंने उस व्यक्ति की चर्चा की है

"जिसे अनन्य रूप से **केवल एक** प्रकार के धंधे में व्यस्त रहना पड़ता है"। यदि उद्योग की किसी नयी शाखा को आरम्भ करने का प्रश्न है, तो "समस्या केवल इस बात पर निर्भर करती है कि जिनको **एक ख़ास वस्तु के उत्पादन में व्यस्त रहना है**, उन **प्राणियों** की एक निश्चित संख्या को जिस उपभोग" (!) "की आवश्यकता है, क्या उसका किसी प्रकार कोई प्रबंध किया जा सकता है। सोशलिटेरियन व्यवस्था में उत्पादन की किसी भी शाखा के लिये "अधिक **लोगों की आवश्यकता**" नहीं होगी, और वहां भी मनुष्यों की अलग-अलग प्रकार की "**आर्थिक जातियां**" होंगी, जिनमें से हरेक की "जीवन पद्धति भिन्न होगी"।

चुनांचे उत्पादन के क्षेत्र में हर चीज़ ज्यों की त्यों रहती है। किन्तु

समाज में अभी तक एक "ग़लत ढंग का श्रम विभाजन" प्रचलित रहा है;

मगर यह ग़लत ढंग का श्रम विभाजन कैसा है और आर्थिक कम्यून में उसके स्थान पर कैसा श्रम विभाजन स्थापित किया जायेगा, इस विषय में हमें केवल इतना ही बताया जाता है कि

"जहां तक स्वयं श्रम विभाजन का सम्बन्ध है, हम पहले ही कह चुके हैं कि विभिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों तथा व्यक्तिगत क्षमताओं पर विचार करते ही इस प्रश्न को निर्णीत समझा जा सकता है"।

क्षमताओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत रुचियों का भी ध्यान रखा गया है:

"क्रियाशीलता के जिन रूपों के लिये अतिरिक्त क्षमताओं तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, उनके स्तर तक उठने में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अनन्य रूप से इस बात पर निर्भर करेगा कि इस ख़ास धंधे के लिये कितना झुकाव है और **अन्य किसी वस्तु के अभ्यास में नहीं, बल्कि केवल इसी वस्तु के अभ्यास में** कितना सुख मिलता है" (वस्तु के अभ्यास में!)।

और इससे सोशलिटेरियन व्यवस्था के भीतर प्रतियोगिता को बढ़ावा मिलेगा, जिसके फलस्वरूप

"उत्पादन स्वयं रोचक बन जायेगा और तब परिस्थितियों पर उत्पादन के उस नीरस अभ्यास की छाप नहीं रहेगी, जो उसमें जीविका कमाने के साधन के सिवा और कुछ नहीं देखता"।

ऐसे प्रत्येक समाज में, जिसमें स्वयंस्फूर्त्त ढंग से उत्पादन का विकास हुआ है—और हमारा वर्तमान समाज इसी ढंग का है—परिस्थिति यह

नहीं होती कि उत्पादन साधनों पर उत्पादकों का नियंत्रण हो, बल्कि उत्पादकों पर उत्पादन साधनों का नियंत्रण होता है। ऐसे समाज में उत्पादन का प्रत्येक नया उत्तोलक आवश्यक रूप से उत्पादकों को उत्पादन साधनों के अधीन बनाने के एक नये साधन में रूपान्तरित हो जाता है। यह बात उत्पादन के उस उत्तोलक के लिये सबसे अधिक सत्य है, जो आधुनिक उद्योग का श्रीगणेश होने के पहले सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तोलक था। हमारा मतलब श्रम विभाजन से है। पहले बड़े श्रम विभाजन ने, जिसके द्वारा देहात और शहर में अलगाव पैदा हो गया, देहाती आबादी को हज़ारों वर्षों के लिये मानसिक जड़ता के गर्त में धकेल दिया और शहरों में रहनेवाले लोगों में से प्रत्येक को उसके अपने ख़ास धंधे के अधीन बना दिया। उसने देहाती आबादी के बौद्धिक विकास के आधार को, और शहरों की आबादी के शारीरिक विकास के आधार को नष्ट कर दिया। जिस समय किसान अपनी भूमि को और शहर का रहनेवाला आदमी अपने धंधे को हस्तगत करता है, तो उसी हद तक किसान की भूमि किसान को, और शहर के रहनेवाले का धंधा उस आदमी को हस्तगत कर लेते हैं। श्रम विभाजन होता है, तो मनुष्य का भी विभाजन हो जाता है। एक ख़ास तरह की क्रियाशीलता के विकास के हेतु अन्य समस्त शारीरिक और मानसिक क्षमताओं की बलि चढ़ा दी जाती है। जिस मात्रा में श्रम विभाजन बढ़ता है, उसी मात्रा में मनुष्य का यह विकासरोधन भी बढ़ता जाता है। श्रम विभाजन मैनुफ़ेक्चर के रूप में अपने विकास की चरमावस्था में पहुंच जाता है। मैनुफ़ेक्चर प्रत्येक धंधे को बहुत-सी अलग-अलग आंशिक प्रक्रियाओं में बांट देता है, और उनमें से प्रत्येक प्रक्रिया को एक अलग मज़दूर को उसके जीवन-भर के धंधे के रूप में सौंप देता है, और इस प्रकार उसे जीवन-भर के लिये एक ख़ास तफ़सीली काम और एक ख़ास औज़ार के साथ बांध देता है। "वह मज़दूर की एक तफ़सीली क्षमता का विकास करने के लिये उसकी अन्य समस्त क्षमताओं और नैसर्गिक भावनाओं को नष्ट करके... एक लुंज-पुंज, कुरूप प्राणी में बदल देता है... बल्कि ख़ुद व्यक्ति को भी एक आंशिक क्रिया की स्वचालित मोटर

बना दिया जाता है" (मार्क्स)*, और इस मोटर का प्राय: मज़दूर को शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अक्षरशः लुंज-पुंज बनाकर ही विकास किया जा सकता है। आधुनिक उद्योग की मशीनें मज़दूर को मशीन भी नहीं रहने देतीं, बल्कि उसको किसी मशीन का उपांग मात्र बना देती हैं। "सारा जीवन एक ही औज़ार से काम करने की विशिष्टता अब सारा जीवन एक ही मशीन की सेवा करने की विशिष्टता बन जाती है। मशीनों का अब मज़दूर को उसके बचपन से ही तफ़सीली काम करनेवाली किसी मशीन का अंग बना देने के उद्देश्य से दुरुपयोग किया जाता है" (मार्क्स).** और न केवल मज़दूर, बल्कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मज़दूरों का शोषण करनेवाले वर्ग भी, श्रम विभाजन के द्वारा अपने कार्य के यंत्र के अधीन बन जाते हैं। रिक्त मस्तिष्क वाला पूंजीपति स्वयं अपनी पूंजी का तथा मुनाफ़ा बटोरने की अपनी उन्मत्त लालसा का दास बन जाता है; वकील अपनी उन अश्मीभूत क़ानूनी अवधारणाओं के अधीन हो जाता है, जो एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में उसके ऊपर शासन करती हैं, "शिक्षित वर्ग" आम तौर पर स्थानीय संकीर्ण मनोवृत्ति तथा एकांगीपन के अपने नाना रूपों के, ख़ुद अपनी शारीरिक तथा मानसिक अल्पदृष्टि के, संकुचित एवं विशेषीकृत शिक्षा के कारण तथा जीवन-भर एक विशेषीकृत कार्य के साथ बंधे रहने के कारण – यहां तक कि जहां यह विशेषीकृत कार्य कुछ न करना होता है, वहां भी आजीवन उसी के साथ बंधे रहने के कारण – विकासरोधन के अधीन हो जाता है।

श्रम विभाजन के प्रभाव के बारे में कल्पनावादियों का दिमाग़ साफ़ था। वे उस समय भी यह अच्छी तरह समझते थे कि श्रम विभाजन के फलस्वरूप एक ओर मज़दूर का और दूसरी ओर श्रम कार्य का विकास रुक जाता है, और वह जीवन-भर एक ही प्रक्रिया को बार-बार, यांत्रिक ढंग से दोहराते रहने तक ही सीमित हो जाता है। ओवेन की तरह फ़ूरिये

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ४०७। – सं०

** वही, पृष्ठ ४७७। – सं०

ने भी पुराने श्रम विभाजन को एकदम मिटा देने की पहली शर्त के रूप में शहर और देहात के विरोध को दूर करने की मांग की थी। दोनों का यह विचार था कि आबादी को सोलह सौ से तीन हज़ार तक के दलों में पूरे देश में बिखर जाना चाहिये। प्रत्येक दल को जो ज़मीन मिली हुई होगी, वह उसके केन्द्र में स्थित एक विराट प्रासाद में रहेगा, जिसकी व्यवस्था सामुदायिक ढंग से की जायेगी। यह सच है कि फ़ूरिये कभी-कभी शहरों की भी चर्चा करते हैं, पर उनके शहरों का मतलब था कि इस तरह के चार या पांच प्रासाद एक दूसरे के नज़दीक स्थित होंगे। दोनों लेखकों का मत था कि समाज के प्रत्येक सदस्य को उद्योग के साथ-साथ खेती का भी काम करना चाहिये। फ़ूरिये की दृष्टि में उद्योग का अर्थ मुख्यतया दस्तकारी और मैनुफ़ेक्चर था, जबकि ओवेन ने मुख्य भूमिका आधुनिक उद्योग को सौंपी थी, और मांग की थी कि घरेलू काम में भी भाप की शक्ति तथा मशीनों का उपयोग किया जाये। परन्तु दोनों ही यह चाहते थे कि खेती तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव नाना प्रकार के काम करने का अवसर प्राप्त हो, और इसलिये उनकी राय थी कि तरुणों को ऐसी शिक्षा दी जाये कि वे यथासम्भव सभी प्रकार के प्राविधिक कामों को कर सकें। दोनों का विचार था कि मनुष्य को सार्वत्रिक ढंग की व्यावहारिक क्रियाशीलता के द्वारा सार्वत्रिक विकास करना चाहिये, और श्रम विभाजन ने श्रम से जो आकर्षण छीन लिया है, वह पहले तो नाना प्रकार के कामों को करने के कारण और साथ ही हर अलग-अलग तरह के धंधे में बहुत थोड़ी देर तक काम करने, या फ़ूरिये के शब्दों में उतनी ही संक्षिप्त अवधि तक "बैठक" के कारण,[174] उसे वापस मिल जाना चाहिये। फ़ूरिये और ओवेन दोनों शोषक वर्गों की उस चिन्तन प्रणाली से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, जो श्री ड्यूहरिंग को विरासत में मिली है और जिसके अनुसार शहर और देहात में विरोध वस्तुस्थिति के कारण अनिवार्य है। इस संकुचित दृष्टिकोण के अनुसार बहुत-से "प्राणियों" का हर सूरत में केवल **एक अकेली** वस्तु के उत्पादन में व्यस्त रहना अनिवार्य होता है, जो मनुष्यों की अलग-अलग प्रकार की जीवन पद्धतियों पर आधारित "आर्थिक जातियों" को अजर-अमर बनाकर रखना

चाहता है, जो मनुष्यों को सदा ऐसी हालत में रखना चाहता है कि उनको केवल एक विशेष वस्तु के अभ्यास में ही आनन्द मिलता हो, अन्य किसी वस्तु के अभ्यास में नहीं मिलता हो; और वे गिरते-गिरते इतने नीचे पहुंच गये हों कि ख़ुद अपनी पराधीनता और एकांगीपन पर **ख़ुशियां मनाते** हों। जिसे श्री ड्यूहरिंग ने "जड़ बुद्धि" कहा है, उस फ़ूरिये की अत्यन्त दुस्साहसी भ्रान्त कल्पनाओं की बुनियादी अवधारणाओं की तुलना में, जिसे श्री ड्यूहरिंग ने "फूहड़, बलहीन और तुच्छ" कहा है, उस ओवेन के तुच्छतम विचारों के मुक़ाबले में श्री ड्यूहरिंग, जिनके दिमाग़ पर अभी तक पूरी तरह श्रम विभाजन छाया हुआ है, एक धृष्ट बौने से अधिक कुछ नहीं हैं।

पहले मनुष्य ख़ुद अपने उत्पादन साधनों के दास थे; पर एक सामाजिक योजना के अनुसार उत्पादन के समस्त साधनों का उपयोग करने के लिये उनपर अपना स्वामित्व स्थापित करके समाज मनुष्यों की इस पराधीनता का अन्त कर देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र नहीं किया जाता, तब तक समाज अपने आप को स्वतंत्र नहीं कर सकता। इसलिये ज़रूरी है कि उत्पादन की पुरानी प्रणाली में ऊपर से नीचे तक क्रान्ति हो जाये और ख़ास तौर पर पुराने श्रम विभाजन का अन्त कर दिया जाये। उसके बदले उत्पादन का इस तरह का संगठन होना चाहिये, जिसमें एक ओर तो कोई व्यक्ति उत्पादक श्रम का—जो मानव अस्तित्व की एक प्राकृतिक शर्त है—अपना हिस्सा दूसरों के सिर पर नहीं डाल पायेगा, और दूसरी ओर उत्पादक श्रम मनुष्यों को पराधीन बनाने का साधन नहीं रहेगा, बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का चहुमुखी विकास करने तथा पूर्ण प्रयोग करने का अवसर देगा तथा इस प्रकार मनुष्यों की मुक्ति का साधन बन जायेगा; और इसलिये जिसमें उत्पादक श्रम मनुष्यों को भार नहीं प्रतीत होगा, बल्कि उनके लिये आनन्द का स्रोत बन जायेगा।

यह सब आज एक कल्पना या शुभ इच्छा मात्र नहीं है। उत्पादक शक्तियों का इस समय जितना विकास हो गया है, उसको देखते

हुए उत्पादक शक्तियों के समाजीकरण मात्र से, और साथ ही पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से पैदा होनेवाली रुकावटों और उपद्रवों तथा उत्पादित वस्तुओं एवं उत्पादन साधनों के अपव्यय के बन्द हो जाने से ही उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि हो जायेगी कि जब हर आदमी अपने हिस्से का काम करेगा, तब यह वृद्धि श्रम के लिये आवश्यक समय को इस बिन्दु तक कम करने के लिये पर्याप्त होगी, जो हमारी वर्तमान अवधारणाओं के मापदण्ड से नापने पर सचमुच बहुत छोटा प्रतीत होगा।

पुराने श्रम विभाजन को समाप्त करने की मांग कोई ऐसी मांग नहीं है, जो केवल श्रम की उत्पादकता को हानि पहुंचाकर ही पूरी की जा सकती हो। बात इसकी उल्टी है। आधुनिक उद्योग के फलस्वरूप यह मांग स्वयं उत्पादन की शर्त बन गयी है। "मशीनों का उपयोग करने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि मैनुफ़ेक्चर के ढंग पर एक ख़ास आदमी को लगातार एक ख़ास काम के साथ बंधे रखकर इस विभाजन को स्थायी रूप दे दिया जाये। इस पूरी संहति की गति चूंकि मज़दूर से नहीं, बल्कि मशीनों से आती है, इसलिये काम को बीच में रोके बिना किसी भी समय पर व्यक्तियों की अदला-बदली की जा सकती है... अन्त में चूंकि लड़के-लड़कियां मशीन का काम बहुत जल्दी सीख लेते हैं, इसलिये मज़दूरों के किसी ख़ास वर्ग को केवल मशीनों पर काम करने के लिये सिखा-पढ़ाकर तैयार करने की भी कोई ज़रूरत नहीं रहती।"* परन्तु जहां मशीनों के उपयोग की पूंजीवादी प्रणाली आवश्यक रूप से पुराने श्रम विभाजन को मय उसके अश्मीभूत विशेषीकरण के क़ायम रखती है, हालांकि प्राविधिक दृष्टिकोण से वह अनावश्यक हो जाता है, वहां मशीनें ख़ुद इस कालदोष के विरुद्ध विद्रोह कर उठती हैं। आधुनिक उद्योग का प्राविधिक आधार क्रान्तिकारी है। "मशीनों, रासायनिक क्रियाओं तथा अन्य तरीक़ों के द्वारा आधुनिक उद्योग न केवल उत्पादन के प्राविधिक आधार में, बल्कि मज़दूर के कार्यों में और श्रम प्रक्रिया के सामाजिक संयोजनों में भी लगातार

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ४७५। – सं०

तब्दीलियां कर रहा है। साथ ही वह इस तरह समाज में पाये जानेवाले श्रम विभाजन में भी क्रान्ति पैदा कर देता है और पूंजी की राशियों को तथा मज़दूरों के समूहों को उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा में निरन्तर स्थानांतरित करता रहता है। इसलिये आधुनिक उद्योग में ख़ुद अपने स्वरूप के कारण श्रम के निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, काम का रूप लगातार बदलता रहता है और मज़दूरों में सार्वत्रिक गतिशीलता आ जाती है... हम यह देख चुके हैं कि यह परम विरोध... मज़दूर वर्ग के अनवरत बलिदानों में, श्रम शक्ति के अंधाधुंध अपव्यय में, और सामाजिक अराजकता द्वारा ढायी गयी तबाही के रूप में अपना क्रोध व्यक्त करता है... यह हुआ उसका नकारात्मक पहलू। लेकिन यदि एक ओर, काम में होनेवाले परिवर्तन इस समय एक प्राकृतिक नियम की तरह ज़बर्दस्ती अपना असर दिखाते हैं, और यदि वे उस प्राकृतिक नियम की भांति, जिसका हर बिन्दु पर विरोध हो रहा है, एक अंधी शक्ति के रूप में मिटाते और नाश करते हुए अमल में आते हैं, तो, दूसरी ओर, आधुनिक उद्योग जिन विपत्तियों को ढाता है, उनके द्वारा वह सबसे यह मनवा लेता है कि काम में बराबर परिवर्तन होते रहना और इसलिये मज़दूर में विविध प्रकार के काम करने की योग्यता का होना, तथा इस कारण उसकी विभिन्न प्रकार की क्षमताओं का अधिक से अधिक विकास होना सामाजिक उत्पादन का एक मौलिक नियम है। उत्पादन की प्रणाली को इस नियम के सामान्य कार्य के अनुकूल बनाने का सवाल समाज की ज़िन्दगी और मौत का सवाल बन जाता है। वस्तुतः आधुनिक उद्योग समाज को मौत की धमकी देकर इसके लिये मजबूर कर देता है कि आजकल के तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर को, जो जीवन-भर एक ही बहुत तुच्छ क्रिया को दुहरा-दुहराकर पंगु हो गया है और इस प्रकार इनसान का एक अंश-भर रह गया है, एक पूर्णतया विकसित ऐसे व्यक्ति में बदल दे, जो अनेक प्रकार का श्रम करने की योग्यता रखता हो, जो उत्पादन में होनेवाले किसी भी परिवर्तन के लिये तैयार हो, और जिसके लिये उसके द्वारा सम्पन्न होने-

वाले विभिन्न सामाजिक कार्य केवल अपनी प्राकृतिक एवं उपार्जित क्षमताओं को स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार में लाने की प्रणालियां भर हों।"*

आधुनिक उद्योग ने हमें अणुओं की गति को, जो न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र सम्भव होती है, प्राविधिक प्रयोजनों के लिये द्रव्यमानों की गति में बदल देना सिखा दिया है, और इस तरह उत्पादन को काफ़ी हद तक स्थान की सीमाओं से मुक्त कर दिया है। जल शक्ति स्थान विशेष से जुड़ी होती थी, भाप की शक्ति – स्वतंत्र। जल शक्ति आवश्यक रूप से ग्रामीण होती है, पर भाप की शक्ति आवश्यक रूप से शहरी नहीं होती। वह तो उसका पूंजीवादी उपयोग है, जो भाप की शक्ति को शहरों में संकेन्द्रित कर देता है, और कारख़ानों वाले गांवों को कारख़ानों वाले शहरों में बदल देता है। परन्तु ऐसा करते हुए वह साथ ही उन परिस्थितियों की भी जड़ खोद देता है, जिसमें वह स्वयं काम करता है। भाप के इंजिन की पहली आवश्यकता और आधुनिक उद्योग में उत्पादन की लगभग सभी शाखाओं की एक मुख्य आवश्यकता यह है कि अपेक्षाकृत शुद्ध जल मिलता रहे। परन्तु कारख़ानों वाला शहर समस्त जल को बदबूदार कीचड़ में बदल देता है। इसलिये शहरों में संकेन्द्रित हो जाना पूंजीवादी उत्पादन की चाहे जितनी बुनियादी शर्त क्यों न हो, हर अलग-अलग औद्योगिक पूंजीपति लगातार इस संकेंद्रण से उत्पन्न बड़े शहरों से दूर भागने और अपने कारख़ाने को देहात में ले जाने की कोशिश किया करता है। लंकाशायर और यार्कशायर के कपड़ा उद्योगवाले इलाक़ों में इस प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन किया जा सकता है। शहरों से देहात में भाग-भागकर आधुनिक पूंजीवादी उद्योग नित नये बड़े शहरों को जन्म देता रहता है। जिन ज़िलों में धातु का काम होता है, उनमें भी यही परिस्थिति पायी जाती है। वहां, आंशिक रूप से कुछ अन्य कारणों से इसी तरह की हालत पैदा हो गयी है।

एक बार फिर यह बात स्पष्ट है कि केवल आधुनिक उद्योग के पूंजीवादी स्वरूप का अन्त हो जाने पर ही हम इस नये दुष्चक्र के बाहर निकल

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ५४९-५५१। – सं०

सकते हैं और आधुनिक उद्योग के इस विरोध को हल कर सकते हैं, जो निरन्तर अपना पुनरुत्पादन करता रहता है। जिस समाज में एक विशाल एवं संयुक्त योजना के आधार पर समस्त उत्पादक शक्तियों को सुसंगत ढंग से एक दूसरे के साथ जोड़ देना सम्भव होगा, केवल उसी समाज में उद्योग को पूरे देश में इस तरह फैलाया जा सकता है, जो उसके अपने विकास के, और उत्पादन के अन्य तत्वों के संरक्षण तथा विकास के सर्वाधिक अनुकूल हो।

चुनांचे शहर और देहात के विरोध को समाप्त कर देना केवल सम्भव ही नहीं है। वह जिस प्रकार खेती के उत्पादन की तथा साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य की प्रत्यक्ष आवश्यकता बन गया है, उसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन की भी आवश्यकता बन गया है। आजकल वायु, जल और मिट्टी में जिस प्रकार विष का संचार हो रहा है, उसे केवल शहर और देहात को एक करके ही रोका जा सकता है। और इस समय जो जनता शहरों में पड़ी सड़ रही है, उसकी हालत को केवल शहर और देहात के एकीकरण से ही बदला जा सकता है, और केवल उसी तरह यह भी सम्भव हो सकता है कि जनता का मल-मूत्र, जिससे आजकल बीमारियां पैदा होती हैं, पेड़-पौधे पैदा करने के लिये इस्तेमाल किया जाये।

पूंजीवादी उद्योग ने उन स्थानीय परिसीमाओं से अपने आपको अपेक्षाकृत मुक्त कर लिया है, जो उसके लिये आवश्यक कच्चे मालों के स्रोत केन्द्रों के कारण पैदा हो जाती हैं। कपड़ा उद्योग, मुख्यतया, बाहर से मंगाये गये कच्चे माल को इस्तेमाल करता है। स्पेन का लौह खनिज इंगलैण्ड और जर्मनी के कारख़ानों में तैयार माल का रूप धारण करता है और स्पेन तथा दक्षिण अमरीका का ताम्बे का खनिज इंगलैण्ड के कारख़ानों में इस्तेमाल होता है। प्रत्येक कोयला क्षेत्र अपनी सीमाओं से दूर किसी औद्योगिक इलाक़े को ईंधन जुटाता है, और यह इलाक़ा साल दर साल विस्तृत होता जा रहा है। यूरोप के समुद्रतट पर हर जगह भाप के इंजिन इंगलैण्ड, और कुछ हद तक जर्मनी तथा बेल्जियम के कोयले से चलते हैं। जो समाज पूंजीवादी उत्पादन की रुकावटों से छुटकारा पा गया है, वह इस दिशा में कहीं अधिक आगे जा सकता है। उत्पादकों की एक

ऐसी पीढ़ी को पैदा करके, जिसे सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन के वैज्ञानिक आधार का ज्ञान होगा, और जिसका प्रत्येक सदस्य उत्पादन की अनेक शाखाओं का आदि से अन्त तक पूरा व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर चुका होगा – इस प्रकार के उत्पादकों को पैदा करके यह समाज एक नयी उत्पादक शक्ति को जन्म देगा, जो दूरवर्ती स्थानों से कच्चा माल तथा ईंधन ढोकर लाने के लिये आवश्यक श्रम की क्षतिपूर्ति कर देगी।

इसलिये शहर और देहात के अलगाव को ख़तम कर देने की बात इस दृष्टि से भी कल्पनावादी नहीं है कि उसके लिये पहले आधुनिक उद्योग का पूरे देश में यथासम्भव समानता के आधार पर वितरण कर देना एक शर्त होगी। यह सच है कि बड़े शहरों के रूप में सभ्यता हमारे लिये एक ऐसी विरासत छोड़ गयी है, जिससे छुटकारा पाने में काफ़ी समय लगेगा और बहुत परेशानी उठानी पड़ेगी। लेकिन उससे छुटकारा पाना ज़रूरी है, और इस काम में चाहे जितना समय लग जाये, हम उससे छुटकारा पाकर ही रहेंगे। प्रशियाई जाति के जर्मन साम्राज्य के भाग्य में जो कुछ भी लिखा हो, पर बिस्मार्क ख़ुद इस गर्वपूर्ण चेतना के साथ अपनी क़ब्र की ओर प्रस्थान कर सकते हैं कि उनके हृदय की इच्छा अवश्य पूरी होगी – बड़े शहरों का विनाश हो जायेगा।[175]

और अब ज़रा सोचिये कि श्री ड्यूहरिंग के इस तरह के विचार कितने बेतुके हैं कि समाज उत्पादन की पुरानी पद्धति में ऊपर से नीचे तक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बग़ैर, और सबसे पहले पुराने श्रम विभाजन का अन्त किये बग़ैर भी उत्पादन के समस्त साधनों पर समूचे तौर पर अधिकार कर सकता है; या यह कि जब एक बार "प्राकृतिक क्षमताओं और व्यक्तिगत योग्यताओं का ध्यान रखा जाता है", तो हर चीज व्यवस्थित हो जायेगी, और इसलिये प्राणियों के समूह इसके बाद भी पहले की ही तरह **अकेले एक** वस्तु के उत्पादन में लगे रहेंगे, पूरी की पूरी "आबादियां" उत्पादन की अकेली एक शाखा में व्यस्त रहेंगी, और इसके बाद भी पहले की ही तरह मानवजाति अनेक अलग-अलग, पंगु बना दी गयी "आर्थिक जातियों" में बंटी रहेगी, जैसे कि अब भी "बोझ उठानेवाले कुली" और "वास्तुकार" मौजूद हैं। श्री ड्यूहरिंग के मता-

नुसार समाज को केवल इसलिये उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामी बन जाना है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनें उत्पादन साधनों का दास ही बना रहे, और उसे केवल इतना ही चुनने का अधिकार हो कि वह उत्पादन के **कौनसे** साधन का दास बनना पसन्द करेगा। ज़रा यह भी सोचिये कि किस तरह श्री ड्यूहरिंग की राय में शहर और देहात का अलगाव "स्वयं वस्तुस्थिति के कारण अनिवार्य है"; और उनको इसकी केवल एक ही छोटी-सी उपशामक मिली है। वह है शराब खींचने तथा चुकन्दर की चीनी बनाने के धंधे। ये दोनों उद्योग पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से विशिष्ट रूप से प्रशियाई शाखाएं हैं। यह भी देखिये कि वह किस भांति देश-भर में उद्योगों के वितरण को कुछ भावी आविष्कारों पर और उद्योग का प्रत्यक्ष रूप में कच्चे मालों की प्राप्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की **आवश्यकता** पर निर्भर बना देते हैं, हालांकि वास्तव में ये कच्चे माल अपनी उत्पत्ति के स्थान से अधिकाधिक दूर इस्तेमाल किये जा रहे हैं। और अन्त में श्री ड्यूहरिंग हमें यह आश्वासन देकर अपने पलायन पर आवरण डालने का प्रयत्न करते हैं कि अन्त में सामाजिक आवश्यकताएं आर्थिक कारणों **के भी ख़िलाफ़** जाकर खेती और उद्योग को एक कर देंगी, मानो यह भी कोई आर्थिक बलिदान होगा!

निश्चय ही यह देख सकने के लिये कि वे क्रान्तिकारी तत्व जो शहर और देहात के अलगाव के साथ-साथ पुराने श्रम विभाजन का भी अन्त कर देंगे और पूरे उत्पादन में क्रान्ति कर देंगे–यह देख सकने के लिये कि ये क्रान्तिकारी तत्व बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग की परिस्थितियों में पहले से ही बीज रूप में मौजूद हैं और उनके विकास के रास्ते में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली बाधा डाल रही है–इन तमाम बातों को देख सकने के लिये आवश्यक है कि आदमी की दृष्टि केवल प्रशियाई Landrecht के अधिकार क्षेत्र तक ही सीमित न रहे, जहां शराब खींचना और चुकन्दर की चीनी बनाना ही दो मुख्य उद्योग हैं और जहां किताबों की मण्डी में व्यापारिक संकटों का अध्ययन किया जा सकता है। इन तमाम बातों को देख सकने के लिये इससे कुछ अधिक व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। उसके लिये आवश्यक है कि आदमी में सचमुच बड़े पैमाने के उद्योग के

ऐतिहासिक विकास का तथा उसके वर्तमान वास्तविक रूप का कुछ ज्ञान हो। ख़ास तौर पर उस एक देश में जो ग्राधुनिक उद्योग का मूल स्थान है ग्रौर जहां पर ही उसका क्लैसिकल ढंग से विकास हुग्रा है। यदि ग्रादमी में इतना ज्ञान हो, तो वह फिर ग्राधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद को तोड़-मरोड़कर भोंडी शक्ल में पेश करने ग्रौर उसे श्री ड्यूहरिंग के **विशिष्ट रूप से प्रशियाई समाजवाद** के स्तर पर पहुंचा देने की बात कभी नहीं सोचेगा।

४

वितरण

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि ड्यूहरिंगीय राजनीतिक अर्थशास्त्र का निचोड़ इस प्रस्थापना में निहित है कि पूंजीवादी **उत्पादन** प्रणाली काफ़ी अच्छी है और वह क़ायम रह सकती है, लेकिन पूंजीवादी **वितरण** प्रणाली बहुत बुरी है, और उसका ग़ायब हो जाना नितान्त आवश्यक है। अब हमें पता चलता है कि श्री ड्यूहरिंग की "सोशलिटेरियन व्यवस्था" इसी सिद्धान्त को कल्पना जगत् में अमल में लाने से अधिक और कुछ नहीं है। सच पूछिये तो जहां तक पूंजीवादी समाज की उत्पादन प्रणाली का सम्बन्ध है, श्री ड्यूहरिंग को उसमें लगभग कोई बुराई नज़र नहीं आती, और वह पुराने श्रम विभाजन की सभी मूल बातों को क़ायम रखना चाहते हैं, और इसी कारण उनके पास इस बारे में एक भी शब्द कहने के लिये नहीं है कि उनके आर्थिक कम्यून में उत्पादन किस तरह होगा। उत्पादन सचमुच एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें ठोस तथ्यों की चर्चा करनी पड़ती है और इस कारण जिसमें "बुद्धिसंगत कल्पना" की मुक्त आत्मा के उड़ान भरने के लिये बहुत कम अवसर रहता है; कारण कि इस क्षेत्र में अपमानजनक भूल कर बैठने का बहुत ज़्यादा ख़तरा रहता है। वितरण की बात बिल्कुल दूसरी चीज़ है। श्री ड्यूहरिंग की राय में उसका उत्पादन से क़तई कोई सम्बन्ध नहीं होता, और वह उत्पादन से नहीं, बल्कि केवल मनुष्य की इच्छा से निर्धारित होता है। यह मानो पहले से ही तय था कि श्री ड्यूहरिंग अपनी "सामाजिक कीमियागरी" के हाथ वितरण के क्षेत्र में दिखायेंगे।

उत्पादन करने के समान उत्तरदायित्व के अनुरूप ही उपभोग करने का भी हरेक को समान अधिकार होता है, जो आर्थिक कम्यून में तथा उस व्यापारिक कम्यून में, जिसमें बहुत-से आर्थिक कम्यून शामिल होते हैं, संगठित ढंग से अमल में आता है। यहां "श्रम का... अन्य प्रकार

के श्रम के साथ समान मूल्यांकन के आधार पर विनिमय किया जाता है... यहां सेवा और प्रति-सेवा श्रम की मात्राओं की वास्तविक समानता का प्रतिनिधित्व करती हैं"। और "चाहे व्यक्तियों ने वास्तव में कम काम किया हो या ज़्यादा किया हो, या चाहे उन्होंने सम्भवतः **कुछ भी नहीं** किया हो", "मानव ऊर्जाओं का समानीकरण" हर हालत में लागू होता है। कारण कि सभी प्रकार के कार्यों को, जहां तक उनमें समय और ऊर्जा का व्यय होता है, कार्यान्वित श्रम समझा जा सकता है। इसलिये गेंद खेलना या टहलने जाना भी श्रम है। किन्तु यह विनिमय अलग-अलग व्यक्तियों के बीच नहीं होता, क्योंकि उत्पादन के समस्त साधनों का, और इसलिये समस्त उत्पादित वस्तुओं का भी स्वामी समुदाय होता है। एक ओर, विनिमय प्रत्येक आर्थिक कम्यून तथा उसके सदस्यों के बीच होता है; दूसरी ओर, वह स्वयं विभिन्न आर्थिक तथा व्यापारिक कम्यूनों के बीच होता है। "अलग-अलग आर्थिक कम्यून अपने-अपने क्षेत्र में फुटकर व्यापार के स्थान पर पूर्णतया योजनाबद्ध बिक्री का इन्तज़ाम करेंगे।" थोक व्यापार का भी इसी प्रकार संगठन किया जायेगा। "अतः स्वतंत्र आर्थिक समाज की व्यवस्था... विनिमय की एक विशाल संस्था की तरह होगी, जिसकी प्रक्रियाएं बहुमूल्य धातुओं द्वारा जनित आधार के सहारे कार्यान्वित की जायेंगी। इस मौलिक गुण की अपरिहार्य आवश्यकता की समझ ही हमारे रेखांकन को उन तमाम धुंधले विचारों से अलग कर देती है, जो वर्तमान काल में प्रचलित समाजवादी विचारों के अति बुद्धिसंगत रूपों से भी लिपटे हुए पाये जाते हैं।"

इस विनिमय के लिये सामाजिक पैदावार के पहले हस्तगतकर्त्ता के रूप में आर्थिक कम्यून को उत्पादन की औसत लागत के आधार पर "हर प्रकार की वस्तुओं के लिये एक से दाम" निश्चित कर देते पड़ते हैं। "आजकल मूल्य और दाम के लिये तथाकथित उत्पादन की लागत का जो महत्व है, वही" (सोशलिटेरियन व्यवस्था) "इस अनुमान का होगा कि किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम की कितनी मात्रा आवश्यक है। आर्थिक क्षेत्र में भी चूंकि प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार होते हैं, इसलिये इस सिद्धान्त के फलस्वरूप अन्त में जाकर इस प्रकार का अनुमान लगाते समय यह देखा जाता है कि श्रम करने में कितने व्यक्तियों ने भाग लिया है। ये तख़मीने दामों के सम्बन्ध प्रस्तुत करेंगे, जो उत्पादन की प्राकृतिक परिस्थितियों और सिद्धिकरण के सामाजिक अधिकार दोनों के अनुरूप होंगे। मुद्रा का मूल्य उस समय भी आजकल की ही तरह बहुमूल्य धातुओं

की पैदावार से निर्धारित हुआ करेगा... इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज के बदले हुए संविधान में पहले मूल्यों को, और फिर मूल्य के साथ-साथ उत्पादित वस्तुओं के बीच पाये जानेवाले विनिमय के सम्बन्धों को निर्धारित करनेवाला तत्व तथा उनकी माप न सिर्फ़ खो नहीं जाते, बल्कि वे पहली बार सचमुच अपना सही स्थान प्राप्त करने में सफल होते हैं।"

इस प्रकार वह प्रसिद्ध "निरपेक्ष मूल्य" आख़िर साकार हो ही उठता है।

मगर दूसरी ओर, कम्यून के लिये यह भी आवश्यक है, कि वह अपने हर अलग-अलग सदस्य को उसके श्रम के पारिश्रमिक के रूप में रोज़ाना, प्रति सप्ताह या प्रति मास मुद्रा की कोई निश्चित रक़म दिया करे, जिससे वह कम्यून से उत्पादित वस्तुएं ख़रीदने की स्थिति में रहे। किन्तु यह रक़म कम्यून के सभी सदस्यों के लिये आवश्यक रूप से एक-सी होनी चाहिये। "अतः चाहे हम यह कहें कि वेतन ग़ायब हो जाता है और चाहे यह कि वेतन आर्थिक आय का एकमात्र रूप बन जाता है, सोशलिटेरियन व्यवस्था के दृष्टिकोण से इससे कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता।" लेकिन समान वेतन और समान दामों से "उपभोग के मामलों में यदि गुणात्मक समानता नहीं तो परिमाणात्मक समानता अवश्य स्थापित हो जाती है", और इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में "न्याय का सार्विक सिद्धान्त" व्यवहार में आने लगता है।

भविष्य के इस वेतन का स्तर कैसे निर्धारित होगा, इस प्रश्न के उत्तर में श्री ड्यूहरिंग हमें केवल इतना ही बताते हैं कि

अन्य तमाम सूरतों की तरह इस मामले में भी "समान श्रम का समान श्रम से" विनिमय होगा। इसलिये छः घण्टे के श्रम के एवज़ में मुद्रा की वह रक़म दी जायेगी, जो स्वयं छः घण्टे के श्रम का मूर्त रूप होगी।

फिर भी, "न्याय के सार्विक सिद्धान्त" को प्रत्यक्ष समानीकरण के उस अनगढ़ विचार के साथ, जिसके कारण पूंजीपति लोग हर प्रकार के कम्युनिज़्म का और ख़ास तौर पर मजदूरों के स्वयंस्फूर्त्त कम्युनिज़्म का इतने क्रोध के साथ विरोध करने लगते हैं, गड्ड-मड्ड नहीं कर देना चाहिये। यह सिद्धान्त इतना कठोर नहीं है, जितना ऊपर से प्रतीत होना चाहता है।

"आर्थिक अधिकारों की सैद्धान्तिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि न्याय की दृष्टि से जो कुछ आवश्यक है, उसमें विशेष मान्यता तथा सम्मान की अभिव्यंजना के रूप में **स्वेच्छा से** थोड़ा और नहीं जोड़ा जा सकता... उपभोग की **थोड़ी अतिरिक्त व्यवस्था** करके जब समाज उच्चतर स्तर की कार्यरत दक्षता का विशिष्ट रूप से आदर करता है, तो इस तरह वास्तव में वह **स्वयं अपना आदर करता है।**"

और जब श्री ड्यूहरिंग कबूतर की जैसी मासूमियत के साथ-साथ सांप की जैसी चालाकी का प्रयोग करते हुए भविष्य के ड्यूहरिंग जैसे व्यक्तियों के लिये थोड़े अतिरिक्त उपभोग की व्यवस्था कर जाने के विषय में अपनी चिन्ता व्यक्त करते हैं, **तब** वास्तव में वह भी स्वयं अपना ही आदर करते हैं।

इससे पूंजीवादी वितरण प्रणाली अन्तिम रूप से समाप्त हो जायेगी। कारण कि

"मान लीजिये कि ऐसी परिस्थिति में किसी आदमी के पास निजी साधनों की एक अतिरिक्त राशि है। वह इस राशि का पूंजी के रूप में कोई उपयोग नहीं कर सकेगा। इस राशि को बिना किसी अन्य वस्तु के साथ उसका विनिमय किये हुए या बिना उसे ख़रीदे हुए कोई व्यक्ति तथा कोई दल उत्पादन करने के उद्देश्य से उस आदमी से नहीं ले सकेगा। परन्तु साथ ही किसी व्यक्ति तथा किसी दल को उसे सूद या मुनाफ़ा भी नहीं देना पड़ेगा"। अतः "समानता के सिद्धान्त के अनुरूप दाय" की इजाज़त होगी। उसे समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि "किसी न किसी रूप में दाय प्रणाली परिवार के सिद्धान्त के साथ सदैव जुड़ी रहेगी"। परन्तु दाय के अधिकार के फलस्वरूप भी "कभी किसी बड़ी मात्रा में धन का संचय नहीं हो पायेगा, क्योंकि सम्पत्ति के संचय... का भविष्य में अब कभी यह उद्देश्य नहीं हो सकेगा कि उत्पादन साधनों का सृजन किया जाये और केवल लाभांश के सहारे जीवन व्यतीत किया जाये"।

और सौभाग्यवश इसके साथ-साथ आर्थिक कम्यून की संरचना सम्पूर्ण हो जाती है। आइये, अब यह देखें कि यह कम्यून काम कैसे करता है।

हम यह मान लेते हैं कि श्री ड्यूहरिंग ने पहले से जितनी बातों की

कल्पना कर रखी है, वे सब पूरी कर ली जाती हैं। इसलिये हम यह मानकर चलते हैं कि आर्थिक कम्यून अपने प्रत्येक सदस्य को रोज़ाना छः घण्टे के श्रम के एवज़ में मुद्रा की कोई ऐसी रक़म देता है, जिसमें छः घण्टे का श्रम निहित होता है। मान लीजिये, यह रक़म बारह शिलिंग है। हम यह भी मान लेते हैं कि दाम बिल्कुल मूल्य के बराबर होते हैं, और इसलिये हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं उसके आधार पर दाम से केवल कच्चे मालों की लागत, मशीनों की घिसाई, श्रम के औज़ारों के व्यय और मज़दूरों को दी गयी मज़दूरी की ही भरपाई होती है। ऐसी हालत में काम करनेवाले सौ सदस्यों का आर्थिक कम्यून दिन-भर में बारह सौ शिलिंग, या ६० पौण्ड के मूल्य का माल तैयार किया करेगा। और काम के ३०० दिनों के एक वर्ष में वह १८,००० पौण्ड का माल तैयार कर देगा। यही रक़म वह अपने सदस्यों को दे देगा। हरेक के हिस्से में १२ शिलिंग रोज़ाना या १८० पौण्ड वार्षिक पड़ेंगे। इस रक़म को हर आदमी जैसे चाहेगा, वैसे इस्तेमाल करेगा। एक वर्ष पूरा होने पर, या सौ वर्ष पूरे होने पर भी, कम्यून के धन में कोई वृद्धि नहीं होगी। वह उतना ही रहेगा, जितना आरम्भ में था। इस पूरे काल में एक बार भी वह इस स्थिति में नहीं होगा कि श्री ड्यूहरिंग के लिये थोड़े-से भी अतिरिक्त उपभोग की व्यवस्था कर दे। उसकी व्यवस्था तो वह केवल अपने उत्पादन साधनों के भण्डार में कुछ कमी करके ही कर सकेगा। यहां संचय को बिल्कुल भुला दिया गया है। इससे भी बुरी बात यह है कि चूंकि संचय एक सामाजिक आवश्यकता है, और मुद्रा को सुरक्षित रखना संचय का एक सुविधाजनक रूप है, इसलिए आर्थिक कम्यून का संगठन ख़ुद उसके सदस्यों को निजी तौर पर संचय करने के लिये मजबूर करता रहेगा, और इसलिये वह ख़ुद अपने विनाश का कारण बन जायेगा।

आर्थिक कम्यून के स्वरूप में निहित इस टकराव से कैसे बचा जा सकता है? वह श्री ड्यूहरिंग के प्रिय "करों" की, अतिरिक्त दाम की शरण ले सकता है, और अपनी वार्षिक पैदावार को १८,००० पौण्ड के बजाय २४,००० पौण्ड में बेच सकता है। परन्तु चूंकि अन्य सभी आर्थिक कम्यूनों की भी यही स्थिति है, और इस कारण चूंकि वे सब भी यही

करेंगे, इसलिये अन्य कम्यूनों के साथ विनिमय करते समय हर कम्यून को वह सारा "कर" निकालकर दे देना पड़ेगा, जो उसने हथियाया था, और इसलिये इस "ख़िराज" का बोझ अन्त में स्वयं उसके सदस्यों के मत्थे पड़ेगा।

या आर्थिक कम्यून इस मामले को इस तरह निपटा सकता है कि बिना ज़्यादा तरद्दुद किये अपने हर सदस्य को छः घण्टे के श्रम के एवज़ में छः घण्टे से कम के, जैसे, मान लीजिये, चार घण्टे के श्रम की पैदावार देने लगे। अर्थात् वह अपने प्रत्येक सदस्य को रोज़ाना बारह शिलिंग के बजाय केवल आठ शिलिंग दे सकता है। परन्तु मालों के दामों को वह उनके पुराने स्तर पर ही बने रहने देता है। पहली सूरत में उसने अप्रत्यक्ष या गुप्त ढंग से जो कुछ करना चाहा था, इस सूरत में वह वही चीज़ प्रत्यक्ष तथा खुले ढंग से करता है। वह पूर्णतया पूंजीवादी ढंग से अपने सदस्यों को, उन्होंने जो कुछ पैदा किया है, उसके मूल्य से कम देने लगता है, और इस तरह प्रति वर्ष ६,००० पौण्ड का मार्क्सीय बेशी मूल्य कमा लेता है। साथ ही उसके सदस्य जिन मालों को केवल उसी से ख़रीद सकते हैं, उनको आर्थिक कम्यून पूरे मूल्य पर उनके हाथ बेचता है। इसलिये आर्थिक कम्यून के पास अरक्षित कोष का संचय करने का केवल एक ही रास्ता होगा, और वह यह कि वह भी व्यापकतम कम्युनिस्ट आधार पर खड़ी एक "परिष्कृत" ट्रक प्रणाली* के रूप में सामने आये।

तो आपके सामने दो रास्ते हैं: या तो आर्थिक कम्यून "समान श्रम का समान श्रम से" विनिमय करता है—इस सूरत में वह उत्पादन को जारी रखने और उसका विस्तार करने के लिये किसी कोष का संचय नहीं कर सकता, बल्कि केवल उसके अलग-अलग सदस्य ही व्यक्तिगत रूप से यह कार्य कर सकते हैं। और या वह इस प्रकार के किसी कोष

---

*इंगलैण्ड की ट्रक प्रणाली वह प्रणाली है, जिसके अन्तर्गत कारख़ानेदार ख़ुद दूकानें खोल देते हैं और मज़दूरों को मजबूर करते हैं कि वे अपनी आवश्यकता का सामान केवल इन्हीं दूकानों से ख़रीदा करें। यह प्रणाली जर्मनी में भी काफ़ी प्रसिद्ध है। **[एंगेल्स का नोट]**

का भी संचय करता है, किन्तु तब वह "समान श्रम का समान श्रम से" विनिमय नहीं कर पायेगा।

आर्थिक कम्यून में जो विनिमय होगा उसका सार यह है। उसका रूप कैसा होगा? विनिमय धातु की मुद्रा के माध्यम के द्वारा सम्पन्न होगा। इस "विश्व-ऐतिहासिक महत्व" के सुधार पर श्री ड्यूहरिंग को कम गर्व नहीं है। परन्तु आर्थिक कम्यून और उसके सदस्यों के बीच जो व्यापार होता है, उसमें मुद्रा **नहीं रहती;** उसमें वह मुद्रा की भांति कदापि काम नहीं करती। उसमें तो वह केवल श्रम के प्रमाण-पत्र के रूप में काम करती है। मार्क्स के शब्दों में वह "केवल इस बात का प्रमाण होती है कि सामूहिक श्रम में व्यक्ति विशेष ने भाग लिया है और सामूहिक पैदावार के उपभोग की मद में आनेवाले हिस्से के एक निश्चित अंश पर उसका अधिकार है", और जैसे "थियेटर का टिकट मुद्रा नहीं होता, वैसे ही" इस काम को करते हुए यह मुद्रा भी "मुद्रा नहीं होती"।* इसलिये कोई भी और प्रतीक इस मुद्रा का स्थान ले सकता है, जैसे वीटलिंग उसके स्थान पर एक "खाता-बही" का प्रयोग करते हैं, जिसमें एक तरफ़ हरेक ने जितने घण्टे श्रम किया है, वह लिख दिया जाता है और दूसरी तरफ़ श्रम के एवज़ में दिये गये जीवन निर्वाह के साधन दर्ज कर दिये जाते हैं।[176] संक्षेप में यह कहिये कि आर्थिक कम्यून अपने सदस्यों के साथ जो व्यापार करता है, उसमें मुद्रा केवल ओवेन की "श्रम मुद्रा" की भांति, उस "भ्रान्त कल्पना" की भांति काम करती है, जिसके लिये श्री ड्यूहरिंग के मन में इतनी उपेक्षा और तिरस्कार है, परन्तु जिसे फिर भी उनको अपने भविष्य की अर्थव्यवस्था में स्थान देना पड़ता है। यह प्रतीक, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सम्बन्धित व्यक्ति ने किस मात्रा में "उत्पादन करने के उत्तरदायित्व" को पूरा किया है, और इस कारण, जिससे इस बात का भी प्रमाण मिल जाता है कि उसने किस अनुपात में "उपभोग करने का अधिकार" उपार्जित किया है—यह प्रतीक काग़ज़ का टुकड़ा

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ११२। —सं०

है, या धातु का, अथवा सोने का सिक्का है, इसका **इस** प्रयोजन के लिये तनिक भी महत्व नहीं है। परन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, अन्य प्रयोजनों के लिये भी इस चीज़ का कोई महत्व न हो, ऐसा हरगिज़ नहीं है।

इसलिये अपने सदस्यों के साथ आर्थिक कम्यून का जो व्यापार चलता है, यदि उसमें धातु की मुद्रा मुद्रा का कार्य नहीं करती, बल्कि श्रम के छद्मवेषी प्रमाण-पत्र का कार्य करती है, तो विभिन्न आर्थिक कम्यूनों के बीच जो व्यापार होता है, उसमें तो वह मुद्रा का कार्य और भी कम करती है। श्री ड्यूहरिंग जिन बातों को मानकर चल रहे हैं, उनके आधार पर इस प्रकार के विनिमय में धातु की मुद्रा सर्वथा अनावश्यक होगी। बल्कि सच पूछिये, तो महज़ हिसाब-किताब रखना ही पर्याप्त होगा। इस हिसाब-किताब में, यदि श्रम के घण्टों को पहले मुद्रा में परिणत करने के बजाय श्रम की प्राकृतिक माप – काल – का प्रयोग किया जाये और उसकी इकाई एक घण्टे के श्रम को मानकर चला जाये, तो समान श्रम की पैदावार का समान श्रम की पैदावार से होनेवाले विनिमय का ज़्यादा अच्छी तरह हिसाब रखा जा सकेगा। यहां जो विनिमय होता है, वह वास्तव में जिन्स का जिन्स के साथ साधारण विनिमय है। हर प्रकार की बाक़ी रक़म दूसरे आर्थिक कम्यूनों के नाम हुंडियां जारी करके बहुत आसान और सीधे ढंग से निपटा दी जा सकती है। परन्तु यदि अन्य कम्यूनों के साथ लेन-देन करने में किसी कम्यून को सचमुच घाटा हो जाता है, और वह अपने ऋण के कारण दूसरे कम्यूनों के पराधीन बनकर नहीं रहना चाहता, तो सोना यद्यपि "प्रकृति से ही मुद्रा होता है", तथापि "सम्पूर्ण विश्व में जितना सोना मौजूद है, वह भी" उस कम्यून को बचा नहीं पायेगा। घाटे को पूरा करने के लिये तो उसे ख़ुद अपने श्रम की मात्रा बढ़ानी पड़ेगी। परन्तु पाठक को यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये कि हम ख़ुद भविष्य के किसी समाज के भावी भवन का निर्माण नहीं कर रहे हैं। हम तो केवल श्री ड्यूहरिंग की पूर्वकल्पनाओं को स्वीकार करके उनसे कुछ अनिवार्य निष्कर्ष निकाल रहे हैं।

इस प्रकार सोना, जो "प्रकृति से ही मुद्रा होता है", न तो आर्थिक कम्यून तथा उसके सदस्यों के बीच होनेवाले विनिमय में और न ही अलग-

अलग कम्यूनों के बीच चलनेवाले विनिमय में अपनी इस प्रकृति को मूर्त रूप दे पाता है। फिर भी श्री ड्यूहरिंग उसे अपने "सोशलिटेरियन व्यवस्था" में भी मुद्रा की भूमिका सौंप देते हैं। इसलिये हमें देखना चाहिये कि क्या कोई और ऐसा क्षेत्र है जहां सोना अपनी यह भूमिका अदा कर सकता हो। ऐसा एक क्षेत्र है। श्री ड्यूहरिंग ने हरेक को "परिमाणात्मक दृष्टि से समान उपभोग" करने का अधिकार दे दिया है परन्तु वह उस अधिकार को अमल में लाने के वास्ते किसी को मजबूर नहीं कर सकते। इसके विपरीत उनको तो इस बात का गर्व हैं कि उन्होंने जिस संसार की सृष्टि की है, उसमें हर आदमी अपनी मुद्रा का जैसा चाहे वैसा उपयोग कर सकता है। इसलिये यदि कोई आदमी मुद्रा का एक अपसंचित कोष जमाकर लेता है, जबकि दूसरे लोगों को जो मज़दूरी मिलती है, उससे वे अपनी गुज़र-बसर भी नहीं कर पाते, तो श्री ड्यूहरिंग इस चीज़ को रोक नहीं सकते। बल्कि वह तो दाय के अधिकार के सिलसिले में एकदम स्पष्ट रूप में यह बात स्वीकार करके कि परिवार का अपनी सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होना चाहिये, इस चीज़ को अवश्यम्भावी बना देते हैं। इसी से माता-पिता के कंधों पर अपने बच्चों का लालन-पालन करने का उत्तरदायित्व आ पड़ता है। परन्तु इससे परिमाणात्मक दृष्टि से समान उपभोग में बहुत बड़ी दरार पैदा हो जाती है। अविवाहित आदमी आठ या बारह शिलिंग रोजाना में एक रईस की भांति सुख-चैन का जीवन व्यतीत करता है, जबकि विधुर को इस रक़म से अपने आठ अल्पवयस्क बच्चों का भरण-पोषण करने में नाकों दम आ जाता है। दूसरी ओर भुगतान में बिना किसी पूछ-ताछ के मुद्रा को स्वीकार करके कम्यून इस सम्भावना के लिए द्वार खुला छोड़ देता है कि यह मुद्रा सम्बन्धित व्यक्ति को उसके अपने श्रम से नहीं, बल्कि किसी और ढंग से प्राप्त हुई हो। Non olet.[177] कम्यून को नहीं मालूम कि मुद्रा कहां से आयी है। परन्तु इस तरह वे तमाम परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं, जिनमें धात्विक मुद्रा के लिये, जो अभी तक केवल श्रम के प्रमाण-पत्र की भूमिका अदा करती आयी थी, मुद्रा की अपनी वास्तविक भूमिका अदा करना सम्भव हो जाता है। एक ओर अपसंचय करने के लिये और दूसरी ओर क़र्ज़दार बन जाने के लिये

अब अवसर भी उपस्थित है और प्रेरणा भी। अभावग्रस्त व्यक्ति उस व्यक्ति से उधार लेता है, जिसने अपसंचय कर रखा है। कम्यून चूंकि इस उधार ली गयी मुद्रा को जीवन निर्वाह के साधनों के भुगतान में स्वीकार करता है, इसलिए यह मुद्रा एक बार पुनः वही बन जाती है, जो वह आजकल के समाज में है। अर्थात् वह एक बार फिर मानव श्रम का सामाजिक अवतार, श्रम की वास्तविक माप, और परिचलन का आम माध्यम बन जाती है। संसार के समस्त "क़ानून तथा प्रशासकीय नियम" उसके मुक़ाबले में उतने ही शक्तिहीन सिद्ध होते हैं, जितने वे गुणन सारणी अथवा जल के रासायनिक संघटन के मुक़ाबले में सिद्ध होते हैं। और चूंकि जिसने अपसंचय किया है, वह व्यक्ति अभावग्रस्त लोगों से सूद वसूल कर सकता है, इसलिये जब धातु की मुद्रा मुद्रा की भूमिका अदा करने लगती है, तब उसके साथ-साथ सूदख़ोरी भी शुरू हो जाती है।

अभी तक हमने केवल इस बात पर विचार किया है कि ड्यूहरिंगीय आर्थिक कम्यून के कार्य क्षेत्र के भीतर धातु की मुद्रा को क़ायम रखने के क्या प्रभाव होंगे। परन्तु इस क्षेत्र के बाहर बाक़ी पापी दुनिया बड़े सन्तोष से अपने पुराने अभ्यस्त ढर्रे पर ही चलती रहती है। विश्व मंडी में सोना और चांदी ही **विश्व मुद्रा**, ख़रीद और भुगतान के आम साधन तथा धन के परम सामाजिक मूर्त रूप बने रहते हैं। और बहुमूल्य धातुओं के इस गुण से आर्थिक कम्यूनों के अलग-अलग सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से अपसंचय करने, धनी बनने और सूद वसूल करने की एक नयी प्रेरणा प्राप्त होती है। उनके मन में कम्यून के बंधनों से स्वतंत्र तथा मुक्त होकर तथा उसकी सीमाओं के बाहर कार्य करने, और उन्होंने जो धन इकट्ठा कर लिया है, उससे विश्व मण्डी में लेन-देन करने की इच्छा पैदा होती है। सूदख़ोर परिचलन के माध्यम का लेन-देन करनेवाले, या बैंकर बन जाते हैं, परिचलन के माध्यम तथा विश्व मुद्रा के नियंत्रणकर्त्ता बन जाते हैं, और इस प्रकार वे उत्पादन के नियंत्रणकर्त्ताओं में तथा इसके फलस्वरूप उत्पादन साधनों के नियंत्रणकर्त्ताओं में रूपान्तरित हो जाते हैं, हालांकि मुमकिन है कि अभी अनेक वर्षों तक ये साधन नाम मात्र के लिये आर्थिक तथा व्यापारिक कम्यूनों की सम्पत्ति के रूप में ही दर्ज रहें। और इस तरह

अपसंचय करनेवाले वे व्यक्ति तथा वे सूदख़ोर जो बैंकरों में रूपान्तरित हो गये हैं, स्वयं आर्थिक तथा व्यापारिक कम्यूनों के भी स्वामी बन जाते हैं। श्री ड्यूहरिंग की "सोशलिटेरियन व्यवस्था" निश्चय ही अन्य समाज-वादियों के "अस्पष्ट विचारों" से मूलतया भिन्न है। इस व्यवस्था का उस उच्च वित्त का पुनः सृजन करने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं है, जिसके नियंत्रण में तथा जिसके आर्थिक लाभ के हेतु यह व्यवस्था सदा वीरतापूर्वक परिश्रम किया करेगी – बशर्ते कि वह कभी स्थापित हो जाये और कुछ समय तक क़ायम रहे। इस व्यवस्था की मुक्ति की एकमात्र आशा केवल इसी सम्भावना में निहित होगी कि जिन व्यक्तियों ने अपसंचय किया है, वे अपनी विश्व मुद्रा की मदद से जल्द से जल्द... कम्यून से भाग जाना पसन्द करेंगे।

प्राचीन समाजवादी मत के विषय में जर्मनी में हर तरफ़ ऐसा घोर अज्ञान फैला हुआ है कि कोई निश्छल युवक इस बिन्दु पर यह प्रश्न कर सकता है कि क्या उदाहरण के लिये ओवेन के श्रम प्रमाण-पत्रों से भी कुछ इसी तरह की बुराई नहीं पैदा हो जायेगी। यद्यपि यहां हम इन श्रम प्रमाण-पत्रों के महत्व की विस्तार से चर्चा करना नहीं चाहते, तथापि ओवेन के "अनगढ़, अशक्त तथा श्रीण" विचारों के साथ ड्यूहरिंग के "सम्यक् रेखांकन" का मुक़ाबला करने के लिए हम कम से कम इतना ज़रूर कहना चाहेंगे कि एक तो ओवेन के श्रम प्रमाण-पत्रों का इस तरह दुरुपयोग करने के वास्ते उनको वास्तविक मुद्रा में बदलना पड़ेगा, जबकि श्री ड्यूहरिंग पहले से ही वास्तविक मुद्रा मानकर चलते हैं, हालांकि वह इसके साथ-साथ उसपर यह प्रतिबंध लगाने की भी कोशिश करते हैं कि वह श्रम प्रमाण-पत्र मात्र के सिवा अन्य कोई भूमिका न अदा कर पाये। जहां ओवेन की योजना में सचमुच दुरुपयोग की चेष्टा करनी पड़ेगी, वहां ड्यूहरिंग की योजना में मुद्रा को अन्तर्निहित प्रकृति, जो मनुष्य के संकल्प से स्वतंत्र होती है, अपना ज़ोर दिखायेगी। या यूं कहिये कि श्री ड्यूहरिंग मुद्रा की प्रकृति के विषय में अपने अज्ञान के कारण उसका ज़बर्दस्ती दुरुपयोग करने की जो कोशिश करते हैं, उसके बावजूद मुद्रा का सही उपयोग अपना ज़ोर दिखायेगा। दूसरे, ओवेन की दृष्टि में श्रम प्रमाण-पत्र पूर्ण सामुदायिक

तथा समाज के संसाधनों के मुक्त उपयोग की ओर बढ़ने के लिए केवल एक संक्रमणकालीन रूप की भांति हैं, और प्रसंगवश अधिक से अधिक वे ब्रिटिश जनता की नज़रों में कम्युनिज़्म को सही साबित करने का एक साधन हैं। इसलिए, यदि किसी प्रकार के दुरुपयोग के कारण ओवेन के समाज को श्रम प्रमाण-पत्रों का अन्त कर देना पड़ता है, तो उससे समाज अपने लक्ष्य की ओर एक क़दम और उठाने में कामयाब होगा और अपने विकास की एक अधिक पूर्ण अवस्था में प्रवेश कर जायेगा। परन्तु यदि ड्यूहरिंगीय आर्थिक कम्यून मुद्रा को समाप्त कर देगा, तो वह अपने "विश्व-ऐतिहासिक महत्व" को एक ही चोट में ख़तम कर देगा; वह तो एक ही प्रहार में अपना अनोखा सौंदर्य नष्ट कर देगा; वह तब ड्यूहरिंगीय आर्थिक कम्यून नहीं रहेगा और फिर उन्हीं धूमिल विचारों के स्तर पर उतर आयेगा, जिनके स्तर से उसे ऊपर उठाने के लिए श्री ड्यूहरिंग की बुद्धिसंगत भ्रान्त कल्पना ने इतना कठोर परिश्रम किया है*।

अतः उन समस्त विचित्र भूलों तथा उलझावों का मूल कारण क्या है, जिनमें ड्यूहरिंग का आर्थिक कम्यून भटकता रहता है? उनका कारण है वह कुहासा, जिसने श्री ड्यूहरिंग के मन में मूल्य तथा मुद्रा की धारणाओं को धुंधला बना रखा है तथा जो अन्त में उनको श्रम का मूल्य खोजने के लिए विवश कर देता है। परन्तु जर्मनी में चूंकि इस प्रकार की धूमिल अवधारणाओं पर केवल श्री ड्यूहरिंग का ही एकाधिकार नहीं है, बल्कि इसके विपरीत चूंकि वहां श्री ड्यूहरिंग के बहुत-से प्रतिद्वन्द्वी मौजूद हैं,

---

*यहां प्रसंगवश यह भी बता दिया जाये कि ओवेन के कम्युनिस्ट समाज में श्रम प्रमाण-पत्र जो भूमिका अदा करते हैं, उसका श्री ड्यूहरिंग को तनिक भी ज्ञान नहीं है। उनको इन प्रमाण-पत्रों का केवल उसी हद तक ज्ञान है – और यह ज्ञान इनको सारजण्ट से मिला है – जिस हद तक कि उनसे श्रम विनिमय बाज़ारों (Labour Exchange Bazaars)[178] में काम लिया जाता है। ये मण्डियां, ज़ाहिर है, पूर्णतया असफल रही थीं, क्योंकि उनके रूप में श्रम का प्रत्यक्ष विनिमय करके वर्तमान समाज से कम्युनिस्ट समाज में पहुंच जाने की कोशिश की गयी थी। **[एंगेल्स का नोट]**

इसलिये हम "क्षण-भर के लिए अपनी हिचकिचाहट को दूर करके उस गुत्थी को सुलझाये देते हैं," जिसे श्री ड्यूहरिंग ने इस बुरी तरह उलझा दिया है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मूल्य से परिचित है, और वह है मालों का मूल्य। माल क्या होते हैं? वे कमोबेश अलग-अलग निजी उत्पादकों वाले समाज की पैदावार हैं, और इसलिए प्रथमतः वे निजी पैदावार हैं। परन्तु यह निजी पैदावार माल केवल उसी समय बनती है, जब उसे उत्पादक ख़ुद अपने उपभोग के लिये नहीं, बल्कि दूसरों के उपभोग के लिये, अर्थात् सामाजिक उपभोग के लिए पैदा करते हैं। यह निजी पैदावार विनिमय के द्वारा सामाजिक उपभोग में प्रवेश करती है। चुनांचे निजी उत्पादक सामाजिक दृष्टि से एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। वे एक समाज में जुड़े होते हैं। यद्यपि उनकी पैदावार प्रत्येक व्यक्ति की निजी पैदावार होती है, तथापि इसके साथ-साथ वह असंकल्पित तथा मानो अनैच्छिक ढंग से सामाजिक पैदावार भी होती है। तब इस निजी पैदावार का सामाजिक चरित्र किस बात में निहित होता है? स्पष्टतया वह दो विशेषताओं में निहित होता है: पहली यह कि हर पैदावार किसी न किसी मानव आवश्यकता की तुष्टि करती है, और उसमें न केवल अपने उत्पादकों के लिए, बल्कि अन्य लोगों के लिये भी एक उपयोग मूल्य होता है; और दूसरी यह कि यद्यपि उत्पादित वस्तुएं एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न निजी श्रम की पैदावार होती हैं, तथापि इसके साथ-साथ वे मात्र मानव श्रम की, सामान्य मानव श्रम की भी पैदावार होती हैं। जिस हद तक कि उनमें दूसरे लोगों के लिये भी उपयोग मूल्य होता है, उस हद तक वे सामान्यतया विनिमय में प्रवेश कर सकती हैं। जिस हद तक कि उन सबमें सामान्य मानव श्रम का समावेश हुआ है या जिस हद तक कि उन सबपर मानव श्रम शक्ति का साधारण व्यय हुआ है, उस हद तक विनिमय के दौरान में उनका एक दूसरे से तुलना किया जा सकता है, और प्रत्येक वस्तु में इस सामान्य मानव श्रम की कितनी मात्रा निहित है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे के समान हैं या असमान। यदि सामाजिक परिस्थितियां एक-सी हैं, तो व्यक्तिगत

ढंग से बनायी गयी दो समान उत्पादित वस्तुओं में निजी श्रम की असमान मात्रा निहित हो सकती है। किन्तु सामान्य मानव श्रम की उनमें सदा समान मात्रा निहित होती है। जितने समय में निपुण लोहार दस नाल बनाता है, सम्भव है कि अनिपुण लोहार उतने समय में पांच नाल बनाये। यदि किसी व्यक्ति में आकस्मिक कारणों से निपुणता का अभाव है, तो समाज इस अभाव के आधार पर मूल्य निर्धारित नहीं करता। प्रत्येक विशिष्ट काल में निपुणता की जो मात्रा सामान्यतया औसत मात्रा समझी जाती है, केवल उस मात्रा की निपुणता के श्रम को ही समाज सामान्य मानव श्रम मानता है। अतः विनिमय में अनिपुण लोहार की बनायी हुई पांच नालों में से प्रत्येक नाल में उससे अधिक मूल्य नहीं होता, जितना निपुण लोहार की उतने ही समय में बनायी हुई दस नालों में से प्रत्येक में होता है। निजी श्रम में सामान्य मानव श्रम केवल उसी हद तक होता है, जिस हद तक कि वह श्रम सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है।

इसलिये जब मैं यह कहता हूं कि किसी माल में एक ख़ास मूल्य है, तो मैं असल में यह कहता हूं कि—१) यह सामाजिक दृष्टि से एक उपयोगी पैदावार है; २) इसे एक व्यक्ति ने अपने खाते में पैदा किया है; ३) यद्यपि यह वैयक्तिक श्रम की पैदावार है, तथापि उसके साथ-साथ और मानो अचेतन तथा अनैच्छिक ढंग से यह सामाजिक श्रम की भी पैदावार है, और ध्यान रहे, यह इस श्रम की एक निश्चित मात्रा की पैदावार है तथा इस मात्रा का विनिमय के द्वारा सामाजिक ढंग से पता लगाया जा सकता है; ४) मैं इस मात्रा को स्वयं श्रम में या श्रम के किसी घण्टों में अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि मैं इसे **किसी और माल में** अभिव्यक्त करता हूं। इसलिये जब मैं यह कहता हूं कि इस घड़ी की उतनी ही क़ीमत है, जितनी कपड़े के उस टुकड़े की है, और दोनों की क़ीमत पचास-पचास शिलिंग है, तो असल में मैं यह कहता हूं कि घड़ी में, कपड़े में तथा मुद्रा की इसी रक़म में सामाजिक श्रम की समान मात्रा निहित है। मैं इसलिए यह कहता हूं कि इन वस्तुओं में जिस सामाजिक श्रम काल का प्रतिनिधित्व हुआ है, उसे सामाजिक ढंग से मापा गया है और मापने पर पता चला है कि वे समान श्रम काल का प्रतिनिधित्व

करती हैं। परन्तु उसे प्रत्यक्ष अथवा निरपेक्ष ढंग से श्रम के घण्टों अथवा काम के दिनों, आदि के द्वारा नहीं मापा जाता, जैसे श्रम काल को साधारण तौर पर मापा जाता है। उसे तो एक पेचदार ढंग से, सापेक्ष ढंग से, विनिमय के माध्यम के द्वारा मापा जाता है। इसी कारण मैं श्रम काल की इस निश्चित मात्रा को श्रम के घण्टों में अभिव्यक्त नहीं कर सकता। उसमें श्रम के कितने घण्टे हैं, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं हो पाता। मैं तो इसे भी केवल एक पेचदार ढंग से, सापेक्ष ढंग से, किसी और माल के रूप में अभिव्यक्त कर सकता हूं, जो सामाजिक श्रम काल की एक समान मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है। घड़ी की उतनी ही क़ीमत है, जितनी कपड़े के टुकड़े की है।

परन्तु जहां मालों का उत्पादन और विनिमय इस प्रकार के उत्पादन तथा विनिमय पर आधारित समाज को यह पेचदार ढंग अपनाने के लिए मजबूर कर देते हैं, वहां वे उसके लिए यह भी ज़रूरी बना देते हैं कि यह पेच यथासम्भव छोटा हो। वे मालों के समुदाय में से एक ऐसे परम सत्तासम्पन्न माल को छांट लेते हैं, जिसमें अन्य सभी मालों के मूल्य को अभिव्यक्त किया जा सकता है, जो सामाजिक श्रम के प्रत्यक्ष अवतार का कार्य करता है, और इसलिये जिसका प्रत्यक्ष ढंग से तथा बिना किसी प्रतिबंध के तमाम अन्य मालों से विनिमय किया जा सकता है। हमारा मतलब मुद्रा से है। मूल्य की धारणा में मुद्रा बीज रूप में पहले से ही निहित होती है। वह केवल मूल्य का ही विकसित रूप होती है। परन्तु चूंकि स्वयं मालों के मुक़ाबले में मालों का मूल्य मुद्रा के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लेता है, इसलिये मालों का उत्पादन तथा विनिमय करनेवाले समाज में इस प्रकार एक नया तत्व प्रवेश कर जाता है। एक ऐसा तत्व उसमें प्रवेश कर जाता है, जिसे नये सामाजिक कार्य करने पड़ते हैं तथा जिसके नये ढंग के सामाजिक प्रभाव होते हैं। इस बात का यहां ज़िक्र भर कर देना ही काफ़ी है; अभी उसकी गहराई में जाने की ज़रूरत नहीं है।

ऐसा हरगिज़ नहीं है कि मालों के उत्पादन का राजनीतिक अर्थशास्त्र ही एकमात्र ऐसा विज्ञान हो, जिसे कुछ ऐसे तत्वों का अध्ययन करना

पड़ता है, जिनका हमें केवल सापेक्ष ज्ञान है। भौतिक विज्ञान के लिये भी यह बात सच है। हमें इसका ज्ञान नहीं होता कि किसी गैस के एक निश्चित आयतन में, जबकि उसकी दाब तथा ताप भी हमें मालूम हैं, गैस के कितने अलग-अलग अणु मौजूद हैं। परन्तु हम यह जानते हैं कि जिस हद तक कि बौयल का नियम सही है, उस हद तक किसी भी गैस के एक निश्चित आयतन में उतने ही अणु होते हैं, जितने उसी दाब तथा ताप पर किसी अन्य गैस के समान आयतन में होते हैं। इसलिये हम दाब और ताप की अत्यन्त भिन्न परिस्थितियों में बहुत ही अलग-अलग ढंग की गैसों के अत्यन्त भिन्न आयतनों के आणविक सार की तुलना कर सकते हैं; और यदि 0° सेण्टीग्रेड ताप तथा ७६० मिलीमीटर दाब पर एक लिटर गैस को इकाई मान लिया जाये, तो हम इस इकाई से उपर्युक्त आणविक सार को माप भी सकते हैं। रसायन विज्ञान में हमें विभिन्न तत्वों के निरपेक्ष परमाणविक भार का कोई ज्ञान नहीं होता। परन्तु सापेक्ष ढंग से हम उन्हें जानते हैं, क्योंकि उनके पारस्परिक सम्बन्धों का हमें ज्ञान होता है। इसलिए जिस प्रकार मालों के उत्पादन तथा उसके राजनीतिक अर्थशास्त्र को हालांकि विभिन्न मालों में निहित श्रम की मात्राओं का ज्ञान नहीं होता, मगर फिर भी वे उनके सापेक्ष श्रम तत्व के आधार पर इन मालों की तुलना करके उनकी सापेक्ष अभिव्यंजनाओं का पता लगा लेते हैं, उसी प्रकार रसायन विज्ञान को परमाणविक भारों का ज्ञान नहीं होता, मगर फिर भी वह विभिन्न तत्वों के परमाणविक भार के आधार पर उनकी तुलना करके तथा एक तत्व के परमाणविक भार को किसी दूसरे तत्व (गंधक, आक्सीजन, हाइड्रोजन) के गुणन-फलों अथवा भिन्नों में अभिव्यक्त करके इन अज्ञात परमाणविक भारों के परिमाण की एक सापेक्ष अभिव्यंजना का पता लगा लेता है। और जिस प्रकार मालों का उत्पादन सोने को परम माल या अन्य सब मालों के सामान्य सममूल्य अथवा समस्त मूल्यों की माप के स्तर पर पहुंचा देता है, उसी प्रकार रसायन विज्ञान हाइड्रोजन का परमाणविक भार १ निश्चित करके और अन्य समस्त तत्वों के परमाणविक भारों को हाइड्रोजन में परिणत करके तथा उनको हाइड्रोजन के परमाणविक भार के गुणन-फलों में

अभिव्यक्त करके हाइड्रोजन को रासायनिक जगत् के मुद्रा माल के पद पर आसीन कर देता है।

किन्तु मालों का उत्पादन सामाजिक उत्पादन का एकमात्र रूप कदापि नहीं है। प्राचीन भारतीय ग्राम समुदायों में और दक्षिणी स्लाव लोगों के पारिवारिक समुदायों में उत्पादित वस्तुएं मालों में रूपान्तरित नहीं होतीं। समुदाय के सदस्य उत्पादन के लिए प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध होते हैं। काम का बंटवारा परम्परा तथा आवश्यकताओं के अनुसार होता है। और जिस हद तक कि पैदावार उपभोग के लिये बनायी जाती है, उस हद तक उसका बंटवारा भी परम्परा तथा आवश्यकताओं के अनुसार होता है। प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक उत्पादन तथा प्रत्यक्ष वितरण के कारण यह असम्भव होता है कि मालों का किसी प्रकार का विनिमय हो सके। और इस कारण उत्पादित वस्तुओं का (कम से कम समुदाय के भीतर) मालों में बदल जाना और **मूल्यों में** रूपान्तरित हो जाना भी नामुमकिन होता है।

जिस क्षण समाज उत्पादन साधनों का स्वामी हो जाता है और उनका प्रत्यक्ष सहयोग के आधार पर उत्पादन के लिये उपयोग करने लगता है, उसी क्षण से प्रत्येक व्यक्ति का श्रम–उसका विशिष्ट उपयोगी स्वरूप अन्य व्यक्तियों के श्रम के स्वरूप से चाहे कितना ही भिन्न क्यों न हो–आरम्भ से ही और प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक श्रम बन जाता है। तब किसी पैदावार में निहित सामाजिक श्रम की मात्रा का पेचदार ढंग से पता लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। दैनिक अनुभव से प्रत्यक्ष ढंग से पता चल जाता है कि औसतन कितने सामाजिक श्रम की आवश्यकता होती है। समाज बहुत सरल ढंग से इसका हिसाब लगा सकता है कि एक भाप के इंजन में, पिछली फ़सल के एक बुशेल गेहूं में, या एक निश्चित कोटि के सौ वर्ग गज़ कपड़े में श्रम के कितने घण्टे निहित हैं। इसलिये तब यह बात समाज की समझ में नहीं आयेगी कि उत्पादित वस्तुओं में लगाये गये श्रम की मात्राओं को, जिनका उस समय उसे प्रत्यक्ष ज्ञान होगा और जिनकी निरपेक्ष राशियों से उस समय वह परिचित होगा, उस वक़्त भी किसी तीसरी पैदावार में अभिव्यक्त किया जाये, और उनको उनकी प्राकृतिक, पर्याप्त तथा निरपेक्ष माप, **काल** में अभिव्यक्त न करके एक ऐसी माप के द्वारा

मापा जाये, जो केवल एक सापेक्ष, परिवर्तनशील तथा अपर्याप्त माप है, हालांकि पहले उससे बेहतर माप के अभाव में उसका उपयोग करना अपरिहार्य था। इसी प्रकार, यदि एक बार रसायन विज्ञान के लिये विभिन्न तत्वों के परमाणविक भारों को निरपेक्ष रूप में, उनकी पर्याप्त माप में, अर्थात् उनके वास्तविक भारों के रूप में, एक ग्राम के बिलियन अथवा क्वड्रिलियन अंशों में अभिव्यक्त करना सम्भव हो जाये, तो उसको पेचदार ढंग से सापेक्ष रूप में हाइड्रोजन के परमाणु के द्वारा परमाणविक भारों को अभिव्यक्त करने का कभी ख़याल तक न आये। इसलिये ऊपर हमने जिन बातों को माना था, उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज उत्पादित वस्तुओं के लिये मूल्य निर्धारित नहीं करेगा। वह इस साधारण से तथ्य को कि सौ वर्ग गज़ कपड़े के उत्पादन के लिये श्रम के एक हज़ार घण्टों की आवश्यकता हुई है, इस टेढ़े-मेढ़े और निरर्थक ढंग से व्यक्त नहीं करेगा कि इस कपड़े में श्रम के एक हज़ार घण्टों का **मूल्य** है। यह सच है कि उस समय भी समाज के लिये यह जानना ज़रूरी होगा कि उपभोग की प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिये कितना श्रम आवश्यक है। उसे अपने उत्पादन साधनों के अनुसार, जिनमें विशेष रूप से श्रम शक्ति भी शामिल होती है, अपने उत्पादन की योजना बनानी पड़ेगी। यह योजना इस बात से निर्धारित होगी कि उपभोग की विभिन्न वस्तुओं का एक दूसरे की तुलना में तथा उनके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्राओं की तुलना में क्या उपयोगी प्रभाव होता है। तब लोग बिना किसी बहुविज्ञापित "मूल्य" के हस्तक्षेप के, बहुत सहज ढंग से हर चीज़ की व्यवस्था कर सकेंगे।*

---

*मैंने १८४४ में ही यह बात कह दी थी कि कम्युनिस्ट समाज में मूल्य की राजनीतिक-आर्थिक अवधारणा का केवल इतना ही अंश बाक़ी रहेगा कि उत्पादन के विषय में निर्णय करते समय उपर्युक्त ढंग से उपयोगी प्रभावों तथा श्रम के व्यय का संतुलन करके देखा जायेगा (देखिये *Deutsch-Französische Jahrbücher*, पृष्ठ ९५)। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, इस कथन का वैज्ञानिक प्रमाण केवल मार्क्स की रचना 'पूंजी' में ही दिया जा सका। **[एंगेल्स का नोट]**

मूल्य की अवधारणा मालों के उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों की सबसे अधिक सामान्य और इसलिये सबसे अधिक व्यापक अभिव्यंजना है। चुनांचे इस अवधारणा में न केवल मुद्रा का, बल्कि मालों के उत्पादन तथा विनिमय के अधिक विकसित समस्त रूपों का बीज मौजूद है। स्वयं इस तथ्य से कि मूल्य अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं में निहित सामाजिक श्रम की अभिव्यंजना होता है, यह सम्भावना पैदा हो जाती है कि इस सामाजिक श्रम तथा इन्हीं वस्तुओं में निहित निजी श्रम के बीच एक अन्तर पैदा हो जाये। इसलिये यदि कोई निजी उत्पादक पुराने ढंग से ही उत्पादन करना जारी रखता है, जबकि दूसरी ओर सामाजिक उत्पादन प्रणाली का विकास हो जाता है, तो यह अन्तर उसके लिये मूर्त रूप में स्पष्ट हो जायेगा। जब किसी ख़ास प्रकार के सामान के निजी उत्पादकों का पूरा समूह उसकी एक ऐसी मात्रा तैयार कर देता है, जो समाज की आवश्यकता से अधिक होती है, तब उसका भी यही परिणाम होता है। इस तथ्य से कि किसी भी माल का मूल्य केवल किसी और माल के रूप में ही अभिव्यक्त किया जाता है और वह केवल उस माल के साथ इस माल के विनिमय में ही मूर्त रूप धारण करता है—इस तथ्य से यह सम्भावना पैदा हो सकती है कि विनिमय कभी सम्पन्न ही न हो, या हो, तो उसमें माल का सही मूल्य न वसूल हो पाये। अन्त में, जब वह विशिष्ट माल, श्रम शक्ति, मण्डी में आती है, तो अन्य किसी भी माल की भांति उसका मूल्य भी इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम काल आवश्यक है। अतः उत्पादित वस्तुओं के मूल्य रूप में उत्पादन का पूरा पूंजीवादी रूप, पूंजीपतियों और उजरती मज़दूरों का विरोध, औद्योगिक रिज़र्व सेना तथा संकट बीज रूप में पहले से ही निहित होते हैं। इसलिये "सच्चे मूल्य" की स्थापना करके उत्पादन के पूंजीवादी रूप का अन्त कर देने की चेष्टा करना उसी तरह की बात है, जैसे कोई "सच्चे" पोप की स्थापना करके कैथोलिक मत का अन्त कर देने की बात सोचे, या एक ऐसी आर्थिक परिकल्पना को सुसंगत ढंग से जीवन में लागू करके, जो उत्पादकों के स्वयं उनकी अपनी पैदावार के द्वारा पराधीन बना लिये जाने

की सबसे अधिक व्यापक अभिव्यंजना है, एक ऐसा समाज स्थापित करने का प्रयत्न करे, जिसमें आख़िर उत्पादक अपनी पैदावार पर शासन किया करेंगे।

जब एक बार मालों का उत्पादन करनेवाला समाज मालों में अन्तर्निहित मूल्य रूप को मुद्रा रूप में विकसित कर देता है, तो मूल्य में छिपे हुए अनेक प्रकार के बीजों में अंकुर फूटता है और वे दिन के प्रकाश में निकल आते हैं। पहला और अत्यन्त आवश्यक प्रभाव यह होता है कि माल रूप का सामान्यीकरण हो जाता है। अभी तक जो वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक के अपने उपभोग के लिए पैदा की जाती थीं, मुद्रा उनपर भी माल रूप को थोप देती है। वह उनको विनिमय में घसीट लाती है। इस प्रकार माल रूप तथा मुद्रा सामाजिक उत्पादन द्वारा प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध समुदायों की आंतरिक अर्थव्यवस्था के भीतर भी घुस जाते हैं। वे समुदाय के एक के बाद दूसरे बंधन को तोड़ते जाते हैं, और पूरे समुदाय को छिन्न-भिन्न करके उसे बहुत-से निजी उत्पादकों के समूह में परिणत कर देते हैं। जैसा कि भारत में देखा जा सकता है, शुरू में मुद्रा भूमि की सामूहिक खेती के स्थान पर निजी खेती आरम्भ कर देती है। खेती के रक़बे का सामूहिक स्वामित्व अभी भी इस रूप में प्रकट होता है कि समय समय पर भूमि का पुनःवितरण कर दिया जाता है। पर बाद में मुद्रा भूमि का अन्तिम विभाजन करके इस सामूहिक स्वामित्व का भी अन्त कर देती है (जैसा कि, उदाहरण के लिए, मोसेल पर स्थित गांवों में हुआ,[179] या जैसा कि आजकल रूसी ग्राम समुदायों में होना शुरू हो गया है)। अन्त में जंगलों और चरागाहों की जिस भूमि पर सामूहिक स्वामित्व क़ायम रहा, मुद्रा उसका भी बंटवारा करा देती है। उत्पादन के विकास से उत्पन्न होनेवाले और जो भी कारण यहां काम करते हों, वह सबसे शक्तिशाली साधन सदा मुद्रा ही होती है, जिसके ज़रिये ये कारण समुदायों पर अपना प्रभाव डालते हैं। और यदि श्री ड्यूहरिंग का आर्थिक कम्यून कभी सचमुच क़ायम हो पाया, तो तमाम "क़ानूनों तथा प्रशासकीय नियमों" के बावजूद मुद्रा उसको भी इतनी ही प्राकृतिक अनिवार्यता के साथ छिन्न-भिन्न कर देगी।

हम ऊपर ('राजनीतिक अर्थशास्त्र', अध्याय ६) यह देख चुके हैं कि श्रम के मूल्य की चर्चा करना एक स्वतःविरोधी बात करना है। चूंकि कुछ ख़ास ढंग के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत श्रम न केवल पैदावार को, बल्कि मूल्य को भी पैदा करता है, और चूंकि यह मूल्य श्रम द्वारा मापा जाता है, इसलिये जिस प्रकार भार का अलग से कोई भार नहीं हो सकता या गरमी का अलग से कोई ताप नहीं हो सकता, उसी प्रकार श्रम का भी अलग से कोई मूल्य नहीं हो सकता। परन्तु यह कल्पना करना कि वर्तमान समाज में मज़दूर को उसके श्रम का पूरा "मूल्य" नहीं मिलता और समाजवाद को नियति ने इस अन्याय को दूर करने का कार्य सौंपा है—यह "सच्चे मूल्य" को लेकर माथा खपानेवाले समस्त सामाजिक विचार-विभ्रम की एक ख़ास विशेषता है। अतः सबसे पहले यह पता लगाना ज़रूरी है कि श्रम का मूल्य क्या है; और यह कार्य श्रम को उसकी मुनासिब माप—काल—के स्थान पर, उसकी पैदावार द्वारा मापकर किया जाता है। इस दृष्टि के अनुसार मज़दूर को "श्रम की पूरी प्राप्ति" मिलनी चाहिए।[180] न केवल श्रम की पैदावार का, बल्कि स्वयं श्रम का उत्पादित वस्तुओं के साथ सीधा विनिमय कर सकना सम्भव होना चाहिये। एक घण्टे के श्रम का एक अन्य घण्टे के श्रम की पैदावार के साथ विनिमय कर सकना मुमकिन होना चाहिए। परन्तु इससे एक "गम्भीर" कठिनाई पैदा हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि **पूरी पैदावार** का वितरण हो जाता है। समाज का सबसे महत्वपूर्ण प्रगतिशील कार्य, संचय का कार्य, समाज के हाथों से छीनकर अलग-अलग व्यक्तियों को सौंप दिया जाता है और उनकी इच्छा एवं विवेक के भरोसे छोड़ दिया जाता है। अलग-अलग व्यक्ति अपनी "प्राप्ति" का जैसा चाहें उपयोग कर सकते हैं, परन्तु समाज अच्छी से अच्छी स्थिति में भी उतना ही धनी या उतना ही ग़रीब बना रहता है, जितना वह पहले था। इसलिये ऐसा लगता है, जैसे भूत काल में संचित उत्पादन साधनों का समाज के हाथों में केवल इसलिये संकेंद्रण हुआ है कि भविष्य में वे एक बार फिर अलग-अलग व्यक्तियों के हाथों में बिखर जायें। यह तो ख़ुद अपने पूर्वाधारों को चकनाचूर कर देना और विशुद्ध बेतुकेपन पर पहुंच जाना है।

श्रम का, सक्रिय श्रम शक्ति का श्रम की पैदावार से विनिमय होता है। यदि ऐसा है, तो जिस पैदावार से श्रम शक्ति का विनिमय होता है, उसकी तरह यह श्रम शक्ति भी एक माल है। और यदि ऐसा है, तो इस श्रम शक्ति का मूल्य किसी भी अर्थ में उसकी पैदावार के द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता, बल्कि वह तो मज़दूरी के वर्तमान नियम के अनुसार केवल उसमें निहित सामाजिक श्रम के द्वारा ही निर्धारित हो सकता है।

परन्तु यही तो नहीं होना है—हमसे कहा जाता है। श्रम का, श्रम शक्ति का उसकी पूरी पैदावार से विनिमय करना सम्भव होना चाहिये। अर्थात् उसका उसके **मूल्य** से नहीं, बल्कि उसके **उपभोग मूल्य** से विनिमय करना सम्भव होना चाहिये। यानी अन्य तमाम मालों पर तो मूल्य का नियम लागू होना चाहिये, किन्तु जहां तक श्रम शक्ति का सम्बन्ध है, इस नियम को मंसूख़ हो जाना चाहिये। "श्रम के मूल्य" के पीछे ऐसा आत्मसंहारक विचार-विभ्रम छिपा हुआ है।

"समान मूल्यांकन के सिद्धान्त के अनुसार श्रम का श्रम के साथ विनिमय", या जहां तक इस बात का कोई अर्थ है, वहां तक समान सामाजिक श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की पारस्परिक विनिमेयता, और इस कारण मूल्य का नियम विशिष्ट रूप से मालों के उत्पादन का ही मूलभूत नियम है। और इस कारण वह, इस प्रकार के उत्पादन के सर्वोच्च रूप, पूंजीवादी उत्पादन का भी मूलभूत नियम है। निजी उत्पादकों के समाज में आर्थिक नियम जिस एकमात्र ढंग से अमल में आ सकते हैं, उसी ढंग से मूल्य का नियम भी वर्तमानकालीन समाज में अमल में आता है। अर्थात् वह वस्तुओं तथा सम्बन्धों में अन्तर्निहित तथा उत्पादकों की इच्छा या कार्यों से स्वतंत्र अन्धाधुन्ध काम करनेवाले प्राकृतिक नियम की भांति अमल में आता है। इस नियम को अपने आर्थिक कम्यून के मूलभूत नियम के पद पर आसीन करके और यह मांग करके कि कम्यून को पूर्ण चेतना के साथ इस क़ानून को व्यवहार में लाना चाहिये, श्री ड्यूहरिंग वर्तमान समाज के मूलभूत नियम को अपने काल्पनिक समाज के मूलभूत नियम में बदल देते हैं। वह वर्तमान समाज को ही चाहते हैं, पर उसकी

बुराइयों के साथ नहीं। इस मामले में उनकी वही स्थिति है, जो प्रूदों की है। मालों के उत्पादन का पूंजीवादी उत्पादन में विकास हो जाने से जो बुराइयां पैदा हो गयी हैं, प्रूदों की भांति श्री ड्यूहरिंग भी इन बुराइयों को मालों के उत्पादन के उस मूलभूत नियम को लागू करके दूर करना चाहते हैं, जिसके कार्य से ही ये बुराइयां पैदा हुई हैं। प्रूदों की भांति श्री ड्यूहरिंग भी मूल्य के नियम के वास्तविक परिणामों को काल्पनिक परिणामों के द्वारा मिटा देना चाहते हैं।

आधुनिक काल का हमारा यह डॉन क्विग्ज़ोट "न्याय के सार्वत्रिक सिद्धान्त" रूपी अपने शानदार घोड़े रोज़िनांते पर बैठकर "श्रम का मूल्य" रूपी मैम्ब्रिनो के जादुई हेलमेट को जीतने के लिये अपनी सूरमासरदारी तथा बहादुरी दिखाने को निकल तो पड़ा है; और उसके पीछे-पीछे उसका वीर सैंचो पैंजा, अब्राहम एन्स भी उसका अनुसरण कर रहा है; पर हमें भय है, हमें इस बात का बहुत डर है कि जब वह अपने घर लौटेगा, तब उसके हाथ में नाई के पुराने परिचित बरतन के सिवा और कुछ न होगा।[181]

५

राज्य, परिवार, शिक्षा

पिछले दो अध्यायों में हमने श्री ड्यूहरिंग की "नयी सोशलिटेरियन व्यवस्था" के आर्थिक सार को लगभग पूरा समाप्त कर दिया है। केवल एक बात यह और जोड़ी जा सकती है कि ऊपर जिस थोड़े-से अतिरिक्त उपभोग की चर्चा की गयी है, उसके अलावा अपने विशेष हितों की रक्षा करने में श्री ड्यूहरिंग को अपने "ऐतिहासिक पर्यावलोकन के सार्विक विस्तार क्षेत्र" के कारण किसी प्रकार की अड़चन का अनुभव नहीं होता। सोशलिटेरियन व्यवस्था में चूंकि पुराना श्रम विभाजन क़ायम रहता है, इसलिये आर्थिक कम्यून में न केवल वास्तुकार तथा बोझ उठानेवाले कुली होंगे, बल्कि पेशेवर लेखक भी होंगे, और इसलिये प्रश्न उठेगा कि कापी-राइट के साथ कैसा व्यवहार किया जाये। श्री ड्यूहरिंग ने इस प्रश्न की ओर जितना ध्यान दिया है, उतना और किसी प्रश्न की ओर नहीं दिया है। उदाहरण के लिए वह जहां कहीं लुई ब्लां तथा प्रूदों की चर्चा करते हैं, वहां पाठक की कापी-राइट के प्रश्न से अवश्य भेंट होती है, और अन्त में 'पाठ्य-पुस्तक' के नौ पृष्ठों पर फैले हुए एक घटनात्मक विवेचन के बाद यह प्रश्न एक रहस्यमय "श्रम के पारिश्रमिक" के रूप में सोशलिटेरियन व्यवस्था के सुरक्षित आश्रय में पहुंच जाता है। इस "पारिश्रमिक" के साथ वह थोड़ा-सा अतिरिक्त उपभोग भी मिलेगा या नहीं, यह हमें नहीं बताया गया है। यदि श्री ड्यूहरिंग समाज की प्राकृतिक व्यवस्था में पिस्सुओं के स्थान के बारे में एक अध्याय लिख डालते, तो वह भी इतना ही उपयुक्त होता और इससे हर हालत में कम नीरस होता।

'दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम' में भविष्य के राज्य के संगठन के विषय में विस्तृत नुस्ख़े दिये गये हैं। श्री ड्यूहरिंग के कथनानुसार रूसो उनके "एकमात्र महत्वपूर्ण पूर्वज" थे; परन्तु इस मामले में उन्होंने भी काफ़ी गहरी बुनियादें नहीं डाली थीं। उनके अधिक गूढ़ चिन्तन करनेवाले

उत्तराधिकारी ने रूसो की सीख में ढेर-सा पानी मिलाकर और उसमें अधिकार के हेगेलीय दर्शनशास्त्र के पानी मिले अवशेषों को घोलकर इस त्रुटि को दूर कर दिया है।[182] भविष्य के ड्यूहरिंगीय राज्य का आधार है "व्यक्ति की परम सत्ता"। उसे बहुमत के शासन के द्वारा दबाया नहीं जायेगा, बल्कि वह इस शासन में अपनी वास्तविक चरमावस्था को प्राप्त होगी। यह सम्भव कैसे होगा? बहुत सरल ढंग से।

"यदि पहले से यह मान लिया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्य हरेक व्यक्ति के साथ समस्त दिशाओं में समझौते हुए रहेंगे, और यदि इन समझौतों का उद्देश्य अन्यायपूर्ण अपमानों से एक दूसरे की रक्षा करने के लिये परस्पर सहायता करना होगा, तो इससे अधिकार को क़ायम रखने के लिये आवश्यक शक्ति का बल बढ़ेगा और अधिकार का महज़ व्यक्ति के विरुद्ध बहुमत के बल से या अल्पमत के विरुद्ध बहुमत के बल से निगमन नहीं किया जायेगा।"

वास्तविकता के दर्शनशास्त्र की तिकड़म की सजीव शक्ति अतिदुर्लंघ्य बाधाओं को भी इस सुगमता के साथ लांघ जाती है! और यदि पाठक का विचार है कि इसके बाद भी उसके ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं हुई है, तो श्री ड्यूहरिंग का जवाब है कि उसे सचमुच इस मामले को इतना आसान नहीं समझना चाहिये, क्योंकि

"सामूहिक इच्छा की भूमिका के विषय में यदि **तनिक-सी भी ग़लती हो गयी**, तो वह व्यक्ति की परम सत्ता को **नष्ट कर देगी**, और यह परम सत्ता ही एकमात्र ऐसी वस्तु" (!) "है, जिससे वास्तविक अधिकारों का निगमन करने में सहायता मिलती है"।

जब श्री ड्यूहरिंग अपने पाठकों का मज़ाक़ उड़ाते हैं, तब वह उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं, जिसके वे अधिकारी हैं। वह चाहते, तो और खुलकर उनकी हंसी उड़ा सकते थे; वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को उसका यों भी पता न चलता।

अब व्यक्ति की परम सत्ता मूलतया इस बात में निहित है कि

"व्यक्ति राज्य के हाथों **परम बाध्यता के अधीन** होता है"। लेकिन यह बाध्यता केवल उसी हद तक उचित समझी जायेगी, जिस हद तक कि वह "सचमुच प्राकृतिक न्याय की सेवा करेगी"। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछ "विधायी तथा न्यायिक अधिकारी" होंगे। परन्तु उनका "समुदाय के हाथों में रहना ज़रूरी है"। प्रतिरक्षा के लिये भी एक संश्रय होगा, जो "अन्दरूनी सुरक्षा को क़ायम रखने के लिये सेना में अथवा किसी कार्यकारिणी विभाग में संयुक्त कार्य के रूप में" अभिव्यक्त होगा, –

कहने का मतलब यह कि सेना, पुलिस और जेनडार्म भी होंगे। इसके पहले भी कई बार श्री ड्यूहरिंग यह बात प्रमाणित कर चुके हैं कि वह एक अच्छे प्रशियाई हैं। यहां उन्होंने अपने आपको उस आदर्श प्रशियाई का समतुल्य प्रमाणित कर दिया है, जो भूतपूर्व मंत्री फ़ोन रोख़ोव के शब्दों में "अपने जेनडार्म को अपनी छाती में छिपाये हुए चलता है"। लेकिन भविष्य के ये जेनडार्म उतने ख़तरनाक नहीं होंगे, जितने आजकल के पुलिसवाले होते हैं। परम सत्ता सम्पन्न व्यक्ति को उनके हाथों चाहे जितनी तकलीफ़ें उठानी पड़ें, एक बात से उसे हमेशा **सांत्वना** मिलती रहेगी :

"स्वतंत्र समाज परिस्थितियों के अनुसार उसके साथ जो भी न्याय या अन्याय करे, **प्राकृतिक अवस्था में** उसकी जो हालत होती, उससे **ख़राब** उसकी दशा कभी नहीं हो सकती!"

और इसके बाद एक बार फिर कापी-राइट के बारे में जो हमेशा रास्ते में आ जाते हैं, हमें टंगड़ी मारकर गिराने के उपरान्त श्री ड्यूहरिंग हमें आश्वासन देते हैं कि उनके भावी संसार में

"ज़ाहिर है, सबके लिये वकीलों का बिल्कुल स्वतन्त्र इन्तज़ाम रहेगा"।

यह "स्वतंत्र समाज, जिस रूप में उसकी आज कल्पना की जाती है," अधिकाधिक भानमती का पिटारा बनता जा रहा है। वास्तुकार, बोझ उठानेवाले कुली, पेशेवर लेखक, जेनडार्म, और अब वकील भी! "विवेक-शील तथा आलोचनात्मक चिन्तन" का यह काल्पनिक जगत् और विभिन्न

धर्मों के अनेक प्रकार के स्वर्ग, जिनमें धर्मभीरु व्यक्ति को वे सारी वस्तुएं रूपान्तरित शक्ल में मिल जाती हैं, जिनसे उसको पार्थिव जीवन में सुख मिला था – ये दोनों मटर के दो दानों की तरह बिल्कुल एक-से हैं। और श्री ड्यूहरिंग एक ऐसे राज्य के नागरिक हैं, जहां "हर आदमी अपने मनचाहे ढंग से सुखी हो सकता है"।[183] तब हमें और क्या चाहिये?

परन्तु इसका कोई महत्व नहीं है कि हम क्या चाहते हैं। महत्व इसका है कि श्री ड्यूहरिंग क्या चाहते हैं। फ़्रेडरिक द्वितीय से श्री ड्यूहरिंग इस बात में भिन्न हैं कि ड्यूहरिंगीय भावी राज्य में निश्चय ही हर आदमी अपने मनचाहे ढंग से सुखी नहीं हो सकेगा। इस भावी राज्य के संविधान में लिखा है:

"स्वतंत्र समाज में पूजा-पाठ के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता; **क्योंकि** उसका प्रत्येक सदस्य उस आदिमकालीन बचकाने अंधविश्वास से आगे निकल गया है कि प्रकृति की पृष्ठभूमि में या उसके ऊपर कुछ ऐसे जीव भी होते हैं, जिनको बलिदानों या प्रार्थनाओं से प्रभावित किया जा सकता है।" "इसलिये सही ढंग से उपकल्पित सोशलिटेरियन व्यवस्था को ... धार्मिक जादू के सारे उपकरणों का, और उनके साथ-साथ पूजा-पाठ के समस्त मौलिक तत्वों का **अन्त कर देना होगा।**"

अतः धर्म पर रोक लगा दी जा रही है।

किन्तु हर प्रकार का धर्म मनुष्यों के दिमाग़ों में उन बाह्य शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं होता, जो उनके दैनिक जीवन पर शासन करती हैं। इस प्रतिबिम्ब में पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास के आरम्भ में पहले प्रकृति की शक्तियां इस प्रकार मनुष्यों के दिमाग़ों में प्रतिबिम्बित हुई थीं। आगे जो विकास हुआ, उसके दौरान इन्हीं शक्तियों ने विभिन्न जातियों के यहां नाना प्रकार से मूर्त रूप धारण कर लिये। तुलनात्मक पुराणविद्या ने कम से कम इण्डो-यूरोपीय जातियों के बारे में इस प्रारम्भिक प्रक्रिया के क्रम का उसके मूल बिन्दु तक पता लगा लिया है। यह प्रक्रिया आरम्भ हुई थी भारतीय वेदों में, और उसके बाद उसका जिस प्रकार विकास हुआ,

उसका भारतीयों, फ़ारसियों, यूनानियों, रोमनों और जर्मनों के इतिहास में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है; और जहां तक उपलब्ध सामग्री ने सम्भव बना दी, उसका केल्ट लोगों, लिथुआनियनों और स्लाव लोगों के इतिहास में भी निरूपण किया जा चुका है। लेकिन बहुत दिन नहीं बीतने पाये थे कि प्रकृति की शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियां भी क्रियाशील होने लगीं। मनुष्यों की दृष्टि में ये शक्तियां भी उतनी ही परायी तथा उतनी ही अबोध्य थीं, जितनी स्वयं प्राकृतिक शक्तियां थीं; और ये भी उनपर प्रकृति की शक्तियों जैसी प्रकटतः प्राकृतिक अनिवार्यता के साथ शासन करती थीं। वे काल्पनिक आकृतियां, जो शुरू में केवल प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों को ही प्रतिबिम्बित करती थीं, इस बिन्दु पर पहुंचकर सामाजिक विशिष्टताएं ग्रहण कर लेती हैं और इतिहास की शक्तियों की प्रतिनिधि बन जाती हैं।* विकास की और भी आगे की एक अवस्था में अनेक देवताओं के समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक गुण एक परमशक्तिशाली ईश्वर में स्थानांतरित कर दिये जाते हैं, जो केवल अमूर्त मानव का प्रतिबिम्ब होता है। एकेश्वरवाद की उत्पत्ति इस प्रकार हुई थी। वह उत्तरकालीन यूनानियों के विकृत दर्शनशास्त्र का अन्तिम फल था, और वह यहूदियों के विशिष्टतया जातीय देवता, जेहोवा के रूप में साकार हुआ था। इस सुविधाजनक, उपयुक्त एवं सर्वत्र अनुकूलनीय रूप में धर्म मनुष्यों पर शासन करनेवाली, प्राकृतिक एवं सामाजिक, परायी

---

*पुराणकथाओं में आगे चलकर जो व्यापक गड़बड़ी दिखाई दी, उसका एक कारण देवताओं का यह दोहरा स्वरूप भी था, जो उन्होंने बाद में प्राप्त कर लिया था। तुलनात्मक पुराणविद्या ने इस कारण की ओर ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि वह केवल प्रकृति की शक्तियों के प्रतिबिम्ब के रूप में ही उनका अध्ययन करती है। चुनांचे कुछ जर्मन क़बीलों में युद्ध का देवता टिर (प्राचीन नौर्डिक) या ज़िओ (पुरानी उत्तरी जर्मनी की भाषा में) कहलाता है और इसलिये वह यूनानी ज़्यूस, और लैटिन ड्यू-पिटेर के स्थान पर जुपिटर से मेल खाता है। दूसरे जर्मन क़बीलों में एर या एओर यूनानी आरेस तथा लैटिन मार्स से मेल खाता है। **[एंगेल्स का नोट]**

शक्तियों के साथ उनके सम्बन्धों के तात्कालिक, अर्थात् भावप्रधान रूप में उस समय तक जीवित रह सकता है, जब तक कि मनुष्य इन शक्तियों के नियंत्रण में रहते हैं। परन्तु हम बार-बार यह बात देख चुके हैं कि वर्तमान पूंजीवादी समाज में मनुष्यों पर उनकी अपनी पैदा की हुई आर्थिक परिस्थितियां शासन करती हैं। उनपर वे उत्पादन के साधन शासन करते हैं, जिनको ख़ुद उन्होंने तैयार किया है। और उनको लगता है, जैसे कोई परायी शक्ति उनपर शासन कर रही है। इसलिये परावर्तन की जिस क्रिया से धर्म का जन्म हुआ है, उसका वास्तविक आधार अब भी मौजूद है, और उसके साथ-साथ स्वयं धार्मिक परावर्तन भी मौजूद है। और यद्यपि पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इन परायी शक्तियों के शासन के कारणिक सम्बन्धों पर भी कुछ प्रकाश डाला है, तथापि इससे कोई मौलिक अन्तर नहीं पैदा होता। पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र न तो सामान्य संकटों को रोक सकता है और न ही अलग-अलग पूंजीपतियों को हानि, अप्राप्य ऋण, दिवालियेपन से, न ही वह मज़दूरों को बेरोज़गारी और निर्धनता से बचा सकता है। यह बात आज भी सही है कि मनुष्य इच्छा करता है और फल का निश्चय भगवान (अर्थात् पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की परायी शक्तियां) करता है। केवल ज्ञान-प्राप्ति – यहां तक कि यदि वह पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से बहुत आगे और बहुत गहराई तक विकास कर जाये, तब भी – केवल ज्ञान-प्राप्ति सामाजिक शक्तियों पर समाज का शासन क़ायम करने के लिये पर्याप्त नहीं होता। इसके लिये जो चीज़ सर्वोपरि आवश्यक है, वह है एक सामाजिक **कार्य।** और जब यह कार्य सम्पन्न हो जाता है, जब समाज उत्पादन के समस्त साधनों पर अधिकार करके तथा उनका एक योजनाबद्ध ढंग से उपयोग करके अपने आपको तथा अपने समस्त सदस्यों को उत्पादन के उन साधनों की दासता से मुक्त कर देता है, जिनको उसके सदस्यों ने अपने हाथों से बनाया है, पर जो फिर भी एक दुर्धर एवं परायी शक्ति के रूप में उनके मुक़ाबले में खड़े हो जाते हैं; और इसलिये जब मनुष्य केवल इच्छा ही नहीं करता, बल्कि उसका फल भी निश्चित करने लगता है, तब जाकर कहीं उस अन्तिम परायी शक्ति का लोप होगा, जो आज भी धर्म में प्रतिबिम्बित

हो रही है और उसके साथ-साथ स्वयं धार्मिक परावर्तन का भी लोप हो जायेगा, क्योंकि तब ऐसी कोई चीज़ न रहेगी, जिसका परावर्तन हो सके।

लेकिन श्री ड्यूहरिंग उस समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते, जब धर्म की प्राकृतिक मृत्यु हो जायेगी। वह ज़्यादा गहरी जड़ों वाले ढंग से चलते हैं। वह बिस्मार्क के भी कान काट लेते हैं। वह न केवल कैथोलिक मत के विरुद्ध, बल्कि दुनिया के प्रत्येक धर्म के विरुद्ध बिस्मार्क के मई के क़ानूनों[184] से भी ज़्यादा सख़्त क़ानून बना देते हैं। वह भविष्य के जेन-डार्मों को धर्म के विरुद्ध उकसाते हैं, और इस प्रकार धर्म को शहीद बनने में तथा उसकी जीवन अवधि को बढ़ाने में सहायता देते हैं। हम जिधर मुड़ते हैं, उसी ओर हमें विशिष्टतया प्रशियाई समाजवाद के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार जब श्री ड्यूहरिंग धर्म का विनाश कर देते हैं, तब

"मनुष्य, जिसे अब केवल अपने ऊपर तथा प्रकृति के ऊपर भरोसा करने के लिये बाध्य कर दिया गया है और जो अपनी सामूहिक शक्तियों का पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कर चुका है, निडर होकर उन तमाम रास्तों पर आगे बढ़ सकता है, जिनको घटना-चक्र तथा स्वयं उसका अपना अस्तित्व उसके सामने खोल देता है"।

अब थोड़ा ज़ायक़ा बदलने के लिये हम यह देखें कि जिसे स्वयं अपने ऊपर भरोसा करने के लिये बाध्य कर दिया गया है, वह मनुष्य श्री ड्यूहरिंग के नेतृत्व में निडर होकर जिस "घटना-चक्र" में प्रवेश कर सकता है, वह कैसा घटना-चक्र है।

वह पहला घटना-चक्र, जिसके द्वारा मनुष्य को अपने ऊपर भरोसा करने के लिये बाध्य कर दिया जाता है, वह है – मनुष्य का जन्म। उसके बाद

प्राकृतिक अल्पवयस्कता के काल में वह "बच्चों की प्राकृतिक शिक्षक", अपनी माता के अधीन रहता है। "जैसा कि प्राचीन रोमन क़ानून के अन्तर्गत नियम था, यह काल यौवनारंभ तक, अर्थात् चौदहवें वर्ष तक चल सकता है"। जब वे अपेक्षाकृत बड़े बच्चे, जिनका लालन-पालन सही ढंग से नहीं हुआ है, अपनी मां के प्राधिकार का उचित आदर नहीं करते,

केवल उसी समय इस स्थिति को सुधारने के लिये पिता की सहायता लेनी पड़ती है और विशेष रूप से शिक्षण सम्बन्धी सार्वजनिक नियमों का उपयोग करना पड़ता है। यौवनारंभ की अवस्था में पहुंचने पर बच्चा "पिता के प्राकृतिक संरक्षण" के अधीन हो जाता है, बशर्ते कि "वास्तविक एवं निर्विवाद पितृत्व" वाला कोई पिता मौजूद हो। वरना समुदाय कोई संरक्षक नियुक्त कर देता है।

जिस प्रकार पहले श्री ड्यूहरिंग ने एक स्थल पर यह कल्पना की थी कि स्वयं उत्पादन को रूपान्तरित किये बिना भी उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के स्थान पर सामाजिक उत्पादन प्रणाली स्थापित की जा सकती है, उसी प्रकार अब वह यह कल्पना करते हैं कि आधुनिक पूंजीवादी परिवार को, उसके पूरे रूप को बदले बिना भी, उसके सम्पूर्ण आर्थिक आधार से अलग किया जा सकता है। उनके लिये यह रूप इतना अपरिवर्तनशील है कि उन्होंने "प्राचीन रोमन क़ानून" को – थोड़े "परिष्कृत" रूप में ही सही – सदा-सर्वदा के लिये परिवार पर लागू कर दिया है; और वह परिवार की केवल एक "वसीयत करनेवाली" इकाई के रूप में, अर्थात् केवल एक स्वत्वात्मक इकाई के रूप में ही कल्पना कर सकते हैं। इस मामले में कल्पनावादी विचारक श्री ड्यूहरिंग से बहुत आगे हैं। उनका विचार था कि जब मनुष्यों का स्वतंत्र सहयोग स्थापित हो जायेगा और जब निजी घरेलू काम एक सार्वजनिक उद्योग में बदल जायेगा, तब इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि तरुणों की शिक्षा का समाजीकरण हो जायेगा और इसके साथ-साथ परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में सच्ची स्वतंत्रता दिखाई देने लगेगी। इसके अतिरिक्त मार्क्स पहले ही यह बात प्रमाणित कर चुके हैं ('पूंजी', खंड १, पृष्ठ ५१५ तथा आगे के पृष्ठ) कि "आधुनिक उद्योग स्त्रियों, युवजनों और लड़के-लड़कियों को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरुष के सम्बन्धों के एक अधिक ऊंचे रूप के लिये एक नया आर्थिक आधार तैयार कर देता है।"*

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ५५३। – सं०

श्री ड्यूहरिंग ने कहा है कि "जो कोई भी सामाजिक सुधारों का स्वप्न देखता है, उसके पास स्वभावत: अपने नये सामाजिक जीवन के अनुरूप एक शिक्षणशास्त्र भी तैयार होता है"।

यदि हम इस स्थापना के आधार पर अपनी राय क़ायम करें, तो हमें कहना पड़ेगा कि सामाजिक सुधारों का स्वप्न देखनेवालों में श्री ड्यूहरिंग "सचमुच एक राक्षसी अवतार के समान" हैं। कारण कि भावी स्कूल की ओर उन्होंने कम से कम उतना ही ध्यान दिया है, जितना उन्होंने अपने कापी-राइट की ओर दिया था; और यह हमने एक काफ़ी बड़ी बात कह दी है। न केवल पूरे "निकट भविष्य" के लिये, बल्कि संक्रमण काल के लिये भी स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के सारे पाठ्यक्रम अभी से श्री ड्यूहरिंग के पास तैयार हैं। परन्तु हम यहां पर केवल उसी पाठ्यक्रम तक अपने को सीमित रखेंगे, जो अन्तिम एवं परम सोशलिटेरियन व्यवस्था में लड़कों और लड़कियों दोनों को पढ़ाया जायेगा।

सार्विक लोक स्कूल "ऐसी हर चीज़" पढ़ायेगा, जो "अपने आपमें और सिद्धान्तत: मनुष्य के लिये थोड़ा-सा भी आकर्षण रखती है", और इसलिये उसमें विशेष रूप से "संसार की तथा जीवन की समझ से सम्बन्धित तमाम विज्ञानों के मूल सिद्धान्तों और मुख्य निष्कर्षों की शिक्षा" दी जायेगी। इसलिये सबसे पहले उसमें गणित सिखाया जायेगा, और वह भी इस तरह कि साधारण गणना तथा जोड़ से लेकर अनुकलन गणित तक समस्त मूलभूत धारणाओं तथा पद्धतियों का क्षेत्र "उसकी परिधि में आ जायेगा"।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इस स्कूल में कोई सचमुच अनुक-लन या अवकलन किया करेगा। बात इसकी उल्टी है। वहां असल में सामान्य गणित में प्राथमिक एवं उच्च गणित दोनों बीज रूप में शामिल होंगे। और यद्यपि श्री ड्यूहरिंग का दावा है कि

भविष्य का स्कूल जिन पाठ्य-पुस्तकों का उपयोग करेगा, "उनका सार रेखांकन के रूप में तथा स्थूल रूपरेखाओं की शक्ल में" अभी से उनके दिमाग़ में मौजूद है,

तथापि वह दुर्भाग्यवश अभी तक

"सामान्य गणित के इन तत्वों का"

आविष्कार करने में सफल नहीं हुए हैं। और वह जो चीज़ नहीं कर पाये हैं, उसकी वह

"असल में केवल नयी समाज व्यवस्था की मुक्त एवं परिवर्द्धित शक्तियों से ही आशा कर सकते हैं"।

परन्तु यदि भावी गणित के अंगूर अभी बहुत खट्टे हैं, तो भावी खगोल-शास्त्र, भावी यांत्रिकी तथा भावी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

"समस्त शिक्षा का मुख्य सार" इन विषयों से सम्बन्धित होगा, जबकि "वनस्पतिशास्त्र तथा प्राणिशास्त्र, जिनका स्वरूप समस्त सिद्धान्तों के बावजूद मुख्यतया वर्णनात्मक है, हल्के-फुल्के वार्तालाप के विषय का काम करेंगे"।

'दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम' के पृष्ठ ४१७ पर यह बात स्पष्ट अक्षरों में छपी है। आज भी श्री ड्यूहरिंग को किसी ऐसे वनस्पतिशास्त्र या प्राणिशास्त्र की जानकारी नहीं है, जो मुख्यतया वर्णनात्मक न हो! सम्पूर्ण जीव आकृति विज्ञान का–जिसमें तुलनात्मक शरीर रचना विज्ञान, भ्रूण विज्ञान और लुप्त जीव विज्ञान सम्मिलित हैं–उनको नाम तक नहीं मालूम है। उनकी पीठ के पीछे जीव विज्ञान के क्षेत्र में दर्जनों पूर्णतया नवीन विज्ञान जन्म ले रहे हैं; पर उनकी बचकानी आत्मा "प्राकृतिक वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली द्वारा प्रदत्त शिक्षण के अतिआधुनिक तत्वों" की तलाश में आज भी राफ़ की रचना 'बच्चों के लिये प्राकृतिक इतिहास' की शरण लेती है। और कार्बनिक जगत् की इस संरचना को भी उन्होंने पूरे "निकट भविष्य" के लिये अनिवार्य घोषित कर दिया है। और जैसा कि उनकी आदत है, यहां पर भी वह रसायन विज्ञान को बिल्कुल भूल गये हैं।

जहां तक शिक्षा के सौंदर्यबोध सम्बन्धी पहलू का प्रश्न है, श्री ड्यूह-रिंग को उसका एकदम नये सिरे से निर्माण करना होगा। भूतकाल की कविता इस काम के लिये बेकार है। जहां हर प्रकार के धर्म पर रोक लगा दी गयी है, वहां कहने की आवश्यकता नहीं कि स्कूलों में उन "पुराणकथाओं या अन्य प्रकार के धार्मिक प्रसाधनों" को सहन नहीं किया जा सकता, जो अभी तक के सभी कवियों की मुख्य विशेषता थे। इसी प्रकार "काव्यात्मक रहस्यवाद" भी, "जिसका उदाहरण के लिये गेटे इतने व्यापक रूप में प्रयोग किया करता था", निन्दनीय है। इसलिये उन महाकाव्यों की श्री ड्यूहरिंग को स्वयं रचना करने का निश्चय करना पड़ेगा, "जो बुद्धि से समाहित कल्पना की उच्चतर अभ्यर्थनाओं के अनुरूप होंगे," और जो उस सच्चे आदर्श का प्रतिनिधित्व करेंगे, जो "संसार की चरम उन्नति का परिचायक है"। अब इस काम में श्री ड्यूहरिंग को तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये। उनका आर्थिक कम्यून अपना विश्व विजयी प्रभाव केवल उसी समय डालना शुरू करेगा, जब वह बुद्धि से समाहित दोहरे छः ताला छंद पर नाचने लगेगा।

भविष्य के किशोर नागरिक को भाषा विज्ञान में बहुत माथा नहीं खपाना पड़ेगा।

"मृत भाषाओं को पूर्णतया त्याग दिया जायेगा... किन्तु विदेशी जीवित भाषाओं का... गौण महत्व रहेगा।" जहां राष्ट्रों के बीच सम्पर्क का स्वयं जन-समूहों की गति तक विस्तार हो जायेगा, केवल वहीं पर ये भाषाएं आवश्यकताओं के अनुसार तथा सरल रूप में सुलभ बना दी जायेंगी। "भाषाओं का सचमुच शिक्षणात्मक अध्ययन" एक प्रकार के सामान्य व्याकरण के द्वारा और विशेष रूप से "आदमी की ख़ुद अपनी भाषा के सार तथा रूप" के अध्ययन के द्वारा सम्पन्न होगा।

आधुनिक मनुष्य की जातीय संकीर्णता भी श्री ड्यूहरिंग की दृष्टि में अत्यधिक कॉस्मॉपॉलिटन भावना से भरी है। आजकल जैसी दुनिया है, उसमें दो उत्तोलक हैं, जिनसे कम से कम संकीर्ण जातीय दृष्टिकोण से

ऊपर उठने का अवसर प्राप्त होता है : एक तो प्राचीन भाषाओं का ज्ञान, जिससे विभिन्न जातियों के कम से कम उन लोगों के लिये, जिनको प्राचीन भाषाओं तथा संस्कृति की शिक्षा मिली है, एक अधिक विस्तृत समान क्षितिज के द्वार खुल जाते हैं; और दूसरा, उन आधुनिक भाषाओं का ज्ञान, जिनके माध्यम से ही विभिन्न जातियों के लोग एक दूसरे को अपनी बात समझा सकते हैं और अपनी सीमाओं के बाहर की घटनाओं की कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु श्री ड्यूहरिंग इन दोनों उत्तोलकों को ख़त्म कर देना चाहते हैं। उनके बजाय वह मातृभाषा के व्याकरण का कसकर अभ्यास कराना चाहते हैं। लेकिन "आदमी की ख़ुद अपनी भाषा का सार तथा रूप" केवल उसी समय बोधगम्य होते हैं, जब उस भाषा की उत्पत्ति तथा क्रमिक विकास का पता लगाया जाता है, और यह काम एक तो ख़ुद इस भाषा के विलुप्त रूपों, और दूसरे, सजातीय भाषाओं का अध्ययन किये बिना नहीं हो सकता। परन्तु यह बात हमें पुनः उसी प्रदेश में लौटा लाती है, जिसमें प्रवेश करने की हमें स्पष्ट मनाही कर दी गयी है। यदि श्री ड्यूहरिंग अपने पाठ्यक्रम में से समस्त आधुनिक ऐतिहासिक व्याकरण को अलग कर देते हैं, तो उनके पास भाषा के अध्ययन के नाम पर उस पुराने ढंग के प्राविधिक व्याकरण के सिवा और कुछ नहीं बचता, जो बिल्कुल प्राचीन प्रामाणिक भाषाशास्त्र के सांचे में ढला है, जिसमें उसका समस्त वाक्छल तथा स्वेच्छाचारिता भरी हुई है, और जिसके आधार में ऐतिहासिकता का सम्पूर्ण अभाव है। पुराने भाषाशास्त्र से श्री ड्यूहरिंग को जो घृणा है, उसके कारण वह उसकी सबसे ख़राब पैदावार को "भाषा के सचमुच शिक्षणात्मक अध्ययन के केन्द्र-बिन्दु" के पद पर आसीन कर देते हैं। यह स्पष्ट है कि यहां हमारी एक ऐसे भाषा विशारद से भेंट हो रही है, जिसने भाषाओं के ऐतिहासिक विज्ञान के उस प्रचण्ड एवं सफल विकास के बारे में एक शब्द भी नहीं सुना है, जो पिछले साठ वर्ष में हुआ है; और इस कारण वह भाषा विज्ञान के "अतिआधुनिक शिक्षणात्मक तत्वों" को बौप्प, ग्रिम तथा डियेज़ की रचनाओं में नहीं, बल्कि स्वर्गीय स्मरणीय हेज़े और बेकर की रचनाओं में खोजते हैं।

परन्तु यह सब भी भविष्य के किशोर नागरिक को "ख़ुद अपने ऊपर भरोसा करने" के लायक़ नहीं बना पायेगा। इसके लिये

"नवीनतम दार्शनिक सिद्धान्तों को आत्मसात करके" एक अधिक गूढ़ मूलाधार तैयार करना होगा। परन्तु अब चूंकि श्री ड्यूहरिंग ने इसके लिये रास्ता साफ़ कर दिया है, इसलिये "मूलाधार को इस प्रकार गहरा करने का कार्य... कोई बहुत बड़ा काम साबित नहीं होगा"। सच पूछिये तो "यदि मिथ्या पण्डिताऊ कूड़े-करकट में से उन इने-गिने विशुद्धतया वैज्ञानिक सत्यों को निकाल लिया जाये, जिनका सत्ता का सामान्य रेखांकन गर्व के साथ उल्लेख कर सकता है, और यदि केवल उसी वास्तविकता को मान्यता प्रदान की जाये", जिसे श्री ड्यूहरिंग प्रामाणिक घोषित कर चुके हैं, तो प्राथमिक दर्शनशास्त्र भावी युवजनों के लिये भी पूर्णतया बोधगम्य हो जायेगा। "उन **अत्यन्त सरल** पद्धतियों को स्मरण कीजिये, जिनसे हमने अनन्तत्व की धारणाओं तथा उनकी आलोचना में एक अभी तक अज्ञात अर्थ भरकर उनका विकास किया था"—और तब "आप यह क़तई नहीं समझ पायेंगे कि दिक् और काल की सार्विक अवधारणा के जिन तत्वों को अब गहरा तथा तीव्र बनाकर इतना सरल रूप दे दिया गया है, वे अन्त में प्राथमिक अध्ययन की श्रेणी में क्यों नहीं प्रवेश कर जायेंगे"। श्री ड्यूहरिंग के "... अत्यधिक गहरी जड़ों वाले विचारों की नये समाज की सार्विक शिक्षा प्रणाली में गौण भूमिका नहीं होगी"। इसके विपरीत पदार्थ की स्वसमान अवस्था और गिने हुए अगणनीय को तो नियति ने "न केवल मनुष्य को उसके पैरों पर खड़ा कर देने की, बल्कि उसे अपने बारे में यह विश्वास दिला देने की" भूमिका दी है कि "तथाकथित **परम तत्व उसके पैरों के नीचे है**"।

जैसा कि स्पष्ट है, भविष्य का लोक स्कूल किसी क़दर "परिष्कृत" प्रशियाई पाठशाला के सिवा और कुछ नहीं होगा, जिसमें यूनानी तथा लैटिन भाषाओं का स्थान थोड़ा अधिक शुद्ध एवं व्यावहारिक गणित को और विशेषकर वास्तविकता के दर्शनशास्त्र के तत्वों को दे दिया जायेगा, और जर्मन भाषा की शिक्षा स्वर्गीय स्मरणीय बेकर के अनुसार दी जायेगी, अर्थात् उसे चौथी श्रेणी के स्तर पर ले आया जायेगा। और सचमुच, जब यह बात हम प्रमाणित कर चुके हैं कि श्री ड्यूहरिंग ने जितने क्षेत्रों

को छुआ है, उनका उनके पास महज़ स्कूली लड़कों वाला "ज्ञान" ही है, तब पाठकों को यह बात क़तई "समझ में नहीं आयेगी" कि वह–या यूं कहिये कि उसका हम जो प्रारम्भिक रूप से भरपूर "शोधन" करेंगे, उसके बाद उसमें जो कुछ बच रहेगा वह–पूरा का पूरा अन्त में "प्राथमिक अध्ययन की श्रेणी में क्यों नहीं प्रवेश कर जायेगा", क्योंकि असल में तो वह कभी उस श्रेणी के बाहर निकला ही नहीं है। यह सच है कि श्री ड्यूहरिंग ने समाजवादी समाज में काम और शिक्षा के उस संयोजन के बारे में कुछ सुन रखा है, जिससे एक चहुमुखी प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है तथा वैज्ञानिक प्रशिक्षण के लिये एक व्यावहारिक आधार तैयार किया जाता है। और इसलिये अपने सोशलिटेरियन रेखांकन की सहायता के लिये वह अपने अभ्यस्त ढंग से इस बात को भी बीच में ले आते हैं। लेकिन चूंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, भावी ड्यूहरिंगीय उत्पादन प्रणाली में पुराने श्रम विभाजन की तमाम मूल बातें ज्यों की त्यों क़ायम रहेंगी, इसलिये भावी स्कूल में जो यह प्राविधिक प्रशिक्षण मिलता है, उसका बाद में व्यावहारिक उपयोग नहीं हो पाता, और न ही उसका स्वयं उत्पादन के लिये कोई महत्व होता है। उसका केवल स्कूल के भीतर ही कुछ प्रयोजन होता है: वहां वह व्यायाम का स्थान ले लेता है, जिसे हमारे गहरी जड़ों वाले क्रान्तिकारी ने बिल्कुल अनदेखा कर दिया है। इसलिये वह हमें केवल कुछ इने-गिने वाक्यांश ही दे सकते हैं, जैसे उदाहरण के लिये:

"तरुणों को और बूढ़ों को काम शब्द के गम्भीर अर्थ में काम करना होगा।"

यह अत्यन्त अशक्त एवं निरर्थक बकवास उस समय सचमुच बहुत दयनीय प्रतीत होती है, जब हम उसकी 'पूंजी' (पृष्ठ ५०८-५१५)*

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ५४५–५५३।–सं०

के उस अंश से तुलना करते हैं, जिसमें मार्क्स ने इस थीसिस को विकसित किया है कि "जैसा कि रॉबर्ट ओवेन ने विस्तार के साथ हमें बताया है, फ़ैक्टरी व्यवस्था में से भावी शिक्षा की कली फूटती है, उस शिक्षा की जो एक निश्चित आयु से ऊपर के प्रत्येक बच्चे के लिये शिक्षा और व्यायाम के साथ-साथ उससे कोई उत्पादक श्रम कराने का भी प्रबंध करेगी; और यह केवल इसलिये नहीं किया जायेगा कि यह उत्पादन की कार्य क्षमता को बढ़ाने का एक तरीक़ा है, बल्कि इसलिये भी कि पूरी तरह विकसित मानव के उत्पादन का यह एकमात्र तरीक़ा है।"

भविष्य के विश्वविद्यालय को हमें छोड़ देना होगा, जिसमें वास्तविकता के दर्शनशास्त्र को समस्त ज्ञान का सार समझा जायेगा और चिकित्सा संकाय के साथ-साथ क़ानून संकाय भी अपने पूरी तरह प्रस्फुटित रूप में क़ायम रहेगा। "विशेष प्रशिक्षण के" उन "विद्यालयों" को भी हमें छोड़ देना पड़ेगा, जिनके बारे में हमें केवल इतना ही बताया गया है कि उनमें केवल "कुछ इने-गिने विषय" ही पढ़ाये जायेंगे। मान लीजिये कि भविष्य का तरुण नागरिक शिक्षा के सारे पाठ्यक्रमों को पूरा कर चुका है और अब आख़िर उसे ख़ुद "अपने ऊपर भरोसा करने के लिये" पर्याप्त रूप से "बाध्य कर दिया गया" है, ताकि वह अपने लिये एक पत्नी खोज सके। इस क्षेत्र में उसके सामने श्री ड्यूहरिंग किस घटना-चक्र के द्वार खोलते हैं?

"गुणों के संरक्षण, निरसन, सम्मिश्रण, और यहां तक कि नवीन सृजनात्मक विकास के लिये भी संजनन का जो महत्व है, उसको ध्यान में रखते हुए मानव और अमानव की अन्तिम जड़ों को हमें बहुत हद तक लैंगिक संयोजन तथा लैंगिक वरण में और इसके अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार के परिणामों की प्राप्ति के लिये या उनसे बचने के लिये, जो एहतियात बरती जाती है, उसमें खोजना चाहिये। इस क्षेत्र में आजकल जिस तरह की पाशविकता तथा मूर्खता प्रचलित है, उसके बारे में निर्णय करने का काम हमें एक तरह से बाद के किसी युग के लिये छोड़ देना पड़ेगा। फिर भी पूर्वाग्रहों के भारी बोझ के बावजूद यह बात हमें शुरू में ही साफ़ कर देनी चाहिये कि जन्म संख्या से कहीं अधिक महत्वपूर्ण निश्चय ही यह बात है कि जो नये बच्चे पैदा हुए हैं,

उनके गुणों को देखते हुए प्रकृति अथवा मानव विवेक को सफलता मिली है या असफलता। यह सच है कि सभी युगों में तथा क़ानून की सभी प्रणालियों के अन्तर्गत अपरूप सन्तान को हमेशा नष्ट कर दिया जाता था। परन्तु सामान्य मनुष्य तथा उन विरूपताओं के बीच में, जिनमें मनुष्यों के साथ सादृश्य का पूर्ण अभाव होता है, बहुत-सी मध्यवर्ती अवस्थाएं होती हैं... ऐसे मनुष्य की उत्पत्ति को रोक देना स्पष्टतया लाभदायक है, जो महज़ एक दोषपूर्ण जीव होगा।"

एक और अंश इस प्रकार है:

"अज्ञात संसार को सर्वोत्तम संरचना प्राप्त करने का अधिकार है—इस बात को समझने में दार्शनिक चिन्तन को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये... गर्भधारण के समय और, यदि आवश्यकता हो, तो उत्पत्ति के समय भी इस सम्बन्ध में निवारण के उद्देश्य से और विशेष स्थिति में वरण के उद्देश्य से सावधानी बरती जा सकती है।"

एक अन्य स्थान पर लिखा है:

"उस समय यूनानी कला का—संगमरमर में मनुष्य का आदर्श चित्रण करने की कला का—ऐतिहासिक महत्व क़ायम नहीं रहेगा, जिस समय हाड़ और मांस की बनी मानव आकृति को अधिक से अधिक सुधारने का वह कम कलापूर्ण कार्य हाथ में लिया जायेगा, जो इस कारण करोड़ों इन्सानों के भविष्य के दृष्टिकोण से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होगा। कला का यह रूप महज़ पत्थर को नहीं गढ़ता, और उसका सौंदर्यबोध मृत आकृतियों पर विचार नहीं करता", इत्यादि, इत्यादि।

हमारा विकासमान भावी नागरिक एक बार फिर पृथ्वी पर लाया जाता है। यदि उसे श्री ड्यूहरिंग की सहायता न मिलती, तो भी वह यह अवश्य जानता था कि विवाह की कला महज पत्थर को नहीं गढ़ती, और यहां तक कि न ही वह मृत आकृतियों पर विचार करती है। लेकिन आख़िर श्री ड्यूहरिंग ने ही तो उसे यह आश्वासन दिया था कि एक सहानुभूतिपूर्ण नारी हृदय का, मय उस हृदय की देह के, पता लगाने के

लिये घटना-चक्र तथा उसकी अपनी प्रकृति उसके सामने जितने रास्तों को खोलती जायेगी, वह उन तमाम रास्तों पर निडर होकर बढ़ सकेगा। हरगिज़ नहीं! – "अधिक गूढ़ तथा कठोर नैतिकता" गरजकर जवाब देती है। उसे पहला काम यह करना होगा कि आजकल लैंगिक संयोजन तथा लैंगिक वरण के क्षेत्र में जो पाशविकता और मूर्खता फैली हुई है, उसको त्यागे, और यह बात याद रखे कि नवजात संसार को यथासम्भव सर्वोत्तम संरचना प्राप्त करने का अधिकार है। इस गम्भीर क्षण में उसे असल में हाड़ और मांस की बनी मानव आकृति में अधिक से अधिक सुधार करने का कर्तव्य पूरा करना है, मानो फ़िडियास बन जाना है। पर यह काम वह कैसे करे? श्री ड्यूहरिंग की जिन रहस्यपूर्ण उक्तियों को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उनसे उसको इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता, हालांकि श्री ड्यूहरिंग ने ख़ुद कहा है कि यह एक "कला" है। क्या सम्भवतः श्री ड्यूहरिंग के "मन में रेखांकन रूप में" इस विषय की भी कोई पाठ्य-पुस्तक अभी से तैयार है? हमारा मतलब उस प्रकार की पुस्तक से है, जो मुहरबन्द लिफ़ाफ़ों में बिकती है और जिसके नमूनों से आजकल जर्मनी में किताबों की दूकानें ठसाठस भरी हुई हैं। सच पूछिये तो, अब हम सोशलिटेरियन व्यवस्था में नहीं, बल्कि 'जादुई बांसुरी'[185] की दुनिया में विचरण कर रहे हैं – अन्तर केवल इतना है कि दिलेर फ़्रीमेसनों का पादरी सरास्त्रो हमारे अधिक गूढ़ एवं कठोर नीतिज्ञ के मुक़ाबले में "द्वितीय श्रेणी का पादरी" भी मुश्किल से समझा जायेगा। सरास्त्रो ने अपने युगल प्रेमियों की जैसी परीक्षाएं ली थीं, वे उस भयानक परीक्षा के सामने बच्चों का खेल प्रतीत होती हैं, जिसमें से श्री ड्यूहरिंग के दो परम सत्ता सम्पन्न व्यक्तियों को, "मुक्त एवं नीतिसंगत विवाह" की अवस्था में प्रवेश करने की अनुमति पाने के पहले गुज़रना पड़ता है। और इसलिये बहुत सम्भव है कि जिसे "आत्मनिर्भर होने के लिये बाध्य कर दिया गया है", भविष्य का हमारा वह तैमिनो सचमुच परम तत्व के ऊपर पैर रखकर खड़ा हो, पर उसका एक पैर दूसरे पैर से कई अंगुल छोटा हो और इसलिये दुष्ट लोग उसे वक्रपाद कहते हों। यह भी मुमकिन है कि इस तैमिनो की प्रियतमा, पमीना के दायें कंधे में ज़रा-सा कोई ऐसा

दोष हो, जिसके कारण वह उपर्युक्त परम तत्व के ऊपर सीधी न खड़ी हो पाती हो और जिसके कारण ईर्ष्यालु लोग उसे कुबड़ी कहते हों। तब क्या होगा? क्या हमारा यह अधिक गूढ़ एवं कठोर सरास्त्रो उनको हाड़ और मांस की बनी मानव आकृति में अधिक से अधिक सुधार करने की कला का अभ्यास करने से रोक देगा? क्या वह "गर्भधारण" के समय "निवारण के उद्देश्य से", या "उत्पत्ति" के समय "वरण के उद्देश्य से" सावधानी बरतेगा? दस गुनी अधिक सम्भावना इस बात की है कि वह यह सब कुछ नहीं कर पायेगा। सरास्त्रो-ड्यूहरिंग को जहां वह खड़ा है, वहीं छोड़कर हमारे युगल प्रेमी सीधे विवाहों की रजिस्टरी के दफ़्तर की ओर रवाना हो जायेंगे।

पर, ठहरिये ज़रा!—श्री ड्यूहरिंग चिल्लाते हैं। मेरा यह हरगिज़ मतलब नहीं था। मुझे अपनी बात को स्पष्ट करने का अवसर दीजिये!

"स्वस्थ लैंगिक संयोजन के जितने उच्चतर एवं सचमुच मानवीय प्रेरक कारण हैं उनमें... लैंगिक उत्तेजना का मानवीय ढंग से परिष्कृत रूप, जिसकी तीव्र अभिव्यक्ति **आवेगपूर्ण प्रेम** होता है, एक ऐसा कारण है जो—जब उसका दूसरे पक्ष की ओर से भी प्रतिदान होता है तो—संयोजन की सबसे अच्छी प्रतिभूति का काम करता है और ऐसे संयोजन का परिणाम भी स्वीकार्य होता है... यह केवल एक द्वितीय श्रेणी का प्रभाव है कि एक ऐसे सम्बन्ध से जो स्वतःसुसंगत है, एक सुसंगत फल उत्पन्न होता है। और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी तरह की ज़बर्दस्ती का सदा हानिकारक प्रभाव होगा", इत्यादि, इत्यादि।

और इस प्रकार समस्त सम्भव सोशलिटेरियन संसारों में से जो सर्वोत्तम संसार है, उसमें सब कुछ अन्त में सर्वोत्तम ढंग से ही होता है। वक्रपाद और कुबड़ी एक दूसरे से आवेगपूर्ण प्रेम करते हैं, और इसलिये उनके पारस्परिक सम्बन्ध में "द्वितीय श्रेणी के" सुसंगत फल की सर्वोत्तम प्रतिभूति निहित होती है। यहां सब कुछ बिल्कुल उपन्यासों की तरह होता है—प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे से प्रेम करते हैं, उनका मिलन हो जाता है, और यह सारी "अधिक गूढ़ एवं कठोर नैतिकता" सदा की भांति इस बार भी सुसंगत बकवास सिद्ध होती है।

सामान्य नारी जाति के बारे में श्री ड्यूहरिंग के उदार विचारों का कुछ आभास वर्तमान समाज की निन्दा में लिखे गये इस अंश से मिल सकता है :

"मनुष्य के हाथों मनुष्य की बिक्री पर आधारित उत्पीड़न के समाज में वेश्यावृत्ति को विवाह के उन अनिवार्य बंधनों का प्राकृतिक अनुपूरक समझा जाता है, जो सदा पुरुषों का पक्ष लेते हैं; और यह एक अत्यन्त बोधगम्य किन्तु साथ ही अत्यन्त **महत्वपूर्ण** तथ्य है कि **स्त्रियों के लिये इस प्रकार की कोई बात सम्भव नहीं है।**"

इस समादर के लिये स्त्रियां श्री ड्यूहरिंग को जिस प्रकार का धन्यवाद देंगी, वह मैं अपने लिये किसी क़ीमत पर नहीं चाहूंगा। परन्तु क्या श्री ड्यूहरिंग ने आय के उस रूप के बारे में सचमुच कभी कुछ नहीं सुना है, जो पेटीकोट-पेन्शन (Schürzenstipendium) कहलाता है, और जो आजकल कोई असाधारण चीज़ नहीं रह गया है? श्री ड्यूहरिंग ख़ुद एक समय Referendary[186] थे, और वह बर्लिन में रहते हैं, जहां छत्तीस वर्ष पहले, मेरे ज़माने में भी लेफ़्टिनेन्टों की बात तो जाने दीजिये Referendarius की भी अक्सर Schürzenstipendiarius के साथ तुक बैठ जाती थी!

* * *

अपने विषय से, जो प्रायः बहुत शुष्क तथा नीरस सिद्ध हुआ है, हम थोड़ा विनोद एवं समाधान के वातावरण में विदा लेने की पाठक से अनुमति चाहते हैं। जब तक हमें अलग-अलग प्रश्नों पर विचार करना था, तब तक हमारी निर्णय शक्ति वस्तुगत एवं निर्विवाद तथ्यों के अधीन थी; और इन तथ्यों के आधार पर उसे अक्सर लाज़िमी तौर पर बहुत तीखा और यहां तक कि कठोर मत प्रकट करना पड़ जाता था। परन्तु अब, जबकि हम दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र और सोशलिटेरियन व्यवस्था, सबको पीछे छोड़ आये हैं, जबकि लेखक का पूरा चित्र हमारे सामने है

ग्रौर उसकी ब्योरे की बातों पर विचार करने का काम हम पूरा कर चुके हैं—ग्रब मानव सम्बन्धी तत्व प्रमुखता प्राप्त कर सकते हैं। इस बिन्दु पर पहुंचकर हमें इस बात की ग्रनुमति मिलनी चाहिये कि हम बहुत-सी ऐसी वैज्ञानिक ग़लतियों ग्रौर दर्पोक्तियों के व्यक्तिगत कारणों पर प्रकाश डालें, जो इस प्रकाश के ग्रभाव में ग्रबोधगम्य थीं, ग्रौर श्री ड्यूहरिंग के विषय में ग्रपना ग्रन्तिम निर्णय इन शब्दों में निचोड़ कर रख दें कि **ग्रहम्मन्यता से भरे उन्माद के कारण उनमें मानसिक क्षमता नहीं रह गयी है।**

'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' की पुरानी भूमिका।
द्वन्द्ववाद के विषय में*

इस रचना की उत्पत्ति का कारण कोई "आन्तरिक प्रेरणा" कदापि नहीं है। इसके विपरीत मेरे मित्र लीब्कनेख़्त इस बात के साक्षी हैं कि श्री ड्यूहरिंग के नवीनतम समाजवादी सिद्धान्त पर आलोचना का प्रकाश डालने के लिये मुझे राज़ी करने के वास्ते उनको कितना अधिक प्रयत्न करना पड़ा था। जब मैंने एक बार यह कार्य करने का निश्चय कर लिया, तो मेरे सामने सिवाय इसके और कोई चारा नहीं रह गया कि इस सिद्धान्त पर, जो एक नयी दार्शनिक प्रणाली का नवीनतम व्यावहारिक फल होने का दावा करता था, इस प्रणाली की पृष्ठभूमि में विचार करूं, और इस प्रकार स्वयं इस प्रणाली पर भी विचार करूं। इसलिये मुझे मजबूर होकर श्री ड्यूहरिंग का अनुसरण करते हुए उस विशाल क्षेत्र का परीक्षण करना पड़ा, जिसमें विचरण करते हुए श्री ड्यूहरिंग ने समस्त सम्भव वस्तुओं की तथा कुछ अन्य वस्तुओं की भी चर्चा कर डाली है। इस प्रकार वह लेखमाला लिखी गयी, जो लाइपज़िग के *Vorwärts* में १८७७ के आरम्भ से प्रकाशित होना शुरू हुई थी, और जो यहां एक सम्बद्ध पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की जा रही है।

एक ऐसी विचार प्रणाली की, जो समस्त आत्मप्रशंसा के बावजूद अत्यन्त महत्वहीन है, विषय के स्वरूप के कारण इतने अधिक विस्तार के साथ क्यों समीक्षा की गयी है, इसकी सफ़ाई में दो बातों का हवाला

---

*यह लेख १८७८ में मई या जून के प्रारंभ में 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के प्रथम संस्करण की भूमिका के रूप में लिखा गया था। लेकिन एंगेल्स ने इसकी जगह एक अपेक्षाकृत छोटी भूमिका रखने का निर्णय किया। (देखिये, वर्तमान संस्करण, पृ० ११–२८)।

११ जून, १८७८ को लिखी गयी नयी भूमिका का अधिकांश पुरानी भूमिका से मिलता-जुलता है। –**सं०**

दिया जा सकता है। पहली बात यह है कि मुझे इस समीक्षा के दौरान अनेक क्षेत्रों के उन विवादग्रस्त प्रश्नों पर अपने विचार सकारात्मक रूप में पेश करने का मौक़ा मिल गया है, जिन्होंने आजकल काफ़ी सामान्य ढंग का वैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लिया है। और यद्यपि मेरे मन में यह विचार कभी नहीं आया है कि श्री ड्यूहरिंग की प्रणाली के विकल्प के रूप में कोई और प्रणाली यहां पेश करूं, तथापि आशा की जाती है कि यहां जिस सामग्री का विवेचन किया गया है, उसकी विविधता के बावजूद मैंने जिन विचारों को प्रस्तुत किया है, उनका अन्तर्सम्बन्ध भी पाठक की आंखों से छिपा नहीं रहेगा।

दूसरी ओर, "प्रणाली स्रष्टा" श्री ड्यूहरिंग आजकल के जर्मनी में कोई इक्की-दुक्की दिखाई पड़ जानेवाली घटना नहीं हैं। कुछ समय से इस देश में दार्शनिक प्रणालियां, और विशेषकर प्राकृतिक-दार्शनिक प्रणालियां दिन दूनी रात चौगुनी उगती हैं; और राजनीति तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र, आदि, की असंख्य प्रणालियां तो दूर रहीं। जिस प्रकार आधुनिक राज्य में यह मान लिया जाता है कि नागरिकों से जिन विभिन्न प्रश्नों पर वोट देने को कहा जाता है, प्रत्येक नागरिक में उन सभी प्रश्नों पर निर्णय देने की योग्यता होती है; जिस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र में यह मान लिया जाता है कि प्रत्येक ख़रीदार को अपने जीवन निर्वाह के लिये जो तमाम माल ख़रीदने पड़ते हैं, वह उन सबका पारखी होता है—अब विज्ञान में भी हमें कुछ उसी प्रकार की बात मानकर चलना पड़ेगा। हर आदमी हर विषय के बारे में लिख सकता है और "विज्ञान की स्वतंत्रता" ठीक इस बात में निहित है कि लोग जान-बूझकर ऐसी चीज़ों के बारे में लिखा करें, जिनका उन्होंने अध्ययन नहीं किया है और इसे एकमात्र वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में पेश कर दें। किन्तु जर्मनी में आजकल जो यह शेख़ीबाज़ मिथ्या विज्ञान हर जगह आगे आ रहा है और अपनी उत्कृष्ट बकवास के शोर में हर बात को डुबोये दे रहा है, श्री ड्यूहरिंग उसके सबसे लाक्षणिक प्रतिनिधियों में से हैं। यह उत्कृष्ट बकवास कविता में, दर्शनशास्त्र में, राजनीतिक अर्थशास्त्र में और इतिहास लेखन में सुनने को मिलती है। यह उत्कृष्ट बकवास विद्यालयों की कक्षाओं

में और सभाओं के मंच पर सुनने को मिलती है। हर जगह यह उत्कृष्ट बकवास ही कानों में पड़ती है। यह उत्कृष्ट बकवास दावा करती है कि उसमें एक ऐसी श्रेष्ठता और विचारों की ऐसी गहराई है, जो उसे अन्य राष्ट्रों की साधारण, तुच्छ बकवास के स्तर से ऊपर उठा देती है। यह उत्कृष्ट बकवास जर्मनी के बौद्धिक उद्योग की सबसे अधिक लाक्षणिक पैदावार है – सस्ती मगर ख़राब – जैसी जर्मनी में बनी दूसरी वस्तुएं होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि दुर्भाग्य से उन तमाम वस्तुओं के साथ-साथ इसे फ़िलाडेलफ़िया में प्रदर्शित नहीं किया गया।[187] यहां तक कि कुछ समय से और ख़ास तौर पर जब से श्री ड्यूहरिंग का श्रेष्ठ उदाहरण लोगों के सामने आया है, जर्मन समाजवाद भी बहुत काफ़ी मात्रा में उत्कृष्ट बकवास का सृजन करने लगा है। यदि व्यावहारिक सामाजिक-जनवादी आन्दोलन इस उत्कृष्ट बकवास के चक्कर में पड़कर गुमराह नहीं हुआ, तो यह हमारे मज़दूर वर्ग की स्वस्थ अवस्था का एक नया प्रमाण है। वरना इस देश में एक प्राकृतिक विज्ञान के अपवाद को छोड़कर बाक़ी हर चीज़ आजकल अस्वस्थ है।

जब नेगेली ने प्राकृतिक विज्ञान के विद्वानों की म्यूनिख़ वाली बैठक* में यह विचार व्यक्त किया था कि मानव ज्ञान प्राप्ति कभी सर्वज्ञ नहीं बन पायेगी,[188] तब निश्चय ही उनको श्री ड्यूहरिंग की उपलब्धियों का कोई ज्ञान नहीं रहा होगा। इन उपलब्धियों ने मुझे श्री ड्यूहरिंग का पीछा करते हुए ऐसे अनेक क्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए बाध्य किया है, जिनमें मैं अधिक से अधिक केवल एक अल्पज्ञानी नौसिखुए की हैसियत से ही विचरण कर सकता हूं। यह बात प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर विशेष रूप से लागू होती है, जिनके सम्बन्ध में अभी तक यदि कोई अनजान आदमी कुछ कहना चाहता था, तो इसे अत्यन्त धृष्टतापूर्ण कार्य समझा जाता था। परन्तु श्री विर्ख़ोव** की एक उक्ति से मेरा साहस

---

* यह बैठक सितम्बर, १८७७ में हुई थी। – **सं०**

** विर्ख़ोव का निबंध 'आधुनिक राज्य में विज्ञान की स्वतंत्रता', १८७७ में बर्लिन में पैम्फ़लेट के रूप में प्रकाशित हुआ था। – **सं०**

थोड़ा बढ़ गया है। यह उक्ति भी म्यूनिख़ में ही कही गयी थी, और दूसरी जगह पर उसपर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। श्री विर्ख़ोव ने कहा था कि अपने विशिष्ट क्षेत्र के बाहर प्रत्येक प्राकृतिक वैज्ञानिक केवल एक अर्ध-दीक्षित व्यक्ति, vulgo : एक अनजान आदमी होता है। चूंकि इस प्रकार का कोई भी विशेषज्ञ समय-समय पर पड़ोस के क्षेत्रों में क़दम रख सकता है और वास्तव में तो उसके लिये ऐसा करना ज़रूरी हो जाता है, और चूंकि इन क्षेत्रों के विशेषज्ञ उसकी छोटी-मोटी ग़लतियों या वाक्य-शैली के फूहड़पन के प्रति सदा उदारता का व्यवहार करते हैं, इसलिये मैंने भी अपने सामान्य सैद्धान्तिक विचारों के प्रमाण में प्राकृतिक प्रक्रियाओं तथा प्राकृतिक नियमों के उदाहरणों का हवाला देने का साहस किया है और मैं आशा करता हूं कि मेरे साथ भी यही उदारता दिखायी जायेगी। जिस अनिवार्यता के साथ आजकल प्राकृतिक वैज्ञानिक—वह चाहे या न चाहे—सामान्य ढंग के सैद्धान्तिक निष्कर्षों पर पहुंचने के लिये विवश हो जाता है, उसी अनिवार्यता के साथ हर वह आदमी जो सैद्धान्तिक मामलों का विवेचन करता है, आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान द्वारा उपार्जित निष्कर्षों पर विचार करने के लिये मजबूर हो जाता है। और यहां एक प्रकार का संतुलन हो जाता है। यदि सिद्धान्तवेत्ता लोग प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में अर्ध-दीक्षित हैं, तो प्राकृतिक वैज्ञानिक आजकल सिद्धान्त के क्षेत्र में, या उस विषय के क्षेत्र में जो अभी तक दर्शनशास्त्र कहलाता था, इससे अधिक और कुछ नहीं हैं।

अनुभवसिद्ध प्राकृतिक विज्ञान ने ज्ञान की सकारात्मक सामग्री का एक ऐसा विशाल भण्डार संचित कर लिया है कि उसका सुनियोजित ढंग से तथा उसके आन्तरिक अन्तर्सम्बन्ध के अनुसार अन्वेषण के अलग-अलग क्षेत्रों में वर्गीकरण करना नितान्त आवश्यक हो गया है। और ज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों का एक दूसरे के साथ सही ढंग का सम्बन्ध स्थापित करना भी उतना ही जरूरी हो गया है। लेकिन ऐसा करते समय प्राकृतिक विज्ञान सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है और यहां अनुभववाद की पद्धतियां कोई काम नहीं देतीं। यहां तो केवल सैद्धान्तिक चिन्तन से ही कुछ सहायता

मिल सकती है*। किन्तु सैद्धान्तिक चिन्तन केवल स्वाभाविक क्षमता के रूप में ही एक जन्मजात गुण है। उस स्वाभाविक क्षमता का विकास करना होता है, उसका परिष्कार करना होता है; और इसके परिष्कार का अभी तक इसके सिवाय और कोई तरीक़ा नहीं निकला है कि पूर्वकालिक दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया जाये।

प्रत्येक युग में – और इसलिये हमारे युग में भी – सैद्धान्तिक चिन्तन ऐतिहासिक विकास का फल होता है, जो अलग-अलग समय पर बहुत भिन्न प्रकार के रूप धारण कर लेता है, और रूप के साथ-साथ जिसका सार भी बदलता रहता है। अतः अन्य प्रत्येक विज्ञान की भांति चिन्तन का विज्ञान भी एक ऐतिहासिक विज्ञान है। वह मानव चिन्तन के ऐतिहासिक विकास का विज्ञान है। और आनुभविक क्षेत्रों में चिन्तन के व्यावहारिक प्रयोग के लिये भी इस चीज़ का महत्व है। कारण कि एक तो चिन्तन के नियमों का सिद्धान्त कोई ऐसा "शाश्वत सत्य" कदापि नहीं है, जिसकी एक बार सदा के लिये स्थापना कर दी गयी हो, हालांकि कूपमण्डूक तर्क प्रणाली का ख़याल है कि "तर्क" शब्द इसी प्रकार का "शाश्वत सत्य" है। औपचारिक तर्क विज्ञान ख़ुद अरस्तू के समय से आज तक ज़बर्दस्त वाद-बिवाद का अखाड़ा बना हुआ है। और अभी तक द्वन्द्ववाद का केवल दो ही विचारकों ने निकट से अन्वेषण किया है – अरस्तू ने और हेगेल ने। परन्तु वर्तमान काल के प्राकृतिक विज्ञान के लिये चिन्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप यह द्वन्द्ववाद ही है, क्योंकि प्रकृति में जो विकास की प्रक्रियाएं चलती हैं, जो सामान्य अन्तर्सम्बन्ध पाये जाते हैं और अन्वेषण के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जो संक्रमण होता रहता है, उनका सादृश्य केवल इसी रूप में मिलता है, और इसलिये उनकी व्याख्या भी केवल इसी पद्धति के द्वारा की जा सकती है।

दूसरे, सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान को मानव चिन्तन के विकास के ऐतिहासिक क्रम की, और बाह्य जगत् में पाये जानेवाले सामान्य अन्तर्सम्बन्धों के विषय में अलग-अलग कालों में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनकी

---

*पाण्डुलिपि में इस और इससे पहले के वाक्य के नीचे पेंसिल से लाइन डाली गयी है। – **सं०**

जानकारी प्राप्त करना इसलिये भी आवश्यक होता है कि इस ज्ञान से स्वयं प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को परखने के लिये एक कसौटी मिल जाती है। परन्तु इस सम्बन्ध में अक्सर और बहुत उग्र रूप में दर्शनशास्त्र के इतिहास की जानकारी के अभाव का सबूत मिलता है। बहुधा प्राकृतिक वैज्ञानिक ऐसी प्रस्थापनाओं को सर्वथा नवीन ज्ञान के रूप में पेश करते हैं, जिनका दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में कई शताब्दियां पहले प्रतिपादन किया गया था और जो दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में बहुत पहले ग़लत प्रमाणित हो चुकी हैं। और कुछ समय के लिये ऐसी प्रस्थापनाएं प्राकृतिक विज्ञान में ख़ूब प्रचलित भी हो जाती हैं। ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है कि उसने ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त को नये प्रमाणों से पुष्ट किया और एक बार फिर उसे सबके सामने ला खड़ा किया। परन्तु यदि भौतिक विज्ञान के विद्वानों को यह बात याद होती कि देकार्त पहले ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं, तो क्या यह सिद्धान्त एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त के रूप में इतने ज़ोर के साथ सामने आ सकता था? अब चूंकि भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान पुनः लगभग अनन्य रूप में अणुओं तथा परमाणुओं से काम लेने लगे हैं, इसलिये प्राचीन यूनान के परमाणु सिद्धान्त ने लाज़िमी तौर पर फिर महत्व प्राप्त कर लिया है। परन्तु अच्छे से अच्छे प्राकृतिक वैज्ञानिक भी कितने सतही ढंग से उसका प्रयोग करते हैं! चुनांचे केकुले का (*Ziele und Leistungen der Chemie* *) कहना है कि इस सिद्धान्त के जनक ल्युसिप्पस नहीं, बल्कि देमोक्रितस हैं; और उनका दावा है कि डाल्टन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने गुणात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न आधारभूत परमाणुओं के अस्तित्व की कल्पना की थी, और जिन्होंने यह मत प्रकट किया था कि अलग-अलग तत्वों का भार अलग-अलग होता है, जो उनका विशेष लक्षण होता है।[189] परन्तु दायोजेनीज़ लेर्तियस की रचना (पुस्तक १०, पैराग्राफ़ ४३-

* एंगेल्स ने केकुले की पुस्तिका 'रसायन विज्ञान के उद्देश्य और उपलब्धियां' की ओर संकेत किया है, जो १८७८ में बोन में प्रकाशित हुई थी। – सं०

४४ और ६१) में कोई भी व्यक्ति यह पढ़ सकता है कि एपीक्यूरस का पहले ही यह मत था कि परमाणुओं में न केवल परिमाण तथा रूप का भेद होता है, बल्कि भार का भी अन्तर होता है; अर्थात् एपीक्यूरस अपने ढंग से परमाणु भार तथा परमाणु आयतन से पहले ही परिचित थे।

१८४८ का वर्ष जर्मनी में और तो किसी चीज़ को पूरा नहीं कर सका, पर दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उसने पूर्ण क्रान्ति पैदा कर दी। व्यावहारिक क्षेत्र में कूदकर, कहीं पर आधुनिक उद्योग तथा सट्टेबाज़ी की शुरूआत करके तो कहीं पर प्राकृतिक विज्ञान की उस महान प्रगति का श्रीगणेश करके, जो उस समय से आज तक जारी है और जिसका फ़ोग्ट, बुख़नर आदि, व्यंग्य-चित्रों जैसे यायावर उपदेशकों ने समारम्भ किया था, जर्मन राष्ट्र ने उस क्लासिकी जर्मन दर्शनशास्त्र की ओर से दृढ़तापूर्वक मुंह मोड़ लिया, जो बर्लिन के पुराने हेगेलवाद की मरुभूमि में खो गया था। बर्लिन का पुराना हेगेलवाद इसी का अधिकारी था। परन्तु जो राष्ट्र विज्ञान के शिखर पर चढ़ना चाहता है, वह सम्भवतः सैद्धान्तिक चिन्तन के बिना अपना काम नहीं चला सकता। मगर यहां तो न केवल हेगेलवाद, बल्कि द्वन्द्ववाद को भी उठाकर फेंक दिया गया था—और यह घटना ठीक उस समय हुई थी, जब मनुष्यों का मस्तिष्क प्राकृतिक प्रक्रियाओं का द्वन्द्ववादी स्वरूप स्वीकार करने के लिये बाध्य होता जा रहा था, और इसलिये जब केवल द्वन्द्ववाद ही सिद्धान्त के पर्वत पर चढ़ने में प्राकृतिक विज्ञान की सहायता कर सकता था। सो इस तरह प्राकृतिक विज्ञान पुनः पुराने अधिभूतवाद के गर्त्त में गिर पड़ा था। उस समय से आज तक जनता में जिन चीज़ों का प्रचार रहा है, उनमें एक ओर तो शोपेनहार के नीरस विचार प्रमुख हैं, जो ख़ास तौर पर कूपमण्डूकों के लिये गढ़कर तैयार किये गये थे, और बाद को हार्टमैन के विचार; और दूसरी ओर, फ़ोग्ट तथा बुख़नर जैसे यायावर उपदेशकों का बाज़ारू भौतिकवाद। विश्वविद्यालयों में खिचड़ीवाद के नाना प्रकार के रूप एक दूसरे से प्रतियोगिता कर रहे थे। उनमें केवल एक ही बात समान थी और वह यह कि उन सबको महज़ पुराने दर्शनों के अवशेषों को जोड़-जाड़कर तैयार कर लिया गया था और वे सब समान रूप से अधिभूतवादी थे। क्लासिकी दर्शनशास्त्र के अवशेषों

में से जो कुछ बचाया जा सका था, वह केवल एक ख़ास तरह का नव-काण्टवाद था, जिसका चरम ज्ञान उस "वस्तु अपने भीतर" में निहित था, जो सदा अज्ञेय रहता है, अर्थात् जिसका चरम ज्ञान काण्ट के विचारों के उस अंश तक सीमित था, जो सुरक्षित रहने के सबसे कम योग्य था। इस सब का अन्तिम फल वह असम्बद्धता तथा विचार विभ्रम था, जो आजकल सैद्धान्तिक चिन्तन के क्षेत्र में फैला हुआ है।

आपको मुश्किल से ही प्राकृतिक विज्ञान की कोई ऐसी सैद्धान्तिक पुस्तक मिलेगी, जिसका आपके दिमाग़ पर यह असर नहीं पड़ेगा कि प्राकृतिक वैज्ञानिक ख़ुद भी यह महसूस करते हैं कि यह असम्बद्धता तथा विचार-विभ्रम उनके दिमाग़ों पर छाये हुए हैं और आजकल जो तथाकथित दर्शनशास्त्र प्रचलित है, उसकी मदद से वे एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। और इस क्षेत्र में उनके लिये प्रगति करने का, अपने विचारों में स्पष्टता लाने का सचमुच इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि किसी न किसी रूप में वे अधिभूतवादी चिन्तन प्रणाली से पुनः द्वन्द्वात्मक प्रणाली पर लौट आयें।

यह लौटना कई ढंग से हो सकता है। यह स्वयंस्फूर्त्त ढंग से, स्वयं प्राकृतिक विज्ञान के आविष्कारों के प्रताप से हो सकता है, क्योंकि अब इन आविष्कारों को ज़बर्दस्ती अधिभूतवाद के पुराने चौखटे में फ़िट करना मुमकिन नहीं है। परन्तु यह एक अत्यन्त दीर्घ एवं श्रमसाध्य प्रक्रिया है, जिसके दौरान में बहुत सारे अनावश्यक संघर्ष का सामना करना होगा। बहुत हद तक यह प्रक्रिया आज भी जारी है—विशेषकर जीव विज्ञान में। यदि प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्तवेत्ता द्वन्द्ववादी दर्शनशास्त्र के ऐतिहासिक रूपों की थोड़ा और निकट से जानकारी प्राप्त कर लें, तो यह प्रक्रिया बहुत छोटी हो जाये। इनमें से दो रूप ऐसे हैं, जो आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के लिये विशेष रूप से लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

इनमें से पहला यूनानी दर्शनशास्त्र है। उसमें द्वन्द्वात्मक चिन्तन अपने आदिकालीन सरल रूप में प्रकट हुआ था। उस समय तक उसे उन आकर्षक बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा था, जिनको सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के अधिभूतवाद ने—इंगलैण्ड में बेकन और लॉक तथा जर्मनी में

वोल्फ़ ने – ख़ुद अपने मार्ग में खड़ा कर लिया और जिनके कारण उसका व्यष्टि की समझ से समष्टि की समझ की ओर बढ़ने का तथा वस्तुओं के सामान्य अन्तर्सम्बन्ध को समझने का मार्ग अवरुद्ध हो गया। यूनानी लोग चूंकि उस समय तक इतनी उन्नति नहीं कर पाये थे कि प्रकृति का विच्छेदन तथा विश्लेषण कर सकते, इसीलिये वे प्रकृति को सामान्यतः उसके समष्टि रूप में देखते थे। उनके यहां प्राकृतिक परिघटनाओं का सार्विक सम्बन्ध विशिष्ट परिघटनाओं के सिलसिले में प्रमाणित नहीं किया जाता था। यूनानियों के यहां तो वह प्रत्यक्ष चिन्तन-मनन का विषय था। इसी में यूनानी दर्शनशास्त्र की अपर्याप्तता निहित है, जिसकी वजह से उसे बाद में संसार की अन्य चिन्तन प्रणालियों के सामने आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। बाद की अन्य समस्त विरोधी अधिभूतवादी चिन्तन प्रणालियों की तुलना में उसकी श्रेष्ठता भी इसी में निहित है। यदि यूनानी चिन्तन प्रणाली के सम्बन्ध में अधिभूतवाद विशिष्ट बातों के बारे में ज़्यादा सही था, तो अधिभूतवाद के सम्बन्ध में यूनानी विचारक सामान्य बातों के बारे में ज़्यादा सही थे। यह पहला कारण है कि अन्य अनेक क्षेत्रों की भांति दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी हमें बार-बार उस छोटी-सी क़ौम की उपलब्धियों पर लौट आना पड़ता है, जिसकी सर्वांगीण प्रतिभा तथा क्रियाशीलता ने उसके लिये मानव विकास के इतिहास में एक ऐसा स्थान सुरक्षित कर दिया है, जिसपर और कोई क़ौम कभी दावा नहीं कर सकती। लेकिन इसका दूसरा कारण यह है कि यूनानी दर्शनशास्त्र के नाना रूपों में संसार की लगभग वे सारी चिन्तन प्रणालियां बीज रूप में, विकासमान रूप में विद्यमान थीं, जो बाद में देखी गयीं। इसलिये सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान आजकल जिन सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, यदि वह उनकी उत्पत्ति तथा विकास क्रम का पता लगाना चाहता है, तो उसे भी इसी प्रकार यूनानियों का सहारा लेना पड़ता है। और यह अन्तर्दृष्टि अधिकाधिक महत्व प्राप्त करती जा रही है। ऐसे प्राकृतिक वैज्ञानिकों की संख्या अधिकाधिक कम होती जा रही है, जो स्वयं यूनानी दर्शनशास्त्र के कुछ टुकड़ों का, जैसे उदाहरण के लिये परमाणुवाद का शाश्वत सत्यों के रूप में प्रयोग करते हुए भी यूनानियों की ओर बेकन जैसे अहंकार के भाव से देखते हैं और

वह केवल इसलिये कि यूनानियों के पास कोई अनुभवसिद्ध प्राकृतिक विज्ञान नहीं था। केवल इस अन्तर्दृष्टि के लिए ही यूनानी दर्शनशास्त्र का वास्तविक परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

द्वन्द्ववाद का दूसरा रूप, जो जर्मन प्राकृतिक वैज्ञानिकों के सबसे अधिक निकट है, काण्ट से लेकर हेगेल तक का क्लासिकी जर्मन दर्शनशास्त्र है। इस मामले में कुछ शुरूआत भी हो गयी है—वह इस अर्थ में कि ऊपर जिन नव-काण्टवादियों का ज़िक्र किया गया था, उनके अलावा भी अब वैज्ञानिकों में फिर काण्ट का सहारा लेने का चलन हो गया है। जब से यह आविष्कार हुआ है कि काण्ट दो विलक्षण परिकल्पनाओं के जनक थे, जिनके बिना आज सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान तनिक भी प्रगति नहीं कर सकता—एक तो सौर मंडल की उत्पत्ति का सिद्धान्त, जिसका श्रेय पहले लाप्लास को दिया जाता था, और दूसरे ज्वार-भाटे के कारण पृथ्वी के घुमाव के मन्दन का सिद्धान्त—तब से प्राकृतिक वैज्ञानिकों के बीच काण्ट का फिर से बहुत सम्मान होने लगा है और ऐसा उचित भी है। परन्तु काण्ट की रचनाओं में द्वन्द्ववाद का अध्ययन करना व्यर्थ की माथापच्ची सिद्ध होगा, क्योंकि अब **हेगेल** की रचनाओं के रूप में द्वन्द्ववाद का एक व्यापक संग्रह उपलब्ध है, हालांकि उनका द्वन्द्ववाद एक सर्वथा ग़लत प्रस्थान-बिन्दु से विकसित हुआ है।

जब एक ओर तो "प्राकृतिक दर्शन" विरोधी उस प्रतिक्रिया का ज़ोर ख़त्म हो गया, जो इस ग़लत प्रस्थान-बिन्दु के कारण तथा बर्लिन के हेगेल-वाद के निःसहाय पतन के कारण बहुत कुछ न्यायसंगत थी, तथा यह प्रतिक्रिया केवल गालियों के स्तर पर पहुंच गयी; और जब दूसरी ओर प्रचलित सारसंग्रहवादी अधिभूतवाद प्राकृतिक विज्ञान को उसकी सैद्धान्तिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भयानक कठिनाइयों में फंसा हुआ छोड़कर एकदम अलग हो गया, तब शायद एक बार फिर प्राकृतिक वैज्ञानिकों की मौजूदगी में हेगेल का नाम लेना सम्भव होगा और उसे सुनकर उनका शरीर उस मनोरंजक ढंग से नहीं ऐंठने लगेगा, जिस मनोरंजक ढंग से श्री ड्यूहरिंग का शरीर हेगेल का नाम सुनकर ऐंठने लगता है।

सबसे पहले यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि यहां पर हेगेल के इस प्रस्थान-बिन्दु का समर्थन करने का हरगिज़ कोई प्रश्न नहीं है कि आत्मा, मन या विचार मूल है और वास्तविक संसार विचार की अनुकृति मात्र है। इस स्थापना को तो फ़ायरबाख़ ने ही त्याग दिया था। हम सब यह मानते हैं कि ऐतिहासिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में आदमी को सदा उपलब्ध **तथ्यों** को आधार मानकर चलना चाहिये, और इसलिये प्राकृतिक विज्ञान में हमेशा विभिन्न भौतिक रूपों तथा पदार्थ की गति के नाना रूपों को आधार मानकर चलना चाहिये*, और इस कारण सैद्धान्तिक प्राकृतिक विज्ञान में भी अन्तर्सम्बन्धों को ज़बर्दस्ती तथ्यों में नहीं घुसेड़ना चाहिये, बल्कि उनको तथ्यों में खोजना चाहिये और जब उनका पता लग जाये, तो जहां तक सम्भव हो, उनको प्रयोग के द्वारा जांच लेना चाहिये।

हेगेलीय चिन्तन प्रणाली के उस जड़सूत्रवादी सार पर अड़े रहने का भी कोई प्रश्न नहीं है, जिसका पुरानी तथा नयी पीढ़ी के बर्लिन हेगेलवादी प्रचार करते आये हैं। अतः जब भाववादी प्रस्थान-बिन्दु ध्वस्त हो जाता है, तो उसके आधार पर निर्मित विचार प्रणाली, और विशेषकर हेगेलीय प्राकृतिक दर्शन का भी ध्वंस हो जाता है। परन्तु हमें याद रखना चाहिये कि जहां तक प्राकृतिक वैज्ञानिक हेगेल को सही ढंग से समझ पाये थे, वहां तक उनकी हेगेल विरोधी आलोचना केवल दो बातों को लेकर थी: एक तो हेगेल का भाववादी प्रस्थान-बिन्दु और दूसरे, इस विचार प्रणाली की तथ्यों की अवहेलना करनेवाली, मनमानी संरचना।

परन्तु इस सबको यदि अलग कर दिया जाये, तो भी हेगेलीय द्वन्द्ववाद तो बचता ही है। यह मार्क्स की महानता है कि उन्होंने उन "चिड़चिड़े, घमंडी और प्रतिभाहीन Σπιγονοι (योग्य नेता के अयोग्य अनुयाइयों)

---

*मूल पाठ में यहां पर पूर्ण विराम का चिन्ह था। उसके बाद एक अपूर्ण वाक्य था, जिसे एंगेल्स ने बाद को काट दिया। वह वाक्य यह था: "हम समाजवादी भौतिकवादी इस मामले में प्राकृतिक वैज्ञानिकों से भी बहुत काफ़ी आगे जाते हैं, क्योंकि हम भी..." –सं०

के मुक़ाबले में, "जो कि ग्राजकल सुसंस्कृत जर्मनी में बड़ी लम्बी-लम्बी हांक रहे हैं"*, पहली बार विस्मृत द्वन्द्ववादी पद्धति को, हेगेलीय द्वन्द्ववाद के साथ उसके सम्बन्ध को, ग्रौर दोनों के भेद को सामने रखा ग्रौर साथ ही 'पूंजी' में एक ख़ास ग्रनुभवसिद्ध विज्ञान, राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र के तथ्यों पर इस पद्धति का प्रयोग भी किया। ग्रौर यह कार्य उन्होंने इतनी सफलतापूर्वक किया कि ग्रब जर्मनी में भी नवीनतर ग्रार्थिक मत के लेखक मार्क्स की ग्रालोचना करने के बहाने केवल उनकी (ग्रक्सर ग़लत ढंग से) नक़ल करके ही उन्मुक्त व्यापार की बाज़ारू विचार प्रणाली से थोड़ा ऊपर उठ पाते हैं।

हेगेल की विचार प्रणाली की ग्रन्य समस्त शाखा-प्रशाखाग्रों की भांति उनके द्वन्द्ववाद में भी सारे वास्तविक ग्रन्तर्सम्बन्धों को उलट दिया गया है। परन्तु, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, "हेगेल के हाथों में द्वन्द्ववाद पर रहस्य का ग्रावरण पड़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद यह सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत ग्रौर सचेत ढंग से यह बताया था कि ग्रपने सामान्य रूप में द्वन्द्ववाद किस प्रकार काम करता है। हेगेल के यहां द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि ग्राप उसके रहस्यमय ग्रावरण के भीतर ढके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्व का पता लगाना चाहते हैं, तो ग्रापको उसे पलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।"**

किन्तु स्वयं प्राकृतिक विज्ञान में भी ग्रक्सर ऐसे सिद्धान्तों से हमारी भेंट होती रहती है, जिनमें वास्तविक सम्बन्ध को सिर के बल खड़ा कर दिया जाता है, प्रतिबिम्ब को मूल रूप मान लिया जाता है, ग्रौर इसलिये जिसे उलटकर पैरों के बल खड़ा करना पड़ता है। ऐसे सिद्धान्तों का ग्रक्सर काफ़ी समय तक बहुत प्रभाव रहता है। जब लगभग दो शताब्दियों तक ऊष्मा को साधारण पदार्थ की गति का एक रूप न मानकर एक विशेष प्रकार का रहस्यमय भूतद्रव्य माना जाता था, तब बिल्कुल इसी तरह की स्थिति थी; ग्रौर ग्रसलियत को पैरों के बल खड़ा करने का काम बाद

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, पृष्ठ २७। – **सं०**
** वही, पृष्ठ २७। – **सं०**

में ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त ने पूरा किया था। फिर भी, जिस भौतिक विज्ञान पर कैलोरिक सिद्धान्त छाया हुआ था, उसने भी ऊष्मा के अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण नियमों का आविष्कार किया और ख़ास तौर पर फ़ूरिये तथा सादी कार्नो[190] ने सही अवधारणा के लिये रास्ता साफ़ किया; जिसके बाद इस सही अवधारणा को अपनी पूर्ववर्ती अवधारणा के द्वारा आविष्कृत नियमों को उलटकर पैरों के बल खड़ा करना पड़ा तथा उनका अपनी भाषा में अनुवाद करना पड़ा*। इसी प्रकार रसायन विज्ञान में फ़्लोजिस्टन के सिद्धान्त ने सौ वर्षों तक प्रयोगात्मक कार्य करके वह सामग्री तैयार की, जिसकी सहायता से लैवाज़ियेर ने प्रीस्टले द्वारा आविष्कृत आक्सीजन के रूप में भ्रान्त कल्पित फ़्लोजिस्टन के वास्तविक प्रतिध्रुव को खोज निकाला और इस प्रकार फ़्लोजिस्टन के सिद्धान्त का तख़्ता उलट दिया। परन्तु इससे फ़्लोजिस्टन के सिद्धान्त की प्रयोगात्मक उपलब्धियों का लोप नहीं हुआ। वे तो जीवित रहीं, केवल उनका सूत्रीकरण उलट दिया गया। उनका फ़्लोजिस्टन की भाषा से उस रासायनिक भाषा में अनुवाद कर डाला गया, जिसे आजकल मान्यता प्राप्त है; और इस प्रकार इन उपलब्धियों की मान्यता बनी रही।

बुद्धिसंगत द्वन्द्ववाद के साथ हेगेलीय द्वन्द्ववाद का वही सम्बन्ध है, जो ऊष्मा के यांत्रिक सिद्धान्त के साथ कैलोरिक सिद्धान्त का और लैवाज़ियेर के सिद्धान्त के साथ फ़्लोजिस्टन के सिद्धान्त का है।

---

*जब कार्नो के फलन C को अक्षरशः उलट दिया जाता है तो वह हो जाता है: $\frac{1}{c}$ = निरपेक्ष ताप। बिना इस तरह उलटे उसका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। **[एंगेल्स का नोट]**

‘ड्यूहरिंग मत-खण्डन’ के लिये तैयार की गयी सामग्री से कुछ अंश[191]

१

भाग १*

अध्याय ३
[विचार – वास्तविकता के प्रतिबिम्ब]

सभी विचार अनुभव से प्राप्त होते हैं; सभी विचार वास्तविकता के सच्चे या विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं।

अध्याय ३, पृष्ठ ६१ – ६४

[भौतिक जगत् और चिन्तन के नियम]

अनुभव दो प्रकार का होता है – बाह्य अथवा भौतिक, और आन्तरिक – चिन्तन के नियम और चिन्तन के रूप। चिन्तन के रूप अंशतः विकास से भी प्राप्त होते हैं (जैसे गणित के स्वयंसिद्ध तथ्य यूरोपीय लोगों के लिये तो स्वतः प्रमाणित होते हैं, पर दक्षिण अफ़्रीका के आदिवासियों तथा आस्ट्रेलिया के नीग्रो के लिये नहीं)।

यदि हमारे पूर्वाधार सही हैं और हम उनपर चिन्तन के नियमों को सही ढंग से लागू करते हैं, तो हमारे निष्कर्षों को वास्तविकता के साथ उसी तरह मेल खाना चाहिये, जिस तरह विश्लेषणात्मक रेखागणित की

---

* ‘ड्यूहरिंग मत-खंडन’ के लिये तैयार की गयी एंगेल्स की सामग्री से कुछ अंश के प्रत्येक उद्धरण के शीर्ष पर अध्याय तथा पृष्ठ संख्या और साथ ही कोष्ठकों में दिये गये इन उद्धरणों के लिये शीर्षक संपादक ने जोड़े हैं। – **सं०**

गणना आवश्यक रूप से रेखागणितीय रचना से मेल खाती है, हालांकि ये दोनों बिल्कुल भिन्न पद्धतियां हैं। किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा कभी नहीं होता, और यदि होता है, तो केवल बहुत सरल प्रक्रियाओं में।

बाह्य जगत् या तो प्रकृति है, या समाज।

अध्याय ३, पृष्ठ ६१ – ६४ ; अध्याय ४, पृष्ठ ७२ – ७७ ; अध्याय १०, पृ० १५५

[चिन्तन और सत्ता का सम्बन्ध]

चिन्तन का एकमात्र सार है संसार तथा चिन्तन के नियम।

संसार के अन्वेषण के सामान्य परिणाम इस अन्वेषण के अन्त में उपलब्ध होते हैं। इसलिये वे **सिद्धान्त** या प्रस्थान-बिन्दु नहीं होते, बल्कि **परिणाम** या निष्कर्ष होते हैं। निष्कर्षों को अपने दिमाग़ में गढ़ डालना, उनको अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाना, और फिर उनके आधार पर अपने दिमाग़ में संसार की पुनः रचना कर देना – यह **भाववाद** है। अभी तक भौतिकवाद के जितने प्रकार देखे गये हैं, उन सब में भाववाद का खोट मिला हुआ था ; यद्यपि **प्रकृति** में चिन्तन का सत्ता के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह तो कुछ हद तक भौतिकवाद के लिये स्पष्ट था, परन्तु इतिहास में उनके बीच जो सम्बन्ध होता है, वह उसके लिये साफ़ नहीं था। न ही भौतिकवाद यह समझ पाया था कि समस्त चिन्तन युग विशेष में उपस्थित ऐतिहासिक भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

ड्यूहरिंग चूंकि तथ्यों के बजाय "सिद्धान्तों" को आधार मानकर चलते हैं, इसलिये वह भाववादी हैं और इस बात पर वह केवल इसलिये आवरण डाल सके हैं कि वह अपनी प्रस्थापनाओं को इतने सामान्य तथा सारहीन रूप में सूत्रबद्ध करते हैं कि वे **स्वयंसिद्ध तथ्य जैसी तथा नीरस** प्रतीत होने लगती हैं। इसके अलावा इन प्रस्थापनाओं से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता ; महज़ अपने मन से **उनके भीतर** कुछ भी अर्थ **भरा जा** सकता है। जैसे उदाहरण के लिये सत्ता की एकमात्रता का सिद्धान्त

है। संसार की एकता और परलोक की निरर्थकता संसार के एक पूरे अन्वेषण का परिणाम है, परन्तु यहां **चिन्तन के एक स्वयंसिद्ध तथ्य** से आरम्भ करके उसे a priori सिद्ध करना पड़ता है। इसलिये बेतुकी बात।

परन्तु बिना इस तरह उलटे **दर्शनशास्त्र अलग से असम्भव है।**

अध्याय ३, पृष्ठ ६३–६६

[संसार एक संसक्त समष्टि के रूप में। संसार का संज्ञान]

हेगेल के बाद **प्रणालीसर्जन*** असम्भव है। संसार स्पष्टतया ही एक एकीभूत प्रणाली, अर्थात् एक संसक्त समष्टि है, परन्तु इस प्रणाली का संज्ञान प्राप्त करने के पहले **समस्त** प्रकृति तथा इतिहास का पूर्ण संज्ञान आवश्यक है, जो आदमी को **कभी** प्राप्त **नहीं** होगा। अतः, जो कोई प्रणालियों की रचना करता है, उसे असंख्य अन्तरालों को **स्वयं अपनी कल्पना की सृष्टि से** भर देना पड़ता है; अर्थात् उसे **अबुद्धिसंगत** मिथ्या कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है, भाववादी सिद्धान्त गढ़ने पड़ते हैं।
बुद्धिसंगत मिथ्या कल्पना – alias (अर्थात्) संयोजन !

अध्याय ३, पृष्ठ ६५–७१

[गणितीय क्रियाएं और विशुद्धतया तार्किक क्रियाएं]

परिकलन युक्ति – **परिकलित्र !** – यहां गणितीय क्रियाओं को, जिनका भौतिक प्रदर्शन किया जा सकता है और जिनको प्रमाणित किया जा सकता है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष भौतिक चिन्तन पर – भले ही वह अमूर्त चिन्तन हो – आधारित होती हैं, बड़े ही विचित्र ढंग से उन **विशुद्धतया** तार्किक क्रियाओं के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया है, जिनको केवल निगमन द्वारा ही

---

* एक पूर्णतया सम्पूरित विचार प्रणाली की रचना। – **सं०**

प्रमाणित किया जा सकता है, और इसलिये जिनमें वह सकारात्मक निश्चितता नहीं पायी जा सकती, जो गणितीय क्रियाओं में पायी जाती है—और ज़रा सोचिये कि उनमें से कितनी ग़लत होती हैं! **समाकलन** मशीन; (देखिये—७ सितम्बर, १८७६ के *Nature* में प्रकाशित एन्ड्रयूज़ का भाषण)*।

रेखांकन = रूढ़िबद्ध ढांचा।

अध्याय ३, पृष्ठ ६५–७१; अध्याय ४, पृष्ठ ७२–७७

[वास्तविकता और अमूर्त चिन्तन]

पोप और शेख़-उल-इस्लाम[192] सर्वव्यापी सत्ता की एकमात्रता की प्रस्थापना को स्वीकार कर सकते हैं, और उससे उनकी अभ्रान्तिशीलता तथा धर्म पर कोई आघात नहीं पहुंचता। परन्तु इस प्रस्थापना की मदद से समस्त सत्ता की विशुद्ध **भौतिकता** को प्रमाणित कर देना ड्यूहरिंग के लिये उतना ही असम्भव है, जितना गणित के किसी स्वयंसिद्ध तथ्य से एक त्रिकोण या एक गोले का निर्माण कर देना या पाइथागोरस के प्रमेय को व्युत्पन्न कर देना। दोनों कामों के लिये पहले कुछ वास्तविक पूर्वाधारों का होना ज़रूरी होता है, और इन पूर्वाधारों का अन्वेषण करने पर ही उपर्युक्त निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। यह असंदिग्धता कि भौतिक जगत् के अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक जगत् अलग से नहीं होता—यह वास्तविक जगत् के, जिसमें मानव मस्तिष्क की पैदावार तथा उसकी प्रक्रियाएं भी शामिल होती हैं, एक लम्बे तथा कष्टप्रद अन्वेषण का फल है। रेखागणित के निष्कर्ष विभिन्न प्रकार की रेखाओं, समतलों और पिण्डों या उनके संयोजनों के नैसर्गिक गुणों के सिवा और कुछ नहीं हैं, और इनमें से अधिकतर का

---

*एन्ड्रयूज़ का भाषण, *Nature*, ७ सितम्बर, १८७६: यहां एंगेल्स ने टॉमस एन्ड्रयूज़ के एक भाषण का उल्लेख किया है, जिसे ६ सितम्बर, १८७६ को ग्लास्गो में आयोजित 'ब्रिटिश वैज्ञानिक प्रगति संघ' के ४६ वें वार्षिक सम्मेलन में दिया गया था।—**सं०**

मनुष्य का जन्म होने के बहुत पहले से प्रकृति में अस्तित्व था (रेडियोलेरिया, कीट, स्फटिक, आदि)।

अध्याय ६, पृष्ठ ९९, १०० और उसके आगे के पृष्ठ

[गति, पदार्थ के अस्तित्व के ढंग के रूप में]

गति, पदार्थ के अस्तित्व का ढंग है। इसलिये गति पदार्थ का गुण मात्र नहीं, उससे कुछ अधिक है। गति के बिना पदार्थ नहीं होता, न कभी हो सकता था। अन्तरिक्ष में पिण्डों की गति, एक अकेले आकाश पिण्ड पर अपेक्षाकृत छोटे द्रव्यमानों की यांत्रिक गति, ऊष्मा के रूप में अणुओं का कंपन, विद्युत् तनाव, चुम्बकीय ध्रुवण, रासायनिक विच्छेदन एवं संयोजन, और कार्बनिक जीवन मय अपनी उच्चतम पैदावार, चिन्तन के– ये सब गति के रूप हैं। प्रत्येक निश्चित क्षण पर पदार्थ का हर अलग-अलग परमाणु गति के इन रूपों में से किसी न किसी रूप में अवश्य भाग लेता रहता है। समस्त संतुलन या तो केवल सापेक्ष विराम होता है, और या वह ग्रहों की गति की भांति संतुलनगत गति होती है। निरपेक्ष संतुलन की तो केवल पदार्थ के अभाव में ही कल्पना की जा सकती है। अतः न तो स्वयं गति को और न ही यांत्रिक बल जैसे उसके किसी रूप को पदार्थ से अलग किया जा सकता है। न ही उसे पदार्थ से अलग किसी परायी वस्तु के रूप में पदार्थ के मुक़ाबले में खड़ा किया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाता है, तो उसका नतीजा सरासर बेहूदापन होता है।

अध्याय ७, पृष्ठ ११५–११८

[प्राकृतिक वरण]

ड्यूहरिंग को तो प्राकृतिक वरण से प्रसन्न होना चाहिये, क्योंकि यह उनके सचेत साध्य तथा साधन के सिद्धान्त का सर्वोत्तम उदाहरण है।

जहां डार्विन मन्द परिवर्तन के **रूप का**, प्राकृतिक वरण का अन्वेषण करते हैं, वहां ड्यूहरिंग चाहते हैं कि डार्विन इस परिवर्तन का **कारण** भी बता दें, हालांकि उसके बारे में ड्यूहरिंग भी कुछ नहीं जानते। विज्ञान चाहे जितनी प्रगति कर जाये, श्री ड्यूहरिंग सदा यही कहेंगे कि अभी अमुक चीज़ का अभाव है, और इसलिये उनके पास अपना असंतोष व्यक्त करने के लिये हमेशा पर्याप्त कारण मौजूद रहेंगे।

अध्याय ७

[डार्विन के विषय में]

पूर्णतया विनम्र डार्विन न केवल पूरे जीव विज्ञान के हज़ारों तथ्यों को जमा करते हैं, उनको क्रमबद्ध करते हैं तथा उनका परिष्कार करते हैं, बल्कि अपने प्रत्येक पूर्वज को, वह चाहे जितना महत्वहीन क्यों न हो, ख़ुद अपने गौरव को थोड़ा कम करके भी उद्धृत करते हैं, और ऐसा करने के बाद हर बार बहुत ख़ुश होते हैं। डार्विन की महानता की उस शेख़ीबाज़ ड्यूहरिंग से तुलना कीजिये, जो ख़ुद तो एक भी मूल्यवान बात कभी नहीं कहता, पर दूसरों से हर बार अनुचित मांग करता है, और जो...

अध्याय ७, पृष्ठ ११६–११८; अध्याय ८, पृष्ठ १२९–१३१

ड्यूहरिंग-पुराण। डार्विनवाद, पृ० ११५।*

पौधों के **अनुकूलन** में भौतिक शक्तियों अथवा रासायनिक कारकों का संयोजन होता है; इसलिये उसे अनुकूलन कहना ग़लत है। यदि "कोई भी पौधा अपने विकास के दौरान उस मार्ग का अनुसरण करता है, जिस

---

* इन पृष्ठों में ड्यूहरिंग के 'दर्शनशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक' का उल्लेख किया गया है। – **सं०**

पर बढ़ते हुए उसे सबसे अधिक प्रकाश प्राप्त होगा", तो वह ऐसा कई ढंग से तथा विभिन्न साधनों की मदद से कर सकता है। कौनसा पौधा किस ढंग से तथा किन साधनों के ज़रिये यह चीज़ करेगा, यह उसकी जाति तथा विशेषताओं पर निर्भर करेगा। किन्तु भौतिक शक्तियां तथा रासायनिक कारक प्रत्येक पौधे में भिन्न ढंग से कार्य करते हैं और वे हर पौधे को जो ज़ाहिर है कि इन "भौतिक तथा रासायनिक, आदि" से भिन्न वस्तु होता है, एक विशेष ढंग से उस प्रकाश को प्राप्त करने में सहायता देते हैं, जो इस पौधे के लिये आवश्यक होता है। दीर्घ पूर्वगत विकास के फलस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने का यह विशेष ढंग उस ख़ास पौधे की विशेषता बन जाता है। बल्कि सच पूछिये तो यह प्रकाश पौधे की कोशिकाओं के लिये उद्दीपन का काम करता है और वह अपनी अनुक्रिया के रूप में कोशिकाओं के भीतर ठीक इन्हीं शक्तियों तथा कारकों को गतिमान बना देता है।* चूंकि यह क्रिया एक कार्बनिक कोशिकीय संरचना के भीतर होती है और उद्दीपन तथा अनुक्रिया का रूप धारण कर लेती है, जो यहां उसी प्रकार सम्पन्न होती हैं, जिस प्रकार वे मानव मस्तिष्क के भीतर तंत्रिकाओं के द्वारा संचरण में सम्पन्न होती हैं, इसलिये दोनों के लिये एक ही नाम – अनुकूलन – सही है। और यदि अनुकूलन को पूरी तरह चेतना के माध्यम के द्वारा सम्पन्न होना है, तो चेतना और अनुकूलन कहां आरम्भ होते हैं और कहां समाप्त होते हैं? मोनेरा के साथ, कीटभक्षी पौधे के साथ, स्पंज के साथ, मूंगे के साथ, या पहली तंत्रिका के साथ? यदि ड्यूहरिंग यह सीमा-रेखा खींच देते, तो वह पुराने ढर्रे के प्राकृतिक वैज्ञानिकों पर बहुत बड़ा अहसान करते। जहां कहीं जीवित प्रोटोप्लाज़्म है, वहां उसका उद्दीपन तथा उसकी अनुक्रिया अवश्य होती हैं। और चूंकि धीरे-धीरे बदलते हुए उद्दीपनों के प्रभाव से प्रोटोप्लाज़्म में भी परिवर्तन होने लगते हैं, और चूंकि यदि ऐसा न हो, तो वह नष्ट हो जाये, इसलिये समस्त कार्बनिक पिण्डों के लिये भी इसी शब्द, अनुकूलन का प्रयोग करना होगा।

---

*यहां एक पार्श्व टिप्पणी भी दी गयी है, जो इस प्रकार है: "और जंतुओं में भी स्वयंस्फूर्त अनुकूलन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।" – सं०

अध्याय ७, पृष्ठ ११६ और उसके आगे के पृष्ठ

[अनुकूलन और आनुवंशिकता]

जहां तक जातियों के विकास का सम्बन्ध है, हैकेल की दृष्टि में अनुकूलन नकारात्मक या परिवर्तनकारी है; और आनुवंशिकता सकारात्मक या संरक्षणकारी है। इसके विपरीत ड्यूहरिंग का यह कहना है (पृ० १२२) कि आनुवंशिकता के भी नकारात्मक परिणाम होते हैं; उससे **परिवर्तन** पैदा हो जाते हैं (इसके अतिरिक्त कुछ प्रिफ़र्मेशन के विषय में सुन्दर बकवास है)।[193] अब अन्य समस्त विपरीत बातों की भांति इस प्रकार की विपरीत बातों को भी उलटकर यह प्रमाणित कर देना बहुत सहज है कि अनुकूलन **रूप** को बदलकर ही उसके तत्व को, अर्थात् **स्वयं इन्द्रिय** को सुरक्षित रखता है, जबकि आनुवंशिकता में चूंकि हर बार दो भिन्न व्यक्तियों का सम्मिश्रण होता है, इसलिये केवल इसी एक तथ्य के फलस्वरूप कुछ ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं, जिनके संचय के परिणामस्वरूप जाति में परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं होता। सच पूछिये तो अनुकूलन के परिणाम भी वंशागत होते हैं! परन्तु इससे भी हम एक क़दम आगे नहीं बढ़ पाते। हमें तो **जैसे भी तथ्य हों,** उनको स्वीकार करके उनकी छानबीन करनी चाहिये; और तब जाहिर है, हमें यह पता चलेगा कि हैकेल ने आनुवंशिकता को मूलतः क्रिया का संरक्षी तथा सकारात्मक पक्ष समझकर और अनुकूलन को उसका क्रान्तिकारी एवं नकारात्मक पक्ष मानकर बिल्कुल सही काम किया है। यहां ड्यूहरिंग की तमाम "सूक्ष्म अवधारणाओं" की अपेक्षा पालतू बना लेने की क्रिया तथा प्रजनन का और साथ ही स्वयंस्फूर्त्त अनुकूलन का कहीं अधिक महत्व है।

अध्याय ८, पृष्ठ १३२–१३६

ड्यूहरिंग, पृष्ठ १४१।

जीवन। पिछले बीस वर्षों में शरीरक्रियाशास्त्रियों-रसायनज्ञों तथा रसायनज्ञों-शरीरक्रियाशास्त्रियों ने असंख्य बार यह कहा है कि विनिमय,

अर्थात् चयापचय जीवन की सबसे महत्वपूर्ण परिघटना होती है; और यहां पर यह उक्ति बार-बार जीवन की परिभाषा के रूप में दोहरायी जाती है। परन्तु यह परिभाषा न तो सम्यक् है और न ही सम्पूर्ण। चयापचय जीवन के **अभाव** में उदाहरण के लिये कुछ सरल रासायनिक प्रक्रियाओं में भी होता है, जो यदि कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिलता रहे, तो स्वयं परिस्थितियों का निरन्तर पुनरुत्पादन करती रहती हैं, और जिनमें एक निश्चित पिण्ड प्रक्रिया के वाहक का काम करता है (इसके उदाहरण देखिये रोस्को की रचना के पृष्ठ १०२ पर, सल्फ़्यूरिक एसिड का निर्माण),[194] एण्डोस्मोस तथा एक्सोस्मोस में (मृत कार्बनिक झिल्लियों तथा यहां तक कि अकार्बनिक झिल्लियों में से?), त्राबे की कृत्रिम कोशिकाओं में तथा उनके माध्यम में भी चयापचय होता है। चयापचय को, जिसके द्वारा जीवन की व्याख्या की जाती है, स्वयं एक अधिक सम्यक् परिभाषा की आवश्यकता है। इस प्रकार समस्त अधिक गहरे मूल सिद्धान्तों, सूक्ष्म अवधारणाओं तथा अधिक निकट के अन्वेषणों के बाद भी हम इस चीज़ की तह तक नहीं पहुंच पाते और यही पूछते रहते हैं कि जीवन क्या है?

विज्ञान के लिये परिभाषाएं बेकार होती हैं, क्योंकि वे हमेशा अपर्याप्त होती हैं। एकमात्र वास्तविक परिभाषा स्वयं वस्तु का विकास होती है, परन्तु यह परिभाषा अब नहीं रह गयी है। जीवन क्या है, यह जानने और दिखाने के लिये हमें जीवन के सभी रूपों का अध्ययन करना है तथा उनको उनके अन्तर्सम्बन्ध में पेश करना है। दूसरी ओर **सामान्य कामों** के लिये एक तथाकथित परिभाषा की अत्यन्त सामान्य तथा साथ ही सबसे लाक्षणिक विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन अक्सर उपयोगी और यहां तक कि आवश्यक भी होता है; और उसका सचमुच जो अर्थ है, यदि उससे अधिक की आशा न की जाये, तो उससे किसी प्रकार की हानि पहुंचने की सम्भावना नहीं है। इसलिये, आइये, जीवन की एक इस प्रकार की परिभाषा देने का प्रयत्न करें, हालांकि इस प्रयत्न में बहुत-से लोग व्यर्थ में अपना माथा खपा चुके हैं (देखिये निकल्सन)।[195]

जीवन अल्बूमिनीय पिण्डों के अस्तित्व की प्रणाली है, और अस्तित्व

की यह प्रणाली मूलतया इस बात में निहित होती है कि इन पिण्डों के रासायनिक संघटकों का पोषण तथा उत्सर्जन के द्वारा निरन्तर नवीकरण होता रहता है।

... अल्बूमिन की मूल क्रियाओं के रूप में कार्बनिक चयापचय से तथा उसकी विशिष्ट सुघट्यता से जीवन की अन्य तमाम अत्यन्त सरल क्रियाएं व्युत्पन्न होती हैं, जैसे उद्दीपनशीलता, जो पोषण तथा अल्बूमिन की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में पहले से ही निहित होती है; पोषण के उपभोग में संकुचनशीलता; विकास की सम्भावना, जिसमें निम्नतम स्तर (मोनेरा) पर विखंडन के द्वारा सम्पन्न होनेवाला संजनन भी शामिल है; आन्तरिक गति, जिसके बिना भोजन को न तो निगला जा सकता है और न ही उसका आत्मसात्करण किया जा सकता है। परन्तु साधारण सुघट्य अल्बूमिन से कोशिका और कोशिका से सेन्द्रिय जीव तक कैसे प्रगति होती है, यह हमें पर्यवेक्षण से सीखना होगा। लेकिन इस प्रकार का अन्वेषण जीवन की साधारण व्यावहारिक परिभाषा का भाग नहीं है (पृष्ठ १४१ पर ड्यूहरिंग ने इसके अलावा एक पूरे मध्यवर्ती जगत् की चर्चा की है, क्योंकि उनकी दृष्टि में परिचलन की नालियों की प्रणाली तथा "एक जीवाणु रेखांकन" के अभाव में वास्तविक जीवन असम्भव है। बहुत ही शानदार अंश है यह।)

अध्याय १०, पृष्ठ १५७–१६६

[ड्यूहरिंग – राजनीतिक अर्थशास्त्र। – दो पुरुष]

जब तक नैतिकता का प्रश्न है, तब तक ड्यूहरिंग उनको समान घोषित कर सकते हैं, पर जैसे ही राजनीतिक अर्थशास्त्र की चर्चा आरम्भ होती है, वैसे ही यह समानता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये, यदि इन दो पुरुषों में से एक हरफ़न मौला यांकी है और दूसरा बर्लिन का एक विद्यार्थी है, जो अपने स्नातक के प्रमाणपत्र तथा वास्तविकता के दर्शन के सिवा और कुछ लेकर नहीं आया है, और इसके अलावा जिसकी भुजाएं

भी ऐसी हैं, जिनको सिद्धान्ततः पटेबाज़ी के द्वारा बलिष्ठ नहीं बनाया गया है, तो फिर उनके बीच यह समानता कहां से आ सकती है? यांकी हर चीज़ पैदा कर देता है, विद्यार्थी उसकी थोड़ी-बहुत मदद करता है; लेकिन वितरण प्रत्येक के योगदान के अनुसार होता है। नतीजा यह होता है कि शीघ्र ही यांकी के पास ऐसे साधन जमा हो जाते हैं, जिनसे वह बस्ती की आबादी का (जन्म अथवा आप्रवासन के द्वारा वृद्धि हो जाने पर) पूंजीवादी ढंग से शोषण कर सकेगा। इसलिये ये दो पुरुष पूरी आधुनिक व्यवस्था को—पूंजीवादी उत्पादन, आदि को—क़ायम कर सकते हैं, और ऐसा करने में उनमें से किसी को भी तलवार की ज़रूरत नहीं होती।

अध्याय १०, पृष्ठ १६६–१७३

ड्यूहरिंग-पुराण।

समानता—न्याय। इस विचार का कि समानता न्याय की अभिव्यंजना है, और वह चरम निष्पत्तिप्राप्त राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है—इस विचार का काफ़ी ऐतिहासिक ढंग से विकास हुआ है। आदिम समुदायों में समानता नहीं थी; या थी तो बहुत ही सीमित रूप में केवल अलग-अलग समुदायों के पूर्णाधिकारप्राप्त सदस्यों के लिये ही। और उसकी पीठ पर दास प्रथा सवार थी। प्राचीन काल का जनतंत्र भी इसी प्रकार का था। सभी लोगों की समानता का विचार—यूनानियों, रोमनों और बर्बरों, स्वतंत्र मनुष्यों और दासों, पराधीन प्रजा और विदेशियों, नागरिकों और परदेशियों, आदि की समानता का विचार—प्राचीन काल के लोगों को न केवल पागलपन, बल्कि एक मुजरिमाना विचार प्रतीत होता था; और स्वाभाविक ही था कि ईसाई धर्म के रूप में इस विचार के प्रथम प्रारम्भिक चिन्हों का सख़्ती के साथ दमन किया गया था।

ईसाई धर्म में शुरू में **ईश्वर के सामने पापियों के रूप में सभी मनुष्यों की नकारात्मक समानता का विचार पाया जाता था** और अधिक संकुचित अर्थ में ईश्वर के सभी सन्तान इस रूप में समान थे कि उनको ईसा की दया से तथा ईसा के बहाये हुए रक्त के प्रताप से मुक्ति प्राप्त हुई है।

दोनों संस्करण, दासों, निर्वासितों, सम्पत्तिविहीन, संत्रस्त तथा उत्पीड़ित लोगों के धर्म के रूप में ईसाई धर्म की भूमिका पर ग्राधारित हैं। ईसाई धर्म की विजय हो जाने पर यह बात पृष्ठभूमि में पड़ गयी ग्रौर मुख्य महत्व सच्चा धर्म माननेवालों तथा मूर्तिपूजकों, सनातनियों तथा विधर्मियों के विरोध को दिया जाने लगा।

शहरों का, ग्रौर उनके साथ-साथ पूंजीपति वर्ग के साथ ही सर्वहारा के न्यूनाधिक विकसित तत्वों का उदय होने पर यह लाज़िमी था कि पूंजीवादी ग्रस्तित्व की एक शर्त के रूप में समानता की मांग नया ज़ोर पकड़े ग्रौर उसके साथ-साथ सर्वहारा इस मांग से यह निष्कर्ष निकाले कि उसे राजनीतिक समानता से सामाजिक समानता की ग्रोर बढ़ना चाहिये। इस चीज़ ने स्वभावतया एक धार्मिक रूप धारण कर लिया, जो सबसे पहले किसान युद्ध में उग्र रूप में ग्रभिव्यक्त हुग्रा।

समानता की मांग के पूंजीवादी पक्ष को सबसे पहले रूसो ने बड़े तीखे शब्दों में सूत्रबद्ध किया, पर वह भी समस्त मानवजाति की ग्रोर से बोलने का दावा करते थे। जैसा कि पूंजीपति वर्ग की सभी मांगों के साथ होता है, यहां पर भी उसके साथ-साथ सर्वहारा की तक़दीरी छाया भी नज़र ग्राती है, ग्रौर सर्वहारा इस मांग से ख़ुद ग्रपना निष्कर्ष निकालता है (बाब्येफ़)। पूंजीवादी समानता ग्रौर सर्वहारा उससे जो निष्कर्ष निकालता है – इनके सम्बन्ध को ग्रधिक विस्तार से विकसित किया जाना चाहिये।

इस प्रकार समानता = न्याय के सिद्धान्त का परिष्कार करने में पिछला लगभग समस्त इतिहास बीत गया, ग्रौर यह कार्य केवल उसी समय सम्पन्न हुग्रा, जब पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग का जन्म हो गया। किन्तु समानता के सिद्धान्त का यह ग्रर्थ है कि किसी प्रकार के विशेषाधिकार नहीं होने चाहिये। इसलिए यह मूलतया **नकारात्मक** सिद्धान्त है ग्रौर समस्त विगत इतिहास को निकृष्ट घोषित कर देता है। चूंकि उसमें सकारात्मक सार का ग्रभाव है ग्रौर वह समस्त विगत को बिना कुछ सोचे-समझे ठुकरा देता है, इसलिये जिस प्रकार वह इस योग्य था कि १७८९–१७९६ की महान क्रान्ति उसकी घोषणा करे, उसी प्रकार वह इस योग्य

भी है कि सामाजिक प्रणालियों की रचना में लगे हुए मूर्ख लोग उसके गीत गाया करें। परन्तु समानता=न्याय को सर्वोच्च सिद्धान्त एवं परम सत्य घोषित करना बेतुकी बात है। समानता का केवल असमानता के मुक़ाबले में ही अस्तित्व होता है—उसी प्रकार न्याय का केवल अन्याय के विरोध में अस्तित्व होता है। इसीलिये उनकी पीठ पर अब भी पुराने, बीते हुए इतिहास के, और इस कारण स्वयं पुराने समाज के विरोध ने सवारी गांठ रखी है। *

और बस इसी कारण वे कभी **शाश्वत** न्याय तथा सत्य नहीं हो सकते। जब कम्युनिस्ट व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक विकास की कुछ पीढ़ियां बीत जायेंगी और जीवन निर्वाह के साधनों की पहले से बढ़ी हुई मात्रा उपलब्ध हो जायेगी, तब मानवजाति लाज़िमी तौर पर एक ऐसी अवस्था में पहुंच जायेगी, जहां समानता और अधिकार का ढोल पीटना उतना ही हास्यास्पद प्रतीत होगा, जितना आजकल अभिजातीय विशेषाधिकारों की डींग मारना प्रतीत होता है; जहां पुरानी असमानता का विरोध और पुराने सकारात्मक क़ानून का तथा यहां तक कि नये, संक्रमणकालीन क़ानून का विरोध भी व्यावहारिक जीवन से लुप्त हो जायेगा; जहां अगर कोई आदमी किताबी ढंग से उत्पादित वस्तुओं में अपने समान तथा न्यायोचित हिस्से की मांग करेगा, तो लोग इसका दुगना हिस्सा उसकी झोली में डालकर उसका मज़ाक़ बनाने लगेंगे। यहां तक कि यह भविष्य ड्यूहरिंग के लिये भी "पूर्वदर्शनीय" है; और जब ऐसी अवस्था पैदा हो जायेगी, तब समानता तथा न्याय के वास्ते ऐतिहासिक स्मृतियों के कबाड़ख़ाने के सिवा और कहां स्थान मिलेगा? आज यदि ऐसे शब्दों से प्रचार की बढ़िया सामग्री का काम लिया जा सकता है, तो इससे वे शाश्वत सत्य में नहीं परिणत हो जाते।

---

* इस स्थान पर पाण्डुलिपि में एक पार्श्व-टिप्पणी है, जो इस प्रकार है: "समानता का विचार मालों के उत्पादन में पायी जानेवाली सामान्य मानव श्रम की समानता से उत्पन्न हुआ है। 'पूंजी', पृष्ठ ३६।" देखिये 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ७५। —सं०

(समानता के **सार** का स्पष्टीकरण होना चाहिए।—कुछ अधिकारों तक सीमित कर देना, आदि।)

इसके अतिरिक्त अमूर्त समानता सिद्धान्त आज भी बेतुकी बात है और वह बहुत काफ़ी समय तक बेतुकी बात ही रहेगा। किसी समाजवादी सर्वहारा अथवा सिद्धान्तकारों को यह ख़याल कभी नहीं आयेगा कि उसे दक्षिण अफ़्रीका के किसी आदिवासी या तियेरा देल फ़्यूगो के किसी निवासी के साथ, या यहां तक कि किसी **किसान** अथवा अर्ध-सामन्ती खेतिहर दिहाड़ी मज़दूर के साथ अपनी अमूर्त समानता को स्वीकार करना चाहिये। और जैसे ही यह चीज़ क़ाबू में आ जायेगी—भले ही वह केवल यूरोप में ही क़ाबू में आ पाये—वैसे ही अमूर्त समानता का दृष्टिकोण भी क़ाबू में आ जायेगा। बुद्धिसंगत समानता के अमल में आने के बाद इस समानता का कोई अर्थ नहीं रहता। यदि अब समानता की मांग की जाती है, तो वह उस बौद्धिक एवं नैतिक **समानीकरण** की आशा में की जाती है, जो **वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितियों के अन्तर्गत** इस प्रकार स्वयं सम्पन्न हो जाता है। **शाश्वत** नैतिकता प्रत्येक समय में सम्भव रही होगी और **प्रत्येक स्थान पर** सम्भव होगी। परन्तु समानता के बारे में तो श्री ड्यूहरिंग भी यह दावा नहीं करते। इसके विपरीत वह तो दमन के एक अस्थायी काल की भी आवश्यकता स्वीकार कर लेते हैं, और इसलिये वह यह मान लेते हैं कि समानता कोई शाश्वत सत्य नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक पैदावार तथा विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का गुण है।

पूंजीपति वर्ग की समानता (वर्गीय **विशेषाधिकारों** का उन्मूलन) सर्वहारा वर्ग की समानता से बहुत भिन्न है (स्वयं वर्गों का उन्मूलन)। यदि समानता को स्वयं वर्गों के उन्मूलन के भी आगे खींचा जाता है, अर्थात्, यदि समानता की अमूर्त ढंग से कल्पना की जाती है, तो वह एक बेतुकी चीज़ बन जाती है। और इसलिये श्री ड्यूहरिंग को अन्त में सशस्त्र तथा प्रशासकीय दोनों प्रकार के न्यायिक एवं पुलिस बल को पिछवाड़े के रास्ते से फिर अपने आदर्श समाज में ले आना पड़ता है।

इस प्रकार **समानता का विचार ख़ुद इतिहास की पैदावार है,** और उसके परिष्कार के लिये वह पूरा इतिहास आवश्यक था, जो बीत चुका

था। अतः उसका हमेशा से एक शाश्वत सत्य के रूप में अस्तित्व नहीं था। आज यदि अधिकतर लोग en principe* इस विचार को मानते हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है, बल्कि इसका कारण यह है कि **अठारहवीं शताब्दी के विचारों का ख़ूब प्रसार हो गया है।** इसलिये यदि वे प्रसिद्ध दो पुरुष समानता के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, तो इसकी वजह यह है कि उनको उन्नीसवीं शताब्दी के "पढ़े-लिखे आदमियों" के रूप में पेश किया गया है, और ऐसे लोगों के लिये यह विचार **"स्वाभाविक"** है। **वास्तविक** मनुष्य कैसा आचरण करते हैं और करते थे, यह उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है और हमेशा करता था, जिनमें वे रहते थे।

अध्याय ६, पृष्ठ १५१–१५४; अध्याय १०, पृष्ठ १६६–१७३

[विचारों की सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भरता]

इस ख़याल का कि **लोगों के विचार और अवधारणाएं उनके जीवन की परिस्थितियों से** नहीं पैदा होतीं, बल्कि उल्टे उनको **पैदा करती हैं**– इस ख़याल का पुराना सारा इतिहास खण्डन करता है, क्योंकि उसमें परिणाम वांछित उद्देश्य से सदा भिन्न और बहुधा तो उसके उल्टे होते थे। न्यूनाधिक सुदूर भविष्य में ही यह ख़याल इस हद तक वास्तविकता बन सकेगा कि मनुष्य बदलती हुई परिस्थितियों के कारण समाज व्यवस्था [Verfassung] (sit venia verbo**) को बदलने की आवश्यकता पहले से महसूस करने लगेंगे, और इसके पेशतर कि यह परिवर्तन उनके मन में उसकी चेतना या इच्छा पैदा होने के पहले ही ज़बर्दस्ती उनके सिर पर आ पड़े, वे उसकी इच्छा करने लगेंगे।

---

* सिद्धान्ततः। –**सं०**

** यदि इस शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। –**सं०**

क़ानून की ग्रौर इसलिये राजनीति की ग्रवधारणाग्रों के लिये भी यही बात सच है, (जहां तक इस विषय का सम्बन्ध है, इस बात की 'दर्शनशास्त्र' के ग्रन्तर्गत, ग्रौर "बल" की 'राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र' में चर्चा की जायेगी)।

ग्रध्याय ११, पृष्ठ १८३–१८५ (भाग ३ का ग्रध्याय ५, पृष्ठ ५००–५०३ भी देखिये)

प्रकृति का सही प्रतिबिम्ब भी बहुत कठिन है, क्योंकि वह ग्रनुभव के एक लम्बे इतिहास का फल होता है। ग्रादिकालीन मानव के लिये प्रकृति की शक्तियां परायी, रहस्यमयी तथा ग्रपने से श्रेष्ठ चीज़ थीं। एक ख़ास ग्रवस्था में, जिसमें से **सभी** सभ्य जातियां गुज़र चुकी हैं, मनुष्य इन शक्तियों को मूर्त रूप देकर उनको ग्रात्मसात् कर लेता है। प्रकृति की शक्तियों को मूर्त रूप देने की इस चाह से ही हर जगह देवता पैदा हुए; ग्रौर जहां तक ईश्वर के ग्रस्तित्व के प्रमाण का प्रश्न है, consensus gentium* से ग्राख़िर केवल एक ग्रावश्यक संक्रमणकालीन ग्रवस्था के रूप में प्राकृतिक शक्तियों को मूर्त रूप देने की इस चाह की सार्विकता ही प्रमाणित होती है, ग्रौर इसके फलस्वरूप उससे धर्म की सार्विकता भी प्रमाणित हो जाती है। केवल प्रकृति की शक्तियों का वास्तविक ज्ञान ही देवताग्रों को या ईश्वर को एक के बाद दूसरे स्थान से बहिष्कृत करता जाता है (सेक्की ग्रौर उनका सौर मण्डल)। यह प्रक्रिया ग्रब इस हद तक बढ़ गयी है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से समझा जा सकता है कि वह पूरी हो गयी है।

समाज के क्षेत्र में प्रतिबिम्ब ग्रौर भी कठिन है। समाज ग्रार्थिक सम्बन्धों से, उत्पादन तथा विनिमय से, ग्रौर इसके ग्रतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वापेक्षित परिस्थितियों से निर्धारित होता है।

---

* लोगों का सामान्य मत। – **सं०**

अध्याय १२, पृष्ठ १६१ – १६५ (देखिये '**प्रस्तावना**', पृष्ठ ३६ – ४२)

प्रतिवाद – यदि किसी वस्तु की पीठ पर उसके प्रतिवाद ने सवारी गांठ रखी है, तो उसका स्वयं अपने से **विरोध** होता है, और साथ ही चिन्तन में उसकी अभिव्यक्ति के भीतर भी स्वयं उसका विरोध निहित होता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई वस्तु ज्यों की त्यों रहते हुए भी निरन्तर बदलती जाती है, तो उसमें एक विरोध निहित होता है, क्योंकि उसके भीतर "जड़ता" और "परिवर्तन" का **प्रतिवाद** विद्यमान होता है।

अध्याय १३

[निषेध का निषेध]

... सभी इण्डो-जर्मन जातियों ने **सामूहिक** स्वामित्व से आरम्भ किया था। और लगभग इन सभी जातियों के यहां, सामाजिक विकास के दौरान सामूहिक स्वामित्व ख़त्म हो गया, **उसका निषेध हो गया**, उसे स्वामित्व के अन्य रूपों ने – निजी स्वामित्व, सामन्ती स्वामित्व, आदि ने – निष्कासित कर दिया। इस निषेध का निषेध करना, विकास के एक उच्चतर स्तर पर सामूहिक स्वामित्व की पुन:स्थापना करना – यह सामाजिक क्रान्ति का कार्य है। या यह उदाहरण लीजिये: प्राचीन काल का दर्शन शुरू में स्वयंस्फूर्त्त भौतिकवाद था। उससे भाववाद, अध्यात्मवाद, भौतिकवाद का निषेध पैदा हुआ – पहले आत्मा और देह के प्रतिवाद के रूप में और फिर अनश्वरता तथा एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के रूप में। ईसाई धर्म के माध्यम से इस अध्यात्मवाद का सर्वत्र प्रचार हो गया। इस निषेध का निषेध इस प्रकार होता है कि पुराने का एक उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन होता है; आधुनिक भौतिकवाद का जन्म होता है, जिसे अपना सैद्धान्तिक निष्कर्ष, भूतकाल से भिन्न ढंग से, वैज्ञानिक समाजवाद में प्राप्त होता है।

... कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्राकृतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाएं चिन्तनशील मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती हैं और वहां उनका पुनरुत्पादन होता है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है:— $a \times -a$ इत्यादि; और परम द्वन्द्ववादी समस्याओं को केवल इसी पद्धति के द्वारा हल किया जा सकता है।

परन्तु एक बुरा तथा निष्फल निषेध भी होता है।

(यदि उसपर रूपगत ढंग से विचार किया जाये तो) सच्चा, प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं द्वन्द्वात्मक निषेध ही वह तत्व है, जो हर प्रकार के विकास का प्रेरक सिद्धान्त है–दो प्रतिवादों में विभाजन, उनके बीच में संघर्ष और अन्त में समाधान। साथ ही उपलब्ध अनुभव के आधार पर, हम पुनः मूल प्रस्थान-बिन्दु पर पहुंच जाते हैं (इतिहास में आंशिक रूप में, चिन्तन में पूर्णतया); परन्तु इस बार यह बिन्दु पहले से ऊंचे स्तर पर होता है।

निष्फल निषेध विशुद्धतया आत्मनिष्ठ एवं वैयक्तिक निषेध होता है। वह सम्बन्धित वस्तु के विकास की अवस्था नहीं होता; वह तो एक ऐसा **मत** होता है, जिसे बाहर से घुसेड़ दिया जाता है। और चूंकि इससे कोई फल नहीं निकल सकता, इसलिये निषेध करनेवाले को लगता है कि सारी दुनिया उसके ख़िलाफ़ है, और वह दुनिया में जितनी चीज़ें हैं, उनमें तथा जो कुछ कभी हो चुका है, उसमें पूरे ऐतिहासिक विकास में दोष ढूंढ़ने लगता है। यह सच है कि प्राचीन काल के यूनानियों ने कुछ सफलताएं प्राप्त की थीं, परन्तु उनको वर्णक्रम विश्लेशण का, रसायन विज्ञान का, अवकलन गणित का, भाप के इंजनों का, पक्की सड़कों का, तार प्रणाली का या रेल का कोई ज्ञान नहीं था। इसलिये इतने अल्प महत्व के लोगों की उपलब्धियों की विस्तार के साथ क्यों चर्चा की जाये? इस प्रकार का निषेध करनेवाला व्यक्ति ऐसा घोर निराशावादी होता है कि उसे लगता है, जैसे सब कुछ ख़राब है–सब कुछ, सिवाय हमारे अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व के, जिसमें लेशमात्र दोष नहीं है। और इस प्रकार हमारा निराशावाद आशावाद में बदल जाता है। और इस तरह हम ख़ुद निषेध का निषेध कर देते हैं!

यहां तक कि रूसो का इतिहास देखने का ढंग भी निषेध का निषेध है–शुरू में समानता, फिर असमानता के ज़रिये पतन, अन्त में एक उच्चतर स्तर पर समानता की पुनर्स्थापना।*

---

*यह वाक्य पाण्डुलिपि के पार्श्व में लिखा है।–**सं०**

ड्यूहरिंग निरन्तर भाववादी का–**भाववादी** अवधारणा, आदि का प्रचार करते हैं। यदि हम भविष्य के विषय में वर्तमान सम्बन्धों से कुछ निष्कर्ष निकालते हैं, यदि हम इतिहास के दौरान में काम करनेवाले **नकारात्मक** तत्वों के **सकारात्मक** पहलू को देखते हैं और उसकी छानबीन करते हैं–और अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्तिवाला प्रगतिवादी, भाववादी लास्कर भी अपने ढंग से यही करता है–तो ड्यूहरिंग उसे "भाववाद" घोषित कर देते हैं और उसके आधार पर भविष्य के लिये एक ऐसी योजना तैयार करने के अधिकार का दावा करते हैं, जिसमें स्कूलों का पाठ्यक्रम तक अभी से तैयार कर दिया गया है, परन्तु जो अज्ञान पर आधारित होने के कारण एक भ्रान्त कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। और वह इस तथ्य को भूल जाते हैं कि ऐसा करके वह ख़ुद भी **निषेध का निषेधन कर रहे हैं।**

अध्याय १३, पृष्ठ २१८–२२१

निषेध का निषेध और विरोध।

हेगेल का कहना है कि एक धनात्मक की "अवस्तुता" एक निश्चित अवस्तुता होती है।[196] "अवकलों को कुछ ऐसे **वास्तविक शून्यों** की तरह समझा जा सकता है–और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है–जिनका एक दूसरे के साथ एक ख़ास तरह का सम्बन्ध होता है, जो विचाराधीन प्रश्न की स्थिति से निर्धारित होता है।"[197] बोस्सू ने कहा है कि गणित की दृष्टि से यह बात बकवास नहीं है।

और $\frac{0}{0}$ एक बहुत निश्चित मूल्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है, बशर्ते कि वह अंश और हर के समक्षणिक ढंग से लोप हो जाने के फलस्वरूप प्राप्त हुआ हो। इसी प्रकार, जहां $0:0=A:B$, वहां $\frac{0}{0}=\frac{A}{B}$; पर A और B के मूल्य में परिवर्तन होने पर यह भी बदल जाता है (उदाहरण, पृष्ठ ६५)। और क्या यह भी एक "विरोध" नहीं है कि शून्यों के बीच अनुपात होता है; अर्थात् शून्यों में न केवल सामान्य मूल्य हो सकता है, बल्कि उनमें अनेक प्रकार के मूल्य हो सकते

हैं, जिनको संख्याग्रों में ग्रभिव्यक्त किया जा सकता है? १ : २ = १ : २; १–१ : २–२ = १ : २; ० : ० = १ : २।[198]

ड्यूहरिंग ने ख़ुद कहा है कि ग्रत्यणु परिमाणों के ये संकलन गणित का सर्वोच्च शिखर, ग्रादि, ग्रौर साधारण भाषा में कहें, तो ग्रनुकलन गणित है। ग्रौर यह संकलन कैसे किया जाता है? मेरे पास दो, तीन या उससे ग्रधिक चर मात्राएं हैं; ग्रर्थात् मेरे पास ऐसी मात्राएं हैं, जो बदलते समय ग्रपने बीच एक निश्चित सम्बन्ध क़ायम रखती हैं – जैसे मान लीजिये, x ग्रौर y नामक दो मात्राएं मेरे पास हैं, ग्रौर मुझे एक ख़ास समस्या को हल करना है, जो साधारण गणित से हल नहीं की जा सकती ग्रौर जिसमें x ग्रौर y भी काम में ग्राते हैं। मैं x ग्रौर y का ग्रवकलन कर देता हूं, ग्रर्थात् मैं x ग्रौर y को इतना ग्रत्यणु मानकर चलता हूं कि किसी भी वास्तविक मात्रा की तुलना में – वह चाहे कितनी भी छोटी क्यों न हो – उनका लोप हो जाता है ग्रौर x ग्रौर y के **पारस्परिक सम्बन्ध** के सिवा, जिसका किसी प्रकार का भी भौतिक ग्राधार नहीं होता, इन दो मात्राग्रों में से कुछ भी बाक़ी नहीं बचता। तब $\frac{dx}{dy}=\frac{0}{0}$; लेकिन यह $\frac{0}{0}$ वह है, जो $\frac{x}{y}$ ग्रनुपात में ग्रभिव्यक्त हुग्रा था। इससे हमें कोई घबराहट नहीं होती कि जो मात्राएं लुप्त हो गयी हैं, उनका यह ग्रनुपात, उनके लोप का यह स्थिर क्षण एक विरोध है। ग्रौर ग्रब मैंने ही x ग्रौर y का **निषेध** करने के सिवा ग्रौर क्या किया है? लेकिन मैंने उनका इस तरह निषेध नहीं किया है, जिससे भविष्य में मुझे उनकी कोई चिन्ता न रहे, बल्कि मैंने उनका इस तरह निषेध किया है, जो तथ्यों के ग्रनुरूप है। ग्रब मेरे सामने जो सूत्र या समीकरण हैं, उनमें x ग्रौर y के स्थान पर मेरे पास उनके निषेध, dx ग्रौर dy हैं। मैं पूर्ववत ढंग से इन सूत्रों से काम लेता हूं ग्रौर dx तथा dy के साथ ऐसा व्यवहार करता हूं, जैसे वे वास्तविक मात्राएं हों, ग्रौर एक ख़ास बिन्दु पर पहुंचकर मैं निषेध का निषेध कर देता हूं, ग्रर्थात् मैं ग्रवकलित सूत्र का ग्रनुकलन कर देता हूं, ग्रौर dx तथा dy के स्थान पर वास्तविक मात्राएं x ग्रौर y रख देता हूं; ग्रौर तब मैं फिर उसी स्थान पर नहीं पहुंच जाता, जहां से मैंने

आरम्भ किया था, बल्कि इस पद्धति का उपयोग करके मैं उस समस्या को हल कर देता हूं, जिसे हल करने की कोशिश में साधारण रेखागणित तथा बीजगणित व्यर्थ अपना माथा खपा रहे थे।

भाग २

अध्याय २

जहां कहीं उत्पादन का मुख्य रूप **दास प्रथा** होता है, वहां वह श्रम को दास्यकर्म में परिणत कर देती है, और इसके फलस्वरूप स्वतंत्र मनुष्य श्रम को असम्मानप्रद समझने लगता है। अतः इस प्रकार की उत्पादन प्रणाली से बाहर निकलने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, जबकि दूसरी ओर दास प्रथा अधिक विकसित उत्पादन के मार्ग में एक ऐसी बाधा बन जाती है, जिसे हटाना तुरन्त आवश्यक होता है। यह विरोध दास प्रथा पर आधारित समस्त उत्पादन तथा सभी समुदायों के विनाश को अवश्यम्भावी बना देता है। बहुधा इसका हल इस तरह निकलता है कि पतनोन्मुख समुदायों को अन्य अधिक बलवान समुदाय ज़बर्दस्ती अपने अधीन बना लेते हैं (जैसे यूनान को पहले मैसेदोनिया ने और बाद में रोम ने अपने अधीन बना लिया था)। जब तक इन नये समुदायों का आधार भी दास प्रथा ही रहता है, तब तक वहां केवल केन्द्र का स्थान परिवर्तन ही होता है, और एक उच्चतर स्तर पर इस प्रक्रिया की उस समय तक पुनरावृत्ति होती रहती है, जब तक कि अन्त में एक ऐसी जाति नहीं जीत जाती, जो दास प्रथा के स्थान पर उत्पादन की कोई और प्रणाली क़ायम कर देती है (रोम)। या दास प्रथा को बलपूर्वक अथवा स्वेच्छा से समाप्त कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप **उत्पादन की पुरानी प्रणाली नष्ट हो जाती है** और बड़े पैमाने की खेती के स्थान पर छोटे पैमाने की खेती होने लगती है। अमरीका में यही हुआ था। और सच पूछिये तो यूनान का भी दास प्रथा के ही कारण सत्यानाश हुआ था। अरस्तू ने पहले ही कहा था कि दासों का संसर्ग नागरिकों को चरित्र-भ्रष्ट कर रहा है, और यह तथ्य

इससे अलग है कि दास प्रथा के कारण नागरिकों का काम करना नामुमकिन हो जाता है। (वह घरेलू दास प्रथा और चीज़ है, जो पूर्व में पायी जाती है। वहां वह उत्पादन का प्रत्यक्ष आधार नहीं है, बल्कि परिवार के एक संघटक भाग के रूप में अप्रत्यक्ष ढंग से उसके आधार का काम करती है, और अलक्षित ढंग से परिवार के साथ मिल जाती है (पूर्वी हरमों में रहनेवाली दासियां)।)

अध्याय ३

ड्यूहरिंग के गर्हणीय इतिहास में **बल** राज करता है। किन्तु वास्तविक प्रगतिशील ऐतिहासिक गति में **भौतिक उपलब्धियां** शासन करती हैं, जिन्हें **क़ायम रखा जाता है।**

अध्याय ३

बल, सेना को किस तरह क़ायम रखा जाता है? **मुद्रा से।** इसलिये बल पुनः उत्पादन पर निर्भर करता है। तुलना कीजिये एथेंस के समुद्री बेड़े से और ३८०—३४० की नीति से। मित्र राज्यों के विरुद्ध बल प्रयोग किया गया, परन्तु लम्बा और तेज़ युद्ध करने के भौतिक साधनों के अभाव के फलस्वरूप यह बल प्रयोग व्यर्थ सिद्ध हुआ। नये उद्योग के, आधुनिक उद्योग के प्रताप से दी गयी अंग्रेज़ी सहायता ने नेपोलियन को पराजित कर दिया।

अध्याय ३

[पार्टी और सैनिक प्रशिक्षण]

जीवन के लिये संघर्ष पर, तथा संघर्ष एवं अस्त्र-शस्त्रों के विरुद्ध ड्यूहरिंग के अभिभाषणों पर विचार करते हुए, हमें इस बात पर जोर देना चाहिये कि क्रान्तिकारी पार्टी को संघर्ष करने का ढंग भी जानना

चाहिये। सम्भवतः निकट भविष्य में उसे क्रान्ति करनी होगी—लेकिन वर्तमान सैनिक-नौकरशाही राज्य के विरुद्ध नहीं। वह तो राजनीतिक दृष्टि से उतना ही बड़ा पागलपन होगा, जितना बड़ा पागलपन बाब्येफ़ ने डायरेक्टरेट से तुरन्त छलांग मारकर कम्युनिज़्म में पहुंच जाने की कोशिश करके किया था। बल्कि कहना चाहिये कि यह इससे भी बड़ा पागलपन होगा, क्योंकि डायरेक्टरेट आख़िर एक पूंजीवादी तथा किसान सरकार थी।[199] लेकिन स्वयं पूंजीपति वर्ग ने जो क़ानून जारी कर रखे हैं, उनकी रक्षा करने के लिये ही पार्टी को मजबूर होकर उस पूंजीवादी राज्य के ख़िलाफ़ कुछ क्रान्तिकारी क़दम उठाने पड़ेंगे, जो वर्तमान राज्य का स्थान लेगा। इसलिये आजकल जो अनिवार्य सैनिक भर्ती होती है, उससे उन तमाम लोगों को लाभ उठाना चाहिये, जो लड़ने की कला सीखना चाहते हैं; और उन लोगों को तो ख़ास तौर पर उससे लाभ उठाना चाहिये, जिनको इतनी शिक्षा मिल चुकी है कि वे एक वर्ष तक स्वेच्छा से सेना में काम करके अफ़सर का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

अध्याय ४

["बल" के विषय में]

हम यह बात स्वीकार करते हैं कि बल भी क्रान्तिकारी प्रभाव पैदा कर सकता है। यानी निर्णायक महत्व के सभी "संकटकालीन" युगों में, जैसे सामाजिकता के संक्रमण के दौरान बल भी क्रान्तिकारी प्रभाव पैदा कर सकता है। परन्तु उस समय भी केवल विदेशी प्रतिक्रियावादी शत्रुओं के विरुद्ध आत्म-रक्षा करने के दौरान ही बल इस प्रकार का प्रभाव पैदा कर पाता है। किन्तु मार्क्स ने सोलहवीं शताब्दी की इंगलैण्ड की जिस उथल-पुथल का वर्णन किया है, उसका भी एक क्रान्तिकारी पहलू था। वह उथल-पुथल सामन्ती भू-स्वामित्व का पूंजीवादी भू-स्वामित्व में रूपान्तरण होने की तथा पूंजीपति वर्ग के विकास की एक बुनियादी शर्त थी। इसी प्रकार १७८९ की फ़्रांसीसी क्रान्ति ने भी काफ़ी बड़े पैमाने पर बल का प्रयोग

किया था। ४ अगस्त को किसानों के हिंसापूर्ण कार्यों को केवल विधिसंगत घोषित किया गया, और उसके अनुपूरक के रूप में अभिजात वर्ग तथा चर्च की जागीरों को ज़ब्त कर लिया गया।[200] जब प्राचीन जर्मनों ने अन्य जातियों के इलाक़ों को बलपूर्वक जीत लिया और उनकी भूमि पर ऐसे राज्यों की स्थापना की, जिनमें प्राचीन काल की भांति शहरों के बजाय देहात की प्रधानता थी, तो उसके साथ – और इसी कारण से – दास प्रथा कम कठोर भूदास प्रथा में, या सामन्ती अधीनता में रूपान्तरित कर दी गयी (प्राचीन काल में खेती की ज़मीन का चरागाहों में बदल दिया जाना लैटिफ़ुण्डिया की एक सहगामी विशेषता थी)।

अध्याय ४

[बल, सामुदायिक स्वामित्व, अर्थव्यवस्था और राजनीति]

जब इण्डो-जर्मन जातियां यूरोप में पहुंचीं, तो उन्होंने वहां के आदिम निवासियों को **बलपूर्वक** खदेड़ दिया और ख़ुद उस भूमि को जोतने लगीं, जो पूरे समुदाय की सम्पत्ति होती थी। केल्ट लोगों, जर्मनों और स्लाव लोगों के यहां सामुदायिक स्वामित्व के विकास क्रम का आज भी पता लगाया जा सकता है; और स्लाव लोगों में, जर्मनों में, तथा केल्ट लोगों में भी (rundale) आज भी सामुदायिक स्वामित्व प्रत्यक्ष (रूस) अथवा अप्रत्यक्ष (आयरलैण्ड) अधीनता के रूप में विद्यमान है। जब लैप लोगों और बास्क लोगों को खदेड़ दिया गया, तो बल प्रयोग तुरन्त बन्द हो गया। अन्दरूनी मामलों में समानता का या स्वेच्छा से स्वीकृत विशेषाधिकारों का राज था। जहां कहीं सामूहिक स्वामित्व में से भूमि पर किसानों के निजी स्वामित्व का उदय हुआ, वहां सोलहवीं शताब्दी तक समुदाय के सदस्यों के बीच यह विभाजन विशुद्धतया स्वयंस्फूर्त ढंग से होता रहा। अधिकतर जगहों में यह विभाजन बहुत धीरे-धीरे हुआ, और वहां अक्सर सामूहिक स्वामित्व के अवशेषों से भी भेंट हो जाती थी।

बल प्रयोग करने का कोई विचार नहीं था; उसका केवल इन अवशेषों के विरुद्ध प्रयोग किया गया (इंगलैण्ड में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में, जर्मनी में मुख्यतया उन्नीसवीं शताब्दी में)। आयरलैण्ड की विशेष स्थिति थी। भारत और रूस में नाना प्रकार के विदेशी विजेताओं और निरंकुश शासनों के अंतर्गत भी यह सामूहिक स्वामित्व बना रहा, और उसने उनके आधार का काम किया। रूस इस बात का सबूत है कि उत्पादन सम्बन्ध किस प्रकार बल के राजनीतिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रूसी किसान पर कम अत्याचार होता था, उसे जहां चाहे आने-जाने का अधिकार था, और उसे मुश्किल से ही क्रीतदास कहा जा सकता था। रोमानोव वंश के प्रथम राजा ने किसानों को धरती के साथ बांध दिया। पीटर के काल में रूस का विदेशी व्यापार आरम्भ हुआ। उसके पास केवल खेती की पैदावार ही निर्यात करने के लिये थी। **इससे** किसानों का उत्पीड़न आरम्भ हो गया। **निर्यात** में जितनी वृद्धि होती गयी, उतना ही यह उत्पीड़न भी बढ़ता गया, क्योंकि **वह निर्यात के लिये ही तो आरम्भ किया गया था।** आख़िर कैथेरीन ने इस उत्पीड़न को सम्पूर्ण बना दिया और इस विषय से सम्बन्धित सारे क़ानूनों को पूरा कर दिया। लेकिन इन क़ानूनों ने भू-स्वामियों को किसानों को अधिकाधिक पीसने की इजाज़त दे दी थी, जिससे उनके कंधों पर रखा हुआ जुआ दिन ब दिन अधिक असहनीय बनता गया।

अध्याय ४

यदि सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का कारण बल है, तो बल का कारण क्या है? दूसरों के श्रम की **पैदावार** का तथा दूसरों की **श्रम शक्ति** का हस्तगतकरण। बल पैदावार के उपभोग में तो परिवर्तन कर सकता था, पर वह स्वयं उत्पादन प्रणाली को नहीं बदल सकता था। जब तक इसके लिये आवश्यक परिस्थितियां नहीं पैदा हो गयीं और भू-दास का श्रम उत्पादन के लिये बंधन नहीं बन गया, तब तक बल भू-दास के श्रम को उजरती श्रम में नहीं बदल पाया।

अध्याय ४

अभी तक बल का राज था – अब आगे से सामाजिकता का राज होगा। यह एक शुभ इच्छा मात्र है, यह "न्याय" की मांग है। टॉमस मोर ने ३५० वर्ष पहले यह मांग की थी,[201] पर वह अभी तक पूरी नहीं हुई है। तो फिर वह अब कैसे पूरी हो जायेगी? इस प्रश्न के सामने ड्यूहरिंग निरुत्तर हो जाते हैं। वास्तव में आधुनिक उद्योग यह मांग न्याय की मांग के रूप में नहीं करता, बल्कि उत्पादन की एक आवश्यकता के रूप में यह मांग करता है, और इससे पूरी बात बदल जाती है।

भाग ३

अध्याय १

फ़ूरिये *(Nouveau monde industriel et socié'taire).**
असमानता का तत्व: "मनुष्य चूंकि अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के कारण समानता का शत्रु होता है", पृष्ठ ५९।

"यह धोखेधड़ी का यंत्र, जो सभ्यता कहलाता है", पृष्ठ ८१।

"जैसा कि हमारी आदत है, उनके" (स्त्रियों के) "मत्थे अनुपयोगी कार्य नहीं मढ़ देने चाहिये; उनको केवल उन नीच भूमिकाओं में डालकर नहीं रखना चाहिये, जिनको उस दर्शन ने उनके लिये निश्चित कर रखा है, जिसका दावा है कि स्त्रियां केवल बर्तन मांजने और फटे कपड़े सीने के लिये पैदा की गयी हैं", पृष्ठ १४१।

"औद्योगिक श्रम को ईश्वर ने आकर्षण की जो मात्रा प्रदान की है, वह उस समय के केवल **चौथाई भाग** के अनुरूप है, जो सामाजिक मनुष्य काम में ख़र्च कर सकता है।" बाक़ी समय खेती, पशु-पालन, रसोईघर और औद्योगिक सेनाओं पर ख़र्च करना चाहिये, पृष्ठ १५२।

---

* 'नयी औद्योगिक और सामाजिक दुनिया'। उद्धरण चिन्हों में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यांशों को एंगेल्स ने फ़ूरिये की मूल फ़्रांसीसी रचनाओं से उद्धृत किया था। Ch. Fourier, *Oeuvres complètes*, खण्ड ६, पेरिस, १८४५। – **सं०**

"कोमल हृदय नैतिकता व्यापार की दयालु तथा शुद्ध मित्र है", पृ० १६१। नैतिकता की आलोचना, पृ० १६२ और उसके आगे के पृष्ठ।

आजकल के समाज में, इस "सभ्यता के यंत्र में", "दुरंगा व्यवहार और व्यक्तिगत हितों तथा सामूहिक हितों के विरोध" का राज है; यहां सदा "जन-साधारण के ख़िलाफ़ व्यक्तियों का सार्विक युद्ध चलता रहता है। और फिर भी हमारे राजनीतिक विज्ञान कार्य की एकता की बातें करने का दुस्साहस करते हैं!" पृष्ठ १७२।

"प्रकृति का अध्ययन करने में आधुनिक लोगों को हर जगह असफलता मिली, क्योंकि वे अपवादों या संक्रमणों का सिद्धान्त, **प्रसंकरों** का सिद्धान्त नहीं जानते थे।" "प्रसंकरों" के उदाहरण: बिही, शफ़तालू, ईल, चमगादड़, आदि, पृष्ठ १९१।

२

[ड्यूहरिंग के इस कथन पर कि "वह संकल्पमय क्रियाशीलता, जिसके द्वारा मानव समाज के विभिन्न रूपों का सृजन होता है, वह स्वयं प्राकृतिक नियमों के अधीन होती है", एंगेल्स ने लिखा है:]

चुनांचे यहां **ऐतिहासिक** विकास का कोई ज़िक्र नहीं है। केवल शाश्वत प्राकृतिक नियम की ही चर्चा है। यहां तो मनोविज्ञान ही सब कुछ है, और वह दुर्भाग्य से राजनीति से कहीं अधिक "पिछड़ा हुआ" है।

[ड्यूहरिंग ने दास प्रथा, उजरती श्रम और बल पर आधारित स्वामित्व का "**विशुद्धतया राजनीतिक स्वरूप** के सामाजिक-आर्थिक वैधानिक रूपों" की हैसियत से जो विवेचन किया है, उसके बारे में एंगेल्स ने लिखा है:]

इनका सदा यही विश्वास रहता है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल शाश्वत प्राकृतिक नियमों के अधीन रहता है, और उसमें जितनी तब्दीलियां तथा विकृतियां दिखाई देती हैं, वे सब दुष्ट राजनीति की करतूत हैं।

इसलिये बल के पूरे सिद्धान्त में इतनी बात सही है कि अभी तक समाज के जितने रूप देखने में आये हैं, उनको अपने को क़ायम रखने के लिये **बल** की आवश्यकता पड़ती थी, और किसी न किसी हद तक

उनकी स्थापना भी बल के द्वारा ही हुई थी। अपने संगठित रूप में यह बल **राज्य** कहलाता है। सो यहां पर यह तुच्छ विचार सामने आता है कि जब से मनुष्य अत्यधिक वन्य परिस्थितियों के बाहर निकला है, तभी से हर जगह राज्य क़ायम हैं—और यह बात जानने के लिये दुनिया को ड्यूहरिंग की बाट नहीं जोहनी पड़ी थी।

परन्तु राज्य और बल ही वे चीज़ें हैं, जो समाज के अभी तक जितने रूप देखे गये हैं, उनमें **समान रूप से** मौजूद थीं, यदि मैं उदाहरण के लिये पूर्वी निरंकुश राज्यों, प्राचीन काल के प्रजातंत्रों, मैसेदोनिया के राजतंत्रों, रोमन साम्राज्य तथा मध्य युग के सामन्तवाद की व्याख्या करने के लिये केवल यह कहूं कि वे सब **बल** पर आधारित थे, तो मैं उनकी तनिक भी व्याख्या करने में सफल नहीं हूंगा। इसलिये विभिन्न सामाजिक तथा राजनीतिक रूपों की व्याख्या में यह नहीं कहना चाहिये कि उनका कारण बल था, क्योंकि बल तो हमेशा ही मौजूद था, बल्कि उनकी व्याख्या में तो यह बताना चाहिये कि **बल का किस चीज़ पर प्रयोग किया जाता था; किस चीज़ को** बल के द्वारा लूट लिया जाता था; अर्थात् युग विशेष की उत्पादित वस्तुएं, उत्पादक शक्तियां तथा उन्हीं से उत्पन्न होने-वाली उनके वितरण की प्रणाली। तब यह पता चलेगा कि पूर्वी निरंकुशता सामूहिक स्वामित्व पर आधारित थी; प्राचीन काल के प्रजातंत्र खेती में लगे शहरों पर आधारित थे; रोमन साम्राज्य बड़ी-बड़ी जागीरों पर आधारित था; और सामन्तवाद शहरों के ऊपर देहात के प्रभुत्व पर आधारित था, जिसके अपने कुछ भौतिक कारण थे, इत्यादि।

[एंगेल्स ने ड्यूहरिंग की पुस्तक का यह अंश उद्धृत किया है:

"अर्थव्यवस्था के प्राकृतिक नियमों का उनके शुद्ध रूप में केवल इसी तरह पता लगाया जा सकता है कि राज्य के तथा सामाजिक संस्थाओं के प्रभावों को, विशेषकर बल पर आधारित तथा उजरती श्रम से सम्बन्धित स्वामित्व के प्रभावों को अपने दिमाग़ से एकदम निकाल दिया जाये, और यह एहतियात रखी जाये कि हम बल तथा मज़दूरों की ग़ुलामी को मनुष्य की स्थायी प्रकृति का" (!) "लाज़िमी नतीजा न समझ बैठें..."

ड्यूहरिंग के इस प्रवचन पर एंगेल्स ने यह टिप्पणी की है:]

सो अर्थव्यवस्था के प्राकृतिक नियमों का केवल उसी समय आविष्कार होता है, जब आदमी **अभी तक जितनी प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं देखी गयी हैं, उनसे अपने दिमाग़ को अलग कर लेता** है। ये नियम अभी तक कभी भी अविकृत रूप में अभिव्यक्त नहीं हुए हैं!

मनुष्य की **स्थायी** प्रकृति – वानर से लेकर गेटे तक!

"बल" के इस सिद्धान्त के द्वारा ड्यूहरिंग को इस बात पर प्रकाश डालना था कि बाबा आदम के ज़माने से आज तक हर जगह यह क्यों होता रहा है कि बहुमत सदा "बल" के द्वारा पराधीन बना लिया जाता है और बल का प्रयोग सदा अल्पमत करता है। यह तथ्य ख़ुद इस बात का प्रमाण है कि बल का सम्बन्ध आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित है, जिनको राजनीतिक साधनों से पलट देना इतना सहज नहीं होता।

ड्यूहरिंग की पुस्तक में लगान, मुनाफ़े, सूद तथा मजदूरी पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। केवल इतना कह दिया गया है कि इन सारी प्रथाओं को **बल** के द्वारा क़ायम किया गया है। पर यह बल कहां से आया? Non est.*

बल से स्वामित्व पैदा होता है, और स्वामित्व से आर्थिक शक्ति। अतः बल = शक्ति।

मार्क्स ने 'पूंजी' (संचय) में दिखाया है कि विकास की एक ख़ास अवस्था में मालों के उत्पादन के नियमों से आवश्यक रूप से पूंजीवादी उत्पादन मय अपने समस्त छल-कपट के उत्पन्न हो जाता है, और इस **चीज़ के लिये किसी भी प्रकार के बल की ज़रूरत नहीं पड़ती।**[202]

जब ड्यूहरिंग अपना यह मत प्रकट करते हैं कि राजनीतिक कार्य इतिहास की चरम निर्णायक शक्ति हैं, और जब वह पाठक को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यह एक नया विचार है, तब वह केवल उसी बात को दोहरा देते हैं, जो तमाम पुराने इतिहासकार कह चुके हैं। इन इतिहासकारों की भी यही राय थी कि सामाजिक रूप उत्पादन से नहीं, बल्कि महज़ राजनीतिक रूपों से निर्धारित होते हैं।

---

* नहीं; अर्थात् जवाब नदारद है। – **सं०**

C'est trop bon!* ऐडम स्मिथ से आरम्भ करते हुए पूरा मुक्त व्यापार सम्प्रदाय, और सच पूछिये तो मार्क्स के पहले का समस्त अर्थशास्त्र, आर्थिक नियमों को, जिस हद तक कि उसको उनकी समझ है, "प्राकृतिक नियम" मानता है, और उसका कहना है कि राज्य, "राज्य तथा सामाजिक संस्थाओं की कार्रवाइयां" इन नियमों की क्रिया को विकृत किये दे रही हैं!

वहरहाल यह पूरा सिद्धान्त महज़ इस बात की कोशिश है कि समाजवाद की अभिपुष्टि कैरे से करायी जाये, और वह इस तरह कि: अर्थव्यवस्था तो स्वयं सुसंगत है; राज्य अपने हस्तक्षेप से सब कुछ बिगाड़ देता है।

शाश्वत न्याय बल का एक पूरक है; यह पृष्ठ २८२ पर प्रकट होगा।

[स्मिथ, रिकार्डो और कैरे की आलोचना करते हुए ड्यूहरिंग ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, उनका एंगेल्स ने इस तरह निचोड़ निकाला है: "उत्पादन का उसके सबसे अधिक अमूर्त रूप में रोबिन्सन के उदाहरण के आधार पर काफ़ी अच्छे ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। वितरण का अध्ययन द्वीप पर केवल दो आदमियों को बसाकर और पूर्ण समानता तथा स्वामी और दास के पूर्ण विरोध के बीच की समस्त मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना करके अध्ययन किया जा सकता है..." एंगेल्स ने ड्यूहरिंग का यह वाक्य उद्धृत किया है: "वितरण के सिद्धान्त के लिये अन्तिम विश्लेषण में जो दृष्टिकोण सचमुच निर्णायक है, उस पर केवल **गम्भीर सामाजिक**" (!) "मनन" (!) "के द्वारा ही पहुंचा जा सकता है"। इसपर एंगेल्स ने लिखा है:]

तो पहले विभिन्न क़ानूनी सम्बन्धों को वास्तविक इतिहास के बाहर निकालकर उनको उनके उस ऐतिहासिक आधार से अलग कर दिया जाता है, जिनसे ये क़ानूनी सम्बन्ध उत्पन्न हुए हैं और जिनके आधार पर ही इनका कोई अर्थ होता है, और फिर वह इन तमाम सम्बन्धों को रोबिन्सन और फ़ाइडे नामक उन दो व्यक्तियों पर लागू कर दिया जाता है, जिनके साथ जुड़ जाने पर वे स्वभावतया पूरी तरह मनमाने सम्बन्ध प्रतीत होते हैं। इस प्रकार विभिन्न क़ानूनी सम्बन्धों को विशुद्ध बल में परिणत करके

---

* बहुत ख़ूब! – **सं०**

उनको पुनः वास्तविक इतिहास में स्थानांतरित कर दिया जाता है, और इस तरह यह साबित कर दिया जाता है कि वास्तविक इतिहास में भी हर चीज़ सरासर बल पर आधारित है। इस बात का श्री ड्यूहरिंग पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता कि बल का एक भौतिक अधोस्तर के ऊपर प्रयोग करना पड़ता है, और असल में तो साबित यह करना है कि यह अधोस्तर कहां से आया।

[एंगेल्स ने ड्यूहरिंग की रचना 'राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम' का यह अंश उद्धृत किया है: "राजनीतिक अर्थशास्त्र की सभी प्रणालियां जिस परम्परागत दृष्टिकोण को समान रूप से स्वीकार करती हैं, उसके अनुसार वितरण एक तात्कालिक प्रक्रिया मात्र है, जिसका उन उत्पादित वस्तुओं की राशि से सम्बन्ध होता है, जिनको उत्पादन पैदा कर देता है और जो संयुक्त तैयार पैदावार समझी जाती है... **अधिक गूढ़** मूल सिद्धान्तों को इसके बजाय एक ऐसे वितरण का अध्ययन करना चाहिये, जिसका स्वयं आर्थिक क़ानूनों या आर्थिक ढंग से काम करनेवाले **क़ानूनों से** सम्बन्ध हो, और जो महज़ इन क़ानूनों के तात्कालिक एवं संचयी परिणामों से ही सम्बन्ध न रखता हो।" एंगेल्स ने इस पर यह टिप्पणी की है:]

इस प्रकार चालू उत्पादन के वितरण की छानबीन काफ़ी नहीं है। किराया-ज़मीन के पहले भू-स्वामित्व का होना आवश्यक है; मुनाफ़े के पहले पूंजी का होना आवश्यक है; मज़दूरी के पहले ऐसे सम्पत्तिविहीन मज़दूरों का होना आवश्यक है, जिनके पास केवल श्रम शक्ति ही हो। इसलिये अन्वेषण इस बात का होना चाहिये कि ये चीज़ें कहां से आयीं। जहां तक इस विषय का मार्क्स से सम्बन्ध था, उन्होंने खण्ड १ में पूंजी तथा सम्पत्तिविहीन श्रम शक्ति के सम्बन्ध में यह अन्वेषण किया था। आधुनिक भू-स्वामित्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका अन्वेषण किराया-ज़मीन से सम्बन्ध रखता है, और इसलिये वह खण्ड २ में स्थान पाता है।[203] ड्यूहरिंग का अन्वेषण और ऐतिहासिक मूलाधार केवल एक शब्द "**बल**" तक ही सीमित है! यहां प्रत्यक्ष रूप में mala fides।*

---

* बेईमानी। – सं०

बड़े पैमाने का भू-स्वामित्व की ड्यूहरिंग ने जो व्याख्या की है, उसके लिये देखिये **'धन'** और **'मूल्य'**। उनकी यहां चर्चा कर देना बेहतर होगा।

और इस तरह किसी युग, किसी जाति, आदि के जीवन की आर्थिक, राजनीतिक, आदि परिस्थितियों को बल पैदा करता है। लेकिन बल को कौन पैदा करता है? संगठित बल मुख्यतया **सेना** होती है। और सेना की संरचना, संगठन, शस्त्रास्त्र, रणनीति तथा व्यूह कौशल जितना आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, उतनी और कोई वस्तु नहीं करती। उसकी नींव होते हैं हथियार, जो ख़ुद प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन के स्तर पर निर्भर करते हैं। पहले पत्थर के हथियार होते थे; फिर कांसे के और लोहे के; फिर कवच का प्रयोग आरम्भ हुआ; घुड़सवार सेना इस्तेमाल होने लगी; बारूद आया; और उसके बाद वह ज़बर्दस्त क्रान्ति आयी, जो आधुनिक उद्योग ने चूड़ीदार नालवाली पीछे की ओर से भरी जानेवाली बन्दूक़ और तोपख़ाना बनाकर युद्ध कला में पैदा कर दी है। यह बन्दूक़ और तोपें इस तरह की चीज़ें हैं, जिनको केवल आधुनिक उद्योग और उसकी लयबद्ध ढंग से काम करनेवाली और लगभग बिल्कुल एक-सी उत्पाद तैयार करनेवाली मशीनें ही बना सकती हैं। सेना की संरचना तथा संगठन, रणनीति तथा व्यूह कौशल शस्त्रास्त्र पर निर्भर करते हैं। व्यूह कौशल संचार के साधनों पर भी निर्भर करता है – येना की लड़ाई में सेनाओं की जिस तरह व्यूह रचना कर दी गयी और जिस प्रकार की सफलताएं प्राप्त की गयीं, वे असम्भव होतीं, यदि उस ज़माने में भी पक्की सड़कें होतीं। और अन्त में रेल-लाइनें! अतः उत्पादन की वर्तमान परिस्थितियों का बल पर जैसा प्रभुत्व है, वैसा तो और किसी भी वस्तु पर नहीं है; और यह बात कप्तान येन्स तक महसूस करते हैं (*Kölnische Zeitung*– 'मेकियावेली', आदि)।*

---

* एंगेल्स ने १८, २०, २२ तथा २५ अप्रैल, १८७६ के *Kölnische Zeitung* ('कोलोन गज़ेट') में 'मेकियावेली और सार्विक अनिवार्य भर्ती का विचार' शीर्षक निबंध पर प्रकाशित रिपोर्ट को उद्धृत किया है। यह निबंध बर्लिन में 'वैज्ञानिक समाज' में येन्स द्वारा पढ़ा गया था। एंगेल्स

संगीनवाले राइफ़ल से लेकर पीछे की तरफ़ से भरी जानेवाली बन्दूक़ तक, युद्ध की उन आधुनिक पद्धतियों पर विशेष ज़ोर देना चाहिये, जिनमें युद्ध का निर्णय खड्गधारी आदमी के हाथ में नहीं होता, बल्कि हथियार के हाथ में होता है। जहां सैनिक अच्छे नहीं होते, वहां युद्ध का परिणाम पंक्ति अथवा स्कंध से तय होता है, लेकिन राइफ़लधारी सैनिकों द्वारा उसकी रक्षा करनी पड़ती है (येना contra* वेलिंग्टन); और अन्त में तो वह इस बात से तय होता है कि सैनिकों को निशानेबाज़ों के छोटे-छोटे जत्थों में बिखरा दिया जाता है, और धीमी चाल की जगह सैनिक दौड़-दौड़कर चलने लगते हैं।

[ड्यूहरिंग के मतानुसार "निपुण हाथ तथा चतुर मस्तिष्क को उत्पादन का एक ऐसा साधन समझना चाहिये, जिसपर समाज का अधिकार होता है; उसे एक ऐसी **मशीन** समझना चाहिये, जिसकी पैदावार **समाज** की सम्पत्ति होती है"। इसपर एंगेल्स ने लिखा है:]

परन्तु जहां मशीन **मूल्य में वृद्धि नहीं करती, वहां निपुण हाथ उसमें वृद्धि कर देता!** अतः यहां मूल्य के आर्थिक नियम पर quant à cela** रोक लगा दी गयी है, मगर फिर भी वह जारी रहेगा।

["पूरी सोशलिटेरियन व्यवस्था के **राजनीतिक-क़ानूनी मूलाधार**" की ड्यूहरिंग की अवधारणा के विषय में एंगेल्स ने लिखा है:]

इस प्रकार यहां तत्काल भाववादी मापदण्ड का प्रयोग होने लगता है। स्वयं उत्पादन नहीं, बल्कि **क़ानून** यहां मापदण्ड है।

[ड्यूहरिंग के "आर्थिक कम्यून" तथा उसमें प्रचलित श्रम विभाजन, वितरण, विनिमय तथा मुद्रा की प्रणाली के विषय में एंगेल्स ने लिखा है:]

ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के भाग २, अध्याय ३ में इस निबंध का उल्लेख किया है (देखिये, वर्तमान संस्करण पृष्ठ, २७५) – **सं०**

* के ख़िलाफ़। – **सं०**

** जहां तक उसका सम्बन्ध है। – **सं०**

इसीलिये समाज अलग-अलग मज़दूरों को भी **मज़दूरी** देता है।

इसीलिये अपसंचय, सूदख़ोरी, उधार प्रणाली तथा उनके वे समस्त परिणाम होते हैं, जो बढ़ते-बढ़ते मुद्रा के संकटों तथा मुद्रा की कमी तक पहुंच जाते हैं। जब मुद्रा के माध्यम के द्वारा कम्यून के अलग-अलग सदस्यों के बीच विनिमय आरम्भ हो जाता है, तो मुद्रा आर्थिक कम्यून को उसी अनिवार्यता के साथ धड़ाके से उड़ा देती है, जिस अनिवार्यता के साथ वह इस समय रूसी कम्यून को, और साथ ही परिवारिक कम्यून को उड़ा देनेवाली है।

[एंगेल्स ने ड्यूहरिंग के निम्न वाक्य को उद्धृत किया है और साथ ही अपनी टिप्पणी कोष्ठकों के भीतर दे दी है: "इसलिये किसी भी रूप में वास्तविक कार्य प्रकृति का वह सामाजिक नियम है, जो समस्त स्वस्थ संगठनों पर शासन करता है" (जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके पहले के तमाम संगठन अस्वस्थ थे)। इसपर आगे एंगेल्स ने लिखा है:]

यहां पर श्रम की या तो आर्थिक तथा भौतिक दृष्टि से उत्पादक श्रम के रूप में कल्पना की गयी है–और उस हालत में यह वाक्य बकवास है और वह पुराने समस्त इतिहास से क़तई मेल नहीं खाता–और या श्रम की एक अधिक सामान्य रूप में कल्पना की गयी है, जिसमें वह प्रत्येक प्रकार की क्रियाशीलता शामिल होती है, जो किसी युग में आवश्यक या उपयोगी समझी जाती है, जैसे शासन कार्य, न्याय प्रशासन तथा सैनिक अभ्यास–और इस हालत में यह एक पिटी-पिटायी, साधारण-सी बात है, जिसे हद से ज़्यादा फुला दिया गया है और जिसका राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन इस पुरानी बकवास को "प्राकृतिक नियम" का नाम देकर समाजवादियों पर रोब ग़ालिब करने की कोशिश एक तुच्छ क़िस्म की धृष्टता प्रतीत होती है।

[धन और लूट के सम्बन्ध का ड्यूहरिंग ने जो विवेचन किया है, उसके विषय में एंगेल्स ने लिखा है:]

यहां ड्यूहरिंग की पूरी पद्धति हमारे सामने आ जाती है। प्रत्येक आर्थिक सम्बन्ध की, हर प्रकार के ऐतिहासिक निर्धारण से अलग, **उत्पादन**

के दृष्टिकोण से कल्पना की जाती है। इस कारण केवल बहुत सामान्य ढंग की बातें ही कही जा सकती हैं, और यदि ड्यूहरिंग उनसे आगे जाना चाहते हैं, तो उनको विचाराधीन युग के निश्चित ऐतिहासिक सम्बन्धों की ओर ध्यान देना पड़ता है, अर्थात् अमूर्त उत्पादन की सीमाओं के बाहर निकलकर गड़बड़ी पैदा कर देनी पड़ती है। फिर उसी आर्थिक सम्बन्ध की **वितरण** के दृष्टिकोण से कल्पना की जाती है, अर्थात् अभी तक जो ऐतिहासिक प्रक्रिया चलती रही है, उसे मात्र एक शब्द, बल में परिणत कर दिया जाता है और उसके बाद **बल** के दुष्परिणामों पर अपना क्रोध व्यक्त किया जाता है। जब हम प्राकृतिक नियमों पर विचार करेंगे, तब हम यह देखेंगे कि यह चीज़ हमें कहां से कहां पहुंचा देती है।

[ड्यूहरिंग का कहना है कि बड़े पैमाने के उद्यम का प्रबंध करने के लिये दास प्रथा या सामन्ती पराधीनता की आवश्यकता होती है। इसपर एंगेल्स ने लिखा है:]

इसलिये पहली बात तो यह है कि संसार का इतिहास बड़े पैमाने के भू-स्वामित्व से आरम्भ होता है! भूमि के बड़े-बड़े टुकड़ों की खेती और बड़े-बड़े भू-स्वामियों की खेती एक ही चीज़ हैं! बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामियों ने इटली की जिस भूमि को चरागाहों में रूपान्तरित कर दिया था, वह मानो पहले बिना जोती-बोयी पड़ी थी! और संयुक्त राज्य अमरीका का प्रचण्ड विस्तार स्वतंत्र किसानों के कारण नहीं, बल्कि दासों, भू-दासों, आदि के कारण हुआ है!

यहां फिर एक mauvais calembour* का प्रयोग किया गया है: "भूमि के काफ़ी बड़े आकार के टुकड़ों की खेती" का मतलब था इन टुकड़ों की जोताई करना। पर तत्काल ही उसका अर्थ यह लगाया गया कि बड़े पैमाने की खेती होने लगी है, और उसे बड़े पैमाने के भू-स्वामित्व के बराबर मान लिया गया! और इस अर्थ में यह कितना बड़ा और कितना नया आविष्कार है कि यदि कोई आदमी और उसके परिवार के

---

* दूषित श्लेष। – **सं०**

सदस्य जितनी भूमि को जोत सकते हैं, यदि उसके पास उससे अधिक भूमि हो जाती है, तो वह दूसरों के श्रम के बिना उसे नहीं जोत सकता! इसके अलावा **भू-दासों से जो खेती करायी जाती है**, वह भूमि के काफ़ी बड़े टुकड़ों की खेती नहीं होती, बल्कि वह तो **छोटी जोतों** की खेती होती है, और यह खेती भू-दास प्रथा से हमेशा पहले देखी गयी है (रूस, स्लाव लोगों की मार्क व्यवस्था में फ़्लेमिश, डच तथा फ़्रिसियन बस्तियां; देखिये लांगेथाल*)। जो शुरू में स्वतंत्र किसान थे, वे भू-दास **बना लिये जाते हैं;** और कहीं-कहीं पर तो यह परिवर्तन किसानों की अपनी इच्छा से – केवल **औपचारिक** स्वेच्छा से – हुआ है।

[ड्यूहरिंग का कहना है कि मूल्य का परिमाण उस प्रतिरोध के परिमाण से निर्धारित होता है, जिसका आवश्यकताओं की तुष्टि करने की क्रिया को सामना करना पड़ता है, और जिसके कारण "आर्थिक ऊर्जा का" (!) "कम या अधिक व्यय आवश्यक होता है"। इसपर एंगेल्स ने टिप्पणी की है:]

प्रतिरोध को अभिभूत करना – यह परिकल्पना गणितीय यांत्रिकी से उधार ली गयी है और राजनीतिक अर्थशास्त्र में वह बिल्कुल बेतुकी प्रतीत होती है। अब आप यह नहीं कह सकते कि "मैं कताई करता हूं, बुनाई करता हूं, कपड़े को सफ़ेद करता हूं और उसकी छपाई करता हूं"; बल्कि आपको कहना होगा कि "कपास कताई का जो प्रतिरोध करती है, सूत बुनाई का जो प्रतिरोध करता है, कपड़ा सफ़ाई और छपाई का जो प्रतिरोध करता है, मैं उसे अभिभूत करता हूं"। "मैं एक भाप का इंजन बना रहा हूं" वाक्य का अर्थ यह है कि "भाप के इंजन में रूपान्तरित किये जाने का लोहे की ओर से जो प्रतिरोध होता है, मैं उसे अभिभूत कर रहा हूं"। इस तरह मैं बात को केवल भारी-भरकम शब्दावली में घुमा-फिराकर कहता हूं, जिससे उसके अर्थ में इसके सिवा और कोई वृद्धि

---

*Chr. Eb. Langethal, *Geschichte der deutschen Landwirtschaft* ('जर्मन कृषि का इतिहास'), येना, १८४७-५६। – **सं०**

नहीं होती कि वह थोड़ी विकृत हो जाती है। परन्तु इस तरह मैं **वितरण मूल्य** को यहां ले आ सकता हूं। उसमें भी प्रतिरोध होता है और उसे अभिभूत करना पड़ता है। बात को घुमा-फिराकर कहने का असली कारण यह है!

[ड्यूहरिंग का दावा है कि "वितरण मूल्य शुद्ध और अनन्य रूप में केवल उसी स्थान पर मिलता है, जहां अनुत्पादित वस्तुओं का मनचाहा उपयोग करने की शक्ति, या" (!) "यदि अधिक साधारण शब्दावली का प्रयोग किया जाये, तो जहां स्वयं इन" (अनुत्पादित!) "वस्तुओं का वास्तविक उत्पादन मूल्य की सेवाओं या वस्तुओं के साथ विनिमय किया जाता है"। एंगेल्स ने इसपर लिखा है:]

अनुत्पादित वस्तु क्या होती है? वह भूमि, **जिसपर आधुनिक ढंग से खेती की जा रही है?** या वे वस्तुएं, जिनको उनके मालिक ने ख़ुद नहीं पैदा किया है? परन्तु उसके बाद "वास्तविक उत्पादन मूल्य" का प्रतिवाद भी तो है। उसके बाद जो वाक्य आता है, उससे प्रकट हो जाता है कि यहां पर फिर एक mauvais calembour का प्रयोग किया गया है। प्रकृति में उपलब्ध वे वस्तुएं, जिनका उत्पादन नहीं किया गया था, "मूल्य के उन संघटक भागों के साथ, जिनको बिना प्रतिसेवा के हस्तगत कर लिया जाता है", एक ही ढेर पर पटक दी जाती हैं।

[ड्यूहरिंग का दावा है कि सभी मानव संस्थाएं कठोरता के साथ निर्धारित होती हैं, परन्तु वे "प्रकृति की बाह्य शक्तियों के व्यवहार" की भांति नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उनको "जहां तक उनकी मुख्य विशेषताओं का सम्बन्ध है, बदलना लगभग असम्भव हो"। इस कथन की एंगेल्स ने इस प्रकार आलोचना की है:]

इसलिये यह एक प्राकृतिक नियम है और रहेगा।

इसके बारे में ड्यूहरिंग एक शब्द भी नहीं कहते कि हर प्रकार के योजनाहीन तथा असंगठित उत्पादन में अर्थव्यवस्था के नियम सदा वस्तुगत नियमों के रूप में मनुष्यों का सामना करते हैं, जो उनके सामने बिल्कुल

शक्तिहीन होते हैं, और इसी कारण अर्थव्यवस्था के नियम **प्राकृतिक नियमों के रूप में** मनुष्यों के सामने आते हैं।

["समस्त अर्थव्यवस्था के मूलभूत नियम" को ड्यूहरिंग ने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है: "आर्थिक साधनों की – प्राकृतिक **संसाधनों** तथा **मानव ऊर्जा की** – उत्पादकता **आविष्कारों और खोजों के फलस्वरूप बढ़ जाती है**, और वितरण का ढंग चाहे जैसा हो, यह चीज़ बराबर होती रहती है, और इसलिये वितरण में तथा उसके कारण काफ़ी परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु इससे **मुख्य परिणाम** की छाप" (!) "निर्धारित नहीं होती"। एंगेल्स ने इसपर लिखा है:]

वाक्य का अन्तिम भाग, अर्थात् "और वितरण का ढंग चाहे जैसा हो", इत्यादि इस नियम में कोई नयी बात नहीं जोड़ता, क्योंकि यदि यह नियम सच्चा है, तो वितरण उसमें कोई तब्दीली नहीं कर सकता, और यह कहना अनावश्यक है कि यह बात वितरण के प्रत्येक रूप के लिये सच है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो यह प्राकृतिक नियम न होता। किन्तु यह वाक्य केवल इसलिये जोड़ दिया गया है कि ड्यूहरिंग को इस छूंछे तथा सर्वथा अर्थहीन नियम को उसकी समस्त तुच्छता के साथ पाठक के सामने पेश कर देने में शर्म आती थी। इसके अलावा वह स्वतःविरोधी बातों से भरा है, क्योंकि यदि वितरण सचमुच काफ़ी बड़ी तब्दीलियां कर **सकता है**, तो हम यह नहीं कह सकते कि "वितरण का ढंग चाहे जैसा हो, यह चीज़ बराबर होती रहती है"। इसलिये हम अन्तिम भाग को काट डालते हैं और तब एक विशुद्ध और सरल नियम – **समस्त अर्थव्यवस्था का मूलभूत नियम** – हमारे हाथ में होता है।

परन्तु यह काफ़ी छिछला जो नहीं होता।

[ड्यूहरिंग का दावा है कि आर्थिक प्रगति उत्पादन के साधनों की कुल राशि पर नहीं निर्भर करती, "**बल्कि वह केवल ज्ञान पर और कार्यविधि की सामान्य प्राविधिक पद्धतियों** पर निर्भर करती है"; और ड्यूहरिंग के मतानुसार, "यदि पूंजी को **उसके प्राकृतिक अर्थ में** उत्पादन के एक औज़ार की तरह समझा जाये, तो यह तथ्य तत्काल ही सामने आ जाता है"। इसपर एंगेल्स ने लिखा है:]

ख़ेदिव[204] के भाप के हल जो नील नदी में पड़े हैं और रूसी अभिजात वर्ग की गाहने की मशीनें जो उनकी खलिहानों में बेकार खड़ी हैं, इसका सबूत हैं। भाप, आदि का प्रयोग सम्भव होने के पहले भी कुछ ऐतिहासिक पूर्वाधारों का पूरा होना ज़रूरी था। इन पूर्वाधारों की स्थापना अपेक्षाकृत सहज थी, परन्तु फिर भी उनकी स्थापना आवश्यक थी। परन्तु ड्यूहरिंग को इस बात का काफ़ी गर्व है कि उन्होंने उस स्थापना को, जिसका अर्थ पूर्णतया भिन्न है, इस हद तक बिगाड़ दिया है कि यह "विचार और हमारा सर्वोपरि महत्व का नियम दोनों एक चीज़ हो जाते हैं"। अर्थशास्त्री अब भी यह समझते थे कि इस नियम में कोई ठोस चीज़ है। ड्यूहरिंग ने उसे एक अतिसाधारण और पिटी-पिटायी बात में बदल दिया है।

["श्रम विभाजन के **प्राकृतिक नियम**" को ड्यूहरिंग ने इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है: "व्यवसायों के विभाजन और कार्यों के विच्छेदन से श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है।" इसपर एंगेल्स ने लिखा है:]

यह सूत्र ग़लत है, क्योंकि वह केवल पूंजीवादी उत्पादन के लिये ही सच है, और उसमें भी अब व्यवसायों के विभाजन से उत्पादन के रास्ते में रुकावट पड़ने लगी है, क्योंकि उससे व्यक्ति पंगु हो जाता है और उसका विकास रुक जाता है। और भविष्य में तो इस प्रकार का विभाजन बिल्कुल बन्द हो जायेगा। यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि **आजकल** जिस ढंग से व्यवसायों का विभाजन होता है, वह ड्यूहरिंग की दृष्टि में एक स्थायी चीज़ है, जो **सोशलिटेरियन व्यवस्था** पर भी लागू होगी।

पैदल सेना का व्यूह कौशल, भौतिक कारणों के आधार पर[205]

१७००–१८७०

चौदहवीं शताब्दी में पश्चिमी तथा मध्य यूरोप को बारूद और बारूद से चलनेवाले हथियारों का ज्ञान प्राप्त हुआ; और स्कूल में पढ़नेवाला प्रत्येक बच्चा जानता है कि इन विशुद्धतया प्राविधिक आविष्कारों ने युद्ध की पद्धतियों में एक पूरी क्रान्ति पैदा कर दी। लेकिन यह क्रान्ति बहुत धीरे-धीरे हुई। शुरू में बारूद से चलनेवाले जो शस्त्र बनाये गये थे, वे बहुत ही अनगढ़ थे – ख़ास तौर पर कड़ाबीन तो बहुत ही बेढंगी थी। और हालांकि बहुत-से अलग-अलग सुधार तो काफ़ी शुरू में ही हो गये थे – जैसे चूड़ीदार नाल, पीछे की ओर से भरी जानेवाली बन्दूक़, तोड़ेदार बंदूक़ इत्यादि बन गये थे – फिर भी ऐसी बन्दूक़ के बनने में, जिससे पूरी पैदल सेना को लैस किया जा सके, तीन सौ वर्ष से अधिक लग गये, और वह केवल सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ही बनायी जा सकी।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में पैदल सेना आंशिक रूप से बल्लमधारियों की और आंशिक रूप से कड़ाबीन बंदूक़धारियों की होती थी। शुरू में बल्लमधारियों का काम यह था कि दुश्मन पर धावा बोलकर युद्ध का निपटारा कर दें, जबकि कड़ाबीन बंदूक़धारियों की मार रक्षा के काम में आती थी। इसलिये बल्लमधारी ठोस समूहों में लड़ते थे, जैसे प्राचीन काल में यूनानी दस्ते लड़ा करते थे। कड़ाबीन बन्दूक़धारी सैनिक आठ से दस आदमियों तक का व्यूह बनाते थे, क्योंकि पहले सिपाही के दोबारा बन्दूक़ भरने में जितना समय लगता था, उतने समय में बाक़ी सिपाही बारी-बारी से बन्दूक़ें दाग़ सकते थे। जिस सिपाही की बन्दूक़ भर जाती थी, वह सामने आ जाता था और बन्दूक़ दाग़कर उसे फिर भरने के लिये आख़िरी स्थान में चला जाता था।

बारूद से चलनेवाले हथियारों के क्रमिक सुधार से यह सम्बन्ध बदल गया। तोड़ेदार बन्दूक़ को अन्त में इतनी तेज़ी से भरा जा सकता था कि

निरन्तर बन्दूक़ें दाग़ते रहने के लिये केवल पांच आदमियों की, अर्थात् पांच पंक्तियों का गहरा व्यूह बनाने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार अब बन्दूक़धारियों की पहले जितनी संख्या पहले से लगभग दुगने लम्बे मोर्चे को संभाल सकती थी। चूंकि बन्दूक़ों की गोलियों का अधिक घने व्यूह पर ज़्यादा विनाशकारी प्रभाव पड़ता था, इसलिये अब बल्लमधारियों को भी केवल छः या आठ पंक्तियों के गहरे व्यूह में संगठित किया जाता था। इसके फलस्वरूप संग्राम व्यूह धीरे-धीरे रेखा व्यूह सदृश होता गया, जिसमें लड़ाई का फ़ैसला बन्दूक़ की मार से होता था और बल्लमधारी दुश्मन के घुड़सवार सैनिकों से अपने बन्दूक़धारियों की रक्षा करने के लिये रखे जाते थे। इस काल के अन्त में हमें एक ऐसी व्यूह रचना के दर्शन होते हैं, जिसमें दो लड़ाकू दस्ते और एक रिज़र्व दस्ता होता था। प्रत्येक दस्ता प्रायः छः-छः पंक्तियों का रेखा व्यूह बनाता था; तोपें और घुड़सवार आंशिक रूप में बटालियनों के बीच-बीच में और आंशिक रूप में रेखा व्यूह के दोनों बाज़ुओं पर तैनात होते थे। पैदल सैनिकों की प्रत्येक बटालियन में अधिक से अधिक एक-तिहाई बल्लमधारी और कम से कम दो-तिहाई बन्दूक़धारी सैनिक होते थे।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में आख़िर तैयार कारतूसों वाली संगीनदार पत्थरकला बन्दूक़ तैयार हो गयी। इसके साथ-साथ पैदल सेनाओं से बल्लम का सदा के लिये लोप हो गया। बन्दूक़ भरने में जो समय लगता था, वह बराबर कम होता जा रहा था। बन्दूक़ों की ज़्यादा तेज़ बाढ़ ख़ुद सैनिकों की रक्षा करती थी, और ज़रूरत पड़ने पर बल्लम की जगह बन्दूक़ में लगी संगीन मौजूद थी। छः के बजाय चार पंक्तियों का रेखा व्यूह बनाना सम्भव हो गया; बाद में तीन पंक्तियों का और अन्त में कहीं-कहीं पर तो केवल दो पंक्तियों की व्यूह रचना होने लगी। इसलिये सैनिकों की संख्या उतनी ही रहते हुए भी मोर्चे की लम्बाई बराबर बढ़ती गयी; और पहले से कहीं अधिक बन्दूक़ें एकसाथ इस्तेमाल होने लगीं। परन्तु इन लम्बी और पतली रेखाओं को संभालना अधिकाधिक कठिन बनता गया। ये केवल समतल एवं बाधाहीन भूमि पर ही चल सकती थीं, और वहां भी महज़ बहुत धीरे-धीरे—एक मिनट में ७०–७५ क़दम। और मैदान

में ही दुश्मन की घुड़सवार सेना को इन रेखाओं पर और ख़ास तौर पर उनके बाज़ुओं पर सफलतापूर्वक आक्रमण करने का सबसे अधिक अवसर रहता था। कुछ हद तक तो इन बाज़ुओं की रक्षा करने के लिये और कुछ हद तक लड़ाकू रेखा को मज़बूत करने के लिये पूरी घुड़सवार सेना को रेखा व्यूह के दोनों बाज़ुओं पर इकट्ठा कर दिया जाता था। इसलिये असली संग्राम रेखा केवल पैदल सैनिकों और उनकी हल्की तोपों की होती थी। भारी तोपें, जिनको हटाना-चलाना बहुत ही मुश्किल होता था, बाज़ुओं के सम्मुख खड़ी रहती थीं, और लड़ाई के दौरान अधिक से अधिक केवल एक बार उनकी स्थिति बदली जाती थी। पैदल सैनिक दो दस्तों में खड़े किये जाते थे, जिनके बाज़ुओं के सामने पैदल सेना कोण बनाकर खड़ी होती थी। इस तरह पूरी व्यूह रचना एक बहुत लम्बे, खोखले आयत का रूप धारण कर लेती थी। जब इस भारी-भरकम जन समूह को इकट्ठा नहीं चलना होता था, तब उसे केवल तीन भागों में बांटा जा सकता था — केन्द्र और दो बाज़ू। इन तीन भागों की स्थिति में अधिक से अधिक केवल इतना ही परिवर्तन किया जा सकता था कि अपना जो बाज़ू शत्रु के बाज़ू से संख्या में मज़बूत होता था, उसे आगे बढ़ा दिया जाता था, ताकि वह दुश्मन के बाज़ू के दूसरी ओर से उसे घेर ले, और दूसरे बाज़ू को पीछे रखा जाता था, ताकि उसके डर से दुश्मन अपने मोर्चे को नयी स्थिति के अनुसार पुनर्संगठित न कर सके। लड़ाई के दौरान सैनिकों की व्यूह रचना को पूरी तरह बदलने में इतना अधिक समय लग जाता था और अपने मोर्चे में शत्रु को इतने अधिक दुर्बल स्थान मिल जाते थे कि इस तरह की कोशिशें लगभग हमेशा हार का कारण बन जाती थीं। इसलिये लड़ाई के शुरू में जो व्यूह रचना हो जाती थी, आख़िर तक उसी को बनाये रखना पड़ता था। और जब पैदल सिपाही लड़ाई में शामिल होते थे, तो एक ही चोट में लड़ाई का फ़ैसला हो जाता था। युद्ध की यह पूरी पद्धति, जिसका सबसे अधिक विकास फ़्रेडरिक द्वितीय ने किया था, दो संयुक्त रूप से कार्य करनेवाले भौतिक कारकों का अनिवार्य परिणाम थी; एक तो उस ज़माने की मानव सामग्री का, अर्थात् राजाओं के भाड़े के सिपाहियों का, जिनसे क़वायद तो बहुत सख़्त करायी जाती थी, पर फिर

भी जिनपर भरोसा नहीं किया जा सकता था और जिनको केवल डण्डे के ज़ोर से ही इकट्ठा रखा जाता था तथा जिनमें विरोधियों के ऐसे अनेक सैनिक होते थे, जिनको युद्ध में बन्दी बनाकर ज़बर्दस्ती अपनी सेना में भर्ती कर लिया गया था; और दूसरे, उस ज़माने के हथियारों का, अर्थात् भारी-भरकम तोपों तथा सपाट नालवाली संगीन लगी पत्थरकला बन्दूक़ों का, जो चलती तो तेज़ थीं, मगर निशाना बुरा लगाती थीं।

जब तक लड़नेवाले दोनों पक्ष मानव सामग्री और हथियारों की दृष्टि से एक ही स्तर पर बने रहे और जब तक पूर्वनिश्चित नियमों को मानना दोनों के हित में रहा तब तक लड़ाई का यही तरीक़ा इस्तेमाल होता रहा। पर जब अमरीका का स्वतन्त्रता युद्ध छिड़ा, तो भाड़े के सिपाहियों को, जो ख़ूब अच्छी तरह क़वायद कर चुके थे, अचानक ऐसे विद्रोहियों के झुण्डों का मुक़ाबला करना पड़ा, जो क़वायद करना तो नहीं जानते थे, पर निशाना बहुत अच्छा लगाते थे, जो प्रायः बहुत अच्छा निशाना लगानेवाली राइफ़लों से लैस रहते थे और जो ख़ुद अपने ध्येय के लिये लड़ रहे थे और इसलिये कभी पीठ नहीं दिखाते थे। इन विद्रोहियों ने अंग्रेज़ी सेना पर दया करके रण भूमि का वह सुप्रसिद्ध नृत्य नाचना स्वीकार नहीं किया, जिसमें दोनों पक्ष सैनिक शिष्टाचार के समस्त परम्परागत नियमों का पालन करते हुए, खुले मैदान में धीरे-धीरे क़दम रखते हुए आगे बढ़ते थे। ये विद्रोही तो अपने शत्रु को घने जंगलों में खींच ले जाते थे, जहां उसके प्रयाण व्यूह में संगठित लम्बे स्कंधों के बचाव का कोई उपाय नहीं होता था और चारों ओर बिखरे हुए अदृश्य निशानेबाज़ उसे अपनी गोलियों से भून डालते थे। इन लोगों की व्यूह रचना बहुत ढीली-ढाली होती थी। उनकी भूमि उनको लुकने-छिपने के जितने अवसर प्रदान करती थी, वे उन सब का अपने दुश्मन को परेशान करने के लिये उपयोग करते थे। साथ ही वे अपनी गतिशीलता को हमेशा बनाये रखते थे, जिसका उनके शत्रु के सैनिकों का भारी-भरकम समूह कभी मुक़ाबला नहीं कर पाता था। इसलिये यहां पर रेखा व्यूह की तुलना में बिखरे हुए निशानेबाज़ों की गोलियों की बौछार अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुई। छोटी-छोटी मुठभेड़ों में यह बात ख़ास तौर पर देखने में आयी। वैसे इस तरह की बौछार ने उसी

समय महत्व प्राप्त कर लिया था, जब हाथ में उठाकर ले जाने योग्य बारूद से चलनेवाले हथियारों का इस्तेमाल शुरू हुआ था।

यूरोप की भाड़े की सेनाओं के सैनिक ढीली-ढाली व्यूह रचना से लड़ने के योग्य नहीं थे। और उनके हथियार तो इस तरह की लड़ाई के और भी कम योग्य थे। यह सच है कि अब बन्दूक़ को चलाते समय उसे उस तरह छाती से नहीं दबाना पड़ता था, जिस तरह पुरानी तोड़ेदार बन्दूक़ों को दबाना पड़ता था। अब बन्दूक़ को कंधे तक लाना पड़ता था, जैसा कि आजकल भी ज़रूरी होता है। परन्तु अब भी निशाना लगाने का कोई सवाल नहीं उठ सकता था, क्योंकि बन्दूक़ का दस्ता एकदम नाल की सीध में था, जिसकी वजह से आंख स्वतंत्रतापूर्वक निशाना नहीं लगा सकती थी। यह बात केवल १७७७ में हुई कि फ़्रांस में शिकारियों की राइफ़ल का टेढ़ा कुन्दा पैदल सैनिकों की राइफ़ल में भी इस्तेमाल होने लगा और निशानेबाज़ों की तरह असरदार गोली चलाना मुमकिन हो गया। एक और उल्लेखनीय सुधार यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में ग्रिबो-वाल ने एक ज़्यादा हल्की, मगर फिर भी ठोस तोप गाड़ी तैयार कर दी। तोपख़ाने के लिये बाद में जिस स्तर की गतिशिलता की आवश्यकता हुई, वह केवल इस तोप गाड़ी के कारण ही सम्भव हुई।

इन दो प्राविधिक सुधारों का रण क्षेत्र में उपयोग करने का काम इतिहास ने फ़्रांसीसी क्रान्ति को दे रखा था। जब यूरोप के मित्र राष्ट्रों ने क्रान्ति पर हमला किया, तो राष्ट्र के जितने लोग हथियार उठा सकते थे, उन सब को क्रान्ति ने लड़ने के लिये इकट्ठा कर दिया। परन्तु इस राष्ट्र के पास रेखा व्यूह कौशल के जटिल दांव-पेंच सीखने के लिये इतना समय नहीं था कि वह प्रशा तथा आस्ट्रिया की अनुभवी पैदल सेनाओं का उन्हीं की जैसी व्यूह रचना करके सफलतापूर्वक मुक़ाबला कर सकता। दूसरी ओर, फ़्रांस के पास न केवल अमरीका के आदिम जंगल नहीं थे, बल्कि उसके पास अमरीका की लगभग सीमाहीन भूमि भी पीछे हटने के लिये नहीं थी। यहां तो ज़रूरत इस बात की थी कि देश की सीमा और पेरिस के बीच में ही शत्रु को हरा दिया जाये। अर्थात् यहां एक निश्चित क्षेत्र की रक्षा करनी थी, और यह कार्य अन्ततोगत्वा केवल खुले जन-संग्राम

के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। चुनांचे निशानेबाज़ों की शृंखलाओं के अतिरिक्त एक ऐसे रूप का आविष्कार करना आवश्यक था, जिसकी मदद से फ़्रांस की जनता, जो फ़ौजी क़वायद नहीं जानती थी, सफलता की थोड़ी-बहुत सम्भावना के साथ यूरोप की स्थायी सेनाओं का मुक़ाबला कर सके। इस रूप का घने स्कंध की शक्ल में आविष्कार हुआ, जिसका कुछ जगहों में इसके पहले भी इस्तेमाल हो चुका था, पर जो आम तौर पर अभी तक केवल परेड के मैदान में ही काम में आता था। रेखा व्यूह की अपेक्षा स्कंध व्यूह को बनाये रखना अधिक सहज था। जब कभी वह अस्त-व्यस्त हो जाता था, तब भी उसका गठा हुआ सैनिक समूह कम से कम निष्क्रिय प्रतिरोध ज़रूर जारी रखता था। स्कंध का संचालन करना ज़्यादा आसान था। वह स्कंध नायक की प्रत्यक्ष कमान में ज़्यादा रहता था और ज़्यादा तेज़ी से चल-फिर सकता था। उसकी रफ़्तार एक मिनट में सौ क़दम या उससे भी ज़्यादा तक पहुंच गयी थी। परन्तु उसका जो सबसे महत्वपूर्ण परिणाम हुआ, वह यह था कि जब स्कंध का लड़ाई की एकमात्र व्यूह रचना के रूप में उपयोग किया गया तो पुराने, भारी-भरकम और बिल्कुल एक से रेखा व्यूह को अलग-अलग हिस्सों में बांट देना सम्भव हो गया। हर हिस्सा कुछ हद तक स्वाधीन हो गया। अब हरेक को जो सामान्य आदेश मिलते थे, वह उनमें परिस्थिति के अनुसार थोड़ा हेर-फेर कर सकता था। और यदि इसकी ज़रूरत समझी जाती थी, तो हर हिस्से में सेना के तीनों विभाग शामिल किये जा सकते थे। स्कंध इतना सुघट्य था कि वह सैनिकों के प्रत्येक सम्भव संयोजन का उपयोग कर सकता था। स्कंध के साथ गांवों और फ़ार्म-गृहों को इस्तेमाल किया जा सकता था, जिनके उपयोग की फ़्रेडरिक द्वितीय के काल में भी सख़्त मनाही थी। अब से वे प्रत्येक लड़ाई में मुख्य आधार बिन्दुओं का काम करने लगे। स्कंध व्यूह रचना का हर प्रकार की भूमि पर प्रयोग किया जा सकता था। और अन्तिम बात यह है कि जहां कहीं लड़ाई का नतीजा एक ही मुठभेड़ पर निर्भर करता था, वहां स्कंध व्यूह कौशल ऐसे युद्ध कौशल का मुक़ाबला कर सकता था, जिसमें निशानेबाज़ों की शृंखलाओं के ज़रिये और सैनिकों के क्रमिक उपयोग के द्वारा लड़ाई को लम्बा खींचकर शत्रु

की रेखा व्यूह को इतना अधिक थका दिया जाता था कि वह उन ताज़ा सिपाहियों के हमले को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, जिनको एकदम आख़िर तक बचाकर रखा जाता था और अन्तिम समय में लड़ाई में झोंक दिया जाता था। रेखा व्यूह रचना सभी बिन्दुओं पर समान रूप से मज़बूत होती थी; पर स्कंध बनाकर लड़नेवाला शत्रु थोड़े-थोड़े सैनिकों के कूट आक्रमणों के द्वारा इस रेखा के एक भाग को लड़ाई में फंसाकर रख सकता था और अपने सैनिकों के मुख्य भाग को किसी मुख्य बिन्दु पर हमला करने के लिये संकेंद्रित कर सकता था।

अब ज़्यादातर गोलाबारी निशानेबाज़ों के असंगठित दल करते थे और स्कंध संगीनों से हमला करते थे। इससे पुनः उसी प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना हो गयी थी, जिस प्रकार का सम्बन्ध सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में निशानेबाज़ों की शृंखलाओं तथा बल्लमधारियों के समूह के बीच पाया जाता था। अन्तर केवल यह था कि आधुनिक स्कंध किसी भी समय बिखरकर निशानेबाज़ों की शृंखलाएं बना सकते थे, और बाद में फिर इकट्ठा होकर स्कंधों का रूप धारण कर सकते थे।

लड़ाई का यह नया तरीक़ा, जिसके उपयोग को नेपोलियन ने विकास के शीर्ष पर पहुंचा दिया था, पुराने तरीक़े से इतना अधिक अच्छा था कि जब इसका उससे मुक़ाबला हुआ, तो पुराने तरीक़े का मैदान में ठहरना असम्भव हो गया। इन दोनों तरीक़ों की आख़िरी मुठभेड़ येना में हुई, जहां प्रशा की भारी-भरकम, धीरे-धीरे चलनेवाली, रेखा व्यूह में संगठित सेना, जो निशानेबाज़ी के लिये लगभग बेकार थी, फ़्रांसीसी निशानेबाज़ों की गोलियों की बौछार के सामने मानो पिघलकर बह गयी। वह इस बौछार का केवल पलटनिया बौछार से ही जवाब दे सकती थी। लेकिन अगर रेखा व्यूह में संगठित सेना अनुपयोगी सिद्ध हुई, तो भी संग्राम व्यूह रचना के लिये रेखाओं का उपयोग जारी रहा। येना की लड़ाई में प्रशा की रेखाओं के इतनी बुरी तरह ध्वंस होने के कुछ वर्ष बाद वेलिंग्टन ने अपनी रेखा व्यूह में संगठित अंग्रेज़ी सेना के साथ फ़्रांसीसी स्कंधों का मुक़ाबला किया और प्रायः उनको हराया। परन्तु वेलिंग्टन ने तो ख़ुद फ़्रांसीसियों के सम्पूर्ण व्यूह कौशल को अपना लिया था। अन्तर केवल यह था कि वह अपनी

पैदल सेना को स्कंध व्यूह रचना के बजाय रेखा व्यूह रचना बनाकर लड़ाता था। इस प्रकार उसे दोहरा लाभ होता था—जब गोलियों की बौछार करनी होती थी, तो उसकी सारी राइफ़लें एकसाथ छूटती थीं, और जब हमला करना होता था, तो उसकी सारी संगीनें एकसाथ धावा बोलती थीं। पिछले कुछ वर्षों तक अंग्रेज़ सदा इसी व्यूह रचना का प्रयोग करते थे और हमला करते समय (अल्बुहेरा) तथा रक्षा की लड़ाई लड़ते समय (इंकेरमान)[206] दोनों स्थितियों में उनका पलड़ा भारी रहता था। यहां तक कि जब शत्रु की संख्या की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत कम होती थी, तब भी यही हालत होती थी। बुगेओद को अंग्रेज़ी रेखा व्यूह रचना का कई बार मुक़ाबला करना पड़ा था और वह अपनी मृत्यु के समय तक इस व्यूह रचना को स्कंधों से श्रेष्ठ समझता था।

इसके अतिरिक्त पैदल सेना की बन्दूक़ें बहुत ही ख़राब थीं। हद यह थी कि सौ क़दम की दूरी पर खड़े हुए व्यक्ति को कभी-कभार संयोग से ही गोली लग जाती थी और तीन सौ क़दम की दूरी पर तो पूरी बटालियन को भी मुश्किल से ही कभी गोली लग पाती थी। चुनांचे, जब फ़्रांसीसी अल्जीरिया में पहुंचे, तो बद्दुओं की लम्बी बन्दूक़ों ने, जो इतनी दूर से मार करती थीं कि फ़्रांसीसी बन्दूक़ें उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती थीं, उनको ढेर कर दिया। यहां तो केवल चूड़ीदार नाल की बन्दूक़ ही कुछ काम दे सकती थी। लेकिन इस राइफ़ल का सबसे अधिक विरोध फ़्रांस में ही हुआ था। वहां लोग एक संकटकालीन शस्त्र के रूप में भी उसका उपयोग नहीं करना चाहते थे। दलील यह थी कि राइफ़ल को भरने में बहुत समय लगता था और उसकी नाल बहुत जल्दी अन्दर से गन्दी हो जाती थी। परन्तु अब, जबकि एक ऐसी बन्दूक़ की ज़रूरत महसूस हुई, जिसे आसानी से भरा जा सके, तो यह ज़रूरत फ़ौरन पूरी हो गयी। देलविग्ने ने जो प्रारम्भिक काम किया था, उसे थूवेनिन की बनायी हुई टाइज-राइफ़ल और मिन्ये की बनायी हुई फैलनेवाली गोलियों ने आगे बढ़ाया। बन्दूक़ को भरने में जो समय लगता था, उसकी दृष्टि से इन गोलियों के फलस्वरूप चूड़ीदार नालवाली बन्दूक़ और सपाट नालवाली बन्दूक़ बिल्कुल एक स्तर पर आ गयीं। चुनांचे अब पूरी पैदल सेना को काफ़ी

दूरी से सही निशाना लगानेवाली राइफ़लों से लैस किया जा सकता था। लेकिन सामने की तरफ़ से भरी जानेवाली चूड़ीदार नालवाली बन्दूक़ के उपयोग के उपयुक्त व्यूह कौशल का विकास होने के पहले ही सबसे आधुनिक हथियार, पीछे से भरी जानेवाली चूड़ीदार नालवाली बन्दूक़ ने उसका स्थान ले लिया, और उसके साथ-साथ चूड़ीदार नालवाली तोपों की कार्य क्षमता का अधिकाधिक विकास होने लगा।

क्रान्ति ने सम्पूर्ण राष्ट्र को हथियारबन्द कर देने की प्रथा का श्रीगणेश किया था। पर शीघ्र ही उसमें काफ़ी कठिनाइयों का अनुभव होने लगा। जिन नौजवानों की आयु सेना में भर्ती के योग्य थी, उनका केवल एक भाग ही पर्चियां डालकर स्थायी सेना में भर्ती किया जाता था; और बाक़ी नागरिकों का एक न्यूनाधिक भाग अप्रशिक्षित राष्ट्रीय गार्ड में संगठित कर लिया जाता था। या जिन देशों में सार्विक अनिवार्य सैनिक भर्ती के क़ानून का सचमुच कड़ाई के साथ पालन किया जाता था, जैसे स्विट्ज़रलैण्ड में, वहां अधिक से अधिक एक मिलीशिया बना ली जाती थी, जो बाक़ायदा क़वायद कुछ सप्ताह से अधिक नहीं करती थी। आर्थिक कारणों से अनिवार्य भर्ती और मिलीशिया में से किसी एक को चुन लेना अनिवार्य हो गया था। यूरोप का केवल एक ही देश था—और वह भी सबसे ग़रीब देशों में से एक था—जिसने सार्विक अनिवार्य भर्ती और स्थायी सेना दोनों का साथ-साथ उपयोग करने की चेष्टा की। वह था प्रशा। और हालांकि वहां स्थायी सेना में काम करने के सार्विक उत्तरदायित्व पर पूरी तरह ज़ोर नहीं दिया जाता था और आर्थिक कारणों से भी यह बात ज़रूरी थी, फिर भी प्रशा की Landwehr प्रणाली* स्थायी रूप से संगठित और प्रशिक्षित लोगों की इतनी बड़ी संख्या सरकार के लिये तैयार कर देती थी कि समान जनसंख्यावाले अन्य किसी भी देश की तुलना में प्रशा निर्णायक रूप से अधिक बलवान बन गया था।

१८७० के फ़्रांस और जर्मनी के युद्ध में अनिवार्य भर्ती की फ़्रांसीसी प्रणाली प्रशा की Landwehr प्रणाली के सामने पराजित हो गयी। किन्तु

---

* देखिये टिप्पणी ८४।—सं०

इस युद्ध में पहली बार दोनों पक्ष पीछे से भरी जानेवाली राइफ़लों से लैस थे, हालांकि चलने-फिरने तथा लड़ने के नियम अब भी मूलतया वही थे, जो पुरानी पत्थरकला बन्दूक़ों के ज़माने में इस्तेमाल होते थे। अधिक से अधिक केवल इतना परिवर्तन आ गया था कि निशानेबाज़ों की शृंखलाएं थोड़ी अधिक ठोस हो गयी थीं। जहां तक बाक़ी बातों का सम्बन्ध है, फ़ांसीसियों ने इस युद्ध में भी पुरानी बटालियन स्कंध व्यूह रचना का और कभी-कभी तो रेखा व्यूह का भी उपयोग किया, जबकि जर्मनों की तरफ़ से कम्पनी स्कंध व्यूह रचना का उपयोग करके, कम से कम लड़ाई की एक ऐसी पद्धति का आविष्कार करने की कोशिश की गयी, जो नये ढंग के हथियारों के अधिक अनुकूल थी। शुरू की कुछ मुठभेड़ों में इसी तरह काम चला, पर जब (१८ अगस्त को) सें-प्रिव पर धावा बोलने के समय प्रशियाई गार्ड की तीन ब्रिगेडों ने गम्भीरतापूर्वक कम्पनी स्कंध व्यूह रचना का प्रयोग करने की चेष्टा की, तो पीछे से भरी जानेवाली बन्दूक़ों की सर्वनाशी शक्ति एकदम स्पष्ट हो गयी। इस धावे में जिन पांच रेजिमेण्टों ने (कुल संख्या १५,००० थी) मुख्यत: भाग लिया था, उनमें लगभग सभी अफ़सर (१७६) और ५,११४ सिपाही, अर्थात् एक-तिहाई से अधिक खेत रहे। अकेले गार्ड के पैदल सैनिकों की संख्या लड़ाई में सम्मिलित होने के समय २८,१६० थी; उसमें से ८,२३० आदमी उस रोज़ मारे गये, जिनमें ३०७ अफ़सर थे।[207] तभी से रण व्यूह के रूप में कम्पनी स्कंध भी उतना ही बुरा समझा जाने लगा, जितने बुरे बटालियन स्कंध व्यूह या रेखा व्यूह समझे जाते थे। अब सभी ने समझ लिया कि किसी भी प्रकार की घनी व्यूह रचना में अपने सिपाहियों को दुश्मन की राइफ़लों की बौछार में भुनने के लिये छोड़ देना अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। जर्मनों की तरफ़ से इसके बाद से केवल निशानेबाज़ों की ठोस शृंखलाओं का ही उपयोग होने लगा। अभी तक जब कभी स्कंधों को दुश्मन की भयानक बाढ़ का सामना करना पड़ता था, तो वे हमेशा निशानेबाज़ों की ठोस शृंखलाओं में बिखर जाया करते थे, हालांकि सेना के ऊंचे अधिकारी इसके ख़िलाफ़ थे, क्योंकि उनकी राय में यह चीज़ अच्छे रण व्यूह के नियमों के ख़िलाफ़ जाती थी। अब यही चीज़ नियम बन गयी। एक बार फिर

सिपाही अफ़सर से ज़्यादा होशियार साबित हुआ। पीछे से भरी जानेवाली राइफ़लों की गोलियों की बौछार के सामने अभी तक लड़ने का केवल एक ही तरीक़ा कारगर साबित हुआ है। उसका आविष्कार साधारण सिपाही ने नैसर्गिक ढंग से किया था, और उसी ने अपने अफ़सरों के विरोध के बावजूद इस तरीक़े का सफलतापूर्वक उपयोग किया था। इसी प्रकार अब राइफ़ल की भयानक बौछारों की मार के भीतर केवल **दौड़-दौड़कर चलने** का ही प्रयोग किया जाता था।

'समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' शीर्षक पैम्फ़लेट में एंगेल्स द्वारा 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के मूल पाठ के लिये लिखे गये अनुपूरक

प्रस्तावना

अध्याय १*

पृष्ठ ३१

['समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' शीर्षक पैम्फ़लेट में "यद्यपि समाजवाद की जड़ें आर्थिक तथ्यों में बहुत गहराई तक फैली हुई थीं, तथापि हर नये सिद्धान्त की तरह उसे भी शुरू में उस विचार सामग्री से अपना नाता जोड़ना पड़ा, जो उसे पहले से तैयार पड़ी हुई मिल गयी थी" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

यद्यपि समाजवाद की जड़ें भौतिक आर्थिक तथ्यों में बहुत गहराई तक फैली हुई थीं, तथापि हर नये सिद्धान्त की तरह उसे भी शुरू में उस विचार सामग्री से अपना नाता जोड़ना पड़ा, जो उसे पहले से तैयार पड़ी हुई मिल गयी थी। [F. Engels, *Socialism: Utopian and Scientific*, मास्को, १९५८, पृष्ठ ४८]।

पृष्ठ ३२

["यह वह ज़माना था, जब हेगेल के शब्दों में दुनिया सिर के बल खड़ी थी" शब्दों के साथ निम्नलिखित टिप्पणी जोड़ी गयी:]

फ़्रांसीसी क्रान्ति से सम्बन्धित अंश यह है: "क़ानून की अवधारणा ने **एकबारगी** अपना जोर दिखाया और उसके मुक़ाबले में अन्याय का पुराना

---

*प्रत्येक उद्धरण के शीर्ष पर अध्याय तथा पृष्ठ संख्या और साथ ही कोष्ठकों में दिये गये इन उद्धरणों के लिये शीर्षक संपादक ने जोड़े हैं। – **सं०**

ढांचा खड़ा नहीं रह सका। अतः क़ानून की इस अवधारणा के अनुसार अब एक संविधान की स्थापना कर दी गयी है और अब से हर चीज़ का इस संविधान पर आधारित होना आवश्यक है। जब से आकाश में सूर्य प्रकट हुआ है और ग्रहों ने उसकी परिक्रमा आरम्भ की है, तब से आज तक यह दृश्य कभी नहीं देखा गया था कि मनुष्य अपने सिर के बल–अर्थात् विचार तत्व के बल–खड़ा हो, और अपनी कल्पना के अनुसार वास्तविकता का निर्माण कर रहा हो। सबसे पहले अनैक्सागोरस ने यह कहा था कि Nûs–बुद्धि–संसार पर शासन करती है; लेकिन यह बात मनुष्य ने पहली बार अब स्वीकार की कि विचार तत्व को मानसिक वास्तविकता पर शासन करना चाहिये। यह एक **महान देदीप्यमान सूर्योदय था। सभी विचारशील प्राणियों ने इस पवित्र दिवस का उत्सव मनाने में भाग लिया है।** उस समय एक **उदात्त भावना** मनुष्यों को प्रभावित कर रही थी, **विवेक का उत्साह संसार में व्याप्त था,** और लगता था, जैसे ईश्वरीय सिद्धान्त का इस संसार के साथ अब कहीं जाकर समाधान हुआ है" (हेगेल, *Philosophie des Geschichte*–'इतिहास का दर्शनशास्त्र'– १८४०, पृष्ठ ५३५)। अब क्या स्वर्गीय प्रोफ़ेसर हेगेल के ऐसे विध्वंसक तथा सबके लिये समान रूप से ख़तरनाक विचारों के ख़िलाफ़ समाजवादियों विरोधी क़ानून लागू करने का समय नहीं आ गया है? [उपर्युक्त, पृष्ठ ४६]

पृष्ठ ३३

["अब पहली बार मनुष्य ने दिन का प्रकाश देखा है। अब से अंधविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों और अत्याचार के स्थान पर शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, प्रकृति पर आधारित समानता और मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों की स्थापना होनी चाहिए" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

अब पहली बार मनुष्य ने दिन का प्रकाश, बुद्धि का राज्य देखा है। अब से अंधविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों और अत्याचार के स्थान

पर शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, प्रकृति पर आधारित समानता और मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों की स्थापना होनी चाहिए। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५०]

पृष्ठ ३३

["लेकिन सामन्ती अभिजात वर्ग तथा बुर्जुआ के विरोध के साथ-साथ शोषकों और शोषितों का, धनी परजीवियों और ग़रीब मेहनतकशों का सामान्य विरोध भी था" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

लेकिन सामन्ती अभिजात वर्ग तथा बुर्जुआ के, जो बाक़ी सारे समाज के प्रतिनिधि होने का दावा करते थे, विरोध के साथ-साथ शोषकों और शोषितों का, धनी परजीवियों और ग़रीब मेहनतकशों का सामान्य विरोध भी था। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५०]

पृष्ठ ३४

["उदाहरण के लिए, जर्मनी के चर्च सुधार तथा किसान युद्ध के समय टॉमस मुंज़र का आन्दोलन देखने में आया था; महान अंग्रेज़ी क्रान्ति के समय लैविलर आन्दोलन छिड़ा था; महान फ़्रांसीसी क्रांति के समय बाब्येफ़ की तहरीक हुई थी" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

उदाहरण के लिये, जर्मनी के चर्च सुधार तथा किसान युद्ध के समय अनैबैप्टिस्टों और टॉमस मुंजर का आन्दोलन देखने में आया था; महान अंग्रेज़ी क्रान्ति के समय लैविलर आन्दोलन छिड़ा था; महान फ़्रांसीसी क्रान्ति के समय बाब्येफ़ की तहरीक हुई थी। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५०]

पृष्ठ ३४

["यह नयी शिक्षा सबसे पहले एक संयमी और स्पार्टावादी कम्युनिज़्म के रूप में सामने आयी" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

यह नयी शिक्षा सबसे पहले एक संयमी, जीवन के समस्त सुखों का त्याग करनेवाले स्पार्टावादी कम्युनिज़्म के रूप में सामने आयी। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५२]

पृष्ठ ३४—३५

["फ़्रांसीसी दार्शनिकों की तरह वे (समाजवादी-कल्पनावादी) भी किसी एक विशेष वर्ग को नहीं, बल्कि समस्त मानवता को मुक्त कर देना चाहते हैं" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

फ़्रांसीसी दार्शनिकों की तरह वे भी शुरू से ही किसी एक विशेष वर्ग को नहीं, बल्कि समस्त मानवता को एकबारगी मुक्त कर देना चाहते हैं। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५२-५३]

पृष्ठ ३५

["सभी अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और पहले जर्मन समाजवादियों का, जिनमें वीटलिंग भी शामिल हैं, इसी प्रकार का दृष्टिकोण है" वाक्य के बजाय निम्नलिखित वाक्य दिया गया है:]

उन्नीसवीं शताब्दी के समाजवादी विचारों पर बहुत दिनों से कल्पनावादियों की चिन्तन प्रणाली का शासन रहा है, और उनमें से कुछ पर तो आज भी उसका प्रभाव पाया जाता है। अभी हाल तक सभी फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी समाजवादी इस चिन्तन प्रणाली को मानते थे। शुरू के दिनों का जर्मन कम्युनिज़्म भी, जिसमें वीटलिंग भी शामिल हैं, इसी धारा से सम्बन्ध रखता था। [उपर्युक्त, पृष्ठ ६९]

पृष्ठ ३८

["जब हम सामान्य प्रकृति अथवा मानवजाति के इतिहास के विषय में या अपने बौद्धिक क्रिया-कलाप के विषय में सोचते और विचार करते

हैं, तो पहले नाना प्रकार के सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और संचयों के एक अन्तहीन उलझाव का चित्र हमारी आंखों के सामने आता है, जिसमें कोई भी चीज़ वह नहीं रहती, जो वह पहले थी, वहां नहीं रहती, जहां वह पहले थी और वैसी नहीं रहती, जैसी वह पहले थी; बल्कि हर चीज़ हरकत करती रहती है, बदलती रहती है, बनती और ख़त्म होती रहती है" वाक्य के बाद निम्नलिखित वाक्य जोड़ा गया:]

इसलिये पहले हम पूरे चित्र को एकसाथ देखते हैं, और उसके अलग-अलग भाग पृष्ठभूमि में रह जाते हैं, पहले हम हरकतों को, परिवर्तनों को और सम्बन्धों को देखते हैं, न कि **उन वस्तुओं को, जो** हरकत करती हैं, बदलती हैं, और एक दूसरे के साथ जुड़ जाती हैं। [उपर्युक्त, पृष्ठ ७२]

पृष्ठ ३८

["यह काम मूलतया प्राकृतिक विज्ञान तथा ऐतिहासिक अनुसंधान को करना पड़ता है; प्राचीन काल के यूनानियों ने विज्ञान की इन्हीं शाखाओं को गौण स्थिति में रख छोड़ा था, और इसकी उनके पास एक अच्छी-ख़ासी वजह भी थी, क्योंकि पहले उनको आवश्यक सामग्री जमा करनी थी" वाक्य के बाद निम्नलिखित वाक्य जोड़ा गया:]

किसी भी प्रकार का समीक्षात्मक विश्लेषण, तुलना, या वर्गों, जाति और प्रजातियों में विभाजन करने के पहले यह आवश्यक है कि प्रकृति तथा इतिहास से सम्बन्धित सामग्री की एक निश्चित मात्रा एकत्रित कर ली जाये। [उपर्युक्त, पृष्ठ ७३]

पृष्ठ ४२

["प्रकृति, द्वन्द्ववाद की कसौटी है; और आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने द्वन्द्ववाद के प्रमाण के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है, जो दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही

है; और इस प्रकार उसने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति में हर चीज़ अधिभूतवादी ढंग से नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक ढंग से घट रही है" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

प्रकृति, द्वन्द्ववाद की कसौटी है; और आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने द्वन्द्ववाद के प्रमाण के रूप में अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है, जो दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है; और इस प्रकार उसने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति में हर चीज़ अधिभूतवादी ढंग से नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक ढंग से घट रही है; तथा वह एक चिर अपरिवर्तनशील एवं निरन्तर आवर्तक वृत्त के भीतर चक्कर नहीं काटती रहती, बल्कि एक वास्तविक ऐतिहासिक विकास से गुज़रती है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले डार्विन का नाम लेना होगा। यह प्रमाणित करके कि सारा कार्बनिक जगत्—पेड़-पौधे, पशु और स्वयं मनुष्य, एक ऐसी विकास क्रिया के फल हैं, जो करोड़ों वर्षों से जारी है, डार्विन ने प्रकृति की अधिभूतवादी अवधारणा पर सबसे कड़ा प्रहार किया था। [उपर्युक्त, पृष्ठ ७६-७७]

पृष्ठ ४४

["इस बात का यहां कोई महत्व नहीं है कि हेगेल ने इस समस्या को हल नहीं किया। उनकी युगान्तरकारी सफलता यह थी कि उन्होंने इस समस्या को पेश कर दिया" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

इस बात का यहां कोई महत्व नहीं है कि हेगेलीय पद्धति ने जिस समस्या को पेश किया था, उस समस्या को हल नहीं किया। हेगेलीय पद्धति की ऐतिहासिक सेवा इस बात में निहित है कि उसने इस समस्या को पेश किया। [उपर्युक्त, पृष्ठ ७८]

पृष्ठ ४७–४८

["नये तथ्यों के कारण पिछले समस्त इतिहास की नये सिरे से जांच करना आवश्यक हो गया। तब यह मालूम हुआ कि पुराना **सारा** इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है; ये संघर्षशील सामाजिक वर्ग सदा उत्पादन

तथा विनिमय की प्रणालियों से – या संक्षेप में कहें, तो अपने काल के **आर्थिक** सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं; समाज की आर्थिक संरचना ही सदा वह वास्तविक आधार होती है, जिससे आरम्भ करके ही हम किसी ख़ास ऐतिहासिक युग की क़ानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं के और साथ ही धार्मिक, दार्शनिक तथा अन्य विचारों के ऊपरी ढांचे की अन्तिम व्याख्या कर सकते हैं। इस तरह भाववाद को उसके आख़िरी शरणस्थान से, इतिहास की अवधारणा से भी बहिष्कृत कर दिया गया। अब इतिहास की एक भौतिकवादी व्याख्या की गयी; और ऐसी पद्धति का आविष्कार किया गया, जो मनुष्य की सत्ता की व्याख्या उसकी चेतना के आधार पर नहीं करती थी, जैसा कि अभी तक होता आया था, बल्कि जो मनुष्य की चेतना की व्याख्या उसकी सत्ता के आधार पर करती थी।

परन्तु जिस तरह फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की प्रकृति सम्बन्धी अवधारणा का द्वन्द्ववाद तथा आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान से कोई मेल नहीं था, उसी तरह प्रारम्भिक दिनों के समाजवाद की इतिहास की इस भौतिकवादी अवधारणा से कोई पटरी नहीं बैठती थी। शुरू के दिनों का समाजवाद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तथा उसके परिणामों की आलोचना तो ज़रूर करता था; लेकिन वह उनका कोई कारण नहीं बतला सकता था, और इसलिये उनपर क़ाबू पाना भी उसके बूते के बाहर था। वह तो केवल उनको बुरा कहकर [ठुकरा सकता था" पाठ का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

नये तथ्यों के कारण पिछले समस्त इतिहास की नये सिरे से जांच करना आवश्यक हो गया। तब यह मालूम हुआ कि पुराना **सारा** इतिहास, अपनी आदिम अवस्था को छोड़कर, वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है; ये संघर्षशील सामाजिक वर्ग सदा उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियों से – या संक्षेप में कहें, तो अपने काल के **आर्थिक** सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं; समाज की आर्थिक संरचना ही सदा वह वास्तविक आधार होती है, जिससे आरम्भ करके ही हम किसी ख़ास ऐतिहासिक युग की क़ानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं के और साथ ही धार्मिक, दार्शनिक तथा अन्य विचारों के ऊपरी ढांचे की अन्तिम व्याख्या कर सकते हैं। हेगेल ने इतिहास की अवधारणा को अधिभूतवाद से मुक्त किया था। उन्होंने इतिहास की अवधारणा को द्वन्द्ववादी बना दिया था; परन्तु उनकी इतिहास की

अवधारणा मूलतया भाववादी थी। अब भाववाद को उसके आखिरी शरणस्थान से, इतिहास की अवधारणा से भी बहिष्कृत कर दिया गया। अब इतिहास की एक भौतिकवादी व्याख्या की गयी; और ऐसी पद्धति का आविष्कार किया गया, जो मनुष्य की सत्ता की व्याख्या उसकी चेतना के आधार पर नहीं करती थी, जैसा कि अभी तक होता आया था, बल्कि जो मनुष्य की चेतना की व्याख्या उसकी सत्ता के आधार पर करती थी।

पहले समाजवाद किसी प्रतिभाशाली मस्तिष्क का आकस्मिक आविष्कार समझा जाता था। पर अब यह बात ख़त्म हो गयी। अब यह समझ पैदा हुई कि समाजवाद ऐतिहासिक ढंग से विकसित दो वर्गों के संघर्ष का, सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के बीच चलनेवाले संघर्ष का आवश्यक परिणाम है। अब समाजवाद का काम यह नहीं रह गया कि एक यथासम्भव दोषरहित समाज व्यवस्था का ख़ाका तैयार करे, बल्कि उसका काम यह हो गया कि उस ऐतिहासिक एवं आर्थिक घटनाक्रम का अध्ययन करे, जिससे इन वर्गों का तथा उनके विरोध का अनिवार्य रूप से जन्म हुआ है, और इस प्रकार जो आर्थिक परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं, उन्हीं के भीतर इस संघर्ष को समाप्त करने के साधन को खोजकर निकाले। परन्तु जिस तरह फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की प्रकृति सम्बन्धी अवधारणा का द्वन्द्ववाद तथा आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान से कोई मेल नहीं था, उसी तरह प्रारम्भिक दिनों के समाजवाद की इतिहास की इस भौतिकवादी अवधारणा से कोई पटरी नहीं बैठती थी। शुरू के दिनों का समाजवाद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तथा उसके परिणामों की आलोचना तो ज़रूर करता था; लेकिन वह उनका कोई कारण नहीं बतला सकता था, और इसलिये उनपर क़ाबू पाना भी उसके बूते के बाहर था। वह तो केवल उनको बुरा कहकर ठुकरा सकता था। यह प्रारम्भिक समाजवाद पूंजीवाद के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से होनेवाले मज़दूर वर्ग के शोषण की जितने ज़ोरों के साथ निन्दा करता था, वह उतनी ही कम स्पष्टता के साथ यह बता पाता था कि यह शोषण क्या है और कैसे उत्पन्न होता है। [उपर्युक्त, पृष्ठ ८२-८४]

भाग ३

अध्याय १

पृष्ठ ४१०–४११

["धनी और ग़रीब का विरोध मिटकर सामान्य समृद्धि नहीं आयी; बल्कि शिल्पी संघों के तथा अन्य प्रकार के उन विशेषाधिकारों के समाप्त कर दिये जाने के फलस्वरूप, जिनसे कुछ हद तक यह विरोध कम हो जाता था, और चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़त्म कर दिये जाने के फलस्वरूप यह विरोध और तीव्र हो गया है। पूंजीवादी आधार पर उद्योग का जो विकास हुआ, उसने श्रमिक जनता की दरिद्रता और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया" पाठ का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

धनी और ग़रीब का विरोध मिटकर सामान्य समृद्धि नहीं आयी; बल्कि शिल्पी संघों के तथा अन्य प्रकार के उन विशेषाधिकारों के समाप्त कर दिये जाने के फलस्वरूप, जिनसे कुछ हद तक यह विरोध कम हो जाता था, और चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़त्म कर दिये जाने के फलस्वरूप यह विरोध और तीव्र हो गया है। सामन्ती बंधनों से "सम्पत्ति को मुक्त करने" का काम अब लगभग पूरा हो गया था, पर यह स्वतंत्रता छोटे पूंजीपतियों और किसानों के लिये बड़े पूंजीपतियों और ज़मींदारों की ज़बर्दस्त होड़ की चक्की में पिसती हुई अपनी छोटे पैमाने की सम्पत्ति को इन बड़े लोगों के हाथ बेच देने की स्वतंत्रता सिद्ध हुई। और इस प्रकार, जहां तक छोटे पूंजीपतियों और किसानों का सम्बन्ध है, उनको सम्पत्ति **से** मुक्ति मिल गयी। पूंजीवादी आधार पर उद्योग का जो विकास हुआ, उसने श्रमिक जनता की दरिद्रता और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया। कार्लाइल के शब्दों में नक़द भुगतान अधिकाधिक मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का एकमात्र आधार बनता गया। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५४-५५]

पृष्ठ ४११

["परन्तु आधुनिक उद्योग एक ओर उन टकरावों को विकसित करता है, जिनसे उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति करना नितान्त आवश्यक हो जाता है; और न केवल आधुनिक उद्योग से उत्पन्न वर्गों के बीच, बल्कि वह जिन उत्पादक शक्तियों तथा विनियम के रूपों को जन्म देता है, उनके बीच भी संघर्ष बढ़ता जाता है। दूसरी ओर आधुनिक उद्योग इन अतिवृहत् उत्पादक शक्तियों में ही इन संघर्षों का अन्त कर देने के साधन को भी तैयार कर देता है" पाठ का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

परन्तु आधुनिक उद्योग एक ओर उन टकरावों को विकसित करता है, जिनसे उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति करना, उसके पूंजीवादी स्वरूप का अन्त कर देना नितान्त आवश्यक हो जाता है; और न केवल आधुनिक उद्योग से उत्पन्न वर्गों के बीच, बल्कि वह जिन उत्पादक शक्तियों तथा विनिमय के रूपों को जन्म देता है, उनके बीच भी संघर्ष बढ़ता जाता है। दूसरी ओर आधुनिक उद्योग इन अतिवृहत् उत्पादक शक्तियों में ही इन संघर्षों का अन्त कर देने के साधन को भी तैयार कर देता है। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५६]

पृष्ठ ४११

["आतंक के शासन के दिनों में पेरिस के सम्पत्तिविहीन जनसाधारण क्षण-भर के लिये अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो गये थे। परन्तु ऐसा करके वे केवल इतना ही सिद्ध कर पाये कि उस समय की परिस्थितियों में उनका प्रभुत्व क़ायम रखना कितना असम्भव था" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

आतंक के शासन के दिनों में पेरिस के सम्पत्तिविहीन जनसाधारण क्षण-भर के लिये अपना प्रभुत्व जमाने में और इस प्रकार स्वयं पूंजीपति वर्ग **के विरुद्ध** बुर्जुआ क्रान्ति को सफल बनाने में सफल हो गये थे। परन्तु ऐसा करके वे केवल इतना ही सिद्ध कर पाये कि उस समय की

परिस्थितियों में उनका प्रभुत्व क़ायम रखना कितना असम्भव था। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५६-५७]

पृष्ठ ४१२

["सेंट-साइमन ने अपनी 'जेनेवा की पत्रावली' में ही यह प्रस्थापना कर दी थी कि "सभी लोगों को काम करना चाहिये" वाक्य के पहले निम्नलिखित पैरा जोड़ा गया :]

सेंट-साइमन महान फ़्रांसीसी क्रान्ति की सन्तान थे। क्रान्ति के समय तक वह अपनी आयु के तीसवें वर्ष में भी नहीं पहुंचे थे। क्रान्ति तीसरी सामाजिक श्रेणी की विजय थी; अर्थात् वह उत्पादन तथा व्यापार के क्षेत्रों में **काम करनेवाली** देश की अधिकतर जनता की उन **निकम्मी** श्रेणियों पर, उन अभिजातों तथा पादरियों पर विजय थी, जिनको विशेषाधिकार प्राप्त थे। परन्तु शीघ्र ही मालूम हो गया कि तीसरी सामाजिक श्रेणी की यह विजय वास्तव में अनन्य रूप से इस श्रेणी के केवल एक छोटे-से भाग की विजय है। इस विजय के द्वारा तीसरी श्रेणी के उस भाग ने राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया था, जिसे सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, अर्थात् सम्पत्तिवान पूंजीपति वर्ग ने। और पूंजीपति वर्ग का क्रान्ति के दौरान निश्चय ही बहुत तेजी के साथ विकास हुआ था – उसने आंशिक रूप में अभिजात वर्ग की तथा चर्च की उन ज़मीनों की, जिनको ज़ब्त कर लिया गया था और बाद में **बेच दिया गया था**, सट्टेबाजी करके और आंशिक रूप में फ़ौजी ठेकों के ज़रिये राष्ट्र को धोखा देकर विकास किया था। यह उन ठगों का प्रभुत्व ही था, जिसने डायरेक्टरेट के शासन काल में फ़्रांस को तथा क्रान्ति को सर्वनाश के कगार तक पहुंचा दिया था, और इस तरह नेपोलियन को सत्ता पर अधिकार कर लेने के लिये एक अच्छा बहाना मिल गया। अतः तीसरी सामाजिक श्रेणी तथा विशेषाधिकार प्राप्त श्रेणियों के वैर ने सेंट-साइमन की दृष्टि में "काम करनेवालों" और "निकम्मों" के वैर का रूप लिया। इन निकम्मों में केवल पुरानी

विशेषाधिकारी श्रेणियां ही शामिल नहीं थीं; उनके अलावा वे तमाम लोग भी इस कोटि में आ जाते थे, जो उत्पादन या व्यापार में कोई हिस्सा नहीं लेते थे और अपने लगान के सहारे जीवन व्यतीत करते थे। और "काम करनेवालों" में केवल मज़दूर ही नहीं शामिल थे; उनके अलावा कारख़ानेदार, सौदागर और बैंकर भी इस मद में आ जाते थे। यह बात प्रमाणित हो चुकी थी कि निकम्मे लोगों में बौद्धिक नेतृत्व तथा राजनीतिक प्रभुत्व की क्षमता नहीं रह गयी है, और क्रान्ति ने तो इस बात की अन्तिम रूप से पुष्टि कर दी थी। और सेंट-साइमन को लगता था कि आतंक के शासन ने साबित कर दिया है कि सम्पत्तिविहीन वर्गों में भी यह क्षमता नहीं है। तब फिर नेतृत्व कौन करेगा? सेंट-साइमन की राय में यह काम विज्ञान तथा उद्योग करेंगे, जिनको एक नया धार्मिक सम्बन्ध साथ जोड़ देगा। यह धार्मिक सम्बन्ध धार्मिक विचारों की उस एकता को पुनर्स्थापित करेगा, जो चर्च सुधार के समय से ही विलुप्त हो गयी थी; और वह आवश्यक रूप से एक रहस्यवादी तथा पद-सोपान का सख़्ती के साथ पालन करनेवाला "नया ईसाई धर्म" होगा। लेकिन विज्ञान का मतलब था विद्वान लोग; और उद्योग का मतलब था प्रथमतः सक्रिय पूंजीपति, कारख़ानेदार, सौदागर, बैंकर। हां, सेंट-साइमन की कल्पना के अनुसार इन पूंजीपतियों को एक प्रकार के सार्वजनिक अधिकारियों में, अथवा सामाजिक न्यासधारियों में रूपान्तरित हो जाना था; परन्तु उसके बाद भी मज़दूरों के सम्बन्ध में उनकी स्थिति आदेश देनेवाले की तथा आर्थिक दृष्टि से विशेषाधिकारी व्यक्तियों की स्थिति रहनेवाली थी। विशेष रूप से बैंकरों को तो उधार प्रणाली का नियमन करके पूरे सामाजिक उत्पादन का संचालन करना था।

यह अवधारणा उस काल के सर्वथा अनुरूप थी, जब फ़्रांस में आधुनिक उद्योग तथा उसके साथ-साथ पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा के बीच की खाई का जन्म ही हुआ था। लेकिन जिस बात पर सेंट-साइमन ख़ास ज़ोर देते हैं, वह यह है कि अन्य सब बातों के पहले और अन्य सब बातों से अधिक उनको जिस बात की चिन्ता है, वह यह है कि जो वर्ग संख्या में सबसे बड़ा और सबसे ज़्यादा ग़रीब है ("la classe la plus nombreuse et la plus pauvre"), उसकी क्या दशा है। [उपर्युक्त, पृष्ठ ५८-६०]

पृष्ठ ४१३

["परन्तु फ़्रांसीसी क्रान्ति को अभिजात वर्ग, पूंजीपति वर्ग तथा सम्पत्तिविहीन वर्गों के बीच चलनेवाला वर्ग संघर्ष समझना – यह १८०२ में निश्चय ही एक अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न खोज थी" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

परन्तु फ़्रांसीसी क्रान्ति को केवल अभिजात वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच चलनेवाला वर्ग संघर्ष न समझकर, अभिजात वर्ग, पूंजीपति वर्ग तथा **सम्पत्तिविहीन वर्गों** के बीच चलनेवाला वर्ग संघर्ष समझना – यह १८०२ में निश्चय ही एक अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न खोज थी। [उपर्युक्त, पृष्ठ ६०]

पृष्ठ ४१५

["वह (फ़ूरिये) समाज के पूरे इतिहास को विकास की चार अवस्थाओं में विभाजित कर देते हैं: वन्यावस्था, पितृसत्तात्मक अवस्था, बर्बरता तथा सभ्यता। यह अन्तिम अवस्था और आजकल की तथाकथित बुर्जुआ समाज व्यवस्था एक ही चीज़ हैं" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

वह समाज के पूरे इतिहास को विकास की चार अवस्थाओं में विभाजित कर देते हैं: वन्यावस्था, पितृसत्तात्मक अवस्था, बर्बरता तथा सभ्यता। यह अन्तिम अवस्था और आजकल की तथाकथित बुर्जुआ समाज व्यवस्था एक ही चीज़ हैं – अर्थात् यह वही अवस्था है, जो सोलहवीं शताब्दी के साथ आरम्भ हुई थी। [उपर्युक्त, पृष्ठ ६२]

पृष्ठ ४१६

["फिर भी उस समय भी इस उत्पादन प्रणाली (पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली) से भयानक सामाजिक बुराइयां पैदा हो रही थीं – बड़े शहरों के सबसे गंदे मुहल्लों में एक बेघरबार आबादी भेड़ों-बकरियों की तरह भर गयी थी; सभी परम्परागत नैतिक बन्धन, पितृसत्तात्मक अधीनता तथा पारिवारिक नाते-रिश्ते ढीले पड़ गये थे; मज़दूरों से, ख़ास तौर पर स्त्रियों और बच्चों से ख़ौफ़नाक हद तक अत्यधिक श्रम कराया जाता था; सहसा

बिल्कुल नयी परिस्थितियों में लाकर पटक दिये जाने के फलस्वरूप मज़दूर वर्ग का नैतिक मनोबल एकदम टूट गया था" पाठ का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

फिर भी उस समय भी इस उत्पादन प्रणाली से भयानक सामाजिक बुराइयां पैदा हो रही थीं – बड़े शहरों के सबसे गंदे मुहल्लों में एक बेघर-बार आबादी भेड़ों-बकरियों की तरह भर गयी थी; सभी परम्परागत नैतिक बन्धन, पितृसत्तात्मक अधीनता तथा पारिवारिक नाते-रिश्ते ढीले पड़ गये थे; मज़दूरों से, ख़ास तौर पर स्त्रियों और बच्चों से ख़ौफ़नाक हद तक अत्यधिक श्रम कराया जाता था; सहसा बिल्कुल नयी परिस्थितियों में – देहात से शहर में, खेती से आधुनिक उद्योग में, जीवन की स्थिर परिस्थितियों से प्रति दिन बदलनेवाली अत्यन्त अस्थिर परिस्थितियों में लाकर पटक दिये जाने के फलस्वरूप मज़दूर वर्ग का नैतिक मनोबल एकदम टूट गया था। [उपर्युक्त, पृष्ठ ६४]

भाग ३

अध्याय २

पृष्ठ ४२८

["परन्तु जहां कहीं समाज में उत्पादन का मूल रूप वह स्वयंस्फूर्त श्रम विभाजन है, वहां उत्पादित वस्तुएं **मालों** का रूप धारण कर लेती हैं, जिनका पारस्परिक विनिमय करके, जिनको बेचकर और ख़रीदकर अलग-अलग उत्पादक अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करते हैं" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

परन्तु जहां कहीं समाज में उत्पादन का मूल रूप वह स्वयंस्फूर्त श्रम विभाजन है, जो धीरे-धीरे तथा बिना किसी पूर्वकल्पित योजना के व्यवहार में आ जाता है, वहां उत्पादित वस्तुएं **मालों** का रूप धारण कर लेती हैं, जिनका पारस्परिक विनिमय करके, जिनको बेचकर और ख़रीदकर अलग-अलग उत्पादक अपनी नाना प्रकार की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। [उपर्युक्त, पृष्ठ ८९]

पृष्ठ ४३४

["अतः विनिमय संकीर्ण सीमाओं के भीतर होता था ; मण्डी संकुचित थी ; उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन नहीं होते थे ; बाहरी दुनिया के सम्बन्ध में स्थानीय अलगाव था ; भीतर स्थानीय एकता थी – देहात में मार्क का दौर-दौरा था, शहरों में शिल्पी संघों का" वाक्य में "मार्क" शब्द के लिये टिप्पणी दी गयी है :]

देखिये पुस्तक के अन्त में दिया गया परिशिष्ट (एंगेल्स का अभिप्राय उसकी रचना 'मार्क' से है)। [उपर्युक्त, पृष्ठ ९६]

पृष्ठ ४४१

["विकास की एक अगली अवस्था में यह रूप भी अपर्याप्त हो जाता है : पूंजीवादी समाज के अधिकृत प्रतिनिधि – राज्य – को उत्पादन के साधनों तथा संचार का संचालन अपने हाथ में ले लेना पड़ेगा" पाठ के स्थान पर निम्नलिखित पाठ दिया गया है :]

विकास की एक अगली अवस्था में यह रूप भी अपर्याप्त हो जाता है। किसी ख़ास देश में उद्योग की किसी विशेष शाखा के बड़े पैमाने के उत्पादक अपना एक "ट्रस्ट" बना लेते हैं। यह संघ उत्पादन का नियमन करने के लिये बनाया जाता है। उसके ज़रिये वे तय करते हैं कि कुल कितनी मात्रा पैदा की जायेगी, इस मात्रा को आपस में बांट लेते हैं, और इस प्रकार अपना माल एक पूर्वनिश्चित दाम पर बेचते हैं। लेकिन जब व्यवसाय में मन्दी आ जाती है, तब इस तरह के ट्रस्ट आम तौर पर टूटने लगते हैं, और इस कारण और भी अधिक संकेंद्रित समाजीकरण ज़रूरी हो जाता है। कोई विशिष्ट उद्योग पूरा का पूरा एक दैत्याकार ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी में रूपान्तरित हो जाता है। अन्दरूनी होड़ के स्थान पर इस एक कम्पनी का अन्दरूनी एकाधिकार क़ायम हो जाता है। १८९० में इंगलैण्ड के क्षार उत्पादन में यह बात हो चुकी है। ४८ बड़े-बड़े कारख़ानों के एक में मिल जाने के बाद अब इंगलैण्ड का क्षार उत्पादन

केवल एक कम्पनी के हाथ में है, जिसका केन्द्रित रूप से संचालन होता है और जिसकी पूंजी ६०,००,००० पौण्ड की है।

ट्रस्टों के भीतर होड़ की स्वतंत्रता अपनी उल्टी वस्तु में, एकाधिकार में बदल जाती है और पूंजीवादी समाज का बिना किसी निश्चित योजना का उत्पादन आनेवाले समाजवादी समाज के निश्चित योजना पर आधारित उत्पादन के सामने आत्मसमर्पण कर देता है। इसमें शक नहीं कि अभी इससे पूंजीपतियों का ही लाभ और हितसाधन होता है। परन्तु ऐसा होने पर शोषण इतना स्पष्ट रूप धारण कर लेता है कि उसका ध्वस्त हो जाना अनिवार्य है। कोई राष्ट्र इस बात को सहन नहीं करेगा कि उत्पादन का संचालन ट्रस्ट करें, और नफ़ा खानेवालों का एक छोटा-सा दल समाज का इस निर्लज्ज ढंग से शोषण करता रहे।

बहरहाल चाहे ट्रस्ट हों या न हों, अन्त में पूंजीवादी समाज के अधिकृत प्रतिनिधि – राज्य – को उत्पादन का संचालन अपने हाथ में ले लेना पड़ेगा। [उपर्युक्त, पृष्ठ १०५-१०६]

पृष्ठ ४४२

["वरना तो शाही Seehandlung को, चीनी मिट्टी के शाही उद्योग को और यहां तक कि सेना के पलटनिया दर्ज़ी को भी समाजवादी संस्था समझना पड़ेगा" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

वरना तो शाही Seehandlung को, चीनी मिट्टी के शाही उद्योग को और यहां तक कि सेना के पलटनिया दर्ज़ी को भी समाजवादी संस्था समझना पड़ेगा। या, जैसा कि फ़्रेडरिक-विल्हेल्म तृतीय के शासन काल में एक धूर्त व्यक्ति ने बड़ी गम्भीरता के साथ सुझाव दिया था... वेश्यालयों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर देना। [उपर्युक्त, पृष्ठ १०७]

पृष्ठ ४४१–४४३

तीन स्थलों पर "ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों" का उल्लेख करते हुए "और ट्रस्टों" को जोड़ दिया गया है। [उपर्युक्त, पृष्ठ १०७-१०८]

पृष्ठ ४४८

["परन्तु इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई अड़चन नहीं पैदा होती कि यह वर्ग विभाजन बल तथा डाकाज़नी, धोखाधड़ी और जालसाज़ी के द्वारा कार्यान्वित होता है। इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई कठिनाई नहीं पैदा होती कि शासक वर्ग एक बार सवारी गांठ लेने के बाद मज़दूर वर्ग का गला काटकर अपनी सत्ता को मज़बूत करता है और अपने सामाजिक नेतृत्व को जनता के शोषण में रूपान्तरित कर देता है" वाक्य का संशोधित रूप इस प्रकार है:]

परन्तु इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई अड़चन नहीं पैदा होती कि यह वर्ग विभाजन बल तथा डाकाज़नी, धोखाधड़ी और जालसाज़ी के द्वारा कार्यान्वित होता है। इससे इस चीज़ के रास्ते में कोई कठिनाई नहीं पैदा होती कि शासक वर्ग एक बार सवारी गांठ लेने के बाद मज़दूर वर्ग का गला काटकर अपनी सत्ता को मजबूत करता है और अपने सामाजिक नेतृत्व को जनता के तीव्रीकृत शोषण में रूपान्तरित कर देता है।] उपर्युक्त, पृष्ठ ११४]

पृष्ठ ४५१

[अध्याय के अन्तिम पैरा के पहले निम्नलिखित पाठ जोड़ दिया गया है:]

आइये, अब हम ऐतिहासिक विकास क्रम की अपनी रूपरेखा को संक्षेप में आपके सामने रख दें:

१. मध्ययुगीन समाज—छोटे पैमाने का वैयक्तिक उत्पादन। उत्पादन के साधन वैयक्तिक उपयोग के अनुकूल थे; और इसलिये वे आदिम ढंग के कुरूप, तुच्छ और कार्य की दृष्टि से बहुत छोटे थे। उत्पादन या, तो स्वयं उत्पादक के और या उसके सामन्ती प्रभु के तात्कालिक उपभोग के लिये होता था। जहां कहीं उत्पादन इस उपभोग से अधिक होता था, केवल उन्हीं स्थानों में इस अतिरिक्त पैदावार की बिक्री होती थी, और वह

विनिमय में प्रवेश कर जाती थी। इसलिये मालों का उत्पादन केवल अपनी शिशु अवस्था में था। परन्तु इस समय भी उसके भीतर **सामाजिक उत्पादन की अराजकता** बीज रूप में उपस्थित थी।

२. पूंजीवादी क्रान्ति—उद्योग का रूपान्तर, जो शुरू में सरल सहकारिता और मैनुफ़ेक्चर के द्वारा सम्पन्न होता है। उत्पादन के साधनों का, जो अभी तक बिखरे हुए थे, बड़ी-बड़ी वर्कशापों में संकेंद्रण हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वे उत्पादन के वैयक्तिक साधनों से सामाजिक साधनों में रूपान्तरित हो जाते हैं। पर इस रूपान्तरण से मोटे तौर पर विनिमय के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हस्तगतकरण के पुराने रूप ही क़ायम रहते हैं। **पूंजीपति** का आगमन होता है। उत्पादन साधनों के मालिक की हैसियत से वह उत्पादित वस्तुओं को भी हस्तगत कर लेता है और उनको मालों में बदल डालता है। उत्पादन एक सामाजिक कार्य बन जाता है। पर विनिमय और हस्तगतकरण—व्यक्तिगत कार्य, अलग-अलग व्यक्तियों के कार्य ही बने रहते हैं। **सामाजिक पैदावार को वैयक्तिक पूंजीपति हस्तगत कर लेता है।** यह एक बुनियादी विरोध है। उसी से वे तमाम विरोध पैदा होते हैं, जिनमें हमारा वर्तमान समाज फंसा हुआ है और जिनपर आधुनिक उद्योग प्रकाश डालता है।

क) उत्पादक का उत्पादन साधनों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। मज़दूर को आजीवन उजरती श्रम करना पड़ता है। **सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग का विरोध।**

ख) मालों के उत्पादन पर शासन करनेवाले नियम अधिकाधिक महत्व प्राप्त करते जाते हैं तथा उत्तरोत्तर अधिक प्रभावशाली बनते जाते हैं। होड़ का अनियंत्रित संघर्ष चलता है। **हर अलग-अलग फ़ैक्टरी के भीतर उत्पादन के सामाजिक संगठन और समस्त उत्पादन में फैली हुई सामाजिक अराजकता का विरोध।**

ग) एक ओर होड़ के कारण मशीनों का अधिकाधिक विकास करना हर अलग-अलग कारख़ानेदार के लिये एक अनिवार्य समादेश बन जाता है, और उसका मतलब यह होता है कि मज़दूरों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को नौकरी से जवाब मिलता जाता है, और इस प्रकार **औद्योगिक**

रिज़र्व सेना का निर्माण होता जाता है। दूसरी ओर उत्पादन का सीमाहीन विस्तार भी हर कारख़ानेदार के लिये होड़ का एक अनिवार्य नियम बन जाता है। दोनों ओर से उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व विकास होता है; मांग से पूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है; अतिउत्पादन होने लगता है; मण्डियां अट जाती हैं; हर दस साल के बाद संकट आता है; समाज एक दुष्चक्र में फंस जाता है: **यहां – उत्पादन के साधनों तथा उत्पादित वस्तुओं का अतिरेक होता है; वहां – मज़दूरों का अतिरेक होता है,** जिनको न तो नौकरी मिलती है और न ही जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध होते हैं। परन्तु उत्पादन और सामाजिक कल्याण के ये दो उत्तोलक साथ मिलकर काम नहीं कर पाते, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली उत्पादक शक्तियों को काम करने की और उत्पादित वस्तुओं को परिचलन में भाग लेने की उस समय तक इजाज़त नहीं देती, जब तक कि वे पहले पूंजी में रूपान्तरित नहीं हो जातीं – और यह बात स्वयं उत्पादन शक्तियों और उत्पादित वस्तुओं की अतिप्रचुरता नहीं होने देती। विरोध बढ़कर बेतुकेपन का रूप धारण कर लेता है: **उत्पादन प्रणाली विनिमय के रूप के विरुद्ध विद्रोह कर देती है।** यह प्रमाणित हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग में अब ख़ुद अपनी सामाजिक उत्पादक शक्तियों का प्रबंध करने की क्षमता नहीं रह गयी है।

घ) ख़ुद पूंजीपति लोग भी उत्पादक शक्तियों के सामाजिक चरित्र को आंशिक रूप में स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। उत्पादन और संचार के बड़े-बड़े संस्थानों को पहले **ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियां** अपने हाथ में ले लेती हैं, फिर ट्रस्ट, और अन्त में **राज्य** उनपर अधिकार कर लेता है। यह प्रमाणित हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग एक अनावश्यक वर्ग है। अब उसके सारे सामाजिक कार्यों को वेतन पानेवाले कर्मचारी पूरा करते हैं।

३. सर्वहारा क्रान्ति – विरोधों का समाधान हो जाता है। सर्वहारा सार्वजनिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है, और ऐसा करके उत्पादन के उन समाजीकृत साधनों को, जो पूंजीपति वर्ग के हाथों से खिसकने लगते हैं, सार्वजनिक सम्पत्ति में बदल देता है। अपने इस कार्य के द्वारा सर्वहारा, उत्पादन के साधनों का अभी तक जो पूंजी का चरित्र था, उससे उनको

मुक्त कर देता है और उनके सामाजिक चरित्र को व्यवहार में आने की पूर्ण स्वाधीनता प्रदान कर देता है। इसके बाद एक पूर्वनिश्चित योजना के आधार पर सामाजिक उत्पादन सम्भव हो जाता है। अब उत्पादन का विकास समाज में अलग-अलग वर्गों के अस्तित्व को एक काल व्यतिक्रम बना देता है। जिस अनुपात में सामाजिक उत्पादन में फैली हुई अराजकता मिटती जाती है, उसी अनुपात में राज्य का राजनीतिक प्राधिकार मरता जाता है। मनुष्य, जो अब आख़िरकार ख़ुद अपने सामाजिक अस्तित्व का स्वामी हो गया है, साथ ही प्रकृति का भी स्वामी बन जाता है, ख़ुद अपना स्वामी बन जाता है—स्वतंत्र हो जाता है। [उपर्युक्त, पृष्ठ ११७-१३१]

'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के लिये तैयार किये गये नोट[208]

क) वास्तविक संसार में गणितीय अनन्त के आदिप्ररूप के विषय में

पृष्ठ १७–१८* से सम्बद्ध : चिन्तन और सत्ता की समनुरूपता। गणित में अनन्त

हमारा सम्पूर्ण सैद्धान्तिक चिन्तन पूरी तरह इस तथ्य पर आधारित है कि हमारा आत्मनिष्ठ चिन्तन और वस्तुनिष्ठ जगत् एक-से नियमों के अधीन हैं, और इसलिये अन्तिम विश्लेषण में उनके परिणाम एक दूसरे के ख़िलाफ़ नहीं जा सकते, बल्कि उनका एक ही परिणाम पर पहुंचना अनिवार्य है। यह सैद्धान्तिक चिन्तन का अचेतन तथा प्रतिबंधरहित पूर्वाधार है। अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद ने अपने मूलतः अधिभूतवादी चरित्र के कारण इस पूर्वाधार के केवल सार की छानबीन की थी। उसने अपने आपको केवल यह प्रमाणित करने तक ही सीमित रखा था कि समस्त चिन्तन तथा ज्ञान का सार इन्द्रियगोचर अनुभव से व्युत्पन्न होना चाहिये, और उसने इस सिद्धान्त को पुनःजीवित किया था कि nihil est in intellectu, quod non fuerit in sensu।[209] इस पूर्वाधार के **रूप** का अन्वेषण पहली बार आधुनिक भाववादी, किन्तु साथ ही द्वन्द्वात्मक दर्शनशास्त्र ने, और विशेषकर हेगेल ने किया। यहां हमारी जिन असंख्य मनमानी संरचनाओं तथा भ्रान्त कल्पनाओं से मुठभेड़ होती है, उनके बावजूद और इस अन्वेषण के निष्कर्ष के – चिन्तन तथा सत्ता की एकता के भाववादी, उलटे-पुलटे स्वरूप के बावजूद – इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस दर्शनशास्त्र ने चिन्तन की प्रक्रियाओं का प्रकृति तथा इतिहास की प्रक्रियाओं के साथ और प्रकृति तथा इतिहास की प्रक्रियाओं का चिन्तन की प्रक्रियाओं

---

* पृष्ठ संख्या 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के पहले जर्मन संस्करण की है। – सं०

के साथ सादृश्य प्रमाणित कर दिया था, और यह भी सिद्ध कर दिया था कि अनेक उदाहरणों में तथा नाना प्रकार के क्षेत्रों में इन तमाम प्रक्रियाओं पर एक-से नियम लागू होते हैं। दूसरी ओर आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान ने समस्त चिन्तन सार के अनुभव से उत्पन्न होने के सिद्धान्त का इस तरीक़े से विस्तार कर दिया है कि उसकी पुरानी अधिभूतवादी सीमाएं टूट गयी हैं तथा संविन्यास का ढंग बेकार हो गया है। उपार्जित गुणों की आनुवंशिकता को स्वीकार करके उसने अनुभव के विषय को अलग व्यक्ति से प्रजाति तक फैला दिया है। अब इस बात की ज़रूरत नहीं है कि अलग व्यक्ति ने स्वयं अनुभव किया हो; कुछ हद तक अलग व्यक्ति के अनेक पूर्वजों के अनुभवों के निष्कर्ष उसके व्यक्तिगत अनुभव का स्थान ले सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि हम लोगों के बीच गणित के स्वयंसिद्ध तथ्य आठ वर्ष के प्रत्येक बच्चे को स्वतःस्पष्ट प्रतीत होते हैं और उनको अनुभव के आधार पर प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं महसूस होती, तो यह महज़ "संचित आनुवंशिकता" का ही परिणाम है। दक्षिण अफ़्रीका के किसी आदिवासी को या आस्ट्रेलिया के किसी नीग्रो को प्रमाण के आधार पर भी इन स्वयंसिद्ध तथ्यों को पढ़ाना कठिन होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में **हर प्रकार** की गति के अत्यन्त सामान्य नियमों के विज्ञान के रूप में द्वन्द्ववाद की कल्पना की गयी है। इसका अर्थ यह है कि द्वन्द्ववाद के नियमों को प्रकृति तथा मानव इतिहास में पायी जानेवाली गति पर भी उतना ही लागू होना चाहिये, जितना वे चिन्तन के नियमों पर लागू होते हैं। यह सम्भव है कि इस प्रकार के किसी ऐसे नियम को इन तीन क्षेत्रों में से दो में और या तीनों क्षेत्रों तक में पहचान लिया जाये, मगर फिर भी अधिभूतवादी कूपमण्डूक को इसका कोई स्पष्ट आभास न हो कि यह एक ही नियम है, जिसका उसको अलग-अलग क्षेत्रों में ज्ञान प्राप्त हुआ है।

एक उदाहरण लीजिये। अभी तक सैद्धान्तिक प्रगति के क्षेत्र में जितने क़दम उठाये गये हैं, उनमें निश्चय ही कोई क़दम मानव मस्तिष्क की इतनी बड़ी विजय का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जितनी बड़ी विजय का प्रतिनिधित्व अत्यणु कलन का आविष्कार करता है। यह आविष्कार सत्रहवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। यदि हमें कहीं पर विशुद्ध एवं अनन्य रूप से मानव बुद्धि के चमत्कार के दर्शन होते हैं, तो यहीं पर ही। अत्यणु कलन में इस्तेमाल होनेवाले परिमाण–अवकल तथा विभिन्न श्रेणियों के अत्यणु–आज भी रहस्य के जिस आवरण में लिपटे हुए हैं, वह इस बात का सर्वोत्तम प्रमाण है कि आज भी लोग यही समझते हैं कि अत्यणु कलन में जिन चीज़ों की चर्चा की जाती है, वे मानव मस्तिष्क की "स्वतंत्र सृष्टि तथा कल्पनाएं"* हैं, जिनसे मिलती-जुलती कोई चीज़ वस्तुनिष्ठ संसार में नहीं है। परन्तु सचाई इसके विपरीत है। इन तमाम काल्पनिक परिमाणों के मूल रूप प्रकृति में उपलब्ध हैं।

हमारे रेखागणित का प्रस्थान-बिन्दु दिक् सम्बन्ध हैं, और हमारे अंकगणित तथा बीजगणित का प्रस्थान-बिन्दु सांख्यिक परिमाण हैं। ये सब हमारी पार्थिव परिस्थितियों के अनुरूप हैं, और इसलिये वे उन पिण्डों के परिमाणों के अनुरूप हैं, जिनको यांत्रिकी में द्रव्यमान कहा जाता है–जो द्रव्यमान पृथ्वी पर पाये जाते हैं तथा जिनमें मनुष्य हरकत पैदा किया करते हैं। इन द्रव्यमानों की तुलना में पृथ्वी का द्रव्यमान अतिमहत् मालूम होता है, और सच पूछिये तो पार्थिव यांत्रिकी उसे अतिमहत् मानकर ही चलती है। पृथ्वी की त्रिज्या $= \infty$। गिरने के नियम के रूप में यह समस्त यांत्रिकी का मूल सिद्धान्त है। परन्तु न केवल पृथ्वी, बल्कि पूरा सौर मण्डल और उसमें पायी जानेवाली दूरियां उस समय अत्यणु प्रतीत होने लगती हैं, जब दूरबीन के द्वारा दिखाई देनेवाले सौर मण्डल की उन दूरियों से हमारा पाला पड़ता है, जो प्रकाश वर्षों में नापी जाती हैं। इसलिये अभी से हमारे पास प्रथम श्रेणी का अनन्त और द्वितीय श्रेणी का अनन्त हो जाता है, और यदि हमारे पाठक चाहें, तो वे अपनी कल्पना के सहारे अनन्त दिक् में उच्चतर श्रेणियों के और भी अनन्तों की रचना कर सकते हैं।

आजकल भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान में जो दृष्टिकोण प्रचलित है, उसके अनुसार पार्थिव द्रव्यमान, या वे पिण्ड, जिनका यांत्रिकी

*इस अभिव्यंजना का प्रयोग ड्यूहरिंग द्वारा किया गया है।–सं०

प्रयोग करती है, अणुओं के बने होते हैं। अणु वे सबसे छोटे कण होते हैं, जिनका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। और यदि किया जाता है, तो सम्बन्धित पिण्ड की भौतिक तथा रासायनिक सारूप्यता बदल जाती है। डब्ल्यू टामसन की गणना के अनुसार सबसे छोटे अणु का व्यास भी एक मिलीमीटर के ५ करोड़वें भाग से छोटा नहीं हो सकता।* परन्तु यदि हम यह भी मान लें कि सबसे बड़ा अणु ख़ुद एक मिलीमीटर के ढाई करोड़वें भाग के व्यास तक पहुंच जाता है, तो भी वह यांत्रिकी, भौतिक विज्ञान या यहां तक कि रसायन विज्ञान भी जिस छोटे से छोटे द्रव्यमान का अध्ययन करते हैं, उसकी तुलना में अत्यणु ही रहता है। फिर भी इस अणु में वे सारे गुण होते हैं, जो सम्बन्धित द्रव्यमान की विशेषता माने जाते हैं। वह भौतिक और रासायनिक दृष्टि से इस द्रव्यमान का प्रतिनिधित्व कर सकता है और वास्तव में सभी रासायनिक समीकरणों में ऐसा ही करता है। संक्षेप में सम्बन्धित द्रव्यमान के सम्बन्ध में उसमें उसी प्रकार के गुण पाये जाते हैं जिस प्रकार के गुण गणितीय अवकल में उसके चरों के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। एकमात्र अन्तर यह होता है कि अवकल के बारे में, गणितीय अमूर्त कल्पना के बारे में जो बात हमें रहस्यमयी तथा दुर्बोध प्रतीत होती है, वही यहां पर स्पष्ट और मानो स्वाभाविक बात प्रतीत होती है।

प्रकृति इन अवकलों, अणुओं से ठीक उसी तरह और उन्हीं नियमों के अनुसार काम लेती है, जिस तरह और जिन नियमों के अनुसार गणित अमूर्त अवकलों से काम लेता है। उदाहरण के लिये x^3 का अवकल $=3x^2dx$, जहां $3xdx^2$ और dx^3 को अनदेखा कर दिया जाता है। यदि हम इसी बात को रेखागणित के रूप में व्यक्त करें, तो हमारे पास एक ऐसा घन

---

*यह संख्या विलियम टामसन के लेख 'परमाणुओं का आकार' में दी गयी है, जो पहले पहल *Nature* नामक पत्रिका के ३१ मार्च, १८७० (खंड १, पृ० ५५३) में प्रकाशित हुआ था और डब्ल्यू० टामसन तथा पी० जी० टेट की पुस्तक 'प्राकृतिक दर्शन पर निबंध' (खंड १, भाग २, कैमब्रिज, १८८३, पृष्ठ ५०१–५०२) के दूसरे संस्करण में परिशिष्ट के रूप में पुनः छापा गया था। – **सं०**

है जिसकी भुजाओं की लम्बाई x है और इस लम्बाई में अत्यणु मात्रा dx की वृद्धि कर दी जाती है। मान लीजिये कि यह घन एक ऊर्ध्वपातज तत्व का, फ़र्ज़ कीजिये गंधक का बना हुआ है, और उसके एक कोने के इर्द-गिर्द की तीन सतहें तो सुरक्षित हैं और बाक़ी तीन खुली हुई हैं। अब गंधक के इस घन को गंधक की वाष्प के वातावरण में खुला छोड़ दीजिये और ताप काफ़ी कम कर दीजिये। घन की तीन खुली हुई भुजाओं पर गंधक की वाष्प जमा होने लगेगी। इस प्रक्रिया की उसके विशुद्ध रूप में कल्पना करने के लिये, यदि हम यह मान लें कि इन तीनों भुजाओं में से प्रत्येक पर पहले एक अणु मोटी तह जमा होती है, तो हम भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान की साधारण कार्य पद्धति के भीतर ही रहते हैं। इस तरह घन की भुजाओं की लम्बाई x में एक अणु के व्यास के बराबर, अर्थात् dx की वृद्धि हो जाती है। यानी घन x^3 के आयतन में x^3 और $x^3 + 3x^2dx + 3xdx^2 + dx^3$ के अन्तर के बराबर वृद्धि हो जाती है, जहां कि dx^3 को, अर्थात् एक **अकेले** अणु को, और $3xdx^2$ को, अर्थात् $x + dx$ लम्बाई की तीन पंक्तियों को, जिनमें अणुओं को रेखीय ढंग से व्यवस्थित कर दिया गया है, अनदेखा कर दिया जा सकता है, जिसका यहां भी वही औचित्य है, जो गणित में है। परिणाम यहां भी वही होता है। यहां भी घन के द्रव्यमान में $3x^2dx$ की वृद्धि होती है।

यथार्थ में देखा जाये, तो dx^3 और $3xdx^2$ गंधक के घन में नहीं होते, क्योंकि दो या तीन अणु एक ही स्थान में नहीं रह सकते, और इसलिये घन के द्रव्यमान में जो वृद्धि होती है, वह असल में $3x^2dx +$ $+ 3xdx + dx$ होती है। इसका कारण यह तथ्य है कि गणित में dx से एक रेखीय परिमाण है, जबकि यह बात सुविदित है कि इस प्रकार की रेखाएं, जिनमें मोटाई या चौड़ाई नहीं होतीं, प्रकृति में स्वतंत्र रूप में कहीं दिखाई नहीं देतीं। गणित की अमूर्त परिकल्पनाओं को इसलिये भी पूर्ण मान्यता केवल शुद्ध गणित में ही प्राप्त होती है। और चूंकि शुद्ध गणित $3xdx^2 + dx^3$ को अनदेखा कर देता है, इसलिये इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

वाष्पण में भी इसी तरह की बात होती है। जब एक गिलास में रखे पानी का सबसे ऊपर का आणविक स्तर वाष्प बन जाता है, तो जल के स्तर की ऊंचाई x में dx की कमी आ जाती है, और एक के बाद दूसरे आणविक स्तर का लगातार वाष्प बनकर उड़ते जाना वास्तव में अवकलन की ही एक निरन्तर क्रिया होती है। और जब गरम वाष्प का दाब डालकर तथा ठण्डा करके एक बार फिर किसी बर्तन में संघनन किया जाता है तथा उसे जल में बदल दिया जाता है, और जब एक के बाद दूसरा आणविक स्तर बर्तन में इकट्ठा होता जाता है (उन गौण परिस्थितियों की ओर ध्यान न देने में कोई बुराई नहीं है, जिनके कारण यह प्रक्रिया अशुद्ध रूप धारण कर लेती है) और आख़िर बर्तन भर जाता है, तब अक्षरशः एक अनुकलन की क्रिया सम्पन्न होती है, जो गणितीय अनुकलन से केवल इस बात में ही भिन्न होती है कि एक क्रिया को मानव मस्तिष्क सचेतन ढंग से सम्पन्न करता है, जबकि दूसरी को प्रकृति अचेतन ढंग से सम्पन्न करती है।

लेकिन अत्यणु कलन की प्रक्रियाओं की पूर्णतया सदृश प्रक्रियाएं केवल द्रव से गैसीय अवस्था के संक्रमण में तथा गैसीय अवस्था से द्रव अवस्था के संक्रमण में ही नहीं होतीं। जब द्रव्यमान की गति का संघात के द्वारा लोप हो जाता है और वह ऊष्मा में, आणविक गति में परिणत हो जाती है, तो इसके सिवा और क्या होता है कि द्रव्यमान की गति का अवकलन हो जाता है? और जब भाप के इंजन के सिलण्डर में भाप के अणुओं की गतियां इस तरह जुड़ जाती हैं कि उनसे पिस्टन एक निश्चित मात्रा में ऊपर उठ जाता है और वे द्रव्यमान की गति में रूपान्तरित हो जाती हैं, तब क्या उनका अनुकलन नहीं हो जाता? रसायन विज्ञान अणुओं का परमाणुओं में विघटन कर देता है, जो द्रव्यमान एवं स्थान सम्बन्धी विस्तार की दृष्टि से तो अपेक्षाकृत छोटे परिमाण होते हैं, पर वैसे उसी श्रेणी के परिमाण होते हैं, जिसके अणु हैं, और इसलिये दोनों के बीच निश्चित तथा परिमित ढंग के सम्बन्ध पाये जाते हैं। अतः पिण्डों की आणविक संरचना को व्यक्त करनेवाले तमाम रासायनिक समीकरणों का रूप अवकल समीकरणों जैसा रूप होता है। परन्तु वास्तव में तो वे

उन परमाणविक भारों के कारण पहले से ही अनुकलित हो गये हैं, जो उनमें दिखाई देते हैं। कारण कि रसायन विज्ञान ऐसे अवकलों का प्रयोग करता है, जिनके परिमाणों का पारस्परिक सम्बन्ध पहले से मालूम होता है।

किन्तु परमाणुओं को पदार्थ का केवल साधारण कण या सामान्यतया सबसे छोटा कण नहीं समझा जाता। स्वयं रसायन विज्ञान अधिकाधिक इस मत को अपनाता जा रहा है कि परमाणु यौगिक होते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकतर भौतिक वैज्ञानिकों का कहना है कि सार्वत्रिक ईथर भी, जो ऊष्मा तथा प्रकाश के विकिरणों का संचार करता है, इसी प्रकार पृथक् कणों का बना होता है; पर ये कण इतने छोटे होते हैं कि उनका रासायनिक परमाणुओं तथा भौतिक अणुओं के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है, जिस प्रकार का सम्बन्ध इन परमाणुओं तथा अणुओं का यांत्रिक द्रव्यमान के साथ होता है; अर्थात् जैसा सम्बन्ध d^2x का dx के साथ होता है। इसलिये आजकल पदार्थ की संरचना की जो धारणा प्रचलित है, उसमें भी एक द्वितीय श्रेणी का अवकल पाया जाता है, और यदि किसी को इससे संतोष मिलता हो, तो वह यह कल्पना भी कर सकता है कि प्रकृति में d^3x, d^4x, आदि के सादृश्य भी होते हैं।

अतः पदार्थ की संरचना के विषय में किसी का जो भी विचार हो, इतनी बात निश्चित है कि पदार्थ अपेक्षाकृत भिन्न द्रव्यमान स्वरूप के अपने बड़े और सुनिश्चित दलों में इस तरह बंट जाता है कि हर अलग-अलग दल के सदस्यों का एक दूसरे के साथ एक निश्चित, परिमित द्रव्यमान सम्बन्धी अनुपात होता है, जिसके मुक़ाबले में अगले दल के सदस्यों का उनके साथ अनुपात गणित के अर्थ में या तो अतिमहत् और या अत्यणु होता है। दृश्य तारकीय परिवार, सौर मण्डल, पार्थिव द्रव्यमान, अणु और परमाणु और अन्त में ईथर के कण – इनमें से प्रत्येक समूह का इसी प्रकार का एक दल होता है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि अलग-अलग दलों के बीच कुछ मध्यवर्ती कड़ियां मिल जाती हैं। चुनांचे सौर मण्डल के द्रव्यमान और पार्थिव द्रव्यमान के बीच में एस्ट्रायड (जिनमें से कुछ का व्यास मिसाल के लिये र्‌यूस रियासत की छोटी शाखा के

व्यास से अधिक नहीं है*), उल्कापिंड, आदि, होते हैं। इसी प्रकार कार्बनिक जगत् में पार्थिव द्रव्यमान और अणुओं के बीच में कोशिका होती है। इन मध्यवर्ती कड़ियों से केवल यही प्रमाणित होता है कि प्रकृति में **ठीक इसीलिये** कोई छलांगें नहीं होतीं कि प्रकृति पूरी तरह छलांगों की बनी है।

जिस हद तक कि गणित वास्तविक परिमाणों का हिसाब लगाता है, उस हद तक वह बिना किसी हिचकिचाहट के इस दृष्टिकोण का प्रयोग करता है। पार्थिव यांत्रिकी में पृथ्वी द्रव्यमान को अतिमहत् समझा जाता है; इसी प्रकार खगोल विज्ञान में पार्थिव द्रव्यमान और उनके समनुरूप उल्कापिंड अत्यणु समझे जाते हैं। इसी प्रकार, जब खगोल विज्ञान निकटतम स्थिर तारों के आगे हमारे तारकीय परिवार की संरचना का अन्वेषण आरम्भ करता है, तो सौर मण्डल के ग्रहों के द्रव्यमान और दूरियां भी नगण्य हो जाती हैं। किन्तु जैसे ही गणितज्ञ अमूर्त कल्पना के अपने अजेय दुर्ग के भीतर, अर्थात् तथाकथित शुद्ध गणित के भीतर घुस जाते हैं, वैसे ही वे इन सारे सादृश्यों को भूल जाते हैं; अनन्त एक पूर्णतया रहस्यमय चीज़ बन जाता है, और विश्लेषण में इस चीज़ का जिस ढंग से प्रयोग किया जाता है, वह सर्वथा अबोधगम्य तथा समस्त अनुभव एवं समस्त बुद्धि के विपरीत प्रतीत होता है। पर हैरानी की बात यह है कि इस कार्य विधि से परिणाम सदा सही निकलते हैं। पर अपनी कार्य विधि के स्पष्टीकरण में, या कहना चाहिये कि उसके दोषमार्जन के रूप में गणितज्ञ जिस तरह की मूर्खतापूर्ण और बेतुकी बातें कहते रहे हैं, वे मिसाल के लिये उस हेगेलीय प्रकृति दर्शन की निकृष्टतम मिथ्या एवं वास्तविक भ्रान्त कल्पनाओं से भी बुरी हैं, जिनके बारे में गणितज्ञों और प्राकृतिक वैज्ञानिकों को अपना संत्रास व्यक्त करने के लिये कभी काफ़ी शब्द नहीं मिलते। हेगेल से उनको जो शिकायत है कि वह अमूर्त कल्पनाओं को चरम सीमा पर पहुंचा देते हैं–यह काम वे ख़ुद उनसे कहीं अधिक बड़े पैमाने पर

---

*अत्यंत छोटी रियासतों में से एक, जो १८७१ में द्वितीय जर्मन साम्राज्य का अंग बनी थी।–**सं०**

करते हैं। वे भूल जाते हैं कि तथाकथित शुद्ध गणित पूरा का पूरा अमूर्त कल्पनाओं से ही सम्बन्ध रखता है, उसके **समस्त** परिमाण यदि यथार्थ में देखा जाये, तो काल्पनिक होते हैं; और तमाम अमूर्त कल्पनाएं यदि उनको चरम सीमा पर पहुंचा दिया जाये, तो वे सरासर बकवास या एकदम उल्टी बातों में रूपान्तरित हो जाती हैं। गणित का अनन्त वास्तविकता से लिया गया है, हालांकि वह अचेतन ढंग से वहां से लिया गया है; और इसलिये उसकी व्याख्या ख़ुद उसके आधार पर, या एक गणितीय अमूर्त कल्पना के आधार पर नहीं की जा सकती, बल्कि वह केवल वास्तविकता के आधार पर ही की जा सकती है। और, जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि हम इस सम्बन्ध में वास्तविकता की छानबीन करें, तो उन वास्तविक सम्बन्धों का भी पता लग जाता है, जिनसे अनन्त का गणितीय सम्बन्ध लिया गया है, और यहां तक कि जिस गणितीय ढंग से यह सम्बन्ध काम करता है, उसके प्राकृतिक सादृश्य भी हमें मिल जाते हैं। और इस प्रकार प्रश्न का स्पष्टीकरण हो जाता है।

(चिन्तन और सत्ता की अनन्यता का हैकेल ने बहुत बुरा पुनरुत्पादन किया है। परन्तु **पूर्वानुबद्ध और पृथक् पदार्थ में जो विरोध दिखाई देता है, उसका भी;** देखिये हेगेल)।[210]

ख) प्रकृति की "यांत्रिक" अवधारणा के विषय में पृष्ठ ४६ से सम्बद्ध*: गति के विभिन्न रूप और उनका अध्ययन करनेवाले विज्ञान

उपर्युक्त लेख के प्रकाशित होने के बाद (*Vorwärts*, ९ फ़रवरी, १८७७)** केकुले ने (*Die wissenschaftlichen Ziele und Leistungen*

---

*पृष्ठ संख्या 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के पहले जर्मन संस्करण की है। यह 'प्राकृतिक दर्शन। कार्बनिक जगत्' के भाग १, अध्याय ७ का प्रथम पृष्ठ है। – **सं०**

समाचारपत्र *Vorwärts* का अंक, जिसमें 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के भाग १, अध्याय ७ के मूलपाठ को लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया जा रहा था। – **सं०

*der Chemie**) यांत्रिकी, भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान की बहुत मिलती-जुलती परिभाषा की है:

"यदि पदार्थ के चरित्र के विषय में इस विचार को आधार बनाया जाये, तो रसायन विज्ञान को **परमाणुओं का विज्ञान** और भौतिक विज्ञान को **अणुओं का विज्ञान** कहा जा सकता है; और तब आधुनिक भौतिक विज्ञान के उस भाग को अलग कर देना स्वाभाविक होगा, जो एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में **द्रव्यमान** का अध्ययन करता है, और उसके लिये **यांत्रिकी** का नाम ठीक रहेगा। इस प्रकार जिस हद तक कि भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान को कुछ ख़ास पहलुओं पर विचार करते समय और विशेषकर कुछ ख़ास गणनाओं में अपने अणुओं अथवा परमाणुओं का द्रव्यमान के रूप में अध्ययन करना पड़ता है, उस हद तक यांत्रिकी, भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान दोनों का मूलभूत विज्ञान प्रतीत होती है।"

यह बात स्पष्ट है कि मूलपाठ में तथा पहलेवाले नोट में** जो परिभाषा दी गयी है, उससे यह परिभाषा केवल इसी बात में भिन्न है कि यह कम स्पष्ट है। परन्तु जब एक अंग्रेज़ी पत्रिका (*Nature*) ने केकुले का उपर्युक्त वक्तव्य इस रूप में प्रकाशित किया कि यांत्रिकी – द्रव्यमान का स्थिति विज्ञान तथा गति विज्ञान है, भौतिक विज्ञान – अणुओं का स्थिति विज्ञान तथा गति विज्ञान है और रसायन विज्ञान – परमाणुओं का स्थिति विज्ञान तथा गति विज्ञान है,[211] तो मुझे लगता है कि रासायनिक प्रक्रियाओं तक को इस अप्रतिबंधित ढंग से मात्र यांत्रिक प्रक्रियाओं में परिणत कर देना क्षेत्र को अनुचित ढंग से सीमित कर देना है। कम से कम रसायन विज्ञान के लिये तो यह बात बिल्कुल ही सही है। मगर फिर भी इसका उन दिनों इतना अधिक चलन था कि मिसाल के लिये हैकेल "यांत्रिक" तथा "अद्वैतवादी" शब्दों का लगातार इस तरह प्रयोग करते हैं, जैसे उनका एक ही अर्थ हो, और उनकी राय में

* 'रसायन विज्ञान के वैज्ञानिक उद्देश्य और उपलब्धियां'। – **सं०**

** अर्थात् 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के मूलपाठ में तथा 'वास्तविक संसार में गणितीय अनन्त के आदिप्ररूप के विषय में' शीर्षक नोट में (देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १०६ और ६०२ – ६१०)। – **सं०**

"आधुनिक शरीरक्रिया विज्ञान... अपने क्षेत्र में केवल भौतिक-रासायनिक या **अधिक व्यापक अर्थ में** यांत्रिक शक्तियों को ही कार्य करने की अनुमति देता है।" ('पेरीजेनेसिस')*

यदि मैं भौतिक विज्ञान को अणुओं की यांत्रिकी, रसायन विज्ञान को परमाणुओं का भौतिक विज्ञान, और इसके अलावा जीव विज्ञान को अल्बूमिनों का रसायन विज्ञान कहता हूं, तो इस तरह मैं यह बात व्यक्त करना चाहता हूं कि इनमें प्रत्येक विज्ञान दूसरे विज्ञान में बदल जाता है, और इसलिये इस तरह मैं इन विज्ञानों का सम्बन्ध और निरन्तरता तथा भेद और पृथक् अलगाव दोनों बातें स्पष्ट कर देता हूं। इससे आगे जाना और रसायन विज्ञान को भी एक प्रकार की यांत्रिकी बताना, मुझे अनुचित प्रतीत होता है। अधिक व्यापक या अधिक संकुचित अर्थ में यांत्रिकी केवल मात्राओं को जानती है; वह वेगों और द्रव्यमान का और अधिक से अधिक आयतनों का हिसाब लगाती है। जहां कहीं पिण्डों के गुण उसके मार्ग में आ जाते हैं—जैसे द्रवस्थिति विज्ञान तथा वायुस्थिति विज्ञान में—वहां वह आणविक अवस्थाओं तथा आणविक गति की छानबीन किये बिना कुछ भी नहीं कर सकती। वह ख़ुद महज़ एक सहायक विज्ञान है, भौतिक विज्ञान की एक पूर्वावश्यकता की भूमिका अदा करती है। किन्तु भौतिक विज्ञान में—और रसायन विज्ञान में तो यह बात और भी अधिक देखने में आती है—न केवल परिमाणात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप लगातार गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं, और परिमाण का गुण में रूपान्तरण होता रहता है, बल्कि बहुत-से ऐसे गुणात्मक परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना पड़ता है, जिनके बारे में अभी यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि वे परिमाणात्मक परिवर्तनों पर निर्भर करते हैं। विज्ञान की वर्तमान प्रवृत्ति इसी दिशा की ओर संकेत कर रही है—यह हर आदमी स्वीकार करेगा, लेकिन इससे यह

---

* E. Haeckel. *Die Perigenesis der Plastidule oder die Wellenzeugung der Lebensteilchen. Ein Versuch zur mechanischen Erklärung der elementaren Entwickelungs- Vorgänge*, बर्लिन, १८७६; शब्दों पर जोर एंगेल्स का है।—**सं०**

साबित नहीं होता कि एकमात्र यही दिशा सही है और समस्त भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान का यहीं पर **अंत हो जायेगा।** समस्त गति में यांत्रिक गति, पदार्थ के बड़े से बड़े अथवा छोटे से छोटे अंशों का स्थान परिवर्तन भी सम्मिलित है, और विज्ञान का **पहला** कार्य इस गति का ज्ञान प्राप्त करना है। लेकिन यह उसका केवल **पहला** कार्य ही है। इस यांत्रिक गति में ही सारी गति समाप्त नहीं हो जाती। गति केवल स्थान परिवर्तन ही नहीं है। यांत्रिकी से ऊंचे क्षेत्रों में वह गुण परिवर्तन भी है। यह आविष्कार कि ऊष्मा आणविक गति है, एक युगान्तरकारी आविष्कार था। परन्तु यदि मैं ऊष्मा के बारे में इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता कि उसमें अणुओं का एक ख़ास तरह से विस्थापन हो जाता है, तो बेहतर है कि मैं ख़ामोश ही रहूं। लगता है शीघ्र ही रसायन विज्ञान परमाणविक आयतनों और परमाणविक भारों के अनुपात के आधार पर तत्वों के बहुत-से रासायनिक तथा भौतिक गुणधर्मों की व्याख्या करने में सफल हो जायेगा। परन्तु कोई रसायनज्ञ यह दावा नहीं करेगा कि किसी भी तत्व के सारे गुणधर्मों को लोथार मेयेर की वक्र रेखा[212] में उसकी स्थिति पूरी तरह व्यक्त कर देती है। वह यह दावा कभी नहीं करेगा कि उदाहरण के लिये कार्बन की स्थिति मात्र ही कार्बन की उस विशिष्ट संरचना को समझने के लिये पर्याप्त है, जिसके कारण वह कार्बनिक जीवन का मुख्य वाहक बन गया है; न ही वह कभी यह कहेगा कि मस्तिष्क में फ़ासफ़ोरस की आवश्यकता मेयेर की वक्र रेखा में फ़ासफ़ोरस की स्थिति से स्पष्ट हो जाती है। लेकिन "यांत्रिक" अवधारणा का इसके सिवाय और कोई अर्थ नहीं है। वह हर प्रकार के परिवर्तन की स्थान परिवर्तन के आधार पर, और तमाम गुणात्मक भेदों की परिमाणात्मक भेदों के आधार पर व्याख्या करती है, और इस बात को भूल जाती है कि गुण और परिमाण का सम्बन्ध पारस्परिक सम्बन्ध है; जिस तरह परिमाण गुण में रूपान्तरित हो सकता है, उसी तरह गुण परिमाण में रूपान्तरित हो सकता है; और असल में तो पारस्परिक क्रिया सम्पन्न होती है। यदि सभी गुणात्मक भेदों तथा परिवर्तनों को परिमाणात्मक भेदों तथा परिवर्तनों में, यान्त्रिक विस्थापन में परिणत कर दिया जाये, तो हम अवश्यम्भावी रूप से इस

प्रस्थापना पर पहुंच जायेंगे कि समस्त पदार्थ बिल्कुल **एक-से** लघुतम कणों का बना है, और पदार्थ के रासायनिक तत्वों में जो तमाम गुणात्मक भेद पाये जाते हैं, वे इस बात से पैदा होते हैं कि पदार्थ के रासायनिक तत्वों के सभी गुणात्मक भेद परमाणु बनाने के लिये उन रासायनिक तत्वों के संख्यात्मक भेदों तथा उन लघुतम कणों के स्थानगत समूहन के कारण होते हैं। परन्तु अभी तक हम यहां नहीं पहुंचे हैं।

हमारे प्राकृतिक वैज्ञानिकों को उस अत्यन्त प्रतिभाहीन बाज़ारू दर्शन-शास्त्र के सिवा, जो आजकल जर्मन विश्वविद्यालयों में बहुत प्रचलित है, और किसी दर्शनशास्त्र का ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि वे "यांत्रिक" जैसे शब्दों का उपयोग करते समय यह नहीं सोचते, या उनको इसका सन्देह तक नहीं होता कि इसके अनिवार्य रूप से क्या परिणाम होंगे, जो वे अपने ऊपर लाद रहे हैं। पदार्थ की निरपेक्ष गुणात्मक अभिन्नता के सिद्धान्त के भी कुछ समर्थक हैं, और अनुभव के आधार पर इस सिद्धान्त को प्रमाणित करना या उसका खण्डन करना समान रूप से असम्भव है। परन्तु जो लोग हर चीज़ की "यांत्रिक" व्याख्या करना चाहते हैं, उनसे यदि कोई यह पूछे कि क्या वे इसके परिणामों के प्रति सचेत हैं और क्या वे पदार्थ की अभिन्नता को स्वीकार करते हैं, तो उसको उनसे नाना प्रकार के उत्तर सुनने को मिलेंगे।

सबसे अधिक हास्यकर बात यह है कि "भौतिकवादी" को "यांत्रिक" का पर्याय बना देने की रीति के जनक **हेगेल** हैं, जो "यांत्रिक" शब्द जोड़कर भौतिकवाद का उपहास करना चाहते थे। जिस भौतिकवाद की हेगेल ने आलोचना की थी—अर्थात् अठारहवीं शताब्दी का फ़्रांसीसी भौतिक-वाद—वह सचमुच अनन्य रूप से **यांत्रिक** था, और इस स्वाभाविक कारण से यांत्रिक था कि उस समय तक भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान अपनी बाल्यावस्था में थे और उनमें प्रकृति के विषय में एक सामान्य दृष्टिकोण का आधार प्रस्तुत करने का सामर्थ्य नहीं था। इसी प्रकार हैकेल ने हेगेल के शब्दों का अनुवाद अपना लिया है: causae efficientes—"यांत्रिक ढंग से कार्य करनेवाले कारण", और causae finales—"सप्रयोजन ढंग से कार्य करनेवाले कारण"। हेगेल ने

"यांत्रिक" को अचेतन ढंग से या अंधे ढंग से काम करने का पर्याय समझा है। हैकेल जिस अर्थ में "यांत्रिक" शब्द का प्रयोग करते हैं, उस अर्थ में हेगेल ने उसका प्रयोग नहीं किया है। परन्तु यह पूरा प्रतिवाद ख़ुद हेगेल के लिये एक इतने पुराने और बेकार दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है कि अपने 'तर्कशास्त्र' में उन्होंने कारणता का दो जगहों में जो विवेचन किया है, उसमें इसका **ज़िक्र तक नहीं है**, और उसका ज़िक्र उन्होंने या तो अपने 'दर्शनशास्त्र के इतिहास' में उस स्थान पर किया है, जहां ऐतिहासिक क्रमानुसार उसका ज़िक्र करना आवश्यक था (इसलिये हैकेल ने अपने सतही दृष्टिकोण के कारण हेगेल को बिल्कुल ग़लत समझा है!) और या टीलियोलॉजी की चर्चा करते हुए ('तर्कशास्त्र', खण्ड ३, भाग २, अध्याय ३ में) * सर्वथा प्रसंगवश उस स्थान पर किया है, जहां उन्होंने इस प्रतिवाद की उस रूप की भांति चर्चा की है, जिस रूप में **पुराने अधिभूतवाद** ने यांत्रिकीवाद और टीलियोलॉजी के प्रतिवाद की कल्पना की थी। अन्यथा हेगेल ने इस प्रतिवाद को सदा उस दृष्टिकोण का माना है, जो अब पुराना पड़ गया है और बिल्कुल बेकार हो गया है। अतः हैकेल यह देखकर ख़ुशी से फूले नहीं समाये कि उनकी "यांत्रिक" अवधारणा की हेगेल की रचनाओं से भी पुष्टि हो गयी है, और इस ख़ुशी में वह हेगेल के शब्दों की ग़लत ढंग से नक़ल उतार बैठे। और इस तरह वह इस सुन्दर नतीजे पर पहुंचे कि यदि किसी जन्तु या पौधे में कोई ख़ास परिवर्तन प्राकृतिक वरण के कारण हुआ हो, तो वह causa efficiens के फलस्वरूप हुआ है, परन्तु यदि वही परिवर्तन **कृत्रिम** वरण के द्वारा हुआ हो, तो वह causa finalis के फलस्वरूप हुआ है! यानी वरण करनेवाला व्यक्ति causa finalis होता है! ज़ाहिर है कि हेगेल जैसा प्रतिभाशाली द्वन्द्ववादी causa efficiens और causa finalis के संकीर्ण प्रतिवाद के दुष्चक्र में नहीं फंस सकता था। और आधुनिक दृष्टिकोण के लिये तो इस प्रतिवाद से सम्बन्धित पूरी बकवास निरर्थक है, क्योंकि हम

---

* एंगेल्स ने यहां हेगेल के 'तर्कशास्त्र का सिद्धांत' (विचार सिद्धांत) के खंड ३, भाग २, अध्याय ३ को उद्धृत किया है। —**सं०**

अनुभव से तथा सिद्धान्त् के आधार पर **जानते हैं** कि पदार्थ और उसके अस्तित्व की पद्धति – गति – दोनों असर्जनीय हैं, और इसलिये दोनों स्वयं ही अपना मूल कारण हैं; और ब्रह्माण्ड में गति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में जो अलग-अलग कारण क्षणिक ढंग से और स्थानीय रूप में एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, या जिनको हमारा विचारशील मस्तिष्क एक दूसरे से पृथक् कर देता है, उनको **कार्यकारी** कारणों का नाम दे देने से कोई नया निर्धारक तत्व हरगिज़ नहीं जुड़ता, बल्कि केवल एक विचार विभ्रम पैदा करनेवाला तत्व जुड़ जाता है। जो कारण कार्यकारी नहीं है, वह कारण भी नहीं है।

नोट। स्वयं पदार्थ विशुद्ध रूप से चिन्तन की सृष्टि है और एक अमूर्त कल्पना है। पदार्थ नामक धारणा के अन्तर्गत समस्त वस्तुओं को भौतिक रूप में विद्यमान वस्तुओं की भांति इकट्ठा करते हुए हम उनके गुणात्मक भेदों को अनदेखा कर देते हैं। इसलिये पदार्थ के निश्चित, विद्यमान खण्डों से अलग स्वयं पदार्थ कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी इंद्रियगम्य सत्ता हो। यदि प्राकृतिक विज्ञान शुद्ध एकरूपी पदार्थ का पता लगाने की कोशिश करने लगे, यदि वह गुणात्मक भेदों को संयोजनशील अभिन्न अत्यल्प कणों के मात्र परिमाणात्मक भेदों में परिणत करने की चेष्टा करे, तो यह उसी तरह की बात होगी, जैसे वह यह चाहता हो कि चेरी, नाशपाती, सेब आदि के बजाय उसे निर्विशेष फल दिखाई देने लगे[213], या बिल्लियों, कुत्तों, भेड़ों आदि के बजाय उसे निर्विशेष स्तनधारी दिखाई देने लगे, और जैसे वह निर्विशेष गैस का, निर्विशेष धातु का, निर्विशेष पत्थर का, निर्विशेष रासायनिक यौगिक का, निर्विशेष गति का पता लगाना चाहता हो। डार्विन के सिद्धान्त को एक ऐसे आद्य स्तनधारी की, या हैकेल के पूर्व-स्तनधारी, Promammale[214] की आवश्यकता थी, परन्तु साथ ही उसको यह भी मानना पड़ा था कि यदि यह पूर्व-स्तनधारी अपने भीतर समस्त वर्तमान और भावी स्तनधारियों को **बीज रूप** में धारण किये हुए था, तो वास्तव में उसका स्तर तमाम वर्तमान स्तनधारियों के स्तर से नीचा था, और वह आदिम ढंग से अपरिष्कृत था, और इसलिये वह इन तमाम स्तनधारियों की अपेक्षा अधिक अल्पकालिक था। जैसा कि हेगेल

पहले ही ('विश्वकोश', भाग १, पृष्ठ १९९) कह चुके हैं, यह दृष्टि-कोण, यह "एकांगी गणितीय दृष्टिकोण", जिसके अनुसार पदार्थ का केवल परिमाणात्मक निर्धारण ही हो सकता है, और गुणात्मक दृष्टि से वह मूलतया अभिन्न होता है–यह दृष्टिकोण अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी भौतिकवाद के दृष्टिकोण "के सिवा और कुछ नहीं" है।[215] बल्कि कहना चाहिये कि यह दृष्टिकोण पीछे हटते-हटते पुनः पाइथागोरस के दृष्टिकोण पर पहुंच गया है, जो संख्या को, परिमाणात्मक निर्धारण को वस्तुओं का सार समझता था।

टिप्पणियां

[1] *Der Volksstaat* ('जन-राज्य') – जर्मन सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी (आयज़ेनख़वादी) का केन्द्रीय मुखपत्र, जो लाइपज़िग में २ अक्तूबर, १८६९ से २९ सितम्बर, १८७६ तक प्रकाशित होता रहा (शुरू में यह हफ़्ते में दो बार प्रकाशित होता था, किन्तु जुलाई, १८७३ से हफ़्ते में तीन बार प्रकाशित किया जाने लगा था)। यह अख़बार जर्मन मज़दूर आन्दोलन की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को वाणी देता था। खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारी लेखों के प्रकाशन के लिये अख़बार का सरकार और पुलिस द्वारा निरन्तर दमन किया जाता रहा। सम्पादकीय मण्डल की बनावट अक्सर बदलती रही, क्योंकि सम्पादक बार-बार गिरफ़्तार कर लिये जाते थे, पर अख़बार का सामान्य नेतृत्व सदैव विल्हेल्म लीब्कनेख़्त के हाथों में रहा। अख़बार के प्रकाशन गृह के मैनेजर के नाते ऑगस्ट बेबेल ने भी अख़बार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

मार्क्स और एंगेल्स का *Volksstaat* के सम्पादकीय मण्डल के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा और अख़बार में उनके लेख बाक़ायदा छपते रहे। मार्क्स और एंगेल्स अख़बार को बहुत महत्व देते थे; जो कुछ भी उसमें छपता था, उसे वे ध्यान से पढ़ते, उसकी छूटों और ग़लतियों की आलोचना करते और ठीक रास्ते पर उसे चलाने के लिये उसका पथ प्रदर्शन करते। उन्हीं की कोशिशों के फलस्वरूप *Volksstaat* उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में मज़दूरों के सर्वोत्कृष्ट अख़बारों में से एक बन गया था।

१८७६ में हुई गोथा कांग्रेस के निश्चयानुसार १ अक्तूबर, १८७६ से दोनों अख़बारों – *Volksstaat* और *Neuer Sozialdemokrat* ('नया सामाजिक-जनवादी') के स्थान पर जर्मनी की सामाजिक-

जनवादी मज़दूर पार्टी का एक ही केन्द्रीय मुखपत्र, *Vorwärts* ('आगे बढ़ो') प्रकाशित किया जाने लगा। २७ अक्तूबर, १८७८ को समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून (देखिये टिप्पणी ५) के लागू हो जाने के बाद अख़बार पर रोक लगा दी गयी। – ११

[2] १० मई, १८७६ को संयुक्त राज्य अमरीका के शताब्दी समारोह (४ जुलाई, १७७६) के अवसर पर फ़िलाडेलफ़िया में छठी विश्व औद्योगिक प्रदर्शनी का उद्‌घाटन हुआ। प्रदर्शनी में भाग लेनेवाले चालीस देशों में से जर्मनी भी एक था। परन्तु बर्लिन उद्योग अकादमी का डायरेक्टर प्रोफ़ेसर फ़्रांज़ रौलो, जिसे जर्मन सरकार ने जर्मन ज्यूरी का प्रधान नियुक्त किया था, यह स्वीकार करने पर मजबूर हुआ कि जर्मन उद्योग अन्य देशों के उद्योग से बहुत पीछे है और उसका आदर्श सूत्र है "सस्ती मगर ख़राब"। अख़बारों में उसके वक्तव्य पर बड़ी टीका-टिप्पणी हुई। जुलाई – सितम्बर में अख़बार *Volksstaat* ने इस बदनाम करनेवाले तथ्य के बारे में अनेक लेख प्रकाशित किये। – १४

[3] यह प्रचलित वाक्य कि उन्होंने "असल में कुछ भी नहीं सीखा है," फ़्रांसीसी एडमिरल दि पनात द्वारा लिखे पत्रों में से एक पत्र से लिया गया है। कुछ लोगों का कहना है कि इस वाक्य का प्रयोग सबसे पहले टैलीरैंड ने किया था। यह वाक्य उन राजतंत्रवादियों को सम्बोधित करके कहा गया था, जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त में होनेवाली फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति के अनुभव से कुछ भी नहीं सीख पाये थे। – १४

[4] एंगेल्स का निर्देश यहां विर्ख़ोव के उस भाषण से है, जो उसने जर्मन प्रकृतिविज्ञों और चिकित्सकों की पचासवीं कांग्रेस में दिया था। यह कांग्रेस २२ सितम्बर, १८७७ को म्यूनिख़ में हुई थी। देखिये R. Virchow, *Die Freiheit der Wissenschaft im modernen Staat* ('आधुनिक राज्य में विज्ञान की स्वतंत्रता'), बर्लिन, १८७७, पृष्ठ १३। – १४

[5] **समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून** २१ अक्तूबर, १८७८ को बिस्मार्क की सरकार द्वारा राइख़स्टाग में बहुमत के समर्थन से जारी किया गया था। इसका लक्ष्य समाजवादी और मज़दूर आन्दोलन को दबाना था। क़ानून ने जर्मनी की सामाजिक-जनवादी पार्टी को ग़ैर-क़ानूनी स्थिति में डाल दिया; उसके अधीन सामाजिक-जनवादी पार्टी के सभी संगठनों, मज़दूरों के जन-संगठनों, समाजवादी तथा मज़दूर अख़बारों पर रोक लगा दी गयी; उसके अनुसार समाजवादी साहित्य को ज़ब्त किया जा सकता था और वह सामाजिक-जनवादियों के दमन का कारण बना। परन्तु मार्क्स और एंगेल्स द्वारा दी गयी सक्रिय सहायता से सामाजिक-जनवादी पार्टी अपनी पंक्तियों में अवसरवादी और "अतिवामपंथी" दोनों प्रकार के तत्वों का प्रतिरोध करने में समर्थ हुई और जिस समय समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून लागू था, उस समय सामाजिक-जनवादी पार्टी सही तौर पर ग़ैर-क़ानूनी काम और क़ानूनी अवसरों को मिलाकर जन-समूहों में अपना प्रभाव काफ़ी हद तक मज़बूत करने और फैलाने में सफल हुई। आम मज़दूर आन्दोलन के दबाव से १ अक्तूबर, १८९० को इस क़ानून को रद्द कर दिया गया। एंगेल्स ने अपने लेख *Bismarck und die deutsche Arbeiterpartei* ('बिस्मार्क और जर्मन मज़दूर पार्टी') में क़ानून का मूल्यांकन किया। – १६

[6] **पवित्र गठजोड़** – विभिन्न देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलनों को कुचलने और उन देशों में सामन्तवादी-राजतन्त्रों को क़ायम रखने के उद्देश्य से ज़ारशाही रूस, आस्ट्रिया और प्रशा द्वारा १८१५ में स्थापित किया गया यूरोपीय राजतंत्रों का एक प्रतिक्रियावादी संघ। – १६

[7] K. Marx, *Misère de la philosophie* ('दर्शन की दरिद्रता'), पेरिस – ब्रसेल्स, १८४७। *Manifest der Kommunistischen Partei* ('कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'), लन्दन, १८४८। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के नाम से १८७२ में प्रकाशित हुआ। K. Marx. *Das Kapital* ('पूंजी'), खंड १, हैंबर्ग, १८६७। – १७

[8] १८७२ से यूजेन ड्यूहरिंग (जो १८६३ से बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रिवेट-डोसेंट और १८७३ से एक प्राइवेट महिला कालेज में प्राध्यापक थे) अपनी रचनाओं में विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों पर हमला करने लगे। उदाहरणार्थ अपनी पुस्तक *Kritische Geschichte der allgemeinen Prinzipien der Mechanik* ('यान्त्रिकी के सामान्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक इतिहास') (१८७२) के पहले संस्करण में उन्होंने एच० हेल्महोल्ट्ज़ पर यह दोष लगाया कि उसने रॉबर्ट मायेर की रचनाओं की उपेक्षा की है। ड्यूहरिंग ने विश्वविद्यालय में स्थापित व्यवस्था की भी कड़ी आलोचना की। इसका नतीजा यह हुआ कि विश्वविद्यालय के प्रतिक्रियावादी प्रोफ़ेसर ड्यूहरिंग के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए और १८७६ में उनकी पहलक़दमी पर महिला कालेज में व्याख्यान देने से ड्यूहरिंग को वंचित कर दिया गया। 'यान्त्रिकी का इतिहास' के दूसरे संस्करण (१८७७) में और महिलाओं की शिक्षा के विषय पर अपनी एक पुस्तक (१८७७) में ड्यूहरिंग ने पहले से भी अधिक तीव्रता के साथ फिर वही दोष लगाये। जुलाई, १८७७ में दर्शनशास्त्र विभाग की मांग पर उनसे विश्वविद्यालय में पढ़ाने का अधिकार छीन लिया गया। उनके बरख़ास्त कर दिये जाने पर ड्यूहरिंग के समर्थकों की ओर से ज़बर्दस्त विरोध आन्दोलन भड़क उठा; साथ ही विस्तृत स्तर पर जनवादी हल्क़ों ने भी उनके बरख़ास्त किये जाने की भर्त्सना की।

१८८४ में एर्नस्ट श्वेनिंगर को, जो १८८१ से बिस्मार्क का निजी चिकित्सक था, बर्लिन विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया। –१८

[9] एंगेल्स की रचना का फ़्रांसीसी अनुवाद, जिसे लफ़ार्ग ने *Socialisme utopique et socialisme scientifique* ('समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक') का शीर्षक देकर किया था, *Revue socialiste* नामक पत्रिका के अंक ३–५ में मार्च–मई १८८० में प्रकाशित किया गया था; उसी साल पेरिस में उसे अलग पैम्फ़्लेट के रूप में प्रकाशित किया गया। पैम्फ़्लेट का पोलिश अनुवाद जेनेवा में

१८८२ में और इतालवी अनुवाद बेनिवेन्तो में, १८८३ में प्रकाशित किया गया। पहला जर्मन संस्करण १८८२ में हाटिंजन-जूरिच में *Die Entwicklung des Sozialismus von der Utopie zur Wissenschaft* ('कल्पनालोक से विज्ञान तक समाजवाद का विकास') शीर्षक से प्रकाशित हुआ; दूसरा और तीसरा स्टिरियोटाइप संस्करण १८८३ में वहीं प्रकाशित किये गये। एंगेल्स की रचना का पहला रूसी संस्करण 'वैज्ञानिक समाजवाद' शीर्षक से ग़ैर-क़ानूनी पत्रिका 'स्तुदेंचेस्त्वो' ('विद्यार्थी') अंक १ में दिसम्बर, १८८२ में प्रकाशित हुआ। १८८४ में 'श्रम मुक्ति' दल ने यह पैम्फ़्लेट जेनेवा में एक अलग संस्करण के रूप में 'वैज्ञानिक समाजवाद का विकास' शीर्षक से प्रकाशित किया। डेनिश अनुवाद कोपेनहेगेन में १८८५ में प्रकाशित किया गया। – १९

[10] एंगेल्स का निर्देश यहां लुईस हेनरी मार्गन की प्रधान रचना *Ancient Society or Researches in the Lines of Human Progress from Savagery, through Barbarism to Civilisation* ('प्राचीन समाज अथवा आदिम अवस्था से बर्बरता के रास्ते सभ्यता तक मानव प्रगति की रूप-रेखा में अनुसन्धान') से है, जो लन्दन में १८७७ में प्रकाशित की गयी थी। – १९

[11] १ जुलाई, १८६९ को एंगेल्स ने मैंचेस्टर की व्यापारिक फ़र्म से अवकाश ग्रहण किया और २० सितम्बर, १८७० को लन्दन में रहने लगे। – २०

[12] कृषि रसायनशास्त्र पर अपनी प्रधान रचना की भूमिका में जस्तस लीबिग अपने वैज्ञानिक विचारों के विकास के सम्बन्ध में कहते हैं: "रसायनशास्त्र अविश्वसनीय रूप से तेज़ गति से विकसित हो रहा है और वे रसायनशास्त्री, जो इस उन्नति के साथ हमक़दम होकर चलना चाहते हैं, निरन्तर निर्मोचन प्रक्रिया की स्थिति में रहते हैं। उड़ान के लिये पुराने पंख अनुपयोगी होने पर झड़ जाते हैं, किन्तु

उनके स्थान पर नये पंख उगने लगते हैं और उड़ान पहले से ज्यादा शक्तिशाली और आसान हो जाती है।" देखिये J. Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agricultur und Physiologie* ('कृषि और शरीरक्रिया विज्ञान पर लागू होनेवाला रसायनशास्त्र'), सातवां संस्करण, ब्राउनश्विग, १८६२, भाग १, पृष्ठ २६।–२०

[13] यहां निर्देश उस पत्र से है, जो जर्मन सामाजिक-जनवादी हाइनरिख विल्हेल्म फ़ेबियन ने मार्क्स को ६ नवम्बर, १८८० को लिखा (देखिये एंगेल्स के पत्र: ११ अप्रैल, १८८४ को काउत्स्की के नाम, १३ सितम्बर, १८८४ को बर्न्सटीन के नाम और ३ जून, १८८५ को ज़ोर्गे के नाम)। एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के भाग १, अध्याय १२ (देखिये वर्तमान संस्करण, पृष्ठ १९५) में $\sqrt{-1}$ का उल्लेख करते हैं।–२०

[14] एंगेल्स का निर्देश यहां हैकेल के उन वक्तव्यों से है, जो उन्होंने अपनी पुस्तक की चौथी वार्ता 'गेटे और ओकेन में विकास का सिद्धान्त' के अन्त में दिये हैं। E. Haeckel, *Natürliche Schöpfungsgeschichte* ('सष्टि रचना का प्राकृतिक इतिहास'), चौथा संस्करण, बर्लिन, १८७३, पृष्ठ ८३-८८)।–२१

[15] एंगेल्स अपनी रचना 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' में हेगेल और हेल्महोल्ट्ज़ के शक्ति सम्बन्धी वक्तव्यों का विवेचन करते हैं। देखिये 'गति के मूलभूत रूप' शीर्षक अध्याय।–२२

[16] काण्ट के नीहारिका सिद्धान्त के बारे में देखिये टिप्पणी २५।

काण्ट के ज्वारीय घर्षण के बारे में देखिये फ़्रे० एंगेल्स, 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति', अध्याय 'ज्वारीय घर्षण'।–२३

[17] निर्देश एंगेल्स की रचना 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' तथा मार्क्स की गणित सम्बन्धी हस्तलिपियों से है। मार्क्स ने १,००० से अधिक पृष्ठों की

ये हस्तलिपियां उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक के अन्तिम वर्षों और नौवें दशक के आरम्भिक वर्षों में लिखी थीं। – २३

[18] एंगेल्स का निर्देश यहां आयरलैण्ड के भौतिकीविज्ञ टॉमस एंड्रयूज़ की रचनाओं (१८६९), फ़्रांसीसी भौतिकीविज्ञ लूई पॉल केइलिते और स्विस भौतिकीविज्ञ राउल पिक्ते की रचनाओं (१८७७) से है। – २४

[19] पहली स्थिति में इसका मतलब डक-बिल, दूसरी में प्रत्यक्षतः आर-किओप्तेरिक्स पक्षी है। – २५

[20] र० विर्ख़ोव की अवधारणा के अनुसार, जिसकी उन्होंने अपनी पुस्तक 'कोशिका रोग-निदान' में व्याख्या की है (पुस्तक का पहला संस्करण १८५८ में प्रकाशित किया गया था), हर जीव विखंडित होकर उत्तकों का रूप लेता है, और उत्तक विखंडित होकर कोशिकीय क्षेत्रों का और कोशिकीय क्षेत्र विखंडित होकर अलग-अलग कोशिकाओं का रूप लेते हैं, यहां तक कि अन्तिम विश्लेषण में हर जीव को अलग-अलग कोशिकाओं के यान्त्रिक समूह के रूप में देखा गया है (देखिये R. Virchow, *Die Cellularpathologie*, चौथा संस्करण, बर्लिन, १८७१, पृष्ठ १७)।

इस अवधारणा के "प्रगतिवादी" स्वरूप का उल्लेख करते हुए एंगेल्स जर्मनी की बुर्जुआ प्रगतिवादी पार्टी में विर्ख़ोव की सदस्यता की ओर निर्देश करते हैं। विर्ख़ोव ने इस पार्टी की स्थापना में भाग लिया था और उसके प्रतिष्ठित कारकुनों में से था। पार्टी को जून, १८६१ में संगठित किया गया था। उसके कार्यक्रम में विशेष रूप से इस प्रकार की मांगें शामिल थीं, जैसे प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण तथा स्थानीय स्वशासन के उसूल का प्रवर्तन। – २५

[21] रूसो के अनुसार आरम्भ में लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे और सभी को समान अधिकार प्राप्त थे। निजी सम्पत्ति के उद्भव और सम्पत्ति की असमानता के उग्र होने के फलस्वरूप लोगों का प्राकृतिक अवस्था से नागरिक अवस्था में संक्रमण हुआ और सामाजिक संविदा

के आधार पर राज्य का निर्माण हुआ। परन्तु बाद में राजनीतिक असमानता के उग्रतर होते जाने के परिणामस्वरूप सामाजिक संविदा भंग होती है और उत्पीड़न के एक नये राज्य की स्थापना हो जाती है। इस उत्पीड़न को नयी सामाजिक संविदा पर आधारित बुद्धि के राज्य द्वारा दूर किया जा सकता है।

रूसो ने यह सिद्धान्त अपनी रचनाओं *Discours sur l'origine et les fondements de l'inégalité parmi les hommes* ('लोगों में असमानता की उत्पत्ति तथा उसके आधार के विषय में एक प्रवचन'), एम्स्टर्डम, १७५५ और *Du contrat social; ou, principes du droit politique* ('सामाजिक संविदा अथवा राजनीतिक अधिकार के सिद्धांत'), एम्स्टर्डम, १७६२, में विकसित किया। – ३३

[22] दिदेरो ने अपनी रचना *Le neveu de Rameau* ('रामो का भतीजा') लगभग १७६२ में लिखी थी और बाद में दो अवसरों पर उसका संशोधन किया था। इसका गेटे द्वारा किया गया जर्मन अनुवाद पहली बार लाइपज़िग में १८०५ में प्रकाशित किया गया था। मूल फ़्रांसीसी संस्करण *Oeuvres inédites de Diderot* ('दिदेरो की अप्रकाशित रचनाएं', पेरिस, १८२१) में छापा गया। वास्तव में यह पुस्तक १८२३ तक प्रकाशित नहीं की गयी थी। – ३७

[23] विज्ञान के विकास में **सिकन्दरिया युग** तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व और सातवीं शताब्दी ईसा के बीच का युग है। इसका नाम भूमध्य सागर के तट पर स्थित मिस्र के नगर सिकन्दरिया पर रखा गया था। उस समय सिकन्दरिया अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था। सिकन्दरिया युग में गणित और यान्त्रिकी (यूकलिड और आर्किमिडीज़), भूगोल, खगोलशास्त्र, शरीररचनाशास्त्र, शरीरक्रिया विज्ञान, इत्यादि ने बहुत ज़्यादा उन्नति की थी। – ३८

[24] बाइबिल, मैथ्यू के प्रवचन, अध्याय ५, पद्य ३७। – ३९

[25] काण्ट के नीहारिका सिद्धान्त की व्याख्या, जिसके अनुसार सौर मण्डल की उत्पत्ति मौलिक नीहारिका से हुई थी, काण्ट की रचना *Allgemeine Naturgeschichte und Theorie des Himmels, oder Versuch von der Verfassung und dem mechanischen Ursprunge des ganzen Weltgebäudes nach Newtonischen Grundsätzen abgehandelt* ('आकाश का सामान्य प्राकृतिक इतिहास और सिद्धान्त, अथवा न्यूटन के सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्माण्ड की बनावट और यान्त्रिक उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास'), क्योनिग्सबर्ग और लाइपज़िग, १७५५, में की गयी। पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं दिया गया था।

लाप्लास की सौर मण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पना की व्याख्या पहली बार उसकी पुस्तक *Exposition du systême du monde* ('संसार की प्रणाली की व्याख्या'), खण्ड १-२; पेरिस, फ़्रांसीसी जनतन्त्र का चौथा साल (१७९६) के अन्तिम अध्याय में की गयी थी। पुस्तक के अन्तिम छठे संस्करण में, जिसे लाप्लास के जीवन काल में तैयार किया गया था, किन्तु जो उसकी मृत्यु के उपरान्त, १८३५ में प्रकाशित किया गया, परिकल्पना को उसकी रचना की अन्तिम, सातवीं टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत किया गया।

अन्तरिक्ष में काण्ट-लाप्लास के नीहारिका सिद्धान्त की मौलिक नीहारिका से मिलते-जुलते तापदीप्त गैस पुंजों का अस्तित्व १८६४ में वर्णक्रमदर्शी द्वारा अंग्रेज़ी खगोलशास्त्री विलियम हिगिन्स द्वारा सिद्ध किया गया था, जिसने आर० बुन्सेन और गु० किर्होफ़ द्वारा १८५९ में आविष्कृत वर्णक्रम विश्लेषण को विस्तृत स्तर पर लागू किया। इस सिलसिले में एंगेल्स ने ए० सेक्की की पुस्तक 'सूर्य' से सहायता ली थी। (देखिये A. Secchi, *Die Sonn*, ब्राउनश्विग, १८७२, पृष्ठ ७८७, ७८९–७९०)।–४३

[26] 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' के पहले जर्मन संस्करण में ही, जो १८८२ में प्रकाशित किया गया था, एंगेल्स ने एक महत्वपूर्ण

सुधार किया और इस आधारभूत प्रस्थापना को इस तरह सूत्रबद्ध किया था: "पुराना **सारा** इतिहास अपनी आदिम अवस्था को छोड़कर वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।" – ४७

[27] E. Dühring, *Kursus der Philosophie als streng wissenschaftlicher Weltanschauung und Lebensgestaltung* ('एक सम्यक् वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रूप में दर्शनशास्त्र का पाठ्यक्रम और जीवन की उत्पत्ति'), लाइपज़िग, १८७५।

E. Dühring, *Kursus der National- und Sozialökonomie einschliesslich der Hauptpunkte der Finanzpolitik* ('राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम, आर्थिक नीति की मूलभूत समस्याओं सहित'), द्वितीय संस्करण, लाइपज़िग, १८७६। पुस्तक का पहला संस्करण १८७३ में बर्लिन में प्रकाशित हुआ।

E. Dühring, *Kritische Geschichte der Nationalökonomie und des Sozialismus* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजवाद का आलोचनात्मक इतिहास'), द्वितीय संस्करण, बर्लिन, १८७५। पुस्तक का पहला संस्करण बर्लिन में १८७१ में प्रकाशित किया गया। – ५०

[28] Phalansteries – उन प्रासादों का नाम है, जिनकी योजना फ़्रांसीसी कल्पनावादी-समाजवादी शार्ल फ़ूरिये ने बनायी थी। उसने इस बात की कल्पना की थी कि आदर्श समाजवादी समाज में उत्पादक और उपभोक्ता संघों के सदस्य इन प्रासादों में रहेंगे और काम करेंगे। – ५५

[29] G. W. F. Hegel, *Encyclopädie der philosophischen Wissenschaften im Grundrisse* ('दार्शनिक विज्ञानों का संक्षिप्त विश्वकोश'), हाइडेलबर्ग, १८१७। इस पुस्तक के तीन भाग हैं: १) तर्कशास्त्र, २) प्रकृति का दर्शनशास्त्र, ३) मन का दर्शनशास्त्र।

'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' पर काम करते हुए एंगेल्स ने मुख्यतः हेगेल की संगृहीत रचनाओं का प्रयोग किया, जिन्हें हेगेल के शिष्यों ने

उनकी मृत्यु के बाद तैयार किया और छपवाया था (देखिये – Index of Authorities) –६२

[30] 'हेगेलीय सम्प्रदाय का वह यायावर यहूदी' – एंगेल्स ने प्रोफ़ेसर मिकेलेट को यह नाम प्रकटतः हेगेलीय सिद्धान्त के प्रति उनकी भक्ति-भावना के लिये, जिसे वह बड़ी सतही तौर पर समझ पाये थे, दिया था। उदाहरणार्थ १८७६ में मिकेलेट ने पांच-खण्डीय 'दर्शनशास्त्र की प्रणाली' छापनी शुरू की, जो सामान्य ढांचे की दृष्टि से हेगेल के 'विश्वकोश' की रूप-रेखा को ही पुनः प्रस्तुत करती थी। देखिये – C. L. Michelet, *Das System der Philosophie als exacter Wissenschaft enthaltend Logik, Naturphilosophie und Geistesphilosophie* ('यथातथ्य विज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र की प्रणाली, जिसमें तर्कशास्त्र, प्रकृति का दर्शनशास्त्र और मन का दर्शनशास्त्र शामिल हैं'), खंड १–५, बर्लिन, १८७६–१८८१। –६३

[31] १८८५ में 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' का दूसरा संस्करण प्रेस के लिये तैयार करते समय एंगेल्स का इरादा इस जगह एक टिप्पणी देने का था। उसकी रूप-रेखा ('वास्तविक संसार में गणितीय अनन्त के आदिप्ररूप के विषय में') वर्तमान संस्करण के परिशिष्ट में दी गयी है (देखिये पृष्ठ ६०२–६१७)। –६३

[32] यहां संकेत प्रशा निवासियों की ग़ुलामों जैसी आज्ञाकारिता की ओर है, जिन्होंने राजा द्वारा ५ दिसम्बर, १८४८ को प्रदान किये गये संविधान को और साथ ही प्रशियाई संविधान सभा के विसर्जन को मान लिया। संविधान को, जिसका मसविदा तैयार करने में प्रतिक्रियावादी गृह मन्त्री बेरन मैंत्यूफ़ेल का भी हाथ था, ३१ जनवरी, १८५० को फ़्रेडरिक विल्हेल्म चतुर्थ ने स्वीकृति दी। – ६९

[33] देखिये हेगेल 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश', पैराग्राफ़ १८८; साथ ही 'तर्कशास्त्र', पुस्तक ३, भाग १, अध्याय ३, सत्ता के

अस्तित्व के विचार के चौथे रूप के सम्बन्ध में पैराग्राफ़ और भाग ३, अध्याय २, प्रमेय के सम्बन्ध में पैराग्राफ़।–७०

[34] 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के भाग १ में इस प्रकार के सभी निर्देश ड्यूहरिंग की रचना 'दर्शनशास्त्र का पाठ्यक्रम' को लक्ष्य करते हैं।–७०

[35] एंगेल्स उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय युद्धों में से कुछेक सबसे बड़ी लड़ाइयों का उल्लेख करते हैं।

ग्रौस्टरलिट्ज़ की लड़ाई (२ दिसम्बर, १८०५), जिसमें नेपोलियन ने संयुक्त रूसी ग्रौर ग्रास्ट्रियाई फ़ौजों को पराजित कर दिया।

येना की लड़ाई १४ ग्रक्तूबर, १८०६ को हुई, जिसमें नेपोलियन ने प्रशियाई सेना को बुरी तरह से पराजित कर दिया। परिणामतः प्रशा ने नेपोलियन के सामने घुटने टेक दिये।

कोनिग्ग्राट्ज़ की लड़ाई (इस समय इस स्थान का नाम ह्राडिक क्रालोवे है) ३ जुलाई, १८६६ को बोहेमिया में लड़ी गयी, जिसमें ग्रास्ट्रियाई ग्रौर सैक्सोनिया की फ़ौजें एक तरफ़ ग्रौर प्रशा की फ़ौजें दूसरी तरफ़ थीं। इसमें प्रशा की पूर्ण विजय हुई ग्रौर ग्रास्ट्रिया हार गया, इस तरह १८६६ के ग्रास्ट्रो-प्रशियाई युद्ध के परिणाम का निश्चय हुग्रा। इस लड़ाई को सादोवा की लड़ाई के नाम से भी जाना जाता है।

सेदान की लड़ाई १–२ सितम्बर, १८७० को हुई। इस लड़ाई में प्रशा की सेनाग्रों ने मैकमोहन के ग्रधीन फ़्रांसीसी सेना को परास्त किया ग्रौर उसे घुटने टेकने पर मजबूर किया ग्रौर इस तरह १८७०–१८७१ के फ़्रांसीसी-प्रशियाई युद्ध के परिणाम का निश्चय हुग्रा।–७३

[36] G. W. F. Hegel, *Wissenschaft der Logik* ('तर्कशास्त्र'), नूर्नबर्ग, १८१२–१८१६। यह रचना तीन पुस्तकों में है: १) वस्तुगत तर्कशास्त्र, सत्ता का सिद्धान्त (१८१२ में प्रकाशित); २) वस्तुगत तर्कशास्त्र, सार-तत्व का सिद्धान्त (१८१३ में प्रकाशित);

३) मनोगत तर्कशास्त्र अथवा अवधारणा का सिद्धान्त (१८१६ में प्रकाशित)। – ७८

[37] हेगेल, 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश', पैराग्राफ़ ६४। – ८०

[38] I. Kant, *Kritik der reinen Vernunft*, रीगा, १७८१, पृष्ठ ४२६-३३। – ८४

[39] एंगेल्स का निर्देश ड्यूहरिंग के उन हमलों से है, जो उसने महान् जर्मन गणितशास्त्री कार्ल फ़्रेडरिक गाउस द्वारा व्यक्त किये गये उन विचारों पर किये, जिनका सम्बन्ध ग़ैर-यूकलिडवादी रेखागणित की बनावट और विशेषकर बहुत-से आयामों वाले दिक् के रेखागणित की बनावट से था। – ८५

[40] देखिये हेगेल, 'तर्कशास्त्र', पुस्तक २, 'सार-तत्व का सिद्धान्त' का आरम्भ। नव-शेलिंगीय 'अपूर्वकल्पनीय सत्ता' के बारे में देखिये एंगेल्स की रचना 'शेलिंग और रहस्योद्घाटन'। – ८८

[41] यह विचार कि गति का परिमाण ज्यों का त्यों बना रहता है, देकार्त द्वारा उनकी रचना 'प्रकाश सम्बन्धी निबन्ध' में (जो उनकी 'विश्व' शीर्षक पुस्तक का पहला भाग बनती है, जो १६३०–१६३३ में लिखी गयी और लेखक की मृत्यु के बाद १६६४ में प्रकाशित की गयी थी) और ३० अप्रैल, १६३६ को फ़्लोरिमोंद दि-बाउन के नाम लिखे उनके पत्र में व्यक्त किया गया था। इस परिमेय की और अधिक पूर्ण व्याख्या के लिये देखिये R. Descartes, *Principia Philosophiae* ('दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त'), एम्स्टर्डम, १६४४, भाग २, पैराग्राफ़ ३६)। –९०

[42] वरुण ग्रह को, जिसका एंगेल्स ने यहां उल्लेख किया है, बर्लिन वेधशाला के एक निरीक्षक जोहान गाल्ले ने १८४६ में अन्वेषण किया था। –९६

[43] अधिक सम्यक् तथ्य-सामग्री के अनुसार, जब पानी भाप में रूपा-

न्तरित किया जाता है, तो गुप्त ऊष्मा १००° सेण्टीग्रेड पर ५३८.६ ग्राम-कलोरी के बराबर होती है।–१०५

[44] प्रेस के लिये 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' का दूसरा संस्करण तैयार करते समय एंगेल्स का इरादा यहां पर एक टिप्पणी देने का था। इसकी ('प्रकृति की "यांत्रिक" अवधारणा के विषय में') रूप-रेखा बाद में 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' में सम्मिलित की गयी।–१०६

[45] Ch. Darwin, *The Origin of Species by Means of Natural Selection, or the Preservation of Favoured Races in the Struggle for Life* ('प्राकृतिक वरण द्वारा जातियों का उद्भव, अथवा जीवन के लिये संघर्ष में अनुकूल जातियों का संरक्षण'), छठा संस्करण, लंदन, १८७२, पृष्ठ ४२८। शब्दों पर ज़ोर एंगेल्स का है। यह अन्तिम संस्करण है, जिसमें डार्विन ने संशोधन किये हैं और नये अंश जोड़े हैं। पहला संस्करण १८५६ में लन्दन में प्रकाशित हुआ।

नीचे, पृष्ठ १२१ पर एंगेल्स डार्विन की पुस्तक के उसी संस्करण का हवाला देते हैं।– ११६

[46] E. Haeckel, *Natürliche Schöpfungsgeschichte. Gemeinverständliche wissenschaftliche Vorträge über die Entwickelungslehre im Allgemeinen und diejenige von Darwin, Goethe und Lamarck im Besonderen* ('सृष्टि रचना का प्राकृतिक इतिहास। विकास सम्बन्धी मत पर सामान्य रूप से और डार्विन, गेटे और लामार्क के विकास सम्बन्धी मत पर विशेष रूप से सुबोध वैज्ञानिक व्याख्यान'), चौथा संस्करण, बर्लिन, १८७३। पुस्तक का पहला संस्करण बर्लिन में १८६८ में प्रकाशित हुआ।

प्रोटिस्टा (Protista, यह ग्रीक शब्द protistos से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ "प्रथम" है)। हैकेल के वर्गीकरण के अनुसार सबसे निचले दर्जे के जीवों का बहुत बड़ा समूह है, जिसमें एककोशीय और अकोशीय दोनों प्रकार के जीव शामिल हैं। बहुकोशीय जीवों

(पौधों और जंतुओं) के दो राज्यों के अतिरिक्त यह समूह कार्बनिक प्रकृति का एक तीसरा विशिष्ट राज्य बनता है।

मोनेरा (Monera यह ग्रीक शब्द moneres से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ "एकमात्र" है।) हैकेल के अनुसार एक सीधा-सादा अल्बूमिनीय कण है, जिसके अन्दर कोई नाभिक नहीं है, जो जीवन की सभी सारभूत क्रियाओं को करता है : आहार, गति, उद्दीपन जनित प्रतिक्रिया और प्रजनन। हैकेल ने आदिकालीन मोनेरा में जो स्वतःस्फूर्त्त प्रजनन के द्वारा पैदा हुए और जो अब अस्तित्व में नहीं हैं (archegonial monera), और समकालीन जीते-जागते मोनेरा में भेद किया। पहले प्रकार के मोनेरा कार्बनिक प्रकृति के तीनों राज्यों के विकास के लिये आरम्भ-बिन्दु थे। कोशिका का विकास archegonial monera में से हुआ। दूसरे प्रकार के मोनेरा protista के राज्य के हैं और उनका प्रथम और सबसे सरल वर्ग बनते हैं। हैकेल का अनुमान है कि समकालीन मोनेरा का विभिन्न जातियां प्रतिनिधित्व करती हैं। हैकेल ने 'प्रोटिस्टा' और 'मोनेरा' शब्दों का १८६६ में अपनी पुस्तक 'जीवों का सामान्य आकृति विज्ञान' में प्रयोग किया था, लेकिन विज्ञान ने उन्हें मान्यता नहीं दी। जिन जीवों को हैकेल प्रोटिस्टा समझते थे, उनका वर्गीकरण आजकल पौधों अथवा जानवरों में किया जाता है। मोनेरा का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो पाया। परन्तु फिर भी प्राग्-कोशीय रचनाओं में से कोशीय जीवों के विकास का सामान्य विचार और आदिकालीन जीवों का पौधों और जानवरों के रूप में भेद करने का विचार सर्वमान्य हुए। – ११६

[47] 'निबेलुंग की अंगूठी' (*Der Ring des Nibelungen*) – रिचर्ड वैगनर द्वारा रचित महान ऑपेरा माला, जिसमें चार संगीत-नाटक शामिल हैं: 'राइन का सोना', 'वाल्कूर', 'सीगफ़्रायड' और 'देवताओं का पतन'। १८७६ में बेइरीट में एक विशेष वैगनर थियेटर खोला गया, जिसमें उद्घाटन के दिन *Der Ring des Nibelungen* मंचित किया गया।

"भविष्य का रचयिता" नाम से हंसी-मज़ाक़ में एंगेल्स यहां वैगनर की ओर निर्देश करते हैं, जिसके संगीत को वैगनर के विरोधी व्यंग में "भविष्य का संगीत" कहा करते थे। इसका कारण वैगनर की पुस्तक 'भविष्य की कलात्मक रचना' (R. Wagner, *Das Kunstwerk der Zukunft*, लाइपज़िग, १८५०) थी। – १२४

48 **पादप जंतु** (Zoophyte) यह नाम सोलहवीं शताब्दी से अकेशरुकी जंतुओं के एक दल को दिया गया था, जो पौधों से मिलते-जुलते थे। मिसाल के तौर पर एक ही स्थान पर जमकर रहने की स्थिति (मुख्यतः स्पंज और सीलेण्टरेटा); पादप जंतु पौधों और जंतुओं के बीच के मध्यवर्ती रूप माने जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से Zoophyte शब्द का सीलेण्टरेटा के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था। अब इसका प्रयोग नहीं किया जाता। –१२८

49 उपर्युक्त वर्गीकरण T. H. Huxley, *Lectures on the Elements of Comparative Anatomy* ('तुलनात्मक शरीररचना विज्ञान के तत्वों पर व्याख्यान', लन्दन, १८६४, व्याख्यान ५) में दिया गया था। एच० ए० निकल्सन ने इस वर्गीकरण का प्रयोग अपनी रचना 'प्राणिशास्त्र की पुस्तिका' के आधार के रूप में किया, जो पहली बार १८७० में प्रकाशित की गयी थी। एंगेल्स ने इसका प्रयोग 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' और 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' पर काम करते समय किया। – १२८

50 **त्रौबे की कृत्रिम कोशिकाएं** – जीवित कोशिकाओं के नमूनों का प्रतिनिधित्व करनेवाले अकार्बनिक संघटन; वे बढ़ सकते हैं, चयापचय क्रिया कर सकते हैं और इनका प्रयोग जीवन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करने के लिये किया जा सकता है। जर्मन रसायनविज्ञ और शरीरक्रिया विज्ञानी त्रौबे ने कोलॉइडी मिश्रणों को मिलाकर इन्हें तैयार किया था। अपने प्रयोगों के बारे में उसने जर्मन प्रकृतिविज्ञानियों और चिकित्सकों की ४७ वीं कांग्रेस में, जो ब्रेस्लाउ में २३ सितम्बर, १८७४ को हुई थी, अपनी रिपोर्ट पेश की थी।

त्राँबे की इस खोज का मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत ऊंचा मूल्य आंका था (देखिये प० ल० लावरोव के नाम मार्क्स का १८ जून, १८७५ का पत्र और डब्ल्यू० ए० फ़्रैण्ड के नाम मार्क्स का २१ जनवरी, १८७७ का पत्र)।– १३३

[51] एंगेल्स यहां *Nature* नामक पत्रिका में १६ नवम्बर, १८७६ को छपे एक लेख का हवाला देते हैं। लेख में उस रिपोर्ट का विवरण दिया गया था, जो द० इ० मेन्देलेयेव ने ३ सितम्बर, १८७६ को वारसा में रूसी प्रकृति विज्ञानियों और चिकित्सकों की पांचवीं कांग्रेस के सामने पेश की थी। इस रिपोर्ट में मेन्देलेयेव ने अपने उन प्रयोगों का ब्योरा दिया था, जो उन्होंने १८७५–१८७६ में जे० जे० बोगुस्की के साथ मिलकर बौयल-मैरियट के नियम की सत्यता की जांच करने के लिये किये थे।

प्रकटत: एंगेल्स ने यह टिप्पणी 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के सम्बद्ध अध्याय के प्रूफ़ देखते समय लिखी थी, जो २८ फ़रवरी, १८७७ को *Vorwärts* में प्रकाशित किया गया था। कोष्ठकों में दिया गया टिप्पणी का अन्तिम भाग एंगेल्स द्वारा १८८५ में जोड़ा गया था, जब वह प्रकाशन के लिये 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' का दूसरा संस्करण तैयार कर रहे थे।– १४६

[52] गेटे, **'फ़ॉस्ट'**, भाग १, दृश्य ३।– १५०

[53] **'बाइबिल'**, मोज़ेज़ की दूसरी पुस्तक, अध्याय २०, पद्य १५ और मोज़ेज़ की पांचवीं पुस्तक, अध्याय ५, पद्य १९।– १५२

[54] गेटे, **'फ़ॉस्ट'**, भाग १, दृश्य २ और ३।– १५४

[55] रूसो की रचना 'लोगों में असमानता की उत्पत्ति तथा उसके आधार के विषय में एक प्रवचन' १७५४ में लिखी गयी थी और १७५५ में प्रकाशित की गयी (देखिये टिप्पणी २१)।– १५८

[56] **तीसवर्षीय युद्ध** (१६१८–१६४८) प्रोटेस्टेंट मत और कैथोलिक मत

के अनुयाइयों के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप भड़क उठा था। जर्मनी इस संघर्ष का मुख्य अखाड़ा, सैनिक लूट-पाट और लुटेरे दावों का शिकार बन गया था। – १६०

[57] एंगेल्स का निर्देश यहां उन घटनाओं की ओर है, जो ज़ारशाही रूस द्वारा मध्य एशिया को अधिकृत करने के काल में घटी थीं। १८७३ की ख़ीवा मुहिम के दौरान जुलाई-अगस्त में जनरल कौफ़मन ने जनरल गोलोवाचोव के अधीन रूसी सैनिकों की एक टुकड़ी को योमूद नामक तुर्कमेन क़बीले के विरुद्ध दण्ड-अभियान पर भेजा था; लोगों पर घोर अत्याचार किये गये। इन घटनाओं के बारे में प्रकटतः एंगेल्स की जानकारी का मुख्य स्रोत रूस में तत्कालीन अमरीकी कूटनीतिज्ञ यूजीन स्क्यूलर की पुस्तक 'तुर्केस्तान। रूसी तुर्केस्तान, ख़ोकन्द, बुख़ारा और कुल्जा में यात्रा की टिप्पणियां'। E. Schuyler, *Turkistan. Notes of a Journey in Russian Turkistan, Khokand, Bukhara and Kuldja*, दो खण्डों में, भाग २, लन्दन, १८७६, पृष्ठ ३५६–३५९। – १६४

[58] एंगेल्स ने यहां 'पूंजी', खण्ड १ से उद्धरण दिया है। देखिये का० मार्क्स, 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ७४। –१७०

[59] 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, पृष्ठ ७४। 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में एंगेल्स दूसरे जर्मन संस्करण के अनुसार 'पूंजी', खण्ड १ में से उद्धरण देते हैं। 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के तीसरे संस्करण के लिये भाग २, अध्याय १० का संशोधन करते समय एंगेल्स ने 'पूंजी', खण्ड १, के तीसरे जर्मन संस्करण का प्रयोग किया था। – १७३

[60] फ़रवरी १८४८ में लासाल को गिरफ़्तार कर लिया गया और उसपर यह इलज़ाम लगाकर मुक़दमा चलाया गया कि उसने दस्तावेज़ों सहित सन्दूक़ची की चोरी करने के लिये उकसाया है। सन्दूक़ची में दस्तावेज़ थे, जिन्हें वह कथित रूप में काउंटेस हाट्ज़फ़ेल्ट के – जिसका लासाल १८४६ से १८५४ तक वकील रहा था – तलाक़ के मुक़दमे के लिये

इस्तेमाल करने का इरादा रखता था। मुक़दमा ५ से ११ अगस्त १८४८ तक चला और अन्त में लासाल जूरी द्वारा बरी कर दिया गया। – १७५

[61] **संहिता** (Code pénal) – फ़्रांसीसी ज़ाब्ता फ़ौजदारी, जो १८१० में अंगीकार की गयी और १८११ से फ़्रांस में और फ़्रांस द्वारा अधिकृत पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी के प्रान्तों में लागू की गयी थी। १८१५ में प्रशा के साथ राइन प्रान्त के एकीकृत किये जाने के बाद भी वह ज़ाब्ता दीवानी के साथ राइन प्रान्त में लागू रही। प्रशा की सरकार ने इस प्रान्त में प्रशा का क़ानून लागू करने के लिये अनेक क़दम उठाये। परन्तु राइन प्रान्त में इन कार्रवाइयों का कड़ा विरोध किया गया और उन्हें मार्च क्रान्ति के बाद, १५ अप्रैल, १८४८ की विज्ञप्तियों द्वारा रद्द कर दिया गया। – १७६

[62] **नेपोलियन की संहिता** (Code Napoléon) — फ़्रांसीसी ज़ाब्ता दीवानी (Code civil), जो १८०४ में अंगीकार की गयी। एंगेल्स ने उसे "बुर्जुआ समाज के क़ानूनों की क्लासिकी संहिता" कहा था। (देखिये फ़्रे० एंगेल्स, 'लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकी जर्मन दर्शन का अंत', पृष्ठ ४८)।

यहां एंगेल्स Code Napoléon की शब्द के मोटे अर्थों में चर्चा करते हैं और उनका ध्यान उन पांच संहिताओं की ओर है, जिन्हें १८०४–१८१० में अंगीकार किया गया था, जब नेपोलियन सत्तारूढ़ था। इनमें ज़ाब्ता दीवानी, दीवानी दंडविधि, व्यापार संहिता, फ़ौजदारी और फ़ौजदारी दंडविधि शामिल थे। –१७६

[63] देखिये स्पिनोज़ा, 'नीतिशास्त्र' (भाग १, परिशिष्ट)। स्पिनोज़ा ने यह पादरीतुल्य प्रयोजनापरक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवालों की आलोचना करते हुए कहा था, जो प्रत्येक घटना के कारण की "भगवान की इच्छा" कहकर व्याख्या कर देते थे और जिनकी एकमात्र युक्ति अन्य कारणों के अज्ञान की दुहाई दे देना हुआ करती थी। – १७८

[64] Corpus juris civilis – दीवानी क़ानूनों की व्यापक संहिता, जो रोम के दास समाज में सम्पत्ति सम्बन्धों को नियमित करती थी; यह संहिता छठी शताब्दी में सम्राट जस्टीनियन के शासन काल में संकलित की गयी थी। एंगेल्स ने इस संहिता को "माल उत्पादकों के समाज का पहला सार्वत्रिक क़ानून" की संज्ञा दी थी। (देखिये मार्क्स, एंगेल्स, संकलित रचनाएं, चार भागों में, भाग ४, 'लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकी जर्मन दर्शन का अंत', मास्को, १६६८, पृष्ठ ६२७)। – १७८

[65] प्रशा में जन्म, विवाह तथा मृत्यु की अनिवार्य नागरिक रजिस्टरी लागू किये जाने से सम्बन्धित क़ानून बिस्मार्क की पहलक़दमी पर अपनाया गया था। इसकी स्वीकृति ६ मार्च, १८७४ को दी गयी थी और इसे १ अक्तूबर, १८७४ को लागू किया गया था। ६ फ़रवरी, १८७५ को उसी तरह का एक क़ानून समस्त जर्मन साम्राज्य में लागू किया गया। इस क़ानून के अधीन गिरजों को ऐसी रजिस्टरी के अधिकार से वंचित कर दिया गया, इस तरह उनके प्रभाव और मुनाफ़े बहुत कम हो गये। यह क़ानून मुख्यतया कैथोलिक गिरजे के विरुद्ध लक्षित था और यह तथाकथित "संस्कृति अभियान", (*Kulturkampf*) की बिस्मार्क की नीति में एक महत्वपूर्ण कड़ी बना। – १८०

[66] यहां निर्देश ब्रंडेनबर्ग, पूर्वी प्रशा, पश्चिमी प्रशा, पोज़्नान, पोमेरानिया और सिलीसिया के प्रान्तों से है, जो १८१५ की वियेना कांग्रेस से पहले प्रशा के साम्राज्य के अंग थे। राइन प्रान्त, जिसे समुन्नत अर्थव्यवस्था, राजनीतिक संरचना और सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्टता प्राप्त थी, इन प्रान्तों में से नहीं था। उसे प्रशा के साथ केवल १८१५ में मिलाया गया था। – १८१

[67] "**वैयक्तिक समीकरण**" – एक भूल, जो नियमित रूप से एक ऐसे क्षण को निर्धारित करते समय की जाती थी, जब कोई आकाश पिण्ड किसी निर्दिष्ट समतल को काटकर जाता था। यह भूल प्रेक्षक की

मनोवैज्ञानिक और शरीरक्रियात्मक विशेषताओं पर और आंकने के तरीक़े पर निर्भर करती थी। – १८२

[68] हेगेल, 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश', पैराग्राफ़ १४७, परिशिष्ट। – १८३

[69] अपनी प्रधान आर्थिक रचना पर काम करते हुए मार्क्स ने उसके विभाजन की योजना को कई बार बदला था। १८६७ में जब 'पूंजी' का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ, मार्क्स का इरादा सारी की सारी रचना को तीन खण्डों (चार पुस्तकों) में प्रकाशित करने का था। इसके अनुसार पुस्तक २ और पुस्तक ३ दूसरे खण्ड में शामिल की जातीं। मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने पुस्तक २ और पुस्तक ३ को खण्ड २ और खण्ड ३ के रूप में प्रकाशित किया। अन्तिम पुस्तक 'बेशी मूल्य का सिद्धान्त' ('पूंजी', खण्ड ४) एंगेल्स की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। – १६७

[70] ड्यूहरिंग ने मार्क्स की 'पूंजी' के पहले खण्ड की समीक्षा लिखी थी, जो १८६७ में *Ergänzungsblätter zur Kenntniss der Gegenwart* नामक पत्रिका (खण्ड ३, अंक ३, पृष्ठ १८२–१८६) में प्रकाशित हुई थी। – १६८

[71] नेपोलियन, संस्मरण '"सैनिक कला पर प्रवचन' नामक रचना पर सत्रह टिप्पणियां' जो पेरिस में १८१६ में प्रकाशित की गयी थी', टिप्पणी ३, 'घुड़सेना'। *Mémoires pour servir à l'histoire de France, sous Napoléon, écrits à Sainte-Hélène, par les généraux qui ont partagé sa captivité, et publiés sur les manuscrits entièrement corrigés de la main de Napoléon* ('नेपोलियन के शासन काल में फ़्रांस के इतिहास का स्पष्टीकरण करनेवाले संस्मरण, जो उन जनरलों द्वारा सेंट हेलेन के द्वीप पर संकलित किये गये थे, जो क़ैदियों के रूप में नेपोलियन के भाग्य के भागीदार बने थे। ये संस्मरण उन पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित किये गये थे, जिनका नेपो-

लियन ने स्वयं संशोधन किया था'), खण्ड १, जनरल काउण्ट डि मान्थोलान द्वारा संकलित। पेरिस, १८२३, पृष्ठ २६२।—२०६

[72] यहां उल्लेख रूसो की रचना 'लोगों में असमानता की उत्पत्ति तथा उसके आधार के विषय में एक प्रवचन' का है (देखिये टिप्पणी २१), जो १७५४ में लिखी गयी थी। बाद के पृष्ठों पर एंगेल्स ने इस रचना के दूसरे भाग, १७५५ के संस्करण, पृष्ठ ११६, ११८, १४६, १७५–१७६ और १७६–१७७ से उद्धरण दिये हैं।—२२२

[73] E. Haeckel, *Natürliche Schöpfungsgeschichte*, चौथा संस्करण, बर्लिन, १८७३, पृष्ठ ५९०–५९१। हैकेल के वर्गीकरण के अनुसार *Alali* एक ऐसी अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो मनुष्य के ठीक पहले की अवस्था थी; वे "मूक आदिकालीन आदमी" अथवा अधिक सम्यक् रूप से कहें, तो वानर मानव (pithecanthropi) हैं। हैकेल की यह परिकल्पना कि मानवाभ वानरों और समकालीन मनुष्यों के बीच एक संक्रमणकालीन रूप पाया जाता है, १८९१ में साबित हो गयी, जब डच मानव विज्ञानी यूजीन दुब्बा को जावा द्वीप पर आदिकालीन मानव के अश्मीभूत अवशेष मिले, जिसे pithecanthropus का नाम दिया गया।—२२२

[74] यह वाक्यांश – determinatio est negatio, स्पिनोज़ा के जारिज जेल्लेस के नाम लिखे पत्र से लिया गया है (देखिये बारूख़ स्पिनोज़ा, 'पत्र व्यवहार', पत्र ५०, २ जून, १६७४), जहां पर इसका अर्थ है– "निर्धारण निषेध भी होता है"। यह वाक्यांश – omnis determinatio est negatio और उसका यह अर्थ कि "प्रत्येक निर्धारण निषेध होता है" हेगेल की रचनाओं में पाया जाता है। और हेगेल ने ही इस वाक्यांश को विश्व प्रसिद्ध बनाया था। देखिये G. W. F. Hegel, *Encyclopädie der philosophischen Wissenschaften im Grundrisse* ('दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश'), भाग १, पैराग्राफ़ ९१, परिशिष्ट; *Die Wissenschaft der*

Logik ('तर्कशास्त्र'), पुस्तक १, अंश १, अध्याय २, कोटि सम्बन्धी पैराग्राफ़ पर टिप्पणी; *Vorlesungen über die Geschichte der Philosophie* ('दर्शनशास्त्र के इतिहास पर व्याख्यान'), खण्ड १, भाग १, अंश १, अध्याय १, पार्मेनाइड्स संबंधी पैराग्राफ़।–२२६

[75] यह वाक्यांश रोमन कवि जुविनाल के पहले व्यंगकाव्य से लिया गया है।–२४०

[76] 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के दूसरे भाग में, अध्याय १० को छोड़कर इस प्रकार की सभी टिप्पणियां ड्यूहरिंग की रचना 'राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम' के दूसरे संस्करण का उल्लेख करती हैं।–२४३

[77] **रेंगनेवाला प्रेस** – सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करनेवाले प्रतिक्रिया-वादी प्रेस।–२४७

[78] अर्थात् ड्यूहरिंग की रचना 'राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम' का दूसरा संस्करण (देखिये टिप्पणी २७)।–२५१

[79] एंगेल्स ने यहां शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटक 'हेनरी चतुर्थ' (भाग १, अंक २, दृश्य ४) के एक पात्र फ़ाल्स्टाफ़ के एक संवाद को उद्धृत किया है। उद्धरण का पाठ इस प्रकार है: "अगर जामुनों के ढेर जितनी युक्तियां भी मिलें, तो भी मैं किसी आदमी को मजबूरी पर युक्तियां नहीं दूंगा"।– २५५

[80] यहां संकेत ओ० थियेरी, एफ़० गूइज़ोत, फ़० आ० मिन्ये और लू० अ० थियेर्स की ओर है।–२५६

[81] संभवतः एंगेल्स ने यह सूचना W. Wachsmuth की रचना *Hellenische Alterthumskunde aus dem Gesichtspunkte des Staates* ('यूनानी प्राचीन काल का अध्ययन, उसके राज्यत्व

की दृष्टि से'), भाग २, अंश १, हाल्ले, १८२६, पृष्ठ ४४, से ली थी। यूनान और फ़ारस के बीच युद्धों के काल में कोरिन्थ और एजीना में कितने ग़ुलाम थे, यह जानकारी प्राचीन यूनानी लेखक एथेन्यूस की रचना 'वितंडावादियों का प्रीतिभोज' से ली गयी थी।—२५८

[82] एंगेल्स ने G. Hanssen की बर्लिन में, १८६३ में प्रकाशित रचना *Die Gehöferschaften (Erbgenossenschaften) im Regierungsbezirk Trier* ('ट्रेयर प्रान्त में ग्राम समुदाय [वंशानुगत भ्रातृत्व]'), का उपयोग किया।—२६०

[83] एंगेल्स का निर्देश यहां ५ अरब फ़्रांक की उस रक़म से है, जो १८७१—१८७३ में फ़्रांस ने जर्मनी को १८७०—१८७१ के फ़्रांसीसी-प्रशियाई युद्ध में फ़्रांस की पराजय के बाद सम्पन्न की गयी शान्ति सन्धि के अन्तर्गत अंशदान के रूप में दी थी।—२६७

[84] **प्रशा की** Landwehr **प्रणाली**—एक ऐसी प्रणाली, जिसके अन्तर्गत सशस्त्र सेनाओं का एक भाग बड़ी उम्र के उन रिज़र्व सैनिकों में से तैयार किया जाता था, जिन्हें बाक़ायदा फ़ौज में उनकी नौकरी पूरी हो जाने तथा एक निश्चित काल के लिये रिज़र्व में रहने के बाद Landwehr में भरती किया जाता था। प्रशा में Landwehr प्रणाली १८१३—१८१४ में नेपोलियन की सेनाओं के विरुद्ध लड़नेवाली जन-मिलिशिया के रूप में शुरू हुई थी। १८७०—१८७१ के फ़्रांसीसी-प्रशियाई जंग में Landwehr सैनिक बाक़ायदा फ़ौजों के साथ मिलकर लड़े थे।—२७१

[85] यहां निर्देश १८६६ के आस्ट्रो-प्रशियाई युद्ध से है।—२७२

[86] **सें-प्रिव की लड़ाई** में, जो १८ अगस्त, १८७० को हुई थी, जर्मन सेनाओं ने फ़्रांस की राइन सेना को परास्त किया था। किन्तु स्वयं उनका बहुत नुक़्सान हुआ था। यह लड़ाई ग्रेवलात्त की लड़ाई के नाम से भी जानी जाती है। स्पष्टतया इस लड़ाई में प्रशियाई सेनाओं को हुई क्षतियों के बारे में ये आंकड़े एंगेल्स को १८७०-७१ के फ़्रांस-

प्रशियाई युद्ध के अधिकृत इतिहास की दस्तावेज़ों से प्राप्त हुए थे, जिसे उन्होंने प्रशियाई जनरल स्टाफ़ के सैनिक इतिहास विभाग से हस्तगत किया था (*Der deutsch-französische Krieg 1870-71*, खंड १, पुस्तक २, बर्लिन, १८७५, पृष्ठ ६६६ और आगे १६७–१९९, २३३)।–२७२

[87] माक्स येन्स की रिपोर्ट 'मेकियावेली और आम सैनिक सेवा का विचार' १८, २०, २२ और २५ अप्रैल, १८७६ को *Kölnische Zeitung*, अंक १०८, ११०, ११२ और ११५ में प्रकाशित की गयी थी। उद्धरण में शब्दों पर जोर एंगेल्स का है।

Kölnische Zeitung ('कोलोन समाचारपत्र') – जर्मन दैनिक अख़बार था, जो इस नाम से कोलोन में १८०२ से प्रकाशित होने लगा था; प्रशा के उदारवादी बुर्जुआ वर्ग की नीति को व्यक्त करता था।–२७५

[88] **क्रीमिया का युद्ध** (१८५३–१८५६) – यह युद्ध एक ओर रूस और दूसरी ओर ब्रिटेन, फ़्रांस, तुर्की और सार्डीनिया के गठजोड़ के बीच हुआ था; यह युद्ध निकट पूर्व में इन देशों के आर्थिक और राजनीतिक हितों के टकराव के परिणामस्वरूप छिड़ा था।–२७६

[89] कोष्ठकों में दिये टिप्पणी के अन्तिम भाग को एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के तीसरे संस्करण में जोड़ दिया था, जो १८९४ में प्रकाशित हुआ।–२७८

[90] ड्यूहरिंग ने अपने 'द्वन्द्ववाद' को हेगेल के 'अप्राकृतिक द्वन्द्ववाद' के विपरीत 'प्राकृतिक द्वन्द्ववाद' का नाम दिया था। देखिये E. Dühring, *Natürliche Dialektik. Neue logische Grundlegungen der Wissenschaft und Philosophie* ('प्राकृतिक द्वन्द्ववाद। विज्ञान और दर्शनशास्त्र के नये तर्कसंगत आधार'), बर्लिन, १८६५।–२८२

[91] ज० मौरेर की एक सामान्य विषय पर एकीकृत रचनाएं (१२ खण्डों में) मध्ययुगीन जर्मनी के कृषि सम्बन्धी, शहरी और राजकीय प्रणाली

के विश्लेषण का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये रचनाएं हैं: *Einleitung zur Geschichte der Mark-, Hof-, Dorf- und Stadt-Verfassung und der öffentlichen Gewalt* ('मार्क के, पारिवारिक, देहाती और शहरी प्रणाली तथा सार्वजनिक सत्ता के इतिहास की भूमिका'), म्यूनिख़, १८५४; *Geschichte der Markenverfassung in Deutschland* ('जर्मनी में मार्क प्रणाली का इतिहास'), एर्लैंगन, १८५६; *Geschichte der Fronhöfe, der Bauernhöfe und der Hofverfassung in Deutschland* ('जर्मनी में ज़मींदारों के घरों, किसानों के घरों और गृह प्रणाली का इतिहास'), खण्ड १–४, एर्लैंगन, १८६२–१८६३; *Geschichte der Dorfverfassung in Deutschland* ('जर्मनी में कृषि प्रणाली का इतिहास'), खण्ड १–२, एर्लैंगन, १८६५–१८६६; *Geschichte der Städteverfassung in Deutschland* ('जर्मनी में शहरी प्रणाली का इतिहास'), खण्ड १–४, एर्लैंगन, १८६९–१८७१। इनमें पहली, दूसरी और चौथी रचनाओं में जर्मन मार्क का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।–२८२

[92] हाइने की कविता 'कोबेस १' से।–२८२

[93] व्यंग्य में एंगेल्स ने यहां हेनरिक बहत्तरवें–र्‌यूस की छोटी शाखा के प्रभावशाली राजकुमारों में से एक (र्‌यूस-लोबेंस्टाइन-एबेर्संडोर्फ़) की पदवी को बदल दिया है। ग्राइज़–र्‌यूस राज्य की बड़ी शाखा (र्‌यूस-ग्राइज़) की राजधानी। श्लाइट्ज़–छोटी शाखा (र्‌यस-श्लाइट्ज़) के र्‌यूस राजकुमारों की जागीरों में से एक; यह हेनरिक बहत्तरवें की मिल्कीयत नहीं थी।–२८३

[94] Gaius Pliny Secundus, *Historia naturalis* ('प्राकृतिक इतिहास'), पुस्तक १८, पैराग्राफ़ ३५।–२८३

[95] प्रशा की सेना के नाम फ़्रेडरिक-विल्हेल्म चतुर्थ के नव वर्ष सन्देश (१ जनवरी, १८४९) से लिया गया वाक्यांश। इस संदेश के

आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिये देखिये का० मार्क्स का 'नव वर्ष सन्देश'।–२६४

[96] F. E. Rochow, *Der Kinderfreund. Ein Lesebuch zum Gebrauch in Landschulen* ('बच्चों का मित्र। देहाती स्कूलों के लिये पाठ्य-पुस्तक'), ब्रेंडेनबर्ग और लाइपज़िग, १७७६।–२६६

[97] यहां निर्देश यूकलिड की रचना 'सिद्धान्त' (१३ पुस्तकों में) से है, जिसमें प्राचीन गणित के मूल सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं।–२६८

[98] P. J. Proudhon, *Qu'est-ce que la propriété? ou Recherches sur le principe du droit et du gouvernement* ('सम्पत्ति क्या है? अथवा अधिकार और सत्ता सिद्धान्त का अन्वेषण'), पेरिस, १८४०, पृष्ठ २।–२६६

[99] D. Ricardo, *On the Principles of Political Economy, and Taxation* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र और कर के सिद्धान्तों के बारे में'), तीसरा संस्करण, लन्दन, १८२१, पृष्ठ १।–३१३

[100] "श्रम के पूरे" अथवा "अन्यूनीकृत फल" सम्बन्धी लासाल के सूत्र की विस्तृत आलोचना मार्क्स की रचना 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना', अंश १ में की गयी है।–३२१

[101] रोमन नाटककार टेरेण्टियस के प्रहसन 'आडेल्फ़ो' के शब्दों का पदान्वय।–३३१

[102] 'बाइबिल' के अनुसार इज़राइली सेनाओं द्वारा जेरिको नगर की नाक़ाबन्दी के दौरान क़िले की अभेद्य दीवारें पवित्र दुन्दुभि की आवाज़ से ही भरभराकर गिर पड़ीं ('बाइबिल', 'जोशुआ की किताब', अध्याय ६)।–३४२

[103] **वफ़ादार एकार्ट** – जर्मन मध्ययुगीन क़िस्से-कहानियों का पात्र, जो वफ़ादार आदमी और विश्वसनीय रक्षक है। तॉनहॉसर सम्बन्धी एक पौराणिक कथा में वह वीनस के पर्वत के पास तैनात है और जो कोई

भी उसके निकट आता है, उसे वीनस के घातक सौन्दर्य के ख़तरे की चेतावनी देता है।–३५०

[104] Molière, *Bourgeois gentilhomme*, अंक २, दृश्य ६।–३५३

[105] *Volks-Zeitung* ('जन-अख़बार')–जर्मन दैनिक जनवादी अख़बार, जो १८५३ से बर्लिन में प्रकाशित होने लगा था। मार्क्स के नाम १५ सितम्बर, १८६० के अपने पत्र में एंगेल्स ने इस अख़बार की "भोंडी दार्शनिकता" का उल्लेख किया था।–३५३

[106] यहां निर्देश ड्यूहरिंग की पुस्तक *Kritische Grundlegung der Volkswirtschaftslehre* ('राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था सम्बन्धी मत का आलोचनात्मक मूल सिद्धान्त') से है, जो १८६६ में बर्लिन में प्रकाशित की गयी थी। ड्यूहरिंग ने इस पुस्तक का हवाला यहां उद्धृत 'राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजवाद का आलोचनात्मक इतिहास' के दूसरे संस्करण की भूमिका में दिया है।–३५४

[107] K. Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान'), अंक १, बर्लिन, १८५९, पृष्ठ २९।–३६२

[108] 'अहम् और उसका स्वत्व' माक्स स्टर्नर की मुख्य रचना का शीर्षक, जो ड्यूहरिंग की ही भांति अपने अत्यधिक दंभ के लिये मशहूर थे।–३६३

[109] Aristoteles, *De republica*. In *Aristotelis opera ex recensione I. Bekkeri* ('राजनीति', पुस्तक १, अध्याय ९। इ० बेकरी द्वारा प्रकाशित अरस्तू ग्रन्थ-संग्रह), खंड १०, ऑक्सफ़ोर्ड, १८३७, पृष्ठ १३। मार्क्स इस उद्धरण का हवाला 'पूंजी' में देते हैं (देखिये का० मार्क्स, 'पूंजी' खंड १, मास्को, १९६१, पृष्ठ ८५)।–३६४

[110] मार्क्स यहां प्लेटो की रचना 'राज्य', पुस्तक २ का हवाला देते हैं। देखिये *Platonis opera omnia* (प्लेटो का पूर्ण ग्रन्थ-संग्रह), खण्ड १३, ज़ूरिच, १८४०।–३६५

[111] मार्क्स यहां क्सेनोफ़ोन की रचना *Cyropaedia*, पुस्तक ८, अध्याय २ का हवाला देते हैं। –३६५

[112] W. Roscher, *System der Volkswirtschaft* ('राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रणाली'), खण्ड १, तीसरा संस्करण; स्टुटगार्ट तथा ऑगसबुर्ग, १८५८, पृष्ठ ८६। – ३६५

[113] Aristoteles, *De republica*, पुस्तक १, अध्याय ८–१०। देखिये कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खंड १, पृष्ठ १७४–१८०, १८९। – ३६६

[114] मार्क्स का निर्देश अरस्तू की रचना 'निकोमाक का नीतिशास्त्र' से है, पुस्तक ५, अध्याय ८। देखिये *Aristotelis opera ex recensione* (अरस्तू का ग्रन्थ-संग्रह), इ० बेकरी द्वारा प्रकाशित, खण्ड ९, ऑक्सफ़ोर्ड, १८३७। – ३६६

[115] F. List, *Das nationale System der politischen Oekonomie* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र की राष्ट्रीय प्रणाली'), खण्ड १, स्टुटगार्ट और टूबिंगन, १८४१, पृष्ठ ४५१, ४५६। – ३६७

[116] एन्तोनियो सेर्रा की पुस्तक 'जिन देशों के पास ख़ुद अपनी खानें नहीं हैं, उनमें सोने और चांदी की बहुतायत पैदा करने के उपायों का एक संक्षिप्त विवेचन' नेपल्स में १६१३ में प्रकाशित की गयी थी। मार्क्स ने प० कुस्टोडी के संस्करण का प्रयोग किया, *Scrittori classici italiani di economia politica* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतालवी क्लासिकी विज्ञानी'), खंड १, मिलान, १८०३। – ३६७

[117] टॉमस मान की रचना 'ईस्ट-इण्डीज़ के साथ इंगलैंड के व्यापार पर एक प्रवचन', लन्दन में १६०९ में प्रकाशित की गयी। संशोधित संस्करण, जिसका शीर्षक 'इंगलैंड को विदेशी व्यापार से मिलनेवाला धन' था, लन्दन में १६६४ में प्रकाशित किया गया था। –३६८

[118] पेटी की पुस्तक *A Treatise on Taxes and Contributions* ('करों और अनुदानों पर निबन्ध') बिना लेखक का नाम दिये लन्दन में १६६२ में प्रकाशित की गयी थी। इस तथा आगे के पृष्ठों पर मार्क्स पेटी की इस पुस्तक के पृष्ठ २४-२५ का हवाला देते हैं और उसमें से उद्धरण देते हैं। – ३६९

[119] पेटी की रचना 'मुद्रा के विषय में एक गुटका' १६८२ में लार्ड हैलिफ़ेक्स के नाम एक संदेश के रूप में लिखी गयी थी और १६९५ में लन्दन में प्रकाशित की गयी थी। मार्क्स ने १७६० के संस्करण का प्रयोग किया था।

पेटी की पुस्तक 'आयरलैंड का राजनीतिक ढांचा' १६७२ में लिखी गयी थी और १६९१ में लन्दन से प्रकाशित की गयी थी। – ३७२

[120] यहां निर्देश फ़्रांसीसी रसायनज्ञ ए० एल० लैवाज़ियेर द्वारा लिखित अर्थशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं *De la richesse territoriale du royaume de France* ('फ़्रांस राज्य की भू-सम्पदा') और *Essai sur la population de la ville de Paris, sur la richesse et ses consommations* ('पेरिस नगर की आबादी, उसकी सम्पदा तथा उपभोग पर एक निबन्ध') से तथा *Essai d'arithmetique politique* ('राजनीतिक गणित पर एक निबन्ध') शीर्षक उस संयुक्त रचना से है, जो लैवाज़ियेर और फ़्रांसीसी गणितज्ञ जी० एल० लैग्रेंज ने मिलकर लिखी थी। मार्क्स ने इन रचनाओं का उस रूप में प्रयोग किया, जिस रूप में वे उन्हें निम्नलिखित पुस्तक में मिली थीं: *Mélanges d'économie politique. Précédés de notices historiques sur chaque auteur, et accompagnés de commentaires et de notes explicatives, par M M. E. Daire et G. de Molinari* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र पर संगृहीत रचनाएं। प्रत्येक लेखक के प्रति ऐतिहासिक निर्देश, टीकाओं तथा टिप्पणियों सहित ; संकलनकर्त्ता : डेयर तथा मोलिनारी'), खण्ड १, पेरिस, १८४७, पृष्ठ ५७५–६२०। – ३७२

[121] P. Boisguillebert, *Dissertation sur la nature des richesses, de l'argent et des tributs*. Chap. II. In: *Économistes financiers du XVIII-e siècle* ('धन, मुद्रा और करों के स्वरूप पर प्रवचन', अध्याय २। पुस्तक – 'अठारहवीं शताब्दी के अर्थशास्त्री-वित्तशास्त्री'), पेरिस, १८४३, पृष्ठ ३६७।–३७४

[122] जॉन लॉ नामक एक अंग्रेज़ी अर्थशास्त्री और वित्तशास्त्री ने अपने इस थोथे विचार को अमली जामा पहनाने की कोशिश की थी कि स्वर्णाधारहीन बैंक-नोटों के जारी करने से राज्य अपने देश की धन वृद्धि कर सकता है। १७१६ में उसने फ़्रांस में एक निजी बैंक खोला, जिसे १७१८ में राजकीय बैंक के रूप में पुनर्संगठित किया गया। बैंक-नोटों के अनियमित रूप से जारी किये जाने के साथ ही साथ लॉ के बैंक ने नक़द मुद्रा को परिचलन में से हटा लिया, जिसके परिणामस्वरूप शेयर बाज़ार और सट्टे में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकीय बैंक का पूर्ण रूप से दीवाला निकल गया (१७२०) और उसके साथ 'लॉ प्रणाली' का भी।–३७५

[123] W. Petty, *A Treatise on Taxes and Contributions*, लंदन, १६६२, पृष्ठ २८–२९।– ३७७

[124] D. North, *Discourses upon Trade* ('व्यापार पर प्रवचन', लन्दन, १६९१, पृष्ठ ४)। पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं दिया गया था।– ३७७

[125] यहां निर्देश D. Hume, की रचना *Political Discourses*, ('राजनीतिक प्रवचन'), एडिनबर्ग, १७५२ से है। मार्क्स ने पुस्तक के निम्नलिखित संस्करण का प्रयोग किया था: D. Hume, *Essays and Treatises on Several Subjects* ('अनेक विषयों पर निबन्ध तथा लेख'), दो खण्डों में, डबलिन, १७७७। 'राजनीतिक प्रवचन' पहले खण्ड के भाग २ में शामिल हैं।– ३७९

[126] देखिये का० मार्क्स, 'पूंजी', खंड १, मास्को, १९६१, पृष्ठ १२४, ५१४।–३८०

[127] मार्क्स का निर्देश मांतेस्क्यू की रचना *De l'esprit des loix* ('क़ानूनों की भावना के सम्बन्ध में') से है, जिसका पहला संस्करण १७४८ में जेनेवा से बिना लेखक का नाम दिये प्रकाशित किया गया था।– ३८०

[128] D. Hume, *Essays and Treatises on Several Subjects* ('अनेक विषयों पर निबन्ध तथा लेख'), खण्ड १, डबलिन, १७७७, पृष्ठ ३०३–३०४।–३८१

[129] देखिये कार्ल मार्क्स, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान'।– ३८२

[130] D. Hume, *Essays and Treatises on Several Subjects* ('अनेक विषयों पर निबन्ध तथा लेख'), खण्ड १, डबलिन, १७७७, पृष्ठ ३१३।– ३८३

[131] वही, पृष्ठ ३१४।– ३८४

[132] तारीख़ सही नहीं है। कैंटिलों की पुस्तक 'सामान्य व्यापार के स्वरूप के बारे में निबन्ध' का पहला संस्करण १७५२ में नहीं, बल्कि १७५५ में प्रकाशित हुई थी, जिसके बारे में मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'पूंजी', खण्ड १ (देखिये का० मार्क्स, 'पूंजी', खंड १, मास्को, १९६१, पृष्ठ ५५५) में चर्चा की है। ऐडम स्मिथ ने कैंटिलों की पुस्तक का अपनी रचना 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप और कारणों की विवेचना' के प्रथम खण्ड में उल्लेख किया है।– ३८५

[133] डेविड ह्यूम, 'अनेक विषयों पर निबन्ध तथा लेख', खण्ड १, डबलिन, १७७७, पृष्ठ ३६७।– ३८६

[134] वही, पृष्ठ ३७९।– ३८६

[135] १८६६ में बिस्मार्क ने अपने कौंसिलर वैगेनेर के द्वारा ड्यूहरिंग के सामने श्रम समस्या पर एक स्मृति-पत्र तैयार करके प्रशा की सरकार को देने का सुझाव रखा। ड्यूहरिंग ने, जो पूंजी और श्रम के बीच सामंजस्य का उपदेश देते थे, इस आदेश को पूरा किया। परन्तु स्मृति-पत्र को ड्यूहरिंग की जानकारी के बिना प्रकाशित किया गया, पहले बिना लेखक का नाम दिये और बाद में लेखक के स्थान पर वैगेनेर का नाम देकर। इसपर ड्यूहरिंग ने वैगेनेर के ख़िलाफ़ कापीराइट के उल्लंघन का इलज़ाम लगाकर मुक़दमा कर दिया। १८६८ में ड्यूहरिंग मुक़दमा जीत गये। जिस समय यह निन्दाजनक मुक़दमा शिखर पर था, ड्यूहरिंग ने अपनी पुस्तक 'प्रशा के राज्य मन्त्रालय के लिये सामाजिक समस्या के विषय में मेरे स्मृति-पत्र की नियति' प्रकाशित कर दी।– ३८७

[136] F. C. Schlosser, *Weltgeschichte für das deutsche Volk* ('जर्मन लोगों के लिये विश्व इतिहास'), खण्ड १७, फ़्रैंकफ़ुर्ट-ऑन-मेन, १८५५, पृष्ठ ७६)।– ३८७

[137] W. Cobbett, *A History of the Protestant "Reformation" in England and Ireland* ('इंगलैंड और आयरलैंड में प्रोटेस्टेण्ट 'चर्च सुधार' का इतिहास'), लन्दन, १८२४, पैराग्राफ़ १४९, ११६, १३०।– ३८७

[138] क्वेने की 'आर्थिक तालिका' (*Tableau économique*) सबसे पहले एक छोटी पुस्तिका के रूप में १७५८ में वरसाई में प्रकाशित हुई थी।–पृष्ठ ३८८

[139] क्वेने की रचना *Analyse du Tableau économique* ('आर्थिक तालिका का विश्लेषण') पहली बार १७६६ में प्रकृतिवादी पत्रिका *Journal de l'agriculture, commerce et finances* ('खेतीबारी, व्यापार तथा वित्त की पत्रिका') में प्रकाशित की गयी थी। मार्क्स ने इस रचना का प्रयोग डेयर के संस्करण: *Physio-*

crates ('फ़िज़ियोक्रैट'), भाग १, पेरिस, १८४६, से किया था।– ३६१

[140] मार्क्स यहां L'abbé Baudeau, *xplication du Tableau économique* ('आर्थिक तालिका का विश्लेषण') पुस्तक के अन्तिम पैराग्राफ़ का उल्लेख कर रहे हैं। यह पुस्तक पहली बार १७६७ में प्रकृतिवादी पत्रिका *Ephémérides du Citoyen* ('नागरिक का कैलेण्डर') में प्रकाशित की गयी थी। देखिये ई० डेयर का संस्करण, *Physiocrates* ('फ़िज़ियोक्रैट'), भाग २, पेरिस, १८४६, पृष्ठ ८६४–८६७।– ३६१

[141] **"काली दुश्चिन्ता"** (atra Cura)–होरेशिओ द्वारा लिखित एक गीत से। (देखिये होरेशिओ, 'गीत', पुस्तक ३, गीत १।)– ३६२

[142] **टुअर्स लिव्र** (livre tournois)–एक पुराना फ़्रांसीसी सिक्का (टुअर्स नामक नगर के नाम पर); १७४० में इसका मूल्य एक फ़्रांक के बराबर हो गया; १७६५ में इसका स्थान फ़्रांक ने ले लिया।–३६५

[143] *Physiocrates* ('फ़िज़ियोक्रैट', भाग १, पेरिस, १८४६, पृष्ठ ६८)।–४००

[144] यहां निर्देश J. Steuart की रचना *An Inquiry into the Principles of Political Economy* ('राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन') से है, जो दो खण्डों में, १७६७ में लन्दन से प्रकाशित की गयी थी।–४०३

[145] H. C. Carey, *The Past, the Present and the Future* ('अतीत, वर्तमान और भविष्य'), फ़िलाडेलफ़िया, १८४८, पृष्ठ ७४–७५।–४०४

[146] एंगेल्स ने यहां 'प्रस्तावना' के अध्याय १ के आरम्भिक हिस्से का उल्लेख किया है (देखिये पृष्ठ ३७–३६। मूलतः *Vorwärts* समाचारपत्र में 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के पहले चौदह अध्याय, 'श्री

यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा दर्शनशास्त्र में प्रवर्तित क्रान्ति' के सामान्य शीर्षक से प्रकाशित किये गये थे। पुस्तक के पहले अलग संस्करण से ही, पहले दो अध्यायों को मिलाकर सारी पुस्तक के लिये 'प्रस्तावना' का रूप दिया गया, जबकि अगले १२ अध्यायों से भाग १ – 'दर्शन-शास्त्र' बना। अध्यायों के संख्यांकन में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। भाग १ – 'दर्शनशास्त्र' के अध्याय १ का फ़ुट-नोट, जिसे एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के अख़बार में प्रकाशन के समय लिखा था, उनके जीवन काल में पुस्तक के सभी संस्करणों में अविकल रूप में प्रकाशित किया गया था। – ४०६

[147] यहां क्रान्तिकारी-जनवादी जैकोबिन अधिनायकत्व के काल (जून, १७६३ से जुलाई, १७६४ तक) की ओर संकेत किया गया है, जब जिरौंदवादियों और राजभक्तों के प्रतिक्रान्तिकारी आतंक के जवाब में जैकोबिनवादियों ने क्रान्तिकारी आतंक का प्रयोग किया था।

डायरेक्टरेट (इसमें पांच डायरेक्टर शामिल थे, जिनमें से एक डायरेक्टर बारी-बारी से हर साल पुनः निर्वाचित किया जाता था) – फ़्रांस में कार्यकारी सत्ता की मुख्य संस्था, जिसे जैकोबिन क्रान्तिकारी अधिनायकत्व के पतन (१७६४) के बाद अपनाये गये १७६५ के संविधान के अनुसार स्थापित किया गया था। यह संस्था १७६६ में नेपोलियन के बलात् राज्य परिवर्तन तक बनी रही; उसने जनवादी शक्तियों के विरुद्ध आतंक के राज्य का समर्थन किया और बड़े पूंजीपति वर्ग के हितों की वकालत की। – ४०६

[148] इसका आशय १८वीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति के नारे "स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व" से है। – ४१०

[149] *Lettres d'un habitant de Genève à ses contemporains* ('जेनेवा के एक निवासी की ओर से अपने समकालीनों के नाम पत्र') – सेंट-साइमन की पहली रचना, जिसे उन्होंने १८०२ में जेनेवा में लिखा था और जो बिना लेखक का नाम दिये (इस संस्करण

में प्रकाशन का स्थान और काल नहीं दिया गया है) १८०३ में पेरिस में प्रकाशित की गयी थी। 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' पर काम करते हुए एंगेल्स ने निम्नलिखित संस्करण का प्रयोग किया था: G. Hubbard, *Saint-Simon. Sa vie et ses travaux. Suivi de fragments des plus célèbres ècrits de Saint-Simon* ('सेंट-साइमन। उनका जीवन तथा रचनाएं। परिशिष्ट में सेंट-साइमन की सबसे प्रसिद्ध रचनाओं में से उद्धरण दिये गये हैं'), पेरिस, १८५७। इस संस्करण में सेंट-साइमन की रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं-कहीं तारीखें ग़लत दी गयी हैं।

फ़ूरिये की पहली महत्वपूर्ण रचना, उनकी पुस्तक *Théorie des quatre mouvements et des destinées générales* ('चार गतियों और सामान्य नियतियों का सिद्धान्त') थी, जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में लिखी गयी थी और १८०८ में लियों में बिना लेखक का नाम दिये प्रकाशित की गयी थी (मुखावरण पर प्रकाशन के स्थान का नाम लाइपज़िग दिया गया था। इसका कारण संभवतः सेंसर रहा होगा)।

न्यू लैनार्क – स्काटलैंड के नगर लैनार्क के निकट एक सूती कपड़े की मिल, जिसकी स्थापना इससे जुड़ी हुई छोटी-सी बस्ती के साथ १७८४ में की गयी थी। – ४१०

150 एंगेल्स ने सेंट-साइमन की रचना *Lettres d'un habitant de Genève à ses contemporains* ('जेनेवा के एक निवासी की ओर से अपने समकालीनों के नाम पत्र') के पत्र २ से उद्धरण दिये हैं। (हुब्बर्ड के संस्करण में ये अंश पृष्ठ १४३ और १३५ पर मिलते हैं)। – ४१२

151 एंगेल्स यहां 'एक अमरीकी के नाम सेंट-साइमन के पत्र' (पत्र ८) में से एक अंश का उल्लेख कर रहे हैं। ये पत्र निम्नलिखित संग्रह में प्रकाशित किये गये थे: H. Saint-Simon. *L'industrie, ou discussions politiques, morales et philosophiques,*

dans l'intérêt de tous les hommes livrés à des travaux utiles et indépendants ('उद्योग अथवा उन सभी लोगों के हित में, जो उपयोगी और स्वतन्त्र श्रम में लगे हुए हैं, राजनीतिक, नैतिक और दार्शनिक विचार-विमर्श'), खण्ड २, पेरिस, १८१७। (हुब्बर्ड के संस्करण में यह अंश पृष्ठ १५५–१५७ पर है)।–४१३

[152] एंगेल्स का संकेत सेंट-साइमन की उन दो रचनाओं की ओर है, जिन्हें उन्होंने अपने छात्र ओ० थियेरी के साथ मिलकर लिखी थीं: *De la réorganisation de la société européenne, ou de la nécessité et des moyens de rassembler les peuples de l'Europe en un seul corps politique, en conservant à chacun son indépendance nationale* ('यूरोपीय समाज के पुनर्संगठन के विषय में, अथवा यूरोप की जनताओं को ऐसे अनन्य राजनीतिक संगठन में एकबद्ध करने की आवश्यकता और साधनों के विषय में, जिसमें प्रत्येक जनता की राष्ट्रीय स्वाधीनता क़ायम रहेगी') और *Opinion sur les mesures à prendre contre la coalition de 1815* ('१८१५ के गंठजोड़ के विरुद्ध कार्रवाइयों के बारे में विचार')। दोनों पुस्तिकाएं पेरिस में प्रकाशित की गयी थीं; पहली अक्तूबर, १८१४ में और दूसरी १८१५ में। हुब्बर्ड के संस्करण में पहली पुस्तिका के अंश पृष्ठ १४९–१५४ पर मिलेंगे; दोनों पुस्तिकाओं की विषय-वस्तु पृष्ठ ६८–७६ पर दिया गया है।

छठे फ़्रांस विरोधी गंठजोड़ में भाग लेनेवाले देशों (रूस, आस्ट्रिया, ब्रिटेन, प्रशा तथा अन्य राज्यों) की मित्र सेनाएं, ३१ मार्च, १८१४ को पेरिस में दाख़िल हुईं। नेपोलियन के साम्राज्य का पतन हो गया और स्वयं नेपोलियन को राजत्याग के बाद एल्बा द्वीप में निर्वासन में रहने के लिये मजबूर होना पड़ा। फ़्रांस में बुर्बनों राजतन्त्र की पुनर्स्थापना हुई।

सौ दिन – नेपोलियन के साम्राज्य की बहाली की छोटी-सी कालावधि, जो २० मार्च, १८१५ को नेपोलियन के निर्वासन से पेरिस में लौटने

से लेकर उसी साल २२ जून को, वाटरलू की लड़ाई में उसकी पराजय के बाद उसके दूसरे राजत्याग तक रही।—४१३

153 १८ जून, १८१५ को, **वाटरलू (बेल्जियम) की लड़ाई** में नेपोलियन की सेना एंग्लो-डच तथा प्रशा की सेनाओं द्वारा पराजित हो गयी। इस लड़ाई में एंग्लो-डच सेनाओं की कमान वेलिंग्टन के हाथ में और प्रशा की सेनाओं की कमान ब्लूख़र के हाथ में थी। वाटरलू की लड़ाई ने १८१५ की मुहिम में निर्णायक भूमिका अदा की और सातवें फ़्रांस विरोधी गंठजोड़ (इंगलैंड, रूस, आस्ट्रिया, प्रशा, स्वीडन, स्पेन तथा अन्य राज्य) की अन्तिम विजय और नेपोलियन के साम्राज्य का पतन पूर्वनिर्धारित किया।

जर्मन प्रोफ़ेसरों के विरुद्ध ड्यूहरिंग के "वाक्-युद्ध" के बारे में देखिये टिप्पणी ८।—४१३

154 यह विचार फ़ूरिये की पहली पुस्तक *Théorie des quatre mouvements* ('चार गतियों का सिद्धान्त') में पहले से विकसित किया गया था, जिसमें निम्नलिखित सामान्य प्रस्थापना मिलती है: "सामाजिक उन्नति किसी कालावधि में परिवर्तन, स्वतन्त्रता की दिशा में स्त्रियों की उन्नति के अनुरूप होते हैं, जबकि सामाजिक प्रणाली का ह्रास, स्त्रियों की स्वतन्त्रता के ह्रास पर निर्भर करता है"। फ़ूरिये इस तरह इस प्रस्थापना को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं: "स्त्रियों के अधिकारों का विस्तार, प्रत्येक सामाजिक उन्नति का बुनियादी सिद्धांत है"। Ch. Fourier, *Oeuvres complètes* (संपूर्ण ग्रंथावली), खण्ड १, पेरिस, १८४१, पृष्ठ १९५–१९६।—४१४

155 Ch. Fourier, *Théorie de l'unité universelle, Oeuvres complètes* ('सार्वत्रिक एकता का सिद्धान्त'), खण्ड १ और ४; (संपूर्ण ग्रन्थावली), खण्ड २, पेरिस, १८४३, पृष्ठ ७८–७९ और खण्ड ५, पेरिस, १८४१, पृष्ठ २१३–२१४।

सभ्यता का "दुष्चक्र" के बारे में देखिये Ch. Fourier, *Le nouveau monde industriel et sociétaire, ou invention du procédé*

d'industrie attrayante et naturelle distribuée en séries passionnées ('नया औद्योगिक तथा सोशलिटेरियन संसार अथवा प्रबल इच्छाओं के अनुसार वितरित आकर्षक तथा स्वाभाविक श्रम की प्रक्रिया का आविष्कार'), *Oeuvres complètes* (संपूर्ण ग्रन्थावली), खण्ड ६, पेरिस, १८४५, पृष्ठ २७–४६, ३६०। इस रचना का पहला संस्करण पेरिस में १८२९ में प्रकाशित हुआ। साथ ही देखिये Ch. Fourier, *Oeuvres complètes*, खंड १, पेरिस, १८४१, पृष्ठ २०२।–४१५

[156] Ch. Fourier, *Oeuvres complètes*, खंड ६, पेरिस, १८४५, पृष्ठ ३५।–४१५

[157] Ch. Fourier, *Oeuvres complètes*, खंड १, पेरिस, १८४१, पृष्ठ ५० और आगे।–४१५

[158] R. Owen, *Report of the Proceedings at the Several Public Meetings, Held in Dublin... on the 18th March, 12th April, 19th April and 3rd May* ('डबलिन में १८ मार्च, १२ अप्रैल, १९ अप्रैल और ३ मई को आयोजित अनेक सार्वजनिक बैठकों की कार्यवाहियों की रिपोर्ट'), डबलिन, १८२३।–४१९

[159] जनवरी, १८१५ में ग्लास्गो में आयोजित एक भारी सार्वजनिक सभा में ओवेन ने फ़ैक्टरियों में बच्चों और बालिग़ मज़दूरों की स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से विभिन्न उपायों का सुझाव दिया। ओवेन की पहलक़दमी पर जो विधेयक जून, १८१५ में पेश किया गया, उसे केवल जुलाई, १८१९ में संसद द्वारा स्वीकृति दी गयी और वह भी बड़ी कांट-छांट करके। कपड़ा मिलों में श्रम को नियमित करनेवाले क़ानून के अनुसार ९ साल से कम उम्र के बच्चों को नौकरी पर लगाने की मनाही कर दी गयी, १८ साल से कम उम्र के व्यक्तियों के लिये काम के घण्टे १२ घण्टों तक सीमित कर दिये गये और

सभी मज़दूरों के लिये दो मध्यान्तर – नाश्ते और दिन के भोजन के लिये – कुल मिलाकर डेढ़ घण्टे के लिये स्थापित किये गये। – ४२०

[160] ओवेन की अध्यक्षता में सहकारी संस्थाओं और ट्रेड-यूनियनों की कांग्रेस अक्तूबर, १८३३ में लन्दन में हुई। कांग्रेस ने ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की ट्रेड-यूनियनों का महान राष्ट्रीय संयुक्त संघ क़ायम किया। फ़रवरी, १८३४ में संघ के नियम अपनाये गये। ओवेन का विचार था कि यह संघ उत्पादन का प्रबन्ध अपने हाथ में लेगा और समाज को शान्तिपूर्ण ढंग से पूर्णतया रूपान्तरित कर देगा। लेकिन शीघ्र ही यह कल्पनावादी योजना धूल में मिल गयी। बुर्जुआ समाज और राज्य की ओर से कड़ा विरोध होने के कारण अगस्त, १८३४ में संघ का अस्तित्व समाप्त हो गया। – ४२०

[161] **न्यायसंगत श्रम विनिमय बाज़ार** (Equitable Labour Exchange Bazaars) ब्रिटेन के विभिन्न नगरों में मज़दूरों की सहकारी संस्थाओं द्वारा क़ायम किये गये थे। इस ढंग का पहला बाज़ार लन्दन में रॉबर्ट ओवेन द्वारा सितम्बर, १८३२ में स्थापित किया गया था, जो १८३४ के मध्य तक क़ायम रहा। – ४२०

[162] १८४८–१८४९ की क्रान्ति के दौरान प्रूदों ने एक विनिमय बैंक संगठित करने की कोशिश की थी। उनका Banque du peuple (जनता का बैंक) ३१ जनवरी, १८४९ को पेरिस में स्थापित किया गया। बैंक का अस्तित्व लगभग दो महीने तक रहा और वह भी केवल काग़ज़ पर। बैंक ने अभी नियमित रूप से काम करना शुरू भी नहीं किया था कि उसे अप्रैल के शुरू में बन्द कर दिया गया। – ४२१

[163] W. L. Sargant, *Robert Owen and His Social Philosophy* ('रॉबर्ट ओवेन और उनका सामाजिक दर्शनशास्त्र'), लन्दन, १८६०।

विवाह तथा कम्युनिस्ट प्रणाली पर ओवेन की मूलभूत रचनाएं हैं: 'नये नैतिक संसार की विवाह प्रणाली' (१८३८); 'नये नैतिक

जगत् की पुस्तक' (१८३६–१८४४) और 'मानवजाति के मस्तिष्क तथा व्यवहार में क्रान्ति' (१८४९)।– ४२२

[164] **हार्मोनी हॉल** – यह उस कम्युनिस्ट बस्ती का नाम था, जो रॉबर्ट ओवेन के नेतृत्व में अंग्रेज़ी कल्पनावादी-समाजवादियों द्वारा १८३९ के अन्त में हैम्पशायर (इंगलैंड) में स्थापित की गयी थी। बस्ती १८४५ तक क़ायम रही।– ४२३

[165] अपनी रचना 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' में एंगेल्स ने इस स्थल पर दी टिप्पणी में अपनी रचना 'मार्क' का हवाला दिया।– ४३४

[166] यहां उल्लेख १७ वीं और १८ वीं शताब्दी के उन अनेक युद्धों से है, जो यूरोप के सबसे शक्तिशाली देशों ने भारत और अमरीका के साथ व्यापार में मुख्य अधिकार प्राप्त करने तथा औपनिवेशिक मण्डियां हथियाने के उद्देश्य से छेड़े। मूलत: इंगलैंड और हालैंड मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे (१६५२–१६५४, १६६४–१६६७ और १६७२–१६७४ के आंग्ल-डच युद्ध विशिष्ट व्यापार युद्ध थे); बाद में ब्रिटेन और फ़्रांस के बीच निर्णायक संघर्ष भड़क उठा। इन सभी युद्धों में ब्रिटेन की जीत हुई और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उसने लगभग सारे संसार का व्यापार अपने हाथ में केन्द्रित कर लिया।– ४३५

[167] एंगेल्स ने यहां 'पूंजी' के खण्ड १ से उद्धरण दिया है। देखिये का० मार्क्स, 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ४९३, ५५०, ५०–५१।– ४३७

[168] देखिये कार्ल मार्क्स, 'पूंजी', हिन्दी संस्करण, मास्को, १९६५, खण्ड १, पृष्ठ ५२२।– ४३७

[169] Ch. Fourier, *Oeuvres complètes*, (संपूर्ण ग्रन्थावली), खंड ६, पेरिस, १८४५, पृष्ठ ३९३–३९४।– ४३९

[170] Seehandlung (समुद्री व्यापार कंपनी) – एक व्यापार तथा ऋण कंपनी, जिसे १७७२ में प्रशा में स्थापित किया गया था। कंपनी को

अनेक महत्वपूर्ण सरकारी विशेषाधिकार प्राप्त थे और वह सरकार को बड़े ऋण दिया करती थी और वास्तव में वित्तीय मामलों में सरकार के बैंकर और दलाल का काम करती थी। १६०४ में उसे अधिकृत रूप से प्रशियाई राज्य बैंक में पुनर्संगठित किया गया। – ४४२

[171] "**स्वतंत्र जन राज्य**" – १६ वीं सदी के आठवें दशक में जर्मनी के सामाजिक-जनवादियों के कार्यक्रम की एक मांग और उनके बीच प्रचलित नारा। इस नारे की मार्क्सवादी आलोचना के लिये देखिये मार्क्स की रचना 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' का भाग ४, १८–२८ मार्च, १८७५ को बेबेल के नाम लिखा एंगेल्स का पत्र और लेनिन की रचना 'राज्य और क्रांति', अध्याय १, पैराग्राफ़ ४ और अध्याय ४, पैराग्राफ़ ३ (संगृहीत रचनाएं, अंग्रेज़ी संस्करण, खंड २५, ३६५–४०१ और ४३६–४४२। – ४४७

[172] ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड के कुल धन के बारे में यहां दिये गये आंकड़े रॉबर्ट गिफ़ेन की 'युनाइटेड किंगडम में पूंजी का नवीनतम संचय' शीर्षक उस रिपोर्ट से लिये गये हैं, जो १५ जनवरी, १८७८ को सांख्यिकीय सोसाइटी के सामने पेश की गयी थी और लंदन की 'सांख्यिकीय सोसाइटी की पत्रिका' (*Journal of the Statistical Society*) के मार्च, १८७८ के अंक में प्रकाशित की गयी थी। – ४४६

[173] जर्मन उद्योगपतियों के केन्द्रीय संघ की दूसरी कांग्रेस २१–२२ फ़रवरी, १८७८ को बर्लिन में हुई थी। – ४५०

[174] देखिये शार्ल फ़ूरिये की पुस्तक 'नया औद्योगिक तथा सोशलिटेरियन संसार', अध्याय २, ५ और ६। – ४६५

[175] एंगेल्स का आशय बिस्मार्क के उस भाषण से है, जो उसने २० मार्च, १८५२ को प्रशा के लाण्टाग के दूसरे चेम्बर में दिया था (१८४६ से बिस्मार्क इस चेम्बर का सदस्य था)। बड़े शहरों को क्रान्तिकारी आन्दोलन का गढ़ मानते हुए बिस्मार्क ने उनके प्रति युंकरों की घृणा

व्यक्त की और आग्रह किया कि अगर नयी क्रान्तिकारी लहर उठे, तो उन्हें ज़मीन से बिल्कुल मिटा दिया जाना चाहिये।– ४७१

[176] "खाता-बही" (Kommerzbuch) का ब्योरा वि० वीटलिंग ने अपनी रचना 'सामंजस्य और स्वतंत्रता की गारंटी' में दिया है (W. Weitling, *Garantien der Harmonie und Freiheit*)। वीटलिंग की कल्पनावादी योजना के अनुसार भावी समाज में प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन निश्चित घण्टों के लिये काम करना पड़ेगा और इसके लिये उसे जीवन निर्वाह के आवश्यक साधन प्रदान किये जायेंगे। इन घण्टों के अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक को अधिकार होगा कि वह कुछेक और "वाणिज्यिक घण्टों" के लिये काम करे और उनके एवज़ में उसे आराम आसाइश की चीज़ें प्रदान की जायेंगी। काम के ये अतिरिक्त घण्टे और उनके एवज़ में दी गयी वस्तुएं एक "खाता-बही" में दर्ज कर दिये जायेंगे।– ४८०

[177] Non olet (इससे बू नहीं आती, अर्थात् धन से बू नहीं आती)। रोम के सम्राट् वेस्पासियन (६९–७९ ई०) ने ये शब्द अपने बेटे से कहे थे, जब शौचालयों पर विशेष कर लगाये जाने पर उसने अपने पिता की भर्त्सना की थी।– ४८२

[178] सारजण्ट की पुस्तक के बारे में देखिये टिप्पणी १६३। Labour Exchange Bazaars, देखिये टिप्पणी १६१।– ४८५

[179] देखिये टिप्पणी ८२।– ४९३

[180] देखिये टिप्पणी १००।– ४९४

[181] मैम्ब्रिनो की उस जादुई हेलमेट की विजय से सम्बद्ध घटना का वर्णन, जो बाद में नाई का साधारण बरतन साबित हुई थी, सेर्वान्टेस ने अपने उपन्यास 'डॉन क्विग्ज़ोट', भाग १, अध्याय २१ में किया है।
अब्राहम एन्स – अपमानजनक लेख का लेखक; यह अपमानजनक लेख उसने मार्क्स और एंगेल्स के विरुद्ध तथा 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन'

के उन प्रारंभिक अध्यायों के बारे में लिखा था, जो जनवरी–फ़रवरी १८७७ में, *Vorwärts* नामक अख़बार में प्रकाशित किये गये थे। देखिये Index of Authorities। – ४६६

[182] मूल में "breite Bettelsuppe" गेटे के 'फ़ॉस्ट', भाग १, दृश्य ६ का एक अंश। – ४६८

[183] प्रशा के बादशाह फ़्रेडरिक द्वितीय द्वारा २२ जुलाई, १७४० को किये गये उस निश्चय में से एक वाक्यांश, जो उसने मन्त्री ब्रैंड और परिषद् के अध्यक्ष रईख़नबाख़ के इस सवाल के जवाब में किया था कि क्या प्रशा के प्रोटेस्टेण्ट राज्य में कैथोलिक स्कूलों को इजाज़त दी जा सकती है। – ५००

[184] **मई के क़ानून** – चार क़ानून, जो बिस्मार्क की पहलक़दमी पर प्रशा के धार्मिक मामलों मन्त्री फ़ाल्क ने ११–१४ मई, १८७३ को राइख़स्टाग में पारित करवाये थे। ये क़ानून, जिनके द्वारा कैथोलिक चर्च पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण स्थापित किया गया था, तथाकथित "संस्कृति के लिये संघर्ष" का चरम-बिन्दु थे। ये उन क़ानूनी कार्रवाइयों की सारी शृंखला की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी थे, जो बिस्मार्क द्वारा १८७२–१८७५ में कैथोलिक पादरियों के विरुद्ध की गयी थीं, इस नाते कि वे उस "मध्यमार्गी" पार्टी के मुख्याधार थे, जो दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी के पृथक्करण के अनुयाइयों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। पुलिस के उत्पीड़न का कैथोलिकों ने कड़ा प्रतिरोध किया, जिससे उन्हें शहादत का यश मिलने लगा। मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध लड़ने के लिये सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को एकबद्ध करने की दृष्टि से १८८०–१८८७ में बिस्मार्क की सरकार लगभग सभी कैथोलिक विरोधी क़ानूनों को पहले ढीला करने और बाद में रद्द करने पर बाध्य हुई थी। – ५०३

[185] **'जादुई बांसुरी'** – मोज़ार्ट का अन्तिम ऑपेरा, जो उन्होंने इमानुइल शिकानेदेर के लिबरेटो पर रची। १७९१ में रची तथा प्रस्तुत की गयी यह रचना मेसनों के विचारों को प्रतिबिम्बित करती थी–

शिकानेदेर और मोज़ार्ट दोनों मेसन थे। पुस्तक में उल्लिखित सरास्त्रो, तैमिनो तथा पमीना ऑपेरा के मुख्य पात्र हैं। – ५१३

[186] Referendary – जर्मनी में छोटा कर्मचारी, जो मुख्यतः वकील हुआ करता था; अदालत या सरकारी कार्यालय में अप्रेंटिस के रूप में अक्सर बिना पारिश्रमिक के काम करता था। – ५१५

[187] देखिये टिप्पणी २। – ५२१

[188] *Tageblatt der 50. Versammlung deutscher Naturforscher und Aerzte in München 1877*, Beilage, पृष्ठ १८। – ५२१

[189] A. Kekulé, *Die wissenschaftlichen Ziele und Leistungen der Chemie*, बोन, १८७८, पृष्ठ १३–१५। –५२४

[190] यहां आशय निम्नलिखित पुस्तकों से है: J. B. J. Fourier, *Thèorie analytique de la chaleur* ('ऊष्मा का विश्लेषणात्मक सिद्धान्त'), पेरिस, १८२२ और S. Carnot, *Rèflexions sur la puissance motrice du feu et sur les machines propres à développer cette puissance* ('अग्नि की चालक शक्ति पर और इस शक्ति को विकसित करने की क्षमता रखनेवाली मशीनों पर विचार'), पेरिस, १८२४। एंगेल्स द्वारा उल्लिखित फलन C कार्नो की पुस्तक के पृष्ठ ७३–७६ पर एक टिप्पणी में दी गयी है। – ५३१

[191] 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के लिये एंगेल्स की प्रारम्भिक रचनाएं दो भागों में हैं। पहले भाग में विभिन्न आकार के अलग-अलग पन्ने हैं (कुल ३५ हस्तलिखित पन्ने), जिनमें ड्यूहरिंग की किताबों से उद्धरण और एंगेल्स की टिप्पणियां शामिल हैं। 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में इस्तेमाल कर लिये जाने पर इन्हें काट दिया गया है। दूसरे हिस्से में बड़े आकार के पन्ने हैं (कुल मिलाकर १७ हस्तलिखित पन्ने), जिन्हें दो स्तम्भों में विभाजित किया गया है। बायें स्तम्भ में मुख्यतः ड्यूहरिंग की पुस्तक 'राजनीतिक और सामाजिक अर्थशास्त्र का पाठ्य-

क्रम' के दूसरे संस्करण में से उद्धरण दिये गये हैं और दायें स्तम्भ में एंगेल्स की आलोचनात्मक टिप्पणियां हैं; कुछ विवरण लम्बे रुख़ खिंची लाइनों द्वारा काट दिये गये हैं, यह दिखाने के लिये कि इन्हें 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में इस्तेमाल कर लिया गया है।

इनके अलावा 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के लिये प्रारम्भिक रचनाओं में दास प्रथा पर एक टिप्पणी, फ़ूरिये की पुस्तक 'नया औद्योगिक तथा सोशलिटेरियन संसार' में से अंश और आधुनिक समाजवाद पर टिप्पणी शामिल हैं, जो 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' की 'प्रस्तावना' का मूल विवरण बनती है। ये तीन टिप्पणियां 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' की सामग्री में मिलती हैं। वर्तमान संस्करण में पहली दो टिप्पणियां 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के लिये प्रारम्भिक रचनाओं में दी गयी हैं; 'प्रस्तावना' के मौलिक तथा अन्तिम पाठों के सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्तर 'प्रस्तावना' के पहले अध्याय में फ़ुट-नोटों के रूप में दिये गये हैं। वर्तमान संस्करण में एंगेल्स की वे प्रारम्भिक रचनाएं शामिल हैं, जो 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के मुख्य पाठ की महत्वपूर्ण अनुपूरक बनी हैं। प्रारम्भिक रचनाओं के भाग १ की टिप्पणियां 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के पाठ के अनुसार रखी गयी हैं, जहां उनका हवाला दिया गया है। भाग २ में से उद्धरण उसी क्रम में दिये गये हैं, जिस क्रम में वे एंगेल्स की पाण्डुलिपियों में पाये गये हैं; ड्यूहरिंग की पुस्तक में से वे उद्धरण, जिनकी ओर एंगेल्स की आलोचनात्मक टिप्पणियों का संकेत है, संक्षिप्त रूप में बड़े कोष्ठकों के अन्दर दिये गये हैं।

वे टिप्पणियां, जो 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के लिये प्रारम्भिक रचनाओं का भाग १ बनती हैं, प्रकटतः १८७६ में लिखी गयी थीं और भाग २ की टिप्पणियां १८७७ में। इन प्रारम्भिक रचनाओं को पहली बार अंशतः १९२७ में प्रकाशित किया गया था (*Marx-Engels Archiv*, खंड २, फ़्रैंकफ़ुर्ट-ऑन-मेन, १९२७), और अधिक पूर्ण रूप से १९३५ में (*Marx-Engels Gesamtausgabe*, F. Engels, *Herrn Eugen Dührings Umwälzung der Wissenschaft. Dialektik der Natur*. Sonderausgabe, मास्को-लेनिनग्राद, १९३५। – ५३२

[192] **शेख़-उल-इस्लाम** – सुल्तान तुर्की (ओसमान साम्राज्य) में मुस्लिम मुल्लाओं के अध्यक्ष का पद। – ५३५

[193] **प्रिफ़र्मेशन** – जीवाणु में सुगढ़ जीव की पहले से रचना। इस सिद्धांत के समर्थकों के अधिभूतवादी दृष्टिकोण से, जो १७ वीं और १८ वीं शताब्दी के जीव विज्ञानियों में प्रचलित था, सुगढ़ जीव के सभी भाग पहले से जीवाणु में पाये जाते हैं, अतः जीव का विकास केवल पहले से मौजूद अंगों की मात्रात्मक वृद्धि भर रह जाता है। जहां तक स्वयं विकास का सम्बन्ध है, अर्थात् एपीजेनेसिस (epigenesis) का, वह नहीं होता। एपीजेनेसिस के सिद्धांत को वोल्फ़ से डार्विन तक प्रमुख जीव विज्ञानियों ने पुष्ट और विकसित किया। – ५३९

[194] H. E. Roscoe, *Kurzes Lehrbuch der Chemie nach den neuesten Ansichten der Wissenschaft*, ('रसायन विज्ञान की छोटी पाठ्य-पुस्तक, नवीनतम वैज्ञानिक विचारों के अनुसार संकलित'), ब्राउनश्विग, १८६७, पृष्ठ १०२)। – ५४०

[195] एंगेल्स का आशय यहां निकल्सन की 'प्राणिशास्त्र की पुस्तिका' की सामान्य भूमिका से है, जहां जीवन के स्वरूप और स्थितियों का विवेचन करते हुए लेखक एक विशेष पैराग्राफ़ में जीवन की विभिन्न परिभाषाएं देता है। – ५४०

[196] हेगेल, 'तर्कशास्त्र', पुस्तक १, अंश १, अध्याय १, 'भाव में सत्ता और अवस्तुता में प्रतिवाद पर टिप्पणी' (G. W. F. Hegel, *Werke*, खंड ३, दूसरा संस्करण, बर्लिन, पृष्ठ ७४)। –५५०

[197] Ch. Bossut, *Traités de calcul différentiel et de calcul intégral* ('अवकलन गणित और अनुकलन गणित पर निबन्ध'), खण्ड १, पेरिस, वर्ष ६ (१७९८), पृष्ठ ९४। – ५५०

[198] अपनी पुस्तक के पृष्ठ ९५–९६ पर बोस्सू इस थीसिस की व्याख्या करता है कि शून्य निम्नलिखित रूप से अनुपात बनाते हैं। बोस्सू

कहता है कि आइये, यह भी इसके साथ जोड़ दें कि कल्पना में दो शून्य अनुपात बनाते हैं, कुछ भी बेहूदा या अस्वीकार्य बात नहीं है। मान लिया जाये कि हमारे पास है – A:B=C:D, जिससे यह नतीजा निकलता है कि (A — C) : (B — D) = A : B; यदि C=A और परिणामतः D=B, तब 0 : 0=A : B; A और B के बदलने से A : B बदल जाता है। बोस्सू के इस तर्क को एंगेल्स अपने उदाहरण में A=C के स्थान पर १ और B=D के स्थान पर २ रखकर सुस्पष्ट करते हैं। – ५५१

[199] देखिये टिप्पणी १४७। – ५५४

[200] ४ अगस्त, १७८९ को फ़्रांस की संविधान सभा ने बढ़ते हुए किसान आन्दोलन के दवाव से कुछ सामन्ती अनिवार्य सेवाओं के ख़ात्मे की घोषणा की, जो उस समय तक वस्तुतः विद्रोहकारी किसानों द्वारा ख़त्म कर दी गयी थीं। परन्तु बाद में जारी किये गये क़ानूनों के अनुसार केवल व्यक्तिगत अनिवार्य सेवाएं ही बिना मुआवज़े के ख़त्म की गयीं। जहां तक सभी सामन्ती सेवाओं को ख़त्म करने का संबंध है, वे केवल जैकोबिन अधिनायकत्व के काल में १७ जुलाई, १७९३ के क़ानून द्वारा ही ख़त्म की गयी थीं।

चर्च की ज़मीन-जायदाद ज़ब्त करने के बारे में विज्ञप्ति २ नवम्बर, १७८९ को संविधान सभा द्वारा पारित की गयी; जबकि निर्वासित अभिजातों की सम्पत्ति को ज़ब्त करने के बारे में विज्ञप्ति ९ फ़रवरी, १७९२ को विधान सभा द्वारा पास की गयी थी। – ५५५

[201] यहां उल्लेख टॉमस मोर द्वारा लिखित 'यूटोपिया' से है, जिसका पहला संस्करण बेल्जियम के नगर लोवेन में १५१६ में प्रकाशित हुआ था। – ५५७

[202] एंगेल्स यहां 'पूंजी' के खण्ड १ के भाग ७ ('पूंजी का संचय') का उल्लेख करते हैं। एंगेल्स 'पूंजी' के इस भाग में से अनुरूप स्थल को 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के अध्याय २, भाग २ में उद्धृत करते हैं (देखिये वर्तमान संस्करण, पृष्ठ २६१। – ५६०

[203] देखिये टिप्पणी ६६।–५६२

[204] **खेदिव** – (१८६७ से) तुर्की शासन काल में मिस्र के वंशगत शासकों की पदवी।–५७०

[205] मूलत: यह लेख 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के दूसरे भाग की पाण्डुलिपि (पृष्ठ २० का अंतिम भाग, २१, २२, २३, २४ और २५ का एक बड़ा हिस्सा) का अंश था। इसे भाग २, अध्याय ३ में शामिल किया गया। बाद में एंगेल्स ने पाण्डुलिपि के इस हिस्से के स्थान पर एक दूसरा, अधिक सम्यक् पाठ रखा (देखिये वर्तमान संस्करण, पृष्ठ २६७–२७२) और पुराने पाठ को नया शीर्षक: 'पैदल सेना का व्यूह कौशल, भौतिक कारणों के आधार पर, १७००–१८७०' दिया। यह अंश १८७७ में लिखा गया था, जनवरी के शुरू, जब एंगेल्स ने भाग १ को पूरा किया, और मध्य अगस्त के बीच, जब *Vorwärts* अखबार ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के भाग २ का अध्याय ३ छापा था। यह लेख पहली बार १९३५ में, *Marx-Engels Gesamtausgabe* संस्करण में प्रकाशित किया गया। F. Engels, *Herrn Eugen Dührings Umwälzung der Wissenschaft. Dialektik der Natur*. Sonderausgabe, मास्को-लेनिनग्राद, १९३५।–५७१

[206] **अल्बुहेरा (स्पेन) की लड़ाई**, १६ मई, १८११ को हुई थी। इस लड़ाई में बेदाहोस क़िले पर घेरा डालनेवाली विस्काउंट बेरेसफ़र्ड की अंग्रेज़ी सेना ने मार्शल सूल्ट की फ़्रांसीसी सेना को पराजित कर दिया। लेख 'अल्बुहेरा' में एंगेल्स ने इस लड़ाई का वर्णन किया है।

इंकेरमान की लड़ाई, ५ नवम्बर, १८५४ को क्रीमियाई युद्ध (१८५३–१८५६) के दौरान रूसी सेना और आंग्ल-फ़्रांसीसी सेनाओं के बीच हुई थी। मित्र देशों का भारी नुक़सान होने के कारण, विशेष रूप से अंग्रेज़ों का नुक़सान होने के कारण मित्र देश सेवास्तोपोल पर फ़ौरन हमला करने का साहस नहीं कर पाये और क़िले की दीर्घकालीन नाक़ाबन्दी करने पर बाध्य हुए। एंगेल्स ने 'इंकेरमान की लड़ाई' शीर्षक लेख में इस लड़ाई का सविस्तार वर्णन किया है।–५७८

[207] देखिये टिप्पणी ८६।–५८०

[208] संभवतः ये नोट १८८५ में लिखे गये थे; किसी हालत में भी १८८४ के मध्य-अप्रैल से पहले नहीं लिखे गये, जब एंगेल्स प्रेस के लिये 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' का दूसरा प्रवर्द्धित संस्करण तैयार कर रहे थे, और न ही सितम्बर, १८८५ के अन्त के बाद, जब उन्होंने पुस्तक के दूसरे संस्करण के लिये भूमिका मुकम्मल करके प्रकाशन गृह को भेज दी थी। जैसा कि ए० बर्न्संटीन और क० काउत्स्की के नाम १८८४ में और ज० श्लूटर के नाम १८८५ में लिखे एंगेल्स के पत्रों से स्पष्ट हो जाता है, एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के विभिन्न स्थलों के लिये प्राकृतिक-वैज्ञानिक ढंग की अनेक 'नोट' और 'परिशिष्ट' लिखने का और उन्हें पुस्तक के दूसरे संस्करण के अन्त में जोड़ने का इरादा रखते थे। परन्तु एंगेल्स अपना इरादा पूरा नहीं कर सके, क्योंकि वह अन्य कामों में बेहद व्यस्त थे (मुख्यतः मार्क्स की रचना 'पूंजी' के दूसरे और तीसरे खण्डों के प्रकाशन पर)। एंगेल्स केवल 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के पहले संस्करण के पृष्ठ १७–१८ और पृष्ठ ४६ के लिये दो 'नोटों' की रूप-रेखा तैयार कर पाये, जिन्हें उन्होंने 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' के लिये सामग्री में शामिल किया था।– ६०२

[209] Nihil est in intellectu, quod non fuerit in sensu (जो इन्द्रियों में नहीं था, वह बुद्धि में भी नहीं हो सकता) – संवेदनवाद का आधारभूत सूत्र। यह सूत्र अरस्तू से लिया गया है (देखिये अरस्तू की रचना 'दूसरा विश्लेषणशास्त्र', पुस्तक १, अध्याय १८, और 'आत्मा के सम्बन्ध में', पुस्तक ३, अध्याय ८)।– ६०२

[210] संभवतः यहां एंगेल्स का आशय हैकेल के मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद और पदार्थ की संरचना सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण से है। अपनी पुस्तक *Die Perigenesis der Plastidule* में, जिसका एंगेल्स 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' के दूसरे 'नोट' में हवाला देते हैं (देखिये वर्तमान संस्करण पृष्ठ ६१०),

हैकेल ने मिसाल के तौर पर कहा है कि न केवल "प्लास्टिड्यूल" ही (अर्थात् प्रोटोप्लाज़्म के अणु), बल्कि परमाणुओं की भी तात्विक "आत्मा" होती है और सभी परमाणु "जीवधारी" होते हैं, उनकी "संवेदनाएं" और "इच्छाशक्ति" होती हैं। उसी पुस्तक में हैकेल ने परमाणुओं की ऐसी चीज़ के रूप में चर्चा की है, जो बिल्कुल पृथक्, बिल्कुल अविभाजित और अपरिवर्तनशील है, और पृथक् परमाणुओं के साथ ईथर के अस्तित्व को एक बिल्कुल पूर्वानुबद्ध वस्तु के रूप में मान्यता दी है (E. Haeckel, *Die Perigenesis der Plastidule,* बर्लिन १८७६, पृष्ठ ३८–४०)।

हैकेल पदार्थ की पूर्वानुबद्धता और पृथक्ता के बीच पाये जाने-वाली असंगति का कैसे समाधान करते हैं, इसका एंगेल्स 'पदार्थ की विखंडता' में उल्लेख करते हैं (देखिये फ़्रे० एंगेल्स, 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति')।–६१०

211 यहां निर्देश *Nature* नामक पत्रिका के १५ नवम्बर, १८७७ के अंक ४२० के एक लेख की ओर है, जिसमें केकुले के उस भाषण का संक्षिप्त विवरण दिया गया था, जो उन्होंने १८ अक्तूबर, १८७७ को बोन विश्वविद्यालय के रेक्टर का पद ग्रहण करने पर दिया था। १८७८ में यह भाषण 'रसायनविज्ञान के वैज्ञानिक उद्देश्य और उपलब्धियां' शीर्षक से एक अलग पैम्फ़लेट के रूप में प्रकाशित किया गया था।– ६११

212 **लोथार मेयेर की वक्र रेखा** – परमाणविक आयतनों के साथ परमाणविक भारों के अनुपात का निरूपण करती है; यह जर्मन रसायनविद ल० मेयेर द्वारा संकलित किया गया था और १८७० में 'रासायनिक तत्वों का स्वरूप उनके परमाणविक भारों की क्रिया के रूप में' शीर्षक उनके लेख में प्रकाशित किया गया था। यह लेख *Annalen der Chemie und Pharmacie* नामक पत्रिका में निकला था (७ वां अतिरिक्त खण्ड, अंक ३)।

रासायनिक तत्वों के परमाणविक भार और उनके भौतिक और

रासायनिक गुणों के बीच प्राकृतिक सम्बन्ध की खोज, महान रूसी वैज्ञानिक द्मीत्री मेन्देलेयेव ने की थी, जिन्होंने सबसे पहले मार्च, १८६९ में 'तत्वों के परमाणविक भारों के साथ उनके गुणधर्मों के सम्वन्ध' शीर्षक अपने लेख में, जो 'रूसी रसायन सोसाइटी की पत्रिका' में प्रकाशित किया गया था, रासायनिक तत्वों के आवर्त नियम को सूत्रबद्ध किया था। मेयेर भी आवर्त नियम को स्थापित करने जा रहे थे, जब उन्हें मेन्देलेयेव की खोज की ख़बर मिली। मेयेर की वक्र रेखा मेन्देलेयेव के नियम का सुचित्रित उदाहरण थी, परन्तु वह इस नियम को बाहरी तौर पर और मेन्देलेयेव की तालिका के विपरीत एकांगी ढंग से व्यक्त करती थी।

अपने निष्कर्षों में मेन्देलेयेव मेयेर से कहीं आगे निकल गये थे। आवर्त नियम के आधार पर, जो उन्होंने खोजा था, मेन्देलेयेव ने ऐसे रासायनिक तत्वों के अस्तित्व और विशिष्ट गुणों के बारे में पहले से बता दिया था, जो उस वक़्त तक ज्ञात नहीं थे, जबकि मेयेर ने अपनी बाद की रचनाओं में दिखा दिया कि वह आवर्त नियम के सार-तत्व को समझने में असमर्थ रहे थे। – ६१३

[213] हेगेल, 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश', पैराग्राफ़ १३, नोट: "औपचारिक रूप से, विशिष्ट **के साथ** रख देने से स्वयं सामान्य भी विशिष्ट जैसी चीज़ बन जाता है। इस प्रस्थापना की असंगतता और बेहूदगी, रोज़मर्रा की चीज़ों पर लागू करने से अपने आप सामने आ जायेगी, अगर, मिसाल के तौर पर, कोई व्यक्ति फल मांगे और बाद में चेरी, नाशपाती, अंगूर लेने से इन्कार कर दे, क्योंकि वे चेरी, नाशपाती, अंगूर हैं, फल **नहीं**।" – ६१६

[214] E. Haeckel, *Natürliche Schöpfungsgeschichte*, चौथा संस्करण, बर्लिन, १८७३, पृष्ठ ५३८, ५४३, ५८८; *Anthropogenie*, लाइपज़िग, १८७४, पृष्ठ ४६०, ४६५, ४९२। – ६१६

[215] हेगेल, 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश', पैराग्राफ़ ९९, परिशिष्ट। – ६१७

विषय-निर्देशिका

अ

ग

च

छ

ज

त

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

स

ह

Index of Authorities

नाम-निर्देशिका

अ

आ

ए

ओ

क

कार्लाइल (Carlyle), टॉमस (१७९५–१८८१) – अंग्रेज़ी लेखक, इतिहासकार, दार्शनिक-भाववादी। – ५९०

किर्होफ़ (Kirchhoff), गुस्टाफ़ रॉबर्ट (१८२४–१८८७) – प्रमुख जर्मन भौतिकशास्त्री, प्राकृतिक-वैज्ञानिक भौतिकवाद का प्रतिनिधि; विद्युतगतिकी और यान्त्रिकी सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन किया; १८५९ में र० बुन्सेन के साथ वर्णक्रम विश्लेषण की नींव रखी। – २२

केकुले (Kekulé), फ़्रेडरिक ऑगस्ट (१८२९–१८९६) – सुप्रतिष्ठित जर्मन रसायनशास्त्री, कार्बनिक और सैद्धान्तिक रसायनविज्ञान के क्षेत्र में काम किया। –५२४, ६१०, ६११

केप्लेर (Kepler), जोहान (१५७१–१६३०) – महान जर्मन खगोलविज्ञ, ग्रहों की गति को नियन्त्रित करनेवाले नियमों की खोज की। – २२

कैंटिलों (Cantillon), रिचर्ड (१६८०–१७३४) – अंग्रेज़ी अर्थशास्त्री, प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों का पूर्ववर्ती। – ३८५

कैथेरीन द्वितीय (१७२९–१७९६) – रूस की सम्राज्ञी (१७६२–१७९६)। –५५६

कैम्पहाउसेन (Camphausen), लुडोल्फ़ (१८०३–१८९०) – जर्मन बैंकर और राइन के उदारवादी पूंजीपति वर्ग का एक नेता; प्रशा का प्रधान मन्त्री (मार्च – जून, १८४८)। – १७५

कैरे (Carey), हेनरी चार्ल्स (१७९३–१८७९) – अमरीकी भोंडा बुर्जुआ अर्थशास्त्री, पूंजीवादी समाज में वर्ग सामंजस्य के प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त का प्रवर्तक। –३०८, ३५५, ४०४, ५६१

कोपेरनिकस (Kopernik), निकोलाई (१४७३–१५४३) – पोलैंड का महान खगोलविज्ञ, हेलियोसेन्ट्रिक विश्व प्रणाली मत का प्रवर्तक। –९५, ९६

कौफ़मन, कोन्स्तान्तिन पेत्रोविच (१८१८–१८८२) – रूसी जनरल, सैनिक नेता और राजनयिक; काकेशस और मध्य एशिया को जीतने की ज़ार की नीति को अमली जामा पहनाने में सक्रिय रूप से काम किया, १८६७ से तुर्केस्तान सैन्य क्षेत्र की फ़ौजों की कमान की और तुर्केस्तान प्रदेश का गवर्नर-जनरल रहा। – १६४

कौबेट (Cobbett), विलियम (१७६२–१८३५) – अंग्रेज़ी राजनीतिज्ञ और पत्रकार, निम्नपूंजीवादी आमूलवाद का प्रमुख प्रतिनिधि, अंग्रेज़ी राजनीतिक प्रणाली के जनतन्त्रीकरण का समर्थन किया। – ३८७

क्वेने (Quesnay), फ़्रांसुआ (१६९४–१७७४) – प्रतिष्ठित फ़्रांसीसी अर्थशास्त्री और प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का प्रवर्तक; व्यवसाय से चिकित्सक। – २७, ३८८–३९५. ३९७–३९९, ४०१, ४०२, ४२१

क्सेनोफ़ोन (लगभग ४३० – लगभग ३५४ ईसा पूर्व) – प्राचीन यूनानी इतिहासकार और दार्शनिक, ग़ुलाम मालिकों के वर्ग का सिद्धान्तकार, स्वावलंबी अर्थव्यवस्था का पक्षपाती। – ३६५

ग

गाउस (Gauss), कार्ल फ़्रेडरिक (१७७७–१८५५) – महान जर्मन गणितशास्त्री; खगोलशास्त्र, भूगणित और भौतिकी पर विलक्षण ग्रन्थ लिखे; ग़ैर-यूकलिडवादी रेखागणित के संस्थापकों में से एक। – ८५

गालेन, क्लाउदियस (लगभग १३० – लगभग २००) – विलक्षण रोमन चिकित्सक, प्रकृतिवेत्ता और दार्शनिक, प्राचीन चिकित्साशास्त्र का महान सिद्धान्तकार; शरीररचना और शरीरक्रिया का अध्ययन किया, रक्त परिवहन के बारे में अनुसन्धान कार्य शुरू किया; दर्शनशास्त्र में अरस्तू का अनुयायी। – १४४

गिफ़ेन (Giffen), रॉबर्ट (१८३७–१९१०) – अंग्रेज़ी बुर्जुआ अर्थशास्त्री और सांख्यिकीविद, वित्तीय मामलों का विशेषज्ञ, *Journal of the Statistical Society* का प्रकाशक (१८७६–१८९१), व्यापार मन्त्रालय के सांख्यिकी विभाग का अध्यक्ष (१८७६–१८९७)। –४४९

गिबन (Gibbon), एडवर्ड (१७३७–१७९४) – अंग्रेज़ी बुर्जुआ इतिहासकार; चर्च विरोधी स्वरूपवाले बहुखण्डीय ग्रन्थ 'रोमन साम्राज्य का इतिहास तथा पतन' का लेखक। – ३८७

गेटे (Goethe), जोहान वोल्फ़गांग (१७४९–१८३२) – महान जर्मन लेखक तथा विचारक; प्राकृतिक विज्ञान के विषय पर लिखी अपनी

च

ट

ड

डार्विन (Darwin), चार्ल्स रॉबर्ट (१८०६–१८८२) – महान अंग्रेज़ी प्रकृतिवेत्ता, वैज्ञानिक क्रमिक विकासवादी जीव विज्ञान का संस्थापक। – ५४, ५५, १११–११६, ११८–१२१, १२३, १३१, २०२, २३०, ४३५, ५३७, ५८७, ६१६

डाल्टन (Dalton), जॉन (१७६६–१८४४) – विलक्षण अंग्रेज़ी रसायनशास्त्री तथा भौतिकशास्त्री, रसायनशास्त्र में परमाण्विकी के विचारों को विकसित किया। – ५२४

डियेज़ (Diez), क्रिस्चियन फ़्रेडरिक (१७९४–१८७६) – जर्मन भाषाशास्त्री, तुलनात्मक ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के प्रवर्तकों में एक, रोमन भाषाओं के पहले तुलनात्मक व्याकरण के रचयिता। – ५०८

डेफ़ो (Defoe), डेनियल (लगभग १६६०–१७३१) – सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक और पत्रकार, 'रोबिन्सन क्रूसो' नामक उपन्यास का रचयिता। – २४८, २५५–२५७, २६६, ५६१

ड्यूहरिंग (Dühring), यूजेन कार्ल (१८३३–१९२१) – जर्मन सारसंग्रहवादी दार्शनिक और भोंडा अर्थशास्त्री, प्रतिक्रियावादी निम्नपूंजीवादी समाजवाद का प्रतिनिधि; दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भाववाद, भोंडे भौतिकवाद और प्रत्यक्षवाद को मिलाया; अधिभूतवादी; प्राकृतिक विज्ञान और साहित्य के सवालों पर भी लिखता रहा; बर्लिन विश्वविद्यालय का सहायक प्रोफ़ेसर (१८६३–१८७७)। – ११–५१६, ५१९–५२१, ५२८, ५३३, ५३५–५३६, ५४१, ५४४, ५४५, ५५०, ५५१, ५५३

त

तुर्गोत (Turgot), आन रोबेर जाक (१७२७–१७८१) – फ़्रांसीसी अर्थशास्त्री और राजनयिक, प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का प्रतिष्ठित प्रतिनिधि; जनरल वित्तीय इन्स्पेक्टर (१७७४–१७७६); पूंजीपति वर्ग के हितों को अभिव्यक्त किया। – ४०३

थ

द

न

प

प्रीस्टले (Priestley), जोज़ेफ़ (१७३३–१८०४) – प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी रसायनशास्त्री, दार्शनिक-भौतिकवादी और प्रगतिशील सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, औद्योगिक क्रान्ति के समय अंग्रेज़ी पूंजीपति वर्ग के आमूल-वादी भाग का सिद्धान्तकार; १७७४ में आक्सीजन की खोज की। – ५३१

प्रूदों (Proudhon), पियेर जोज़ेफ़, (१८०९–१८६५) – फ़्रांसीसी पत्रकार, अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री, निम्नपूंजीपति वर्ग का सिद्धान्तकार, अराजकतावाद के प्रवर्तकों में से एक। – २९९, ४०६, ४२१, ४९६, ४९७

प्लिनी (गायस प्लिनी सेकंडस) (२३–७९) – रोम का प्रकृतिवेत्ता, ३७ खण्डों में 'प्राकृतिक इतिहास' का रचयिता। – २८३

प्लेटो (लगभग ४२७ – लगभग ३४७ ईसा पूर्व) – प्राचीन यूनानी दार्शनिक-भाववादी, ग़ुलाम मालिक अभिजात वर्ग का सिद्धान्तकार, स्वावलंबी अर्थव्यवस्था का पक्षपाती। – ३५४, ३६४, ३६५

फ

फ़ायरबाख़ (Feuerbach), लुडविग (१८०४–१८७२) – मार्क्स से पहले का प्रमुख जर्मन दार्शनिक-भौतिकवादी। – ५२९

फ़िख़्टे (Fichte), जोहान गाटलीब (१७६२–१८१४) – क्लासिकी जर्मन दर्शनशास्त्र का प्रतिनिधि, मनोगतवादी भाववादी। – ५४, २३१

फ़िडियास (लगभग ५०० – लगभग ४३० ईसा पूर्व) – क्लासिकी काल का सुविख्यात प्राचीन यूनानी मूर्तिकार। – ५१३

फ़ूरिये (Fourier), जान बातिस्त जोज़ेफ़ (१७६८–१८३०) – सुप्रतिष्ठित फ़्रांसीसी गणितज्ञ, बीजगणित और गणित-भौतिकी के क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य किया; 'ताप के विश्लेषणात्मक सिद्धान्त' का रचयिता। – ५३१

फ़ूरिये (Fourier), शार्ल (१७७२–१८३७) – महान फ़्रांसीसी समाज-वादी-कल्पनावादी। – ३४, ५५, ५६, २३९, ३१९, ४१०, ४१४, ४१५, ४२१, ४२२, ४३५, ४३९, ४४०, ४६४–४६६, ५५७, ५९४

फ़ेरियेर (Ferrier), फ़्रांसुआ लुई आगुस्त (१७७७–१८६१) –

म

अर्थशास्त्री, पूंजीवादी भू-स्वामी अभिजात वर्ग का सिद्धान्तकार, पूंजीवाद की वकालत करनेवाला, द्वेषमूलक जनसंख्या सिद्धान्त का उपदेशक।–१११, ११३, १२३

माल्पीगी (Malpighi), मार्सेलो (१६२८–१६९४)–प्रसिद्ध इतालवी जीवशास्त्री और चिकित्सक, मैक्रो अनाटोमी के प्रवर्तकों में से एक, १६६१ में ख़ून के केशिक परिसंचरण की खोज की।–१४४

मिकेलेट (Michelet), कार्ल लुडविग (१८०१–१८९३)–जर्मन दार्शनिक-भाववादी, हेगेलवादी, बर्लिन विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर।–६३

मिन्ये (Minié), क्लॉड एतियेन (१८०४–१८७९)–फ़्रांसीसी अफ़सर और सैन्य आविष्कारक, एक नयी क़िस्म की राइफ़ल और गोली का आविष्कार किया।–५७८

मिराबो (Mirabeau), आनोरे गेब्रीएल (१७४९–१७९१)–अठारहवीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति का एक प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी अभिजात लोगों के हितों को व्यक्त किया।–४०३

मुंज़र (Münzer), टॉमस (लगभग १४९०–१५२५)–महान जर्मन क्रान्तिकारी, १५२५ के चर्च सुधार तथा किसान युद्ध के दौरान सार्वजनिक किसान कैम्प का नेता और सिद्धान्तकार; समतावादी कल्पनावादी कम्युनिज़्म के विचारों का उपदेशक।–३४, २५२, ५८४

मेटरनिख़ (Metternich), क्लेमेन्स, राजकुमार (१७७३–१८५९)–आस्ट्रिया का प्रतिक्रियावादी राजनयिक और कूटनीतिज्ञ, विदेश मन्त्री (१८०९–१८२१) और चांसलर (१८२१–१८४८), पवित्र गठ-जोड़ के जन्मदाताओं में से एक।–४४२

मेन्देलेयेव, द्मीत्री इवानोविच (१८३४–१९०७)–महान रूसी वैज्ञानिक, १८६९ में रासायनिक तत्वों के आवर्त नियम की खोज की।–१४९

मेयेर (Meyer), जूलियस लोथार (१८३०–१८९५)–प्रतिष्ठित जर्मन रसायन-शास्त्री, उसके अध्ययन का मुख्य विषय भौतिक रसायन था।–६१३

मैंत्यूफ़ेल (Manteuffel), ओटो थियोडोर, बेरन (१८०५–१८८२)–प्रशा का राजनयिक, अभिजात नौकरशाही का प्रतिनिधि, गृह मन्त्री

य

र

भोंडा अर्थशास्त्री, लाइपज़िग विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर, राजनीतिक अर्थशास्त्र में तथाकथित ऐतिहासिक प्रवृत्ति का संस्थापक।–३६५

ल

लफ़ार्ग (Lafargue), पॉल (१८४२–१९११)–अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के प्रतिष्ठित नेता, मार्क्सवाद के प्रख्यात प्रचारक, इन्टरनेशनल की महा परिषद के सदस्य, फ़्रांसीसी मज़दूर पार्टी के संस्थापकों में से एक, मार्क्स और एंगेल्स के अनुयायी और साथी।–१६

लांगेथाल (Langethal), क्रिस्चियन एडवर्ड (१८०६–१८७८)–प्रसिद्ध जर्मन वनस्पतिशास्त्री, पौधों को उगाने और खेतीबारी के इतिहास से सम्बन्धित प्रश्नों का अध्ययन किया।–५६७

लॉ (Law), जॉन (१६७१–१७२६)–अंग्रेज़ी पूंजीवादी अर्थशास्त्री और धनकुबेर, फ़्रांस में वित्त मन्त्री (१७१६–१७२६); बैंक-नोट जारी करने में अपनी सट्टेबाज़ी की सरगर्मियों के लिये कुख्यात, जिसके परिणामस्वरूप उसका दिवाला बोल गया।–३७३–३७५, ३७६

लाइबनिट्ज़ (Leibniz), गॉटफ़्रीड विल्हेल्म (१६४६–१७१६)–महान जर्मन गणितज्ञ, दार्शनिक-भाववादी।–५४, २१६

लॉक (Locke), जॉन (१६३२–१७०४)–प्रमुख अंग्रेज़ी दार्शनिक-द्वैतवादी; इंद्रियार्थवादी; बुर्जुआ अर्थशास्त्री; मुद्रा के अंकित तथा धात्विक सिद्धान्त के बीच डोलता रहा।–३७५–३७६, ३८२, ३८४, ५२६

लाप्लास (Laplace), पियेर साइमन (१७४९–१८२७)–प्रमुख फ़्रांसीसी खगोलविज्ञानी, गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री, काण्ट से अलग, स्वतन्त्र रूप से, गैसीय नीहारिका से सौर मण्डल के उद्‌भव सम्बन्धी परिकल्पना को विकसित तथा गणित के आधार पर प्रमाणित किया।–४२, ५२५

लामार्क (Lamarck), जान बातिस्त पियेर आन्तुआन (१७४४–१८२९)–प्रमुख फ़्रांसीसी प्रकृतिविज्ञ, जीव विज्ञान में क्रमिक विकास का

सिद्धान्त प्रस्तुत किया, डार्विन का पूर्ववर्ती।–१११, १२१–१२३

लासाल (Lassalle), फ़र्दीनांद (१८२४–१८६४)–जर्मन निम्नपूंजीवादी पत्रकार, वकील; जर्मन जनरल मज़दूर यूनियन के संस्थापकों में से एक (१८६३); जर्मन मज़दूर आन्दोलन में अवसरवाद का प्रवर्तक। दार्शनिक विचारों की दृष्टि से भाववादी।–५६, १७५, १७६, २०३

लास्कर (Lasker), एडवर्ड (१८२९–१८८४)–जर्मन बुर्जुआ राजनीतिज्ञ, राइख़स्टाग का सदस्य, १८६६ तक प्रगतिवादी पार्टी का सदस्य; बाद में राष्ट्रीय-उदारवादी पार्टी के संस्थापकों तथा नेताओं में से एक, बिस्मार्क की प्रतिक्रियावादी नीति का समर्थन किया।–५५०

लिन्ने (Linné), कार्ल (१७०७–१७७८)–स्वीडन का प्रमुख प्रकृतिविज्ञ; पौधों और जानवरों के वर्गीकरण की प्रणाली का संस्थापक।–४५

लिस्ट (List), फ़्रेडरिक (१७८९–१८४६)–जर्मन भोंडा बुर्जुआ अर्थशास्त्री, अतिसंरक्षणवाद का उपदेश देता रहा।–३६७

लीबिग (Liebig), जस्तस (१८०३–१८७३)–प्रमुख जर्मन वैज्ञानिक, कृषि रसायन के संस्थापकों में से एक।–२०

लीब्कनेख़्त (Liebknecht), विल्हेल्म (१८२६–१९००)–जर्मन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन का प्रतिष्ठित नेता, १८४८–१८४९ की क्रान्ति में भाग लिया, कम्युनिस्ट लीग तथा इन्टरनेशनल का सदस्य; जर्मन सामाजिक-जनवाद के संस्थापकों और नेताओं में से एक; मार्क्स और एंगेल्स का मित्र और साथी।–५१९

लैवाज़ियेर (Lavoisier), आन्तुआन लोरान (१७४३–१७९४)–प्रमुख फ़्रांसीसी रसायनशास्त्री, फ़्लोजिस्टन के अस्तित्व के बारे में परिकल्पना का खण्डन किया; राजनीतिक अर्थशास्त्र और सांख्यिकी सम्बन्धी प्रश्नों का भी अध्ययन किया।–३७२, ५३१

लौरें (Laurent), आगुस्त (१८०७–१८५३)–फ़्रांसीसी रसायनशास्त्री, गेरहार्ट के साथ अणु और परमाणु की अधिक सम्यक् परिभाषा प्रस्तुत की।–२०३

ल्युसिप्पस (पांचवीं शताब्दी, ईसा पूर्व)–प्राचीन यूनान का सुप्रसिद्ध दार्शनिक-भौतिकवादी, परमाण्विक सिद्धान्त का जन्मदाता।–५२४

व

श

स

ह

साहित्यिक तथा पौराणिक पात्रों की सूची

आ

आरेस – देखिये मार्स।

ई

ईसा मसीह – ईसाई धर्म के पुराण-विश्रुत संस्थापक। – ५४२

ए

एर (एग्रोर) – **देखिये**। टिर।

ज

ज़िओ – देखिये टिर।

जुपिटर – रोमन पौराणिक कथाओं में परमशक्तिशाली ईश्वर वज्रधर (यूनान में ज़्यूस देवता)। – ५०१

जेहोवा – यहूदी धर्म का मुख्य देवता। – ५०१

जोशुआ – इंजील का एक वीर पात्र। – ३४२

ज्यूस (यूनानी पुराणकथा में) देवताओं का राजा। – ५०१

ट

टिर – कई जर्मन क़बीलों में युद्ध का देवता। – ५०१

ड

डॉन क्विग्ज़ोट – सेर्वान्टेस के इसी नाम के उपन्यास का पात्र। – ४९६

त

प

फ

म

र

व

श

स

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन के संबंध में आपकी राय जानकर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें :

प्रगति प्रकाशन
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।